जैनसिद्धान्त भास्कर

भाग २२ किरण १

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. XXI No. I

Edited by

Prof. A. N. Upadhya, M. A., D. Litt.

Prof. Jyoti Prasad Jain M A., LL. B

Sri. Kamata Prasad Jain, M.R.A.S., D.L.

Pt. K. Bhujbali Shastri, Vidyabhushan.

Pt. Nemi Chandra Shastri, Jyotishacharya.

Published by

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY

(JAIN SIDDHANTA BHAVANA)

ARRAH (Bihar) India

Annual Inland Rs. 3. Single Copy Rs. 1/8

JUNE, 1955

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व सम्बन्ध षाण्मासिक पत्र

भाग २२ | जून १९५५ | किरण १

सम्पादक :

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्

प्रोफेसर ज्योति प्रसाद जैन एम. ए., एल. एल. बी.

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल.

श्री पं० के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न.

जैन-सिद्धन्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) | एक प्रति का १॥)

विषय-सूची

श्रीजिनाय नमः

जैन सिद्धान्त-भास्कर

जैन पुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षण्मासिक पत्र

भाग २२ } जून, १९५५। ज्येष्ठ, वीर नि० सं० २४८१ { किरण १

हस्तिमल्ल के पूर्ववर्ती जैन संस्कृत नाटककार

[श्रीयुत् अगरचन्द नाहटा]

जैन साहित्य बहुत ही विशाल एवं वैविध्यपूर्ण है। पर अभीतक उसकी पूरी जानकारी प्रकाश में नहीं आई। जो कुछ जानकारी प्रकाश में आई है, उससे भी समुचित लाभ नहीं उठाया जाता। साम्प्रदायिक भेद-भाव के कारण जैनेतर विद्वानों की ही तो बात ही क्या जैन विद्वानों की भी आज स्थिति यह है कि श्वेताम्बर विद्वानों को दिगम्बर साहित्य का अधिक परिचय नहीं है और दिगम्बर विद्वानों को तो श्वेताम्बर साहित्य की जानकारी और भी कम है। वास्तव में देखा जाए तो श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों का साहित्य एक दूसरे का पूरक है। बिना दोनों सम्प्रदायों के साहित्य की सम्मिलित जानकारी के जैन साहित्य की विशालता और महत्व ठीक से जाना ही नहीं जा सकता। अतः हमें अब प्रत्येक विषय पर लिखने से पूर्व दोनों सम्प्रदायों के साहित्य की जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए और तटस्थतापूर्वक दोनों सम्प्रदाय के विद्वान् के ग्रन्थों का अध्ययन अध्यापन कर ज्ञान वृद्धि करते रहना चाहिए।

दिगम्बर साहित्य बहुत महत्त्व का होने पर भी उसकी पूरी जानकारी देनेवाला कोई भी "दि० साहित्य का इतिहास" प्रकाशित नहीं हुआ। अतः उसकी जानकारी प्राप्त करने में बड़ी ही असुविधा होती है पर श्वेताम्बर साहित्य की जानकारी प्राप्त करने में वैसी कठिनाई नहीं है। क्योंकि जैन साहित्य महारथी स्व० मोहन लाल दलीचन्द देसाई ने २५ वर्ष की निरन्तर साधना द्वारा ४ महान् ग्रन्थ प्रकाशित कर दिये हैं। जिनसे श्वेताम्बर साहित्य की जानकारी बहुत अच्छे रूप में मिल जाती है। यद्यपि कोई भी साहित्य का इतिहास समूचे साहित्य की जानकारी नहीं दे सकता। क्योंकि प्रकाशित ग्रन्थों की अपेक्षा अप्रकाशित ग्रन्थ ही अधिक होते हैं और उनकी

प्रतियाँ जहाँ तहाँ इतने अधिक स्थानों और व्यक्तियों के पास फैली हुई होती हैं कि उन सबकी सूची बनाना भी कम ही संभव है। नित्य नये नये संग्रह जानने को मिलते हैं और उनमें प्रायः अज्ञात ग्रन्थ मिलते ही रहते हैं। इसलिए वैसे तो देसाई द्वारा संकलित चार ग्रन्थों में उल्लिखित रचनाओं की अपेक्षा श्वेताम्बर साहित्य बहुत अधिक विशाल है। फिर भी मुख्य-मुख्य भण्डारों की सूचियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं या बन चुकी हैं उनमें से जितने अधिक संग्रहालयों की सूचियां का उपयोग वे कर सकते थे या करना संभव हुआ, देसाई ने बहुत ही लगन, धैर्य, परिश्रम और प्रयत्नपूर्वक अधिक से अधिक जानकारी देने का भरसक प्रयत्न किया है। और जहाँ तक बन सका है प्रतियों को स्वयं देखकर जाँच पड़ताल कर और दूसरे प्रामाणिक उल्लेखों के उपयोग द्वारा अपने इन ग्रन्थों को भूल भ्रांतियों से बहुत ही बचाया है। इसलिए उनकी शुद्धता व प्रमाणिकता बहुत अधिक है वैसे इसके बाद प्रोफेसर हरीदामोदर वेलनकर का 'जिन रत्नकोष, नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ (सूची) भाण्डार कर प्राच्यविद्या संशोधन, पूना से सन् १९४४ में प्रकाशित हुआ और उसमें वेलनकर ने १२१ सूचियों एवं रिपोर्टों के आधार से अपने इस ग्रन्थ को तैयार किया है, इसमें भी श्वेताम्बर साहित्य का विवरण ही अधिक आ पाया है यद्यपि उन्होंने दिगम्बर ग्रन्थों की जानकारी देने का भी प्रयत्न किया है। पर वास्तव में दिगम्बर भण्डारों की सूचियाँ उन्हें बहुत ही कम प्राप्त हुई अतः अधिक विवरण नहीं आ सका। जिन रत्नकोष रिपोर्टों व सूचियों के आधार से तैयार हुआ है स्वयं ग्रन्थ कम ही देखे गये हैं अतः उसमें भूल भ्रांतियाँ काफी रह गई हैं।

देसाई के श्वेताम्बर साहित्य सम्बन्धी ४ ग्रन्थों को प्रत्येक जैन विद्वानों को मँगाना और देखते रहना चाहिए। जैन रिफरेन्स (संदर्भ) ग्रन्थों में इनका स्थान बहुत ही ऊँचा व महत्व का है। इन ग्रन्थों के नाम हैं जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास और २-३-४ जैन गुजर कवियो भाग १-२-३। इनमें से पहला ग्रन्थ १२५० साढ़े बारहसौ पृष्ठों का है जिसका मूल्य केवल ६) रुपये है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और राजस्थानी, गुजराती के श्वेताम्बर जैन साहित्य का ही इतिहास नहीं पर इसमें श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के ढाई हजार वर्षों का संक्षिप्त इतिहास भी दे दिया गया है। सन् १९३१ में यह प्रकाशित हुआ। लेखक के २०-२५ वर्ष के संशोधनों का यह नवनीत है। करीब १० वर्ष तो इस ग्रन्थ की तैयारी व लेखन में लगे हैं। इसमें लगभग ६० चित्र यथा स्थान दिये गये हैं और चित्रों का परिचय भी विस्तार से ६० पृष्ठों में दिया गया है। इस ग्रन्थ में ८ विभाग हैं और प्रत्येक विभाग के कई प्रकरण हैं। ११९५ पैराग्राफ हैं और ५७७ (फुटनोट) हैं जो ८३२ पृष्ठों में हैं। इसके बाद २३ परिशिष्टों के १८८ पृष्ठ केवल नामों की सूची के हैं इसीसे इस ग्रन्थ के निर्माण में कितना श्रम किया गया है और यह ग्रन्थ कितना महत्वपूर्ण है इसका अनुभव पाठक खुद करें; लेखक ने निवेदन के पृष्ठ

१६ में बड़ा ही मार्मिक लिखा है कि "इस ग्रन्थ के तैयार करने में मैंने रात दिन श्रम किया है और अपनी ओर से कोई भी कसर नहीं रहने दी है"। उनकी आर्थिक स्थिति साधारण थी, वे हाईकोर्ट के वकील थे इसीसे अपने परिवार का पोषण करते थे फिर भी साहित्य का रस उन्हें इतना जबरदस्त लगा था कि रात को जब सारा परिवार सो जाता, वे जागृत होकर काम करने में डट जाते और जहाँ तक नींद बेचैन न कर दे, काम करते ही रहते। अपने व्यावहारिक कामों से तनिक भी अवकाश मिला कि लिखने पढ़ने में जुट गये। छुट्टियों के दिनों में वे अपने खर्च से कभी कहीं कभी कहीं जा कर नई-नई सामग्री एकत्रित करते। प्रूफ देखने वाला तक भी उनका कोई सहायक नहीं था। उन्होने लिखा है कि "इनमें पाछल दिन रात श्रम लेनामा में कचाश राखी न थी। समय नो पोताने खर्चे जुदे स्थले जबू पुस्तक भण्डारो जोई, तपासी आवा, तेमांनी मलेला तमाम साधनों ने प्राप्त करी संग्रह करी, तेमांथीनोंधी-टाचणों करिलेश, तेपरथी प्रमाणों आदि प्रकरणों लखवा, भाषा मोकलवां तेतानु प्रूफ शोधन करी, तेने पाछा मंगावि सुधारवना प्रेसवाँ, तेनी विस्तृत अव मणिका कर वेगेरे एकले पंडे कोईनी पण सहाय वगर एक प्रूफ रीडर जेवानी पण मदद वगर करीने आ पुस्तक मैं गुजरात ने चरणे सादर धर्यो छुः"।

उनका दूसरा ग्रन्थ जिसमें १३ वीं शताब्दी से २० वीं तकके श्वेताम्बर जैन कवियों और गद्य लेखकों के गुजराती, राजस्थानी व हिन्दी गद्यों का आद्यन्त विवरण है जैन गुर्जर कवियों नामक ३ भागों में ४००० पृष्ठों का है। ऐसे महान् साहित्य सेवी के सामने किसका सिर न झुकेगा। जिस कार्य के लिए बीसों विद्वान् और हजारों रुपये खर्च के चाहिए कि उसे एक विद्वान ने अपनी निरन्तर की लगन और साधना से सम्पन्न कर दिया। यह कितने महान् गौरव की बात है। दूसरे विद्वानों को उनका अनुसरण करना चाहिये।

दिगम्बर साहित्य की जानकारी प्रकाश में लाने का कार्य कुछ वर्ष पूर्व वीर सेवा मन्दिर ने आरंभ किया था पर अब उसके नियमित व व्यवस्थित कराने का कार्य महावीर तीर्थ कमेटी जयपुर करवा रही है पर उनके पास भी कस्तूरचन्द कासलीवाल एक ही व्यक्ति है। कार्य की गुरुता को देखते हुए ५-१० विद्वान् इस कार्य के लिए नियुक्त किये जाने चाहिए, अन्यथा दिगम्बर जैन समाज व विद्वान् खूब ध्यान रखें कि दिगम्बर साहित्य का इतिहास जो लिखा जा रहा है वह बहुत ही अपूर्ण रहेगा। सैकड़ों महत्व के ग्रन्थ उसमें उल्लखित नहीं हो सकेंगे। सबसे पहला काम समस्त दिगम्बर ग्रन्थ भण्डारों की सूची बनाने का है। बिना सूची बने साहित्य का इतिहास पूर्ण और अच्छे रूप में लिखा जा ही नहीं सकता।

अब मैं लेख के मूल विषय पर आता हूँ। वीरवाणी के १८ नवम्बर १९५५ के अंक में पंडित चैनसुखदासजी का सम्पादकीय अग्र लेख "महाकवि हस्तिमल्ल और उनका विक्रान्त कौरव नाटक" शीर्षक छपा है। उसके दूसरे पैराग्राफ में जैन संस्कृत नाटकों की कमी और हस्तिमल्ल

को पहला जैन नाटककार बतलाते हुए लिखा है "जैन कवियों ने भी संस्कृत भाषा में नाटकों की रचना की है। किन्तु महाकवि हस्तिमल्ल के पहले के किसी भी जैननाटककार का पता अभी तक नहीं चला। संभवतः ये पहले जैन कवि हैं जिन्होंने जैन साहित्य नाटकों पर अपनी कलम चलाई और सफल हुए। हाँ इनके कुछ पहले मोहगत पराजय नामक प्रतीक नाटक के लेखक कवि यशपाल अवश्य हो गये हैं। जैनों का अधिकांश संस्कृत साहित्य नष्ट कर दिया अथवा नष्ट हो गया है इसलिए आज हम यह कहने की स्थिति में नहीं हैं कि हस्तिमल्ल के अतिरिक्त भी कोई नाटककार हुए हैं या नहीं" ?

दि० नाटककार हस्तिमल्ल का समय विक्रम संवत् १३४७ के लगभग का बतलाया गया है। वास्तव में पंडित चैनसुखदासजी जैन संस्कृत साहित्य के बड़े ही प्रेमी विद्वान् हैं और साथ ही उनमें साम्प्रदायिक संकुचित वृत्ति न होकर उदार और विशाल भावना है इसलिए उन्होंने जो उपर्युक्त शब्द लिखे हैं वे किसी साम्प्रदायिक वृत्ति के कारण नहीं पर हमलोगों का सामाजिक और धार्मिक ढाँचा ही ऐसा है कि हम अपने सम्प्रदाय से भिन्न सम्प्रदाय के ग्रन्थों की जानकारी ही प्रायः नहीं रखते तो अध्ययन का तो अवकाश ही कहाँ ?

वास्तव में पंडित चैनसुखजी का उपर्युक्त कथन श्वेताम्बर जैन संस्कृत नाटक ग्रन्थों की अजानकारी का द्योतक है। हस्तिमल्ल के पहले श्वेताम्बर विद्वानों ने करीब बीस नाटक बनाये जिनमें से १०-१२ तो आज भी प्राप्त हैं। उनका परिचय कराना ही इस लेख में अभीष्ट है।

राजस्थान और गुजरात में १२ वीं १३ वीं शताब्दी में देव मन्दिरों में देवों या मन्दिरों की वर्षगाँठ, बसंतोत्सव, यात्रा महोत्सव आदि प्रसंगों में नाटक खेलने का खूब प्रचार था। श्वेताम्बर जैन कवियों का प्राचीन रास, फागु, चार्चरी आदि अपभ्रंश और लोक भाषा की प्राचीन रचनाएँ प्रायः ऐसे प्रसंगों में नृत्य, अभिनय, गायन के लिए ही बनाई गयी थीं। संस्कृत भाषा का भी उन दिनों बहुत अच्छा प्रचार था। महाराजा भोज के शासन-प्रदेश और राज्यकाल के लिए तो यह प्रसिद्ध है कि उस समय संस्कृत भाषा उन दिनों विद्वान् भोज ही नहीं, जन साधारण में भी प्रचलित थी। ऐसे समय के आसपास में उपर्युक्त माङ्गलिक उत्सवों में संस्कृत नाटक भी अधिकतया खेले जाने स्वाभाविक थे। गुजरात के प्रतापशाली और साहित्य प्रेमी महाराजा सिद्धराज जयसिंह के समय से मंत्रीश्वर वस्तुपाल तेजपाल के समय तक तो संस्कृत नाटकों का खूब ही प्रचार रहा और ये सब श्वेताम्बर नाटककार दि० हस्तिमल्ल के पूर्ववर्ती हैं अतः इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है—

महाराज सिद्धराज जयसिंह की विद्वत् सभा में दिगम्बर विद्वान् कुमुदचन्द्र के साथ श्वेताम्बर वादिदेव सूरि का शास्त्रार्थ संवत् ११८१ में हुआ था उस प्रसंग का बहुत ही सरस वर्णन यशश्चन्द्र रचित मुद्रित कुमुदचन्द्र प्रकरण में मिलता है। इस नाटक के रचयिता यशश्चन्द्र (सपाद लक्षी

सांभर नागौर अजमेर आदि प्रदेश) के राजा के आश्रित व मोढ़ जातीय थे। इनका दूसरा नाटक राजीमति प्रबोध है जिसकी प्राचीन प्रति बीकानेर के चम्पालालजी के संग्रहालय में लिखी हुई प्राप्त है। उसकी प्रस्तावना में सूत्रधार के मुख से कहलाया गया है कि यशश्चन्द्र ने दो महाकाव्य और चार नाटक लिखे थे पर उनके वे दो महाकाव्य और उनके वे नाटक अभीतक अप्राप्य और अज्ञात हैं "मुद्रित कुमुदचन्द्र" बहुत प्रसिद्ध है और प्रकाशित हो चुका है।

श्वेताम्बर जैन नाटककारों और नाट्यशास्त्र विशेषज्ञों में महाकवि रामचन्द्र का स्थान सबसे ऊँचा व प्रधान हैं। ये कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के पट्टधर महान् विद्वान् शिष्य थे। इन्होंने अकेले ही ११ संस्कृत नाटकों की रचना की है। जिनमें से नल विलास, सत्य हरिश्चन्द्र, निर्भय भीम व्यायोग और कौमुदी मित्रानन्द ये चार नाटक छप भी चुके हैं। सत्य हरिश्चन्द्र नाटक सन् १६१३ में इटालियन अनुवाद से भी प्रकाशित हो चुका है। अगले सात नाटक ये हैं। रघुविलास, यदुविलास, मल्लिका मकरन्द प्रकरण, प्रयागाविद्य, रोहिणी मृगयांक प्रकरण, वनमाला नाटिका और यदवाभ्युदय। इनमें से कई तो प्राप्त भी नहीं हैं।

रामचन्द्र नाटककार होने के अतिरिक्त नाट्यशास्त्र के महान आचार्य थे। अपने गुरुभाई के साथ इन्होंने "नाट्यदर्पण" नामक वृत्ति सहित नाट्यशास्त्र का महत्व पूर्ण ग्रन्थ बनाया। अपने विषय का यह बहुत ही सुन्दर और मौलिक ग्रन्थ है। इसमें ४४ संस्कृत नाटकों के अवतरण हैं जिनमें से बहुत से आज अप्राप्य हैं। इनमें विशालदत्त के देवीचन्द्र गुप्त नाटक, जिसके अनेक अवतरण नाट्यदर्पण में पाये जाते हैं जो गुप्तकाल के इतिहास पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। इसके अवतरणों में जो बचे खुचे अंश मिले हैं उनके आधार से कन्हैयालाल मुन्शी ने "ध्रुव स्वामिनी देवी" नामक ग्रन्थ की रचना की है।

रामचन्द्र का उल्लेखनीय विशेषण प्रबन्ध शतकर्तृ है। इस प्रबन्धशत ग्रन्थ में एक प्राचीन सूची के अनुसार द्वादश रूपक नाटक आदि स्वरूप की जानकारी ५ हजार श्लोक परिमित थी; १२ रूपकों के सम्बन्ध में इतना बड़ा विवेकात्मक ग्रन्थ यह अद्वितीय था। पर खेद है अब प्राप्त नहीं होता। रामचन्द्र का "नाट्य दर्पण" ग्रन्थ गायकवाड़ ओरियन्टल सिरिज से प्रकाशित हो चुका है।

आचार्य हेमचन्द्र के एक दूसरे शिष्य देवचन्द्र के चन्द्रलेखा विजय प्रकरण नामक ऐतिहासिक नाटक की ताड़पत्रीय प्रति जैसलमेर के भण्डार में है। महाराजा कुमारपाल ने सपादलक्ष के राजा अर्णोराजा को हराया था। कुमारपाल के उस वीरत्व का वर्णनवाला यह प्रशंसात्मक नाटक है। इसकी नायिका "चन्द्रलेखा" विद्याधरी हैं डा० भोगीलाल सांडेसर के मतानुसार यह चन्द्रलेखा अर्णोराज की बहन जलहणा देवी थी जिसका विवाह कुमारपाल से हुआ। यह नाटक पाटन के कुमार विहार ने अजितनाथ यात्रा महोत्सव के प्रसंग में कुमारपाल की सभा के परितोष के लिए खेला था। संवत् १२०७ के लगभग इसकी रचना हुई।

देवचन्द्र के "मानमुद्रा भंजन" नामक नाटक का उल्लेख मिलता है पर वह अब प्राप्य नहीं।

कुमारपाल के गद्दीधर अजयपाल के मंत्री यशपाल का "मोहराज पराजय नाटक" एक रूपक है। जो संवत् १२२६ से १२३२ के बीच रचा गया है। कुमारपाल ने कृपासुन्दरी से संवत् १२१६ मगसिर सुदी २ को विवाह किया अर्थात् कुमारपाल इस तिथि को पूर्णतः जैनी बने उन्होंने राज्यभर में पशु बध और सप्त व्यसन का निषेध किया, अपुत्रीय के धन को जब्त करने का कानून बन्द किया इत्यादि महत्त्व की बातों का इसमें निर्देश है। इस नाटक का मुख्य विषय कुमारपाल के द्वारा मोहराजा के पराजय का है। यह नाटक भी छप चुका है। यह नाटक भी वीर यात्रा महोत्सव प्रसंग में खेला गया था।

महाराजा सिद्धराज के इष्ट मित्र प्रज्ञाचक्षु महाकवि श्रीपाल के पौत्र विजयपाल का 'द्रौपदी स्वयंवर' नाटक मुनिजिनविजय जीने सम्पादितकर प्रकाशित कर दिया है इसकी रचना संवत् १२५१ से १२५१ के बीच में हुई थी। इसमें प्रधानतः वीर व अद्भुत रस हैं।

जैन मुनि रामभद्र का प्रबुद्धावीर रौहिणेय नामक छंदकी नाटक संवत् १२१६ में महाराजा यशोपाल और जयपाल के बनाये मन्दिर के यात्रोत्सव में खेला गया था। इसमें भगवान् महावीर से प्रतिबुद्ध रोहिणेय चोर की रोचक आश्चर्यकारी कथा है।

धौलका के राणावीर धवल के मंत्री सुप्रसिद्ध वस्तुपाल ने संवत् १२७७ में शत्रुञ्जय तीर्थ का संघ निकाला। उस संघ के परितोष के लिए यात्रामहोत्सव में कवि बालचन्द्र रचित करुणवज्रायुध नाटक खेला गया। जिसमें वज्रायुद्ध चक्रवर्ती ने एक कबूतर की रक्षा के लिए अपने प्राणों के बलिदान कर देने की तैयारी की कथा है।

मंत्रीश्वर वस्तुपाल ने गुजरात पर चढ़ाई करके आये हुए दक्षिण के राजा सिंघण और उत्तर के सुलतान अल्तमश को एक साथ हरा दिया। इसके ऐतिहासिक प्रसंग का बड़ा ही सुन्दर निरूपण जयसिंहसूरि के हमीर मदमर्दन नाटक में है। इसकी रचना संवत् १२७६ से ८५ के बीच हुई है। यह नाटक भी प्रकाशित हो चुका है। खंभात में वस्तुपाल के पुत्र जयन्त सिंह की आज्ञा से भीमेश्वर के यात्रा के प्रसंग पर खेला गया था।

इसके अतिरिक्त मेघ प्रभाचार्य का धर्माभ्युदय नाटक का उल्लेख मिलता है जिसमें दशार्णभद्र राजर्षि का चरित्र है।

मंत्रीश्वर वस्तुतेजपाल बड़े ही उदार, धर्मनिष्ठ और विद्या प्रेमी थे। उनके आश्रय में अनेक जैनेतर कवियों ने गीत काव्य आदि बनाये। जिनमें से वीरधवल के राज पुरोहित और वस्तुपाल के इष्ट मित्र कीर्ति कौमुदी तथा सुरथोत्सव के कर्त्ता कवि सोमेश्वर ने उल्लाघराघव नामक नाटक बनाया, जो द्वारिका के जगत मन्दिर में प्रबोधनी एकादशी के दिन खेला गया था। उल्लाघराघव में राम कथा है।

सोमेश्वर के सुरथोत्सव की प्रशस्ति में कहा गया है कि सोमेश्वर ने भीमदेव की सभा को यामर्द्ध में एक नाटक बनाकर हर्षित किया। यह नाटक उल्लाघराघव से भिन्न होना चाहिए पर अब अप्राप्य है उल्लाघराघव को सोमेश्वर ने पुत्रभल शर्मा की प्रार्थना से बनाया था।

वस्तुपाल के आश्रित सुभट कवि ने दूतांगद नाटक पाटण में कुमारपाल स्थापित शिवमूर्ति के दोलोत्सव के प्रसंगपर त्रिभुवनपाल की आज्ञा से खेला था। अतः १२५८ से १३०० में यह लिखा गया। इस प्रकार हस्तिमल्ल के पूर्व वर्ती श्वेताम्बर जैन नाटककारों और जैनाश्रित दो कवियों के नाटकों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया गया है। मेरे मित्र डा० भोगीलाल सांडेसरा के गुजरात में संस्कृतनाटक नामक लेख से मुझे बड़ी सहायता मिली है, इसलिए मैं उनका आभारी हूँ।

दिगम्बरों और श्वेतम्बरों के समस्त जैन नाटक साहित्य का अध्ययन कर विशेष प्रकाश डाला जाना आवश्यक है। इन नाटकों की शैली, भाषा के साथ ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टि से भी बड़ा महत्व है। हस्तिमल्ल के बाद जैन नाटक साहित्य थोड़ा ही लिखा गया प्रतीत होता है, पर जो भी हो उसकी खोज की जाकर प्रकाश डाला जाना वांछनीय है।

यहाँ एक विशेष विचारणीय प्रश्न होता है कि संस्कृत में जब नाटकों का इतना प्रचार रहा तो अपभ्रंश, राजस्थानी, हिन्दी, गुजराती में जैन नाटक क्यों नहीं मिलते? पर जैसा कि पहले कहा गया है। १२ वीं से १४ वीं तक जैन रास, फागु चरचरी आदि लोक भाषा के काव्य ही उस समय अभिनीत होते थे। युगप्रधानाचार्य गुर्वावली और प्राचीन रास आदि में इसका स्पष्ट उल्लेख है। डांडिया रास अर्थात् लकुटि रास और ताला रासक उस समय काफी प्रसिद्ध थे ताला रास अर्थात् तालियों के साथ गाया जाने वाला रास बहुत ही प्रसिद्ध था। १५ वीं शताब्दी से यह मन्दिरों और गुरुआगमनोत्सवों आदि की नाट्य परम्परा बन्द सी हो गई। इसके बाद बड़े २ चरित्र काव्य रूप रास बनने लगे और वे गाकर ही सुनाये जाते थे। इस समय के बीच नाटकों की क्या स्थिति रही! अन्वेषणीय है। १६ वीं शताब्दी से रब्बटन खेल और तमाशे खूब प्रचलित हुए। पर जैन मुनियों ने उसकी रचना में भाग नहीं लिया, जैनेत्तर सैकड़ों खयाल आदि रचनाएँ प्राप्त होती हैं व वे खूब प्रसिद्ध हैं।

स्वतन्त्र नाटक निर्माण के साथ श्वेताम्बर जैन विद्वानों ने जैनेतर नाटक ग्रन्थों की टीकाएँ भी बनाई हैं। उदाहरणार्थ अनर्घ राघव की टिप्पण वृत्ति प्राप्त है, मलधारी देव प्रभाचार्य ने अनर्घ राघव रहस्यादर्श नामक टीका ७५०० श्लोक की और उनके शिष्य नरचन्द्र आचार्य ने २५०० श्लोक परिमित टिपन लिखा और तपा गच्छ के जयचन्द्र सूरि के शिष्य ने अनर्घ राघव वृत्ति बनाई। इसी प्रकार कर्पूर मंजरी नामक प्राकृत नाटक पर धर्मचन्द्र रचित टीका प्राप्त है। अनर्घ राघव सुप्रसिद्ध मुरारि का प्रसिद्ध नाटक है और गुजरात में उसका अच्छा प्रचार रहा मालूम होता है। कर्पूर मंजरी नाटिका राजशेखर की कृति है। इनके अतिरिक्त जयचन्द्र सूरि की रम्भा मंजरी नाटिका, पद्मसुन्दर का ज्ञानचन्द्रोदय नाटक, अमरचन्द्र की वनमाला नाटिका आदि का उल्लेख जैन ग्रन्थावली में है।

"जोधपुर संग्रहालय की अज्ञात कुछ जैन धातु-मूर्तियां"

[श्रीयुत् रत्नचन्द्र अग्रवाल, एम० ए०]

'रेवाराउसोटा' (पर्वतसर, जोधपुर डिविजन, राजस्थान) नामक स्थान से प्राप्त ६ धातुमूर्तियाँ जोधपुर संग्रहालय में प्रदर्शित हैं तथा संग्रहालय के रजिस्टर की २३२४ संख्या के अन्तर्गत अङ्कित हैं। इन जैन मूर्तियों के पीछे मध्यकाल के लेख देवनागरी लिपि में उपलब्ध हैं। इन लेखों के अध्ययन द्वारा यह स्पष्ट हो सकता है कि कुछ लेख तो ऐसे हैं जो उसी तिथि की कुछ धातुमूर्तियों पर भी अङ्कित हैं परन्तु वे धातुमूर्तियाँ जोधपुर विभाग के एक दूरस्थ स्थान "बालोतरा" के श्री शीतलनाथ जी के जैन मंदिर में विद्यमान होने का उल्लेख है। श्री पूर्णचन्द्र नाहर[1] द्वारा उनके लेख पढ़े भी गये हैं परन्तु जोधपुर संग्रहालय की मूर्तियों द्वारा प्रस्तुत विवरण कहीं २ भिन्न भी है। यह खोज करने की बात है कि बालोतरा के उक्त मंदिर की उक्त मूर्तियाँ वहां आज भी विद्यमान हैं या नहीं। कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि वे ही कालान्तर में किसी कारण वश पर्वतसर ले जायी गईं। अभी तो इस दिशा में कुछ अधिक कहना कठिन ही है। प्रस्तुत निबन्ध में तो जोधपुर संग्रहालय के अन्दर रखी हुई कुछ मूर्तियों का विवेचन करने का विचार है।[2]

(१) संवत् १२३४ की मूर्तिः—

ऊंचाई ७ इञ्च तथा चौड़ाई ५ इञ्च। पीछे लेख[3] उत्कीर्ण है अर्थात्:—"संवत् १२३४ जेष्ठ सुदि ११ सा० जसदेवभार्या जेऊ तत्पुत्रवीरदेव सात""वाहड़ वीरदे श्रेयार्थमकारि प्र० देवसूरिभिः।

इस प्रतिमा में द्विबाहु तीर्थङ्कर बद्धपद्मासन मुद्रा में तथा बद्धाञ्जलि स्थिति में विराजमान हैं। सिर के ऊपर नागफण वितानाच्छादित है तथा सर्प के ७ फण हैं। देवता के दोनों ओर दो दो विद्याधर माला धारण किये; उनके नीचे स्थानकमुद्रा में एक एक चंवर धारण किये व्यक्ति तथा नीचे एक ओर एक पुरुष तथा दूसरी ओर एक स्त्री आसीन हैं। जिनासन के नीचे विपरीत दिशोन्मुख दो सिंह प्रदर्शित हैं। जिन भगवान् के वक्षस्थल पर श्री वत्सचिन्ह अंकित है। यहां जिन भगवान् का लाञ्छन उत्कीर्ण नहीं है।

---

१ जैन लेख संग्रह, भाग १, कलकत्ता, १९१८, पृ० १७४ तथा आगे।

२ श्री बालाराम कविकिङ्कर ने इन मूर्तियों का अध्ययन करने में पर्याप्त सहायता प्रदान की है। इसके लिये मैं उनका अतीवाभारी हूँ।

३ तुलना हेतु द्रष्टव्य नाहर, उपर्युक्त, भाग १, पृ० १७७, लेख ७२८।

(२) संवत् १५०१ की मूर्तिः—

ऊँचाई ६ इंच तथा चौड़ाई लगभग ३½ इंच। आकार में यह प्रतिमा पहली से छोटी है। यहाँ सर्पफण अविद्यमान है। शेष भाव पूर्ववत् उत्कीर्ण है। इस मूर्ति में देवलाञ्छन अविद्यमान है परन्तु लेख[1] द्वारा यह स्पष्ट है कि यह मूर्ति 'श्रेयांसनाथ' की है यथाः—

"संवत् १५०१ वर्षे माघवदि ६ बुधे उपकेशज्ञातौ[2] आ……णागगोत्रे सा० कान्ह पु० वील्हाभार्या देवी ही आत्मश्रेयसे श्रीश्रेयांस बिंबं कारितं श्री उकेशग० ककुदाचार्य संताने प्रतिष्ठितं श्रीकक्कसूरिभिः।

इस लेख द्वारा उपकेशगच्छीय श्री ककुदाचार्य कक्कसूरि का भी बोध होता है। प्रथमलेख में श्री देवसूरि जी का नाम तो उपलब्ध हुआ है परन्तु उनके गच्छ का नहीं।

(३) संवत् १५०४ की मूर्तिः—

ऊँचाई ७⅛ इंच तथा चौड़ाई लगभग ५½ इंच। यहाँ पर आसनदेव के ऊपर सातफणोंवाले सर्प का वितान विद्यमान है। आसन के नीचे तथा पूर्व वर्णित सिंहों के मध्य में सर्पलाञ्छन भी विद्यमान है। 'श्री पार्श्वनाथ' की यह मूर्ति सुन्दर है। इसके अतिरिक्त जिन भगवान् के ऊपर दोनों ओर तीर्थङ्कर ध्यानस्थमुद्रा में प्रदर्शित हैं तथा विद्याधरों का अभाव है। इनके भी ऊपर गज प्रदर्शित हैं। मूर्ति के पृष्ठ भाग पर उत्कीर्ण लेख[3] इस प्रकार हैः—

"संवत् १५०४ वर्षे वैशाख स० ७ दिन श्री उकेशवंशे सा० डोडापुत्र सा० नाथ श्रावकेण तथा स० दूदा स० (स्यायरा) सहितेन सुपुण्यार्थं श्री पार्श्वजिनबिंबं कारितं। श्री खरतरगच्छे श्री जिनभद्रसूरिभिः। शुभमस्तु।

प्रस्तुत लेख द्वारा खरतरगच्छीय श्री जिनभद्रसूरि का भी उल्लेख हुआ है। यहाँ पर पार्श्वनाथ की उक्त मूर्ति पुण्यार्जन हेतु बनायी गयी। इससे पूर्व की, अर्थात् श्रेयांस प्रतिमा, तो आत्मकल्याण हेतु बनायी गयी थी।

(४) संवत् १५०९ की मूर्ति :—

ऊँचाई ७ इंच तथा चौड़ाई लगभग ५⅛ इंच। यहाँ सर्पवितान अविद्यमान है। यहाँ नीचे जिनदेव लाञ्छन तो उत्कीर्ण है परन्तु अस्पष्ट है। लेख[4] द्वारा यह ज्ञात होता है कि मूर्ति 'श्री सुमतिनाथ जी' की हैः—

---

१ तुलना हेतु द्रष्टव्य, वही, पृ० ४४, लेख संख्या २१९; वही, भाग २, पृ० २३७, लेख संख्या १६३३।

२ वर्तमान ओसियाँ, जोधपुर से ३९ मील दूर। इस स्थान के अन्य नाम उकेश, ऊकेश… इत्यादि भी उपलब्ध हैं।

३ तुलना हेतु द्रष्टव्य, वही, भाग १, पृ० १७५, लेख संख्या ७३१

४ तुलना हेतु द्रष्टव्य, वही, भाग १, पृ० १७५, लेख संख्या

"(स्वस्तिचिन्ह)। संवत् १५०९ वर्ष मागशिर सु० ७ ऊकेशवंशे बहरागोत्रे सा० सुत सा० हरिपालभार्या राजलदे पुत्र सा० गागाकेन युतं "..."सा०......श्री सुमतिना० बिंबं कारितं श्री खरतरगच्छे श्री जिनराजसूरिपट्टे श्री जिनचन्द्रसूरिभि प्रतिष्ठितं शुभं भवतु।

यहाँ पर खातरगच्छीय आचार्य श्री जिन चन्द्रसूरि का उल्लेख है।

(५) संवत् १५०९ की मूर्ति :—

ऊँचाई लगभग ७½ इंच तथा चौड़ाई लगभग ५½ इंच। यह मूर्ति पार्श्वनाथ की उपर्युक्त प्रतिमा की भाँति की है परन्तु यहाँ जिन भगवान् के सिर के ऊपर सर्पफणवितान अविद्यमान है। नीचे लाञ्छन भी उत्कीर्ण है परन्तु स्पष्ट नहीं जान पड़ता। लेख[१] द्वारा बोध होता है कि यह मूर्ति श्री वासुपूज्य' की है यथा:—

"संवत् १५०९ वर्षे कार्तिक सुदि १३ गुरौ ऊकेशवंशे व्यवहारीगोत्रे सा० जाजण पुत्र हरपालभार्या राजलदे पुत्र सा० धरमा भा० धनाईपुत्र सा० सहजाकेन स्वपितृपुण्याथ श्री वासुपूज्य बिंबं कारितं। श्री खरतरगच्छे श्री जिनराजसूरिपट्टे श्री भद्रसूरि युग प्रधानगुरुभिः प्रतिष्ठितं।"

यहाँ पर युगप्रधानाचार्य खरतरगच्छीय श्री जिनभद्रसूरि का उल्लेख किया है। इस मूर्ति की प्रतिष्ठा स्वपितृपुण्यार्थ हुई थी।

(६) संवत् १५३७ की मूर्ति :—

ऊँचाई ५½ इंच तथा चौड़ाई ४ इंच। यहाँ पर भी सर्पफण अथवा लाञ्छन अविद्यमान हैं परन्तु लेख[२] द्वारा यह स्पष्ट है कि यह प्रतिमा 'श्री धर्मनाथ की है अर्थात् :—

"संवत् १५३७ वर्षे बेशाख[३] सुदि ७ दिने श्री ऊकेशवंशे विदूगरागोत्रे अभयसी[४] संताने सा० ऊनाभार्या लखमादे पुत्र सा० डूंगर सुश्रावकेण भा० पूराई पुत्र मेरा जावादेवादि युतेन श्री धर्मनाथ बिंब का० श्री खरतरगच्छे श्री जिनभद्रसूरि पट्टे श्री जिन समुद्रसूरिभिः।

यहाँ पर खरतरगच्छीय श्री जिनभद्रसूरि जी का उल्लेख है।

उक्त मूर्तियों के लेखों द्वारा जिन-प्रतिमाओं को पहचानने में पर्याप्त सहायता मिली है। इसी प्रकार की कुछ मूर्तियाँ सांचोर (सत्यपुर, जोधपुर) से प्राप्त हुई थीं तथा जोधपुर संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इन में से कुछ पर लेख उत्कीर्ण नहीं है। अध्ययनोपरान्त शीघ्र ही उनको भी प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

---

१ तुलना हेतु द्रष्टव्य, वही, पृ० १७५ लेख संख्या ७३२।

२ तुलना हेतु द्रष्टव्य, वही पृ० १७६ लेख संख्या ७३५

३ यहाँ 'ष' द्वारा 'ख' का भाव व्यक्त किया है।

४ अर्थात 'अभय सिंह'।

देवगढ़ और उसकी कला के

[प्रो० ज्योति प्रसाद जैन एम. ए.; एल-एल. बी., लखनऊ]

देवगढ़ चिरकाल पर्यन्त जैनों का एक प्रसिद्ध सांस्कृति केन्द्र रहा है। वर्तमान में इस नाम का एक छोटा सा गाँव उत्तर प्रदेश के झांसी जिले में बेत्रवती (बेतवा) नदी के कूल पर तथा ललितपुर की पहाड़ियों के अन्तिम छोर पर घने जंगल के बीच बसा हुआ है। यह ग्राम देहली से बम्बई जाने वाली सेन्ट्रल रेलवे के ललितपुर स्टेशन से १९ मील तथा उसीके लालजौन स्टेशन से लगभग ८ मील दक्षिण-पश्चिमोत्तर स्थित है। इस समय उसकी जनसंख्या लगभग दो ढाई सौ है जिसमें जैनियों और सवर्णों की ही संख्या अधिक है। गाँव के निकट तक पहुँच जाने पर भी सामान्य दर्शकों को कोई विशेष आकर्षक वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती, किन्तु उसके चहुँ ओर जंगल में यत्र तत्र बिखरी हुई अनगिनत प्राचीन खंडित मूर्त्तियाँ एवं भवनों के प्रस्तर खण्ड कल्पनाशील यात्रियों को इस प्रदेश के अतीत गौरव की मूक गाथा सुना ही देते हैं।

देवगढ़ का प्राचीन चतुष्कोण दुर्ग गाँव के निकट ही एक गोलाकार पहाड़ पर बना हुआ है जो उत्तर दक्षिण लगभग एक मील लम्बी और पूर्व पश्चिम लगभग पौन मील चौड़ी है। पहाड़ की चढ़ाई सुगम और सीधी है। उसपर चढ़ने के लिये पश्चिम की ओर एक मार्ग बना हुआ है। मैदान में बने हुए एक प्राचीन सरोवर को पार करने के उपरान्त पहाड़ पर चढ़ने के लिये प्रस्तरनिर्मित सीढ़ियोंदार एक प्राचीन विस्तृत सड़क मिलती है जिसके दोनों ओर करधई, खैर और साल के घने वृक्ष अपनी सुदीर्घ शाखाओं द्वारा सतत शीतल छाया किये रहते हैं। पर्वत के उपर पहुंचने पर एक भग्न तोरण द्वार मिलता है जो पर्वत की परिधि को आवृत करने वाले दुर्गकोट का प्रमुख द्वार प्रतीत होता है। इसे कुंज द्वार भी कहते हैं। इसकी कारीगरी दर्शनीय है। इस द्वार को पार करने पर एक के बाद एक दो जीर्ण कोट और मिलते हैं। इन्हीं भीतरी दोनों कोटों के भीतर अधिकांश जैन मन्दिर अवस्थित हैं। इन कलापूर्ण प्राचीन देवालयों के कारण ही देवगढ़ की इतनी प्रसिद्धि है पर्वत के दक्षिणी पश्चिमी छोर पर वैष्णव सम्प्रदाय का बराह मन्दिर है जो नष्टप्रायः है। प्रायः ऐसी ही ध्वस्त दशा में वह प्राचीन विष्णु मंदिर है जिसे दशावतार मंदिर भी कहते हैं जिसने पुरातत्त्वज्ञों एवं कलामर्मज्ञों का ध्यान विशेषरूप से आकर्षित किया है। किले के जिस ओर बेतवा बहती है उस ओर पहाड़ की ऊँची दीवार को काट कर बनाये गये तीन घाट या घाटी हैं जिनमें से नाहर घाट और राजघाट अधिक प्रसिद्ध हैं। इन घाटों के आस पास कई कृत्रिम अकृत्रिम गुप्त मन्दिर भी हैं।

देवगढ़ जिस स्थान में स्थित है वह भूभाग प्राकृतिक शोभा की दृष्टि से अत्यन्त मनोरम एवं अप्रतिम है। यहाँ बेत्रवती एक सकरी घाटी में से होकर विन्ध्य पर्वत माला में प्रवेश करती है

और तदुपरान्त एक चौड़ी धारा के रूप में देवगढ़ दुर्ग को तीन ओर से आवृत्त करती हुई प्रसार पाती है। विन्ध्य पर्वत श्रेणी को काट कर बेतवा ने यहाँ कुछ एक अत्यन्त चित्ताकर्षक दृश्य निर्माण किये हैं। पहाड़ की विकट घाटी में बहती हुई सरिता सहसा पश्चिम की ओर घूम जाती है और इस प्रकार दृश्य को और अधिक सुन्दर बनादेती है। दक्षिण दिशा में देवगढ़दुर्ग की सीढ़ियां नदी के जल को स्पर्श करती हैं। इसी ओर देवमूर्तियों एवं अन्य कलाकृतियों से युक्त कतिपय गुहा मंदिरों को अपने अंको में लिये हुए नाहरघाटी एवं राजघाटी अवस्थित हैं। इस स्थान पर गिरते हुए जल की कलकल ध्वनि ऊपर लटकती हुई चट्टानों पर दूरदूर तक सुनाई देती है। इन चट्टानों के किनारे किनारे बेतवा के दाहिने तट पर मैदान पर्याप्त ढालू होगया है, और इस ढाल के निकट ही मैदान के पश्चिमी सिरे पर दक्षिण की ओर से पर्वतमालाओं तथा पश्चिम एवं पूर्व दिशा में छोटे छोटे पहाड़ी-टीलों से घिरा हुआ उक्त ढाल का आकर्षणकेन्द्र दशावतार मंदिर अत्यन्त रमणीक दीख पड़ता है। वैतहाउस, फर्ग्यूसन, बरजेस आदि कलामर्मज्ञों ने यह अनुभव किया है कि अपने तीर्थस्थान एवं सांस्कृतिक केन्द्र स्थापित करने के लिये प्राकृतिक सौन्दर्य से पूर्ण स्थलों के चुनने में जैनाजैन सदैव बेजोड़ रहे हैं। देवगढ़ इस तथ्य को भली प्रकार चरितार्थ करता है। प्रकृति की सुषमापूर्ण गोद में सुप्त देवगढ़ का वैभव आज भी अपनी प्राकृतिक एवं कलात्मक द्विविध सौन्दर्य राशि से दर्शकों को सौन्दर्यानुभूति के लिये अनुपम प्रेरक बना हुआ है। विविध जातीय वन्य पशुओं एवं पक्षियों के कलरव से गुंजायमान हरीभरी घनी बनस्थली के मध्य अपने शिरपर दुर्ग रूपी मुकुट धारण किये हुए सुखद हरीतिमा से वेष्टित देवगढ़ पर्वत अत्यन्त सुरम्य एवं मनोरम प्रतीत होता है।

इस स्थान के भग्नावशेषों को देखकर इसमें तनिक भी सन्देह नहीं रहता कि किसी समय चिरकाल पर्यन्त वह एक सुन्दर सुदृढ़ दुर्ग से युक्त भरापूरा विशाल रमणीक नगर एक धर्म और संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा होगा। इधर कई शताब्दियों से अवश्य ही वह निर्जन वनस्थली के मध्य एक उपेक्षित—प्रायः विस्मृत सा ही जीवन व्यतीत करता आ रहा है। कैप्टन चार्ल्स स्ट्रैहम के शब्दों में 'देवगढ़ के निकट आकर वन उसके चहुँ ओर अत्यन्त घना हो गया है और उसके नीचे बहनेवाली बेतवा भी दोनों किनारों पर स्थित पहाड़ियों के कारण दूर से अदृश्य ही बनी रहती है। देवालयों से पूरित ये पहाड़ियाँ आकर्षण का केन्द्र थीं और आज भी उनके भग्नावशेष प्राचीन भारतीय रूप शिल्प का कोषागार बने हुए हैं। किन्तु अब ये खंडहर चहुँओर उगे घने वृक्षों की चोटियों को भेदकर दूर से दीख भी नहीं पड़ते।" तथापि इससे भी कुछ लाभ ही हुआ। जहाँ लोक की उपेक्षा ने उन्हें झाड़झंखाड़ और वन्य पशुओं का आवास बना दिया तथा काल के प्रकोप से वे शनैः शनैः भूमिसात् एवं विनष्ट होते रहे, वहाँ आततायी मूर्ति मंदिर विध्वंसकों की कुदृष्टि से भी उनकी रक्षा हुई। फलस्वरूप

देवगढ़ के अवशेष आज भी प्राचीन भारतीय कला और उसके विकास के अध्ययन के लिये प्रचुर सामग्री प्रदान करते हैं। किन्तु स्वयं देवगढ़ का इतिहास प्रायः अन्धकाराच्छन्न है।

यह स्थान प्राप्त अवशेषों, शिलालेखों तथा अन्य ऐतिहासिक साधनों से ऐसा प्रतीत होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल में इस प्रदेश पर अर्धसभ्य शबर जाति का निवास था। महाभारत काल में यह भूभाग दशार्ण देश का अंग था और पाण्डवों की राज्यसीमा के भीतर पड़ता था। शबरों या सहरियों का निवास बहुत पीछे तक रहा, उनसे गौड़ लोगों ने इसे छीन लिया। महावीरोत्तर मगध के शैशुनाक-नन्द-मौर्य साम्राज्य का भी यह प्रदेश अंग रहा। संभवतया इसी युग में किसी समय गौंड़ लोगों ने यहाँ सर्व प्रथम दुर्ग और नगर का निर्माण किया। गौंडों से इस प्रदेश के गुप्तनरेशों ने जीता और इसी काल से देवगढ़ का वास्तविक अभ्युदय प्रारंभ हुआ। उस समय यह एक प्रसिद्ध राजमार्ग पर स्थित था और गुप्त साम्राज्य का एक प्रमुख जनपद था और संभवतया तत्प्रदेशीय भुक्ति का केन्द्रीय स्थान था। गुप्तकाल के कई जैन वैष्णव देवालय, मूर्त्तियाँ तथा भवनों के अवशेष उस काल में इसका एक समृद्ध नगर होना सूचित करते हैं। गुप्तों के उपरान्त हूणों और फि· मालवे के यशोधर्मन और तदुपरान्त कन्नौज के वर्धन वंश का इस प्रदेश पर अधिकार रहा। ८ वीं से १० वीं शताब्दी पर्यन्त प्रथम भिन्नमाल और फिर कान्यकुब्ज के गुर्जर प्रतिहारों का देवगढ़ पर प्रभुत्व रहा। इन गुर्जर सम्राटों के काल में यह नगर एक महत्त्वपूर्ण प्रान्तीय केन्द्र और एक महासामन्त की राजधानी था। इसी काल में देवगढ़ अपने वैभव और कला की उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचा। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तों और गुर्जर प्रतिहारों के मध्य की शताब्दियों में इस स्थान पर किसी जैन राज्यवंश या उपराज्यवंश का शासन रहा, उन्होंने ही इस सुरम्य पर्वत पर यह सुन्दर सुदृढ़ त्रिकुट दुर्ग निर्माण कराया और उसे अनेक जैन देवालयों एवं कलाकृतियों से अलंकृत किया। पर्वत के ऊपर और दुर्गकोट के भीतर अन्य किसी धर्म के या उसके देवालयों आदि के अवशेष नहीं मिलते। इसके विपरीत ९ वीं शती ई० के मध्य के एक शिलालेख से सिद्ध होता है कि उसके पूर्व भी यह दुर्ग और उसके भीतर कई प्रमुख जिनमंदिर विद्यमान थे। एक विद्वान् का अनुमान है कि ८-९ वीं शती ई० में यहाँ किसी देववंश का शासन रहा है। संभव है देवगढ़ के तत्कालीन शासक उपरोक्त जैन राज्यवंश का ही यह नाम रहा हो। किन्तु इतिहास में इस वंश का कोई पता नहीं चलता। गुर्जर प्रतिहार सम्राट् स्वयं जैनधर्म के प्रति अत्यन्त सहिष्णु और उसके प्रश्रयदाता थे। उनके उपरान्त १० वीं से १३ वीं शती ई० पर्यन्त जेजाकभुक्ति के चन्देल नरेशों का इस स्थान पर अधिकार रहा। उनके राज्य की यह एक उपराजधानी ही थी। चन्देल नरेश भी जैनधर्म के अत्यधिक प्रश्रयदाता थे। उनके शासन में देवगढ़ के लौकिक धार्मिक एवं कला वैभव की अभिवृद्धि ही हुई। यहाँ के अधिकांश महत्त्वपूर्ण अवशेष

प्रतिहार चन्देल काल के ही हैं। १३ वीं शती ई० में मुसल्मानों का इस प्रदेश पर अधिकार हो गया, किन्तु मुस्लिम काल में यह स्थान प्रमुख राजपथ से दूर पड़ गया और धीरे-धीरे घने वन से वेष्टित होने लगा, फलस्वरूप उनकी कुदृष्टि देवगढ़ के देवालयों पर न पड़ पाई और विधर्मियों द्वारा विध्वंस किये जाने से उनकी रक्षा हो गई। १७ वीं शताब्दी से मुगल सम्राटों के अधीनस्थ बुन्देले राजपूतों का इस सम्पूर्ण प्रदेश पर अधिकार हुआ और इसी कारण विन्ध्यभूमि का यह सम्पूर्ण भाग बुन्देलखंड कहलाने लगा। इस काल में देवगढ़ का राजनीतिक महत्त्व कम होता गया और धार्मिक महत्त्व ही अवशिष्ट रहता गया। फिर भी १९ वीं शताब्दी के प्रारंभ तक देवगढ़ का दुर्ग एक सुदृढ़ एवं सुरक्षित दुर्ग था। सन् १८११ ई० में जब महाराजा सिंधिया की ओर से उसके सेनापति कर्नल वैपरिस्टी फिलोज ने बुन्देलों से देवगढ़ को छीनना चाहा तो वह लगातार तीन दिन तक युद्ध करने के उपरान्त ही उस पर अधिकार कर पाया। देवगढ़ पर सिन्धिया का अधिकार कुछ ही काल रहा। सिन्धिया ने चन्देरी के बदले में उसे अंग्रेजी सरकार को दे दिया और तब से स्वातन्त्र्य प्राप्ति पर्यन्त वह अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत संयुक्त प्रान्त के झाँसी जिले की ललितपुर तहसील का एक भाग रहता आया है। वर्तमान में विन्ध्यभूमि का यह भूभाग उत्तर प्रदेश के दक्षिणी भाग के उसी जिले की और तहसील का एक अंग है।

देवगढ़ का प्राचीन नाम लुअच्छगिरि था। कम से कम ९ वीं शताब्दी ई० के मध्य तक यह स्थान इसी नाम से प्रसिद्ध था। ११ वीं शताब्दी के अन्त में चन्देल नरेश कीर्तिवर्मन के मन्त्री वत्सराज ने इस स्थान पर एक नवीन दुर्ग निर्माण कराके, अथवा प्राचीन दुर्ग का ही जीर्णोद्धार कराकर इसका नाम अपने स्वामी के नाम पर कीर्तिगिरि रक्खा। ये दोनों ही नाम विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गये और शताब्दियों से यह स्थान देवगढ़ नाम से ही प्रसिद्ध रहता आया है। श्री पूर्णचन्द्र मुखर्जी ने ललितपुर तहसील की अपनी पुरातत्त्विक खोज के विवरण में सन् ८५० ई० से ९९९ ई० पर्यन्त इस नगर पर किसी देववंश का अधिकार होने की कल्पना की है जिसके कारण इस स्थान का नाम देवगढ़ पड़ा। इतिहास में ऐसे किसी वंश का उल्लेख नहीं मिलता और इस काल प्रतिहार नरेशों का प्रभुत्व इस नगर पर था यह बात असंदिग्ध है। संभव है उनके जो महासामन्त इस प्रदेश के प्रान्तीय शासक थे उनका अपना वंश देववंश कहलाता हो। किन्तु उन्हीं सम्राटों एवं महासामन्तों के काल के सन् ८६२ ई० के शिलालेख में इस दुर्ग का नाम लुअच्छगिरि दिया हुआ है। हो सकता है कि गुप्तों के उपरान्त और प्रतिहारों के पूर्व जिस जैन राज्यवंश का शासन और अधिकार इस नगर पर रहा और जिसने इस पर्वत पर अनेक भव्य जिनालयों से युक्त त्रिकुट दुर्ग का निर्माण कराया उसका नाम देववंश रहा हो। सन् ८६२ ई० का उपरोक्त शिलालेख जिस जैन मानस्तम्भ पर अंकित

है उसके प्रतिष्ठापक आचार्य कमलदेव के शिष्य आचार्य श्रीदेव थे। संभव है वे देवसंघ के आचार्य हों और इस स्थान पर अपनी भट्टारकीय गद्दी स्थापित की हो तथा यहाँ के प्रसिद्ध धर्माचार्य रहे हों, उनके अपने या उनके संघ के नाम से यह दुर्ग देवगढ़ कहलाने लगा हो इस प्रदेश में प्रचलित एक जन श्रुति भी है—प्राचीन काल में किसी समय देवपत और खेमपत नामके दो जैनधर्मावलम्बी भ्राता इस नगर में रहते थे। देवकृपा से उन्हें पारसपथरी प्राप्त हो गई, जिसके प्रभाव से वे विपुल धन ऐश्वर्य के स्वामी बन गये। उस धनका सदुपयोग इन भ्राताद्वय ने इस स्थान पर अनेक भव्य जिनायतनों का निर्माण कराने तथा दुर्ग एवं नगर का सौन्दर्य तथा वैभव बढ़ाने में किया। तत्कालीन राजा ने उन पर आक्रमण करके वह पथरी उनसे बरबस छीनना चाही, किन्तु देवपत ने उक्त पथरी को इसके पूर्व ही बेतवा के गंभीर जल में विसर्जित कर दिया। कहा जाता है कि इस स्थान के महान निर्माता उक्त देवपत के कारण ही यह स्थान देवगढ़ कहलाया। यह भी संभव है कि अनगिनत देव मूर्त्तियों एवं देवायतनों के कारण ही उसका देवगढ़ नाम प्रसिद्ध हुआ। कम से कम जैनों की दृष्टि में तो अपने बहुसंख्यक प्राचीन देवमंदिरों एवं देव प्रतिमाओं के कारण वह एक सच्चा देवगढ़ बना चला आया है और किसी तीर्थङ्कर की कल्याणक भूमि या कोई अतिशयक्षेत्र अथवा किसी शलाका पुरुष का जन्म स्थान न होते हुए भी एक पवित्र धर्मतीर्थ के रूप में दर्शनीय एवं वन्दनीय रहता आया है।

देवगढ़ के पुरातत्त्वावशेषों में से अधिकांश जैन मन्दिरों, मूर्त्तियों और भवनों के ही भग्न अभग्न अवशेष है, और उनमें से भी अधिकांश उसके केन्द्रीय स्थान दुर्ग कोट के भीतर ही हैं। इन जैन मन्दिरों में कुछ बहुत छोटे छोटे धर्मायतनों को छोड़कर शेष लगभग ३०-३१ भव्य जिन मन्दिरों के स्पष्ट चिन्ह मिलते हैं, और इनमें भी लगभग १६-१७ बहुत कुछ अच्छी हालत में हैं। इन मन्दिरों में से अधिकांश ८ वीं से १२ वीं शताब्दी के मध्य बने प्रतीत होते हैं। कुछ एक गुप्तकाल जितने प्राचीन भी प्रतीत होते है जबकि कई मन्दिर १५ वीं से १८ वीं शती के मध्य भी निर्मित हुए हैं। दूसरे कोट के भीतर केवल दो मन्दिर है जिनमें से एक तो सोलह स्तंभों पर आधारित सुन्दर मंडप से युक्त विशाल एवं भव्य जिनालय का खंडहर है। मंडप के अवशिष्टांश में पूर्वाभिमुख पद्मासन एवं खड्गासन जिन मूर्तियां, चमरवाहक यक्षयक्षी, पुष्पवृष्टि आदि विविध लक्षणों से युक्त दो पंक्तियों में उत्कीर्ण हैं। मंडप की बाहिरी दीवार में भी कई मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, उनके सामने ही एक छोटा सा मानस्तम्भ बना हुआ है। कुछ छोटी छोटी मूर्त्तियाँ मन्दिर के सामने भी विराजमान हैं। दूसरा मन्दिर अधिक जीर्ण शीर्ण दशा में है, इसमें भी कलापूर्ण पद्मासन एवं खड्गासन मूर्त्तियाँ विद्यमान हैं इस मन्दिर के बाहिर दक्षिण की ओर खंडित मूर्त्तियों का एक ढेर लगा हुआ है। इनके अतिरिक्त शेष समस्त मन्दिर तीसरे कोट के भीतर हैं।

तीसरे कोट के मन्दिरों में सर्वाधिक विशाल एवं महत्त्वपूर्ण मन्दिर १६ वें तीर्थङ्कर भ० शान्तिनाथ का है। मन्दिर के गर्भगृह में भ० शान्तिनाथ की १२ फुट ३ इंच की खड्गासन प्रतिमा अत्यन्त चित्ताकर्षक है। शान्तिनाथ ही देवगढ़ के अधिष्ठाता देव प्रतीत होते हैं, यह प्रतिमा भी पर्याप्त प्राचीन है। गर्भगृह के आगे लगभग ४२ फुट लम्बा चौड़ा वर्गाकार मण्डप है जो छः छः स्तंभों की छः पंक्तियों पर आधारित है मण्डप के मध्य एक विशाल वेदिका पर कई मूर्त्तियाँ विराजमान हैं जिनमें से एक बाहुबलि की है। यह मूर्त्ति गोम्मटेश्वर बाहुबलि की दाक्षिणात्य मूर्त्तियों से कई अंशों में विलक्षण है। वामी, कुक्कुटसर्प, लता आदि के अतिरिक्त इस मूर्त्ति पर बिच्छू, छिपकली आदि अन्य जन्तु भी रेंगते हुए अंकित किये गये हैं और साथ ही इन उपसर्गकारी पदार्थों एवं जन्तुओं का निवारण करते हुए देव युगल का दृश्य भी अंकित है। बाहुबलि की ऐसी एक मूर्त्ति चन्देरी में भी विद्यमान बताई जाती है। मन्दिर के सामने १६-१७ फुट की दूरी पर चार सुन्दर खंभों पर आधारित एक अन्य भव्य मण्डप है। इन्हीं स्तम्भों में से एक पर सन् ८६२ ई० का गुर्जर प्रतिहार सम्राट् भोजदेव के समय का प्रसिद्ध लेख उत्कीर्ण है। शान्तिनाथ के इस मन्दिर में तीन अन्य दस दस फुट ऊँची खड्गासन प्रतिमाएँ भी मूल प्रतिमा जैसी विराजमान हैं, छोटी बड़ी अन्य अनेक प्रतिमाएँ भी हैं। इस मन्दिर के आस पास अन्य अनेक छोटे बड़े मन्दिर विद्यमान हैं। इनमें से एक लाखो मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है। एक अन्य मन्दिर अपने कलापूर्ण प्रवेश द्वार के लिये दर्शनीय है। उसके नीचे की ओर करों में जलपात्र और सिरपर नागफण धारण किये हुए संभवतः गंगा जमुना की मनोमा युगल मूर्त्तियाँ हैं। १००८ जिन मूर्त्तियों से युक्त पाषाण का एक सुन्दर सहस्रकूट चैत्यालय यथावत अवस्थित है। एक अन्य मन्दिर सहस्रकूट मानस छत्र की रचना प्रकट कर रहा है। एक मन्दिर की दीवार पर भगवान की माता की पांचफुट उत्तुंग मनोहर मूर्त्ति उत्कीर्ण है। एक स्थान पर पार्श्वनाथ की मूर्त्ति के शिर पर नागफण न बनाकर उसके बगल में दोनों ओर विशालकाय सर्प बना दिये हैं। तथा ऋषभदेव की मूर्त्ति के शिर पर जटाएँ दिखाई हैं। एक मन्दिर में चरण चिन्ह ही हैं। एक दूसरे में तीर्थङ्कर मूर्त्तियों के अतिरिक्त मुनि आर्जिका आदि की मूर्त्तियाँ भी उत्कीर्ण हैं। एक मन्दिर बाहिरी बरामदे में विराजमान चतुर्भुजा सरस्वती की, षोडशभुजा गरुडवाहना चक्रेश्वरी की, अष्टभुजा वृषभवाहना ज्वालमालिनी की एवं कमलासना पद्मावती की मूर्त्तियाँ अत्यन्त कलापूर्ण एवं चित्ताकर्षक हैं। इनमें से एक पर वि० सं० १२२६ उत्कीर्ण है, संभव है ये चारों मूर्त्तियाँ एक ही कलाकार की कृति हों। शान्तिनाथ के उपरोक्त बड़े मन्दिर के मण्डप की एक दीवार पर भी २४ शासन देवियों में से २० की सुन्दर मूर्त्तियाँ उनके नाम सहित उत्कीर्ण हैं जो रा० ब० दयाराम साहनी के मतानुसार उत्तरभारत में प्राप्त यक्षि मूर्त्तियों से सर्वथा विलक्षण एवं अद्वितीय हैं। कहीं कहीं गृहस्थ श्रावक श्राविकाओं की मूर्त्तियाँ भी पाई जाती हैं।

देवगढ़ ही एक स्थान है जहाँ 'अरिहन्त' 'सिद्ध' 'आचार्य' 'उपाध्याय' और 'साधु' पाँचों ही परमेष्ठियों की मूर्त्तियाँ अनेक उपलब्ध होती हैं। तीर्थङ्करों में से तो चौबीसों ही तीर्थङ्करों की मूर्त्तियाँ यहाँ मिलती हैं। कई स्थानों में विशेषकर अजितनाथ और चन्द्रप्रभु के आठ आठ या चार चार अन्य जिनमूर्त्तियों से युक्त पट भी दर्शनीय हैं। कहीं कहीं एक वृक्ष के नीचे गोद में एक एक बच्चा लिये हुए दम्पत्ति युगल की मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण हैं। श्री दयाराम साहनी के मतानुसार ये दृश्य भोगभूमि के हैं जिनमें कल्पवृक्ष के नीचे तिष्ठते हुए युगलिया सन्तान युक्त प्रसन्न युगल प्रदर्शित किये गये हैं। देवगढ़ के समस्त जैन प्रस्तराङ्कनों का विधिवत अध्ययन करने से उनमें अनेक अनुश्रुतियों एवं पौराणिक आख्यानों का चित्रण मिलने की संभावना है।

देवगढ़ के दुर्ग के भीतर जैनधर्म के अतिरिक्त अन्य किसी सम्प्रदाय की मूर्त्तियाँ प्रायः नहीं पाई जातीं। सभी मूर्त्तियाँ प्रस्तरनिर्मित हैं या प्रस्तराङ्कनों के रूप में हैं। अधिकांश खड्गासन हैं, जिनकी ऊँचाई दो ढाई फुट से लेकर बारह फुट तक है। मूर्त्तियों के केशों की बनावट भिन्न-भिन्न प्रकार की है, कहीं कहीं उन पर बौद्धकला की छाप भी प्रतीत होती है, विशेषकर अभय या वरदमुद्रा युक्त आचार्य मूर्त्तियों में। सभी मूर्त्तियों की बनावट सुन्दर सुडौल एवं कलापूर्ण है। इन प्रतिमाओं का रूपशिल्प तत्कालीन जैनकला की उत्कृष्टता का परिचायक है। अपनी प्रशान्त वीतराग कायोत्सर्ग मुद्रा से यहाँ की अप्रतिम जिनमूर्त्तियाँ दर्शकों के मन को हर लेती हैं और वे तद्रूप वीतरागता के भाव उदित करने में समर्थ हैं।

प्रशमरस निमग्नं दृष्टियुग्मं प्रसन्नवदनं,
कमलमंकः कामिनीसंगशून्यः।
करयुगमपि धत्ते शस्त्रसम्बन्धबन्धं,
तदसि जगतिदेवो वीतरागस्त्वमेव ॥

महाकवि धनपालोक्त जिनमूर्त्तियों का यह आदर्श देवगढ़ की प्रतिमाओं में पग पग पर भली प्रकार चरितार्थ होता है। अरहन्तों एवं मुनियों की दिगम्बर प्रतिमाओं के अतिरिक्त सरागी देवी देवताओं एवं गृहस्थ स्त्री पुरुषों की भावभंगी, परिधान, अलङ्करण आदि के चित्रण में कलाकार ने कमाल किया है। अनेक जैन सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक प्रतीक यत्र तत्र उत्कीर्ण मिलते हैं और लोक जीवन के दृश्य भी उपलब्ध हैं। इस प्रकार देवगढ़ का रूप शिल्प न केवल धार्मिक एवं कलात्मक दृष्टि से ही वरन् सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं।

देवगढ़ के जिन मंदिरों का निर्माण उत्तर भारत में विकसित नागर अथवा आर्य शैली में हुआ है। इसे पंचरत्न शैली भी कहते हैं और यह दक्षिण भारत में प्रचलित द्राविड शैली से भिन्न है। देवगढ़ के शिखरबंद मंदिर उक्त नागर शैली के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। शान्तिनाथ आदि मंदिरों के शिखर अत्यन्त सुन्दर हैं। सभी मंदिर प्रस्तरनिर्मित हैं और उनका कटाव और

कारीगरी दर्शनीय है। मंदिरों के गर्भगृह प्रायः अन्धकार मय हैं और उनके द्वार बहुत छोटे छोटे हैं। किन्तु गर्भ गृहों के आगे के सभा मंडप खुले और विशाल हैं। जिन स्तंभों पर वे आधारित हैं उनकी तथा छतों एवं दीवारों की कारीगरी और उन पर उत्कीर्ण मूर्त्त दृश्य एवं अलङ्करण चित्ताकर्षक हैं। मंदिरों के तोरणद्वार भी सुन्दर एवं कलापूर्ण हैं। चरणचिन्हों से युक्त शिखर-बंद खुली छतरियाँ भी हैं और जिनमूर्तियों एवं मंगल प्रतीकों से अलङ्कृत कई सुन्दर उत्तुंग मानस्तम्भ भी हैं। स्वयं दुर्गकोट, उसका तोरणद्वार, घाट और सीढ़ियाँ, विशाल पाषाण में काट कर बनाई बावड़ी आदि भी प्राचीन स्थापत्य के अच्छे नमूने हैं। वस्तुतः उपरोक्त नागर शैली के स्थापत्य का विकास गुप्त काल से और वह भी मुख्यतया देवगढ़ के जिनायतनों द्वारा ही प्रारंभ हुआ प्रतीत होता है यही कारण है कि देवगढ़ और उसके उपरान्त खजुराहो, चन्देरी, अजयगढ़, महोबा, अहार, पपौरा आदि के प्राचीन जैन मंदिर प्राग्मुस्लिम कालीन सम्पूर्ण भारतीय कला का सफल प्रतिनिधित्व करते हैं। गुप्त, गुर्जर, प्रतिहार और चन्देल वंशों के परम सहिष्णु नरेशों के आश्रय में उत्तरभारत की धर्माश्रित कला विशेष कर जैनों के प्रयत्न से खूब फली फूली।

भारतीय इतिहास का वह स्वर्णयुग धार्मिक सद्भाव से परिपूर्ण था। साम्प्रदायिक विद्वेष एवं धर्मान्धता से शून्य उस युग में जैनों, वैष्णवों एवं शैवों ने निर्विरोध साथ ही साथ भारतीय कला और संस्कृति को समृद्ध एवं विकसित किया था। यही कारण है कि अनेक मनोहर जिन-मंदिरों, तीर्थङ्कर प्रतिमाओं, अन्य परमेष्ठियों तथा देवी देवताओं, मूर्त्तियों, जैन प्रतीकों एवं पौराणिक दृश्यों के प्रस्तराङ्कनों और अन्य जैन कलाकृतियों के साथ ही साथ अन्य सम्प्रदायों के देवी-देवताओं की मूर्त्तियाँ एवं धर्मायतन भी पाये जाते हैं। सप्तमातृका देवियों की मूर्त्तियाँ तो अनेक यत्र तत्र मिलती हैं, इन देवियों की मान्यता जैन और वैष्णव दोनों ही सम्प्रदायों में समान रूप से पाई जाती है। इनके अतिरिक्त नाहर एवं राजघाट की कतिपय गुफाओं में जिनमें से एक सिद्ध गुफा कहलाती है; स्पष्टतः हिन्दू देवी देवताओं की मूर्त्तियाँ पाई जाती हैं। एक में शिवलिंग स्थापित है। एक में सूर्य भगवान और गणेश की मूर्त्तियाँ हैं। एक स्थान में पंच पांडव उत्कीर्ण हैं दुर्ग के नीचे एक ओर वराहवतार का भग्न प्राचीन मंदिर तथा उक्त देव की खंडित मूर्ति विद्यमान है। हिन्दू कला-कृतियों में सर्वाधिक आकर्षक एवं महत्त्वपूर्ण वह सुप्रसिद्ध दशावतार मंदिर है जो गुप्तकाल में निर्मित हुआ अनुमान किया जाता है। श्री माधवस्वरूप वत्स के मतानुसार यह मंदिर उत्तर भारत में प्रचलित पंचरत्न शैली का सर्वप्राचीन उपलब्ध उदाहरण है। इस समय वह अत्यन्त जीर्ण शीर्ण दशा में है फिर भी उसके अवशेष उसकी अनुपम स्थापत्य एवं मूर्त्तकला का परिचय देने के लिये पर्याप्त है। स्मिथ आदि कलामर्मज्ञों के मत से इस मंदिर के प्रस्तराङ्कनों में कई एक ऐसे हैं जो भारतीय मूर्त्तिकला एवं रूप शिल्प के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण कहे जा सकते हैं। मंदिर की दीवारों पर अंकित लक्ष्मी द्वारा पदचापित अनन्तशायी विष्णु की मूर्ति

गजेन्द्र मोक्ष का दृश्य, नरनारायण की मूर्ति, रामायण और महाभारत के अनेक भावपूर्ण दृश्य अत्यन्त कलापूर्ण और मनोहारी हैं। कलाकार ने मूर्तियों की भावभंगी दर्शाने में, उनके अलङ्कार विशेष कर परिच्छेद वस्त्रों के अङ्कन में तथा उत्कीर्ण व्यक्तियों के क्रियाकलापों को गतिमान एवं सजीव बना देने में अपनी कलाकी पराकाष्ठा कर दिखाई है। इस मंदिर के कलात्मक प्रस्तराङ्कनों ने ही कलामर्मज्ञों एवं पुरातत्त्वज्ञों का ध्यान देवगढ़ की ओर सर्वाधिक आकृष्ट किया है। देवगढ़ के उपरोक्त हिन्दू धर्मायतन और कलाकृतियाँ इस तथ्य के परिचायक हैं कि यह स्थान किसी समय जैन एवं हिन्दू धर्मों तथा संस्कृतियों का प्रमुख सन्निवेश था। दोनों ही परम्पराओं के अनुयायी यहाँ सद्भाव एवं सहयोगपूर्वक फले फूले थे और दोनों ने ही भारतवर्ष के सांस्कृतिक भंडार को समृद्ध करने में अभूतपूर्व योगदान दिया था।

शिलालेखीय सामग्री की भी देवगढ़ में प्रचुरता है। उत्तर भारतीय पुरातत्त्व विभाग की सन् १९१८ ई० की वार्षिक रिपोर्ट में इस स्थान से प्राप्त लगभग २०० शिलालेखों की सूचना हुई थी। उसके बाद भी लगभग एक सौ और लेख दृष्टिगोचर हुए हैं। फिर भी देवगढ़ में तथा उसके आस पास जंगल में यत्र तत्र बिखरी हुई खंडित अखंडित अनेक जैन प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण सभी लेखों का अभी तक संग्रह और सूचना नहीं हो पायी है। रिपोर्ट में सूचित लेखों में से लगभग डेढ़ सौ लेख ऐतिहासिक महत्त्व के हैं, कुछ एक तो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उपलब्ध लेखों में अधिकांश जैन लेख हैं, और लगभग साठ लेख ऐसे हैं जिनमें उनके अंकित किये जाने की तिथि का भी उल्लेख है। ये लेख प्रायः वि० सं० ९१९ से १८७६ पर्यन्त के हैं। ये शिलालेख न केवल देवगढ़ के तत्कालीन जैनधर्मावलम्बियों के धार्मिक जीवन, सामाजिक संगठन तथा तत्सम्बन्धी इतिहास ज्ञान के लिये ही उपयोगी नहीं हैं, वरन् भारतवर्ष के सामान्य राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पर पुष्कल प्रकाश डालते हैं। साथ ही नागरी अक्षरों एवं लिपि के क्रमिक विकास का अध्ययन करने के लिये भी ये लेख अत्यधिक उपयोगी हैं।

प्रमुख शिलालेखों में समय और महत्त्व की दृष्टि से दशावतार मंदिर का वह खंडित लेख सर्व प्रथम है जो रा० ब० दयाराम साहनी ने वहाँ सन् १९१७ में देखा बताया गया है और जिसके अनुसार किन्हीं भगवत गोविन्द ने उक्त मंदिर के अधिपतिदेव के लिये एक स्तम्भ प्रदान किया था। अनुमान किया जाता है कि ये भगवत गोविन्द संभवतया गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के कनिष्ठ पुत्र तथा सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम के अनुज महाराजकुमार परम भागवत गोविन्दगुप्त थे। इसी लेख के आधार पर उक्त मन्दिर का निर्माण काल ५-६ ठी शताब्दी ई० माना जाता है और इस मंदिर को गुप्तकालीन कहा जाता है। दूसरा लेख नाहरघाटी की एक गुफा में प्राप्त हुआ है और सं० ६०९ (सन् ५५२ ई०) का बताया जाता है। इसमें सूर्यवंशी स्वामिभट्ट का उल्लेख है। यह लेख भी गुप्तकालीन है। इनके

उपरान्त कन्नौज के गुर्जर प्रतिहार नरेश वत्सराज आम के प्रपौत्र और नागावलोक या नागभट्ट द्वितीय के पौत्र महाराजाधिराज परमेश्वर श्री भोजदेव के समय का जैन स्तम्भलेख है। इस लेख के अनुसार उक्त सम्राट् के पंच महाशब्द प्राप्त महासामन्त श्री विष्णुराम के शासन में आचार्य कमलदेव के शिष्य आचार्य श्रीदेव ने इस लुअच्छगिरि के प्राचीन शान्त्यायतन (शान्तिनाथ के मंदिर) के निकट गोष्ठिक वाजुआगंगा द्वारा मानस्तम्भ निर्माण कराकर विक्रम संवत् ६१६ शककाल ७८४ की आश्विन शुक्ल चतुर्दशी बृहस्पतिवार को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में प्रतिष्ठापित किया था।

अपने ऐतिहासिक एवं धार्मिक महत्त्व के अतिरिक्त सन् ८६२ ई० के इस अभिलेख की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें विक्रम एवं शक दोनों ही संवतों के एक साथ उल्लेख का प्रायः सर्व प्राचीन उदाहरण मिलता है। उत्तर भारत में स्थित देवगढ़ में विक्रम संवत् का ही प्रचलन था, किन्तु उक्त स्तम्भ के प्रतिष्ठापक आचार्य दक्षिण भारत के निवासी रहे प्रतीत होते हैं, अतः लेख में उन्होंने दोनों ही संवतों का उल्लेख कराना उचित समझा। और संयोग से इतिहासकारों के लिये उक्त दोनों संवतों के परस्पर सम्बन्ध एवं अन्तर का एक प्राचीन स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत कर दिया। यह लेख देवगढ़ से प्राप्त स्पष्ट तिथि युक्त लेखों में सर्व प्राचीन है। शान्तिनाथ के इसी मंदिर की उत्तरी दालान में एक ज्ञानशिला अंकित है। यह विचित्र शिलालेख अठारह विभिन्न भाषाओं एवं लिपियों में उत्कीर्ण है। प्राचीन ब्राह्मी लिपि से लेकर पूर्वमध्यकालीन विभिन्न आर्य एवं द्राविड़ लिपियों तथा भाषाओं का इसमें समावेश है। हाँ, तुर्की, अरबी, फारसी आदि भाषाओं या लिपियों का इसमें कोई चिन्ह नहीं है, अतः यह लेख मुसल्मानों के भारत प्रवेश से पूर्व का ही होना चाहिये। कहा जाता है कि आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी ने उक्त अठारह लिपियों का सर्व प्रथम आविष्कार किया था। इसी मंदिर के निकट एक अन्य जैन मंदिर में ११-१२ वीं शती की लिपि में एक लेख है जिसमें एक दानशाला के बनाये जाने का वर्णन है।

राजघाटी पर एक शिलालेख संवत् ११५४ (सन् १०६७ ई०) का चन्देलनरेश कीर्त्तिवर्मन के मन्त्री वत्सराज का है जिसमें उसके द्वारा यहाँ एक दुर्ग बनवाने तथा इस स्थान का नाम कीर्त्तिगिरि रखने का उल्लेख है। सन् ११०७ के एक शि० ले० में एक जैन मंदिर के निर्माण का वर्णन है। सन् १२८८ के शि० ले० में राजा वीर द्वारा गढ़कुण्डार की विजय का उल्लेख है। सन् १४३६ ई० के शि० ले० से किन्हीं सिंघई द्वारा एक जैन मन्दिर के निर्माण कराने का पता चलता है। इससे बुन्देलखंड के जैनियों की सिंघई जैसी पदवी की प्राचीनता भी सिद्ध होती है और यह भी पता चलता है कि मुसल्मानी शासनकाल में भी देवगढ़में जैन मंदिर बनते रहे और यहाँ जैनियों की अच्छी बस्ती बनी रही। इस लेख के उपरान्त समय के भी अनेक

जैन मूर्ति एवं शिलालेख यहाँ प्राप्त हुए हैं। अन्तिम लेख वि० सं० १८७६ (सन् १८१६ ई०) का है। इस समय यह स्थान बुन्देलों से छिनकर मरहठा सरदार सिन्धिया के अधिकार में आ चुका था।

सन् १९१८ ई० की पूर्वोक्त राजकीय पुरातत्त्व विभाग द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट में सूचित जैन शिलालेखों में जिन विभिन्न जैनाचार्यों, साध्वियों, विद्वानों, श्रावक श्राविकाओं, राजा महाराजाओं आदि के नाम आये हैं वे इस प्रकार हैं—जैनाचार्य कमलदेव, श्रीदेव, शुभदेव, कीर्त्याचार्य, वीरनंदि, गुणनंदि, भावनंदि, धर्मनंदि, प्रसिद्ध व्याख्याता माघनन्दि, लोकनन्दि, आचार्य जयकीर्त्ति, यशःकीर्त्ति, सहस्रकीर्त्ति, देवेन्द्रकीर्त्ति, त्रिभुवनकीर्त्ति, महीचन्द्र, आचार्य नागसेन, माधवचन्द्र, अजित सिंह, भुवन सिंह, आदि।

आर्यिकाएँ—धर्मश्री, इन्दुआ, नवाछो, आदि।

विद्वान्—पं० अजित सिंह, पं० ललित सिंह, पं० शुभङ्करदेव, प० लालदेव, पं० माधवनन्दि आदि। इनमें से कुछ एक भट्टारक या भट्टारकीय पंडित भी हो सकते हैं।

श्रावक—महीन्द्रसिंह, साहसिंह, श्रीसिंह, जसदेव, नेमिचन्द्र, विस्व या इन्द्र, जुगराव, राजपाल, प्रभाकर, कल्हन, चसदेव और उसका पुत्र कल्याणसिंह, पाहस और उसका पौत्र केशव, गोष्ठिक बाज या जाजु और उसका भाई गंगा या गङ्ग, शिवदेव, केशव और उसका पुत्र गोमिल, नन्हे सिंघई, आदि।

श्राविका—साविनी, सलाखी, जुगराव की पत्नी संघश्री, राजपाल की पत्नी लवनासारी, लालसा, सदिया, श्रीमती और उसकी भगिनी धनिया, आदि।

शासकगण—महाराजाधिराज भोजदेव, महासामन्त श्री विष्णुराम, महासामन्त उदयपाल, महाराजाधिराज उदयसिंह पालीगढ़नरेश, महाराजाधिराज देवीसिंह और उनके पुत्र दुर्गासिंह, उदेतसिंह, छत्रसाल, कुशलसिंह, तेजसिंह आदि।

इन लगभग सत्तर नामों में कई नाम ऐसे हैं जो कई बार आये हैं। उल्लिखित राजा महाराजाओं, सामन्तों आदि में से कई ऐसे हो सकते हैं जो जैनधर्म के भक्त रहे हों। इस सूची में त्यागी और गृहस्थ सभी वर्गों के स्त्री पुरुषों के नाम हैं। इससे विदित होता है कि देवगढ़ चिरकाल पर्यन्त एक प्रसिद्ध जैन केन्द्र रहा है जिसके धार्मिक वातावरण को प्रोत्साहित करने और सांस्कृतिक समृद्धि को बढ़ाने में जैनों के समग्र चतुर्विध संघ का स्तुत्य योगदान रहा है। देवगढ़ के उदार जैनधर्म का उपयोग सभी वर्गों के स्त्री पुरुष समान भाव से करते थे। देवगढ़ की, उपरोक्त यशस्वी निर्माताओं द्वारा निर्मित चित्ताकर्षक एवं बहुसंख्यक कलाकृतियाँ उनकी धार्मिकता, दानशीलता, विद्वत्ता, कलामर्मज्ञता एवं लौकिक समृद्धि की भी परिचायक हैं।

इस प्रकार अपने आकर्षक प्राकृतिक वातावरण एवं भौगोलिक स्थिति, असंख्य अप्रतिम कलाकृतियों, सैकड़ों ऐतिहासिक शिलालेखों, धार्मिक प्रेरणाओं, आदि के लिये देवगढ़ सामान्य दर्शकों, कलाप्रेमियों, पुरातत्त्वज्ञों, इतिहास के विद्यार्थियों तथा धार्मिक जनसाधारण सभी के लिये एक दर्शनीय एवं अध्ययनीय स्थल है। प्राचीन भारत का वैभव देवगढ़ आज भी भारतीय राष्ट्र का गौरव है। किन्तु इस अपूर्व स्थान के स्मारकों, पुरातत्त्वावशेषों एवं कलाकृतियों आदि के समुचित संरक्षण, सुरक्षा, जीर्णोद्धार एवं खोज-शोध और अध्ययन की दिशा में जनता एवं राज्य द्वारा ही नहीं स्वयं जैन समाज द्वारा भी जो कुछ कार्य अभीतक हुआ है वह नितान्त अपर्याप्त और असंतोषजनक है। इस दिशा में अभी बहुत कुछ और व्यवस्थित ढंग से किये जाने की आवश्यकता है अन्यथा अन्य अनेक स्थानों की भाँति हमारा यह महत्त्वपूर्ण निधिकोष भी विकराल काल के विनाशकारी जबड़ों में शनैः शनैः विलीन होता चला जायगा।

महावीर संवत्

[श्री पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण, मूडबिद्री]

"जैन सिद्धांत-भास्कर' भाग २१, किरण २ में 'महावीर संवत्' शीर्षक लेख 'भास्कर' के सहयोगी सम्पादक मित्रवर पं० नेमिचंद्र जी शास्त्री, ज्योतिषाचार्य का एक लेख प्रकाशित हुआ है। उस लेख में बताया गया है कि गौतम बुद्ध की मृत्यु भगवान् महावीर के निर्वाण लाभ के १४ वर्ष पहले हुई थी। शास्त्री जी ने अपनी इस बात के समर्थन में बौद्ध ग्रंथ 'दीघनिकाय' के प्रकरण को उद्धृत कर अपनी बात को यों स्पष्ट किया है। "मंत्री वैदेही पुत्र, मगधपति राजा अजात शत्रु से बोला—'महाराज, ये निर्ग्रन्थ नातपुत्त आगये ये संघ और गण के स्वामी हैं, गण के आचार्य और प्रख्यात कीर्तिमान् तीर्थंकर हैं, सज्जन मान्य और बहुत लोगों के श्रद्धास्पद होने के उपरान्त ये चिर दीक्षित और अवस्था में अधेड़ हैं।' इस उद्धरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि अजात शत्रु के राज्य के प्रथम वर्ष में ही भगवान् महावीर का आगमन मान लिया जाय तो उस समय बुद्ध की अवस्था ७२ वर्ष की ठहरती है क्योंकि अजात शत्रु के राज्यत्वकाल के ८ वें वर्ष में वे ८० वर्ष की अवस्था में निर्वाण को प्राप्त हुए थे। इस प्रसंग में महावीर को अर्धवय कहा गया है। अतः इससे स्पष्ट है कि महावीर की अवस्था उस समय ५० वर्ष की रही होगी। 'दीघनिकाय' के उल्लेखानुसार भगवान महावीर का निर्वाण अजात शत्रु के राज्यकाल के २२ वें वर्ष में हुआ; क्योंकि इनकी संपूर्ण आयु ७२ वर्ष की थी। इस हिसाब से बुद्ध के निर्वाण के लगभग २४ वर्ष पीछे महावीर का निर्वाण हुआ होगा।"

परंतु बौद्ध ग्रंथ 'सभियसुत्तं' में सभिय नामक एक परिव्राजक का उल्लेख आया है। उसमें लिखा है कि एक बार उस परिव्राजक ने निर्वाण निगंठ नातपुत्त महावीर आदि तत्कालीन छह प्राज्ञों से कतिपय प्रश्न पूछे और जब उनसे उक्त प्रश्नों का समुचित उत्तर सभिय को नहीं मिला, तब उसने गौतम बुद्ध के पास जाकर उनसे पूर्वोक्त उन्हीं प्रश्नों का जवाब मांगा। इस प्रकरण में उपर्युक्त महावीर आदि छह प्राज्ञों का जिण्णा, बुड्ढा, महल्लका, श्रद्धगता, वयो अनुप्पत्ता और थेरा ये ६ विशेषण दिये गये हैं। इसी प्रकार बुद्ध के लिये 'समणो हि गोतमो दहरो चेव जातिया नवोच पब्बज्जाय' कहा है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि श्रमण गौतम उन प्राज्ञों से अवस्था में छोटे और प्रव्रज्या में उनसे नवीन थे। इतना ही नहीं; इससे यह भी निःसंदेह स्पष्ट होता है कि बुद्ध और महावीर समकालीन और बुद्ध महावीर से अवस्था एवं आश्रम में कम से कम १०-२० वर्षों के लिये छोटे थे।

इसी प्रकार पूर्वोक्त सूत्र में महावीर की तरह बुद्ध भी 'श्रमण, संघो, गणी, गणाचारियो, तित्थकरो, साधुसम्मतो बहु जनस्स, आदि सम्मान सूचक शब्दों के द्वारा स्मरण किये गये हैं।

साथ ही साथ सूत्र के प्रारंभ में गौतम बुद्ध को स्पष्ट भगवां (भगवान्) कहा है। इससे यह अनुमान लगाना भी नियुक्तिक नहीं है कि बुद्ध इससे कुछ समय पूर्व ही सही, बोधिज्ञान को प्राप्त करके श्रमण अवस्था में धर्मोपदेश देना प्रारंभ कर चुके थे।

बौद्ध ग्रंथ का यह मंतव्य या उल्लेख शास्त्री जी के द्वारा उपस्थित किये गये पूर्वोक्त मंतव्य का प्रतिस्पर्धी है। ऐसी परिस्थिति में गौतम बुद्ध की मृत्यु भगवान् महावीर के निर्वाणलाभ के २४ वर्ष पहले हुई थी यह बात विचारणीय है। बल्कि इसके लिये पुष्ट प्रमाणों को संग्रह करने की नितांत आवश्यकता है।

भगवान् महावीर का निर्वाण बुद्ध के निर्वाण से १४ वर्ष पूर्व हुआ था, इस अपनी बात को पुष्ट करने के लिये शास्त्री जी ने एक और उल्लेख दिया है। वह इस प्रकार है।

"डा० विनसेंट स्मिथ ने 'पासाहिक सुत्तंत' के एक उल्लेख से महात्मा बुद्ध को जीवित दशा में महावीर का निर्वाण होना स्वीकार किया है परन्तु इस सम्बन्ध में 'भगवती सूत्र' से एक प्रकाश मिलता है। बताया गया है कि मंखलिगोशालक ने महावीर के ऊपर तेज लेश्या का प्रयोग किया था, जिससे जनता ने भ्रमवश उन्हें अस्वस्थ समझा और उनके दर्शन के लिये लोग गये। जब जनता मेडियाग्राम के निकट पहुंची तो बालुकाकच्छ के पास तपश्चरण करते हुए महावीर के शिष्य सिंह मुनि का ध्यान टूट गया और प्रभु महावीर की अनिष्ट की आशंका से वह रो उठा, जिससे जनता में महावीर के निर्वाण का असत्य समाचार फैल गया। यही समाचार बुद्ध तक उनके शिष्य आनंद ने पहुँचाया, इसीका उल्लेख 'पासाहिक सुत्तंत' में है। अतः यह स्पष्ट है कि भ० महावीर का निर्वाण बुद्ध के निर्वाण से १४ वर्ष पूर्व हुआ और तभी से यह संवत् प्रचलित है।

शास्त्रीजी के द्वारा ऊपर उधृत भगवतीसूत्र के उल्लेख में मंखलि गोशालक के द्वारा महावीर के ऊपर तेजलेश्या का प्रयोग किया जाना उससे भ्रमवश महावीर को अस्वस्थ समझ कर उनके दर्शन के लिये लोगों का जाना, लोगों के मेडिय ग्राम के निकट पहुँचने पर बालुकाकच्छ के पास तपश्चरण करनेवाले महावीर के शिष्य सिंहमुनि का ध्यान टूट जाना, प्रभु महावीर के अनिष्ट की आशंका से सिंहमुनि का रो उठना और इससे जनता में महावीर के निर्वाण का असत्य समाचार फैलना आदि बातों में सहसा विश्वास नहीं जमता।

क्या एक सामान्य तपस्वी मंखलिगोशालक के द्वारा दीर्घतपस्वी, अप्रतिहतशक्तिधारी, तेजःपुञ्ज सर्वज्ञ भगवान् महावीर के ऊपर तेजलेश्या का प्रयोग किया जाना संभव है? महावीर पर किया हुआ गोशालक का वह प्रयोग जैन सिद्धान्तानुसार क्या फलकारी हो सकता है? इससे महावीर को अस्वस्थ समझनेवाले लोगों में कोई भी विचारशील व्यक्ति नहीं रहा होगा? बालुका-कच्छ के पास तपश्चरण करनेवाले महावीर के शिष्य सिंहमुनि का ध्यान टूट जाना, प्रभु

महावीर के अनिष्ट की आशंका से मुनि का रो उठना और इससे जनता में महावीर के निर्वाण का असत्य समाचार फैलना आदि बातें भी इसी तरह मन में नहीं बैठतीं। मान लीजिये यही असत्य समाचार बुद्ध तक उनके शिष्य आनन्द ने पहुँचाया। क्या थोड़े समय के बाद ही सही, बुद्ध को सही समाचार नहीं मिला होगा? बाद जब उन्हें सत्य समाचार मिला तो वे पूर्वश्रुत असत्य समाचार को अपने सूत्र में कैसे स्थान देते?

अब शास्त्रीजी के द्वारा संकेतित 'पासादिकसुत्तंत' के पद्य को उधृत करना भी आवश्यक है। बल्कि वह पद्य इस सूत्र में ही नहीं, 'सामगाम' सूत्र में भी ज्यों का त्यों मिलता है। पद्य यह है—

एकं समयं भगवा सक्केसु विहरति तेन खोपन समयेन।
निगंठो नातपुत्तो पावायां अधुना कालकतो होति॥'

अर्थात्—एक समय भगवान् बुद्ध जब शाक्य नगर में विहार कर रहे थे, तब निगंठ नातपुत्त—महावीर के उसी समय पावापुर में निर्वाण प्राप्त करने की सूचना उन्हें मिली। इस पद्य से महावीर बुद्ध के जीवन काल में ही पावापुर में निर्वाण को प्राप्त हुए थे यह बात निःसंदेह सिद्ध होती है। पद्य का अर्थ स्पष्ट है। पौर्वात्य एवं पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस पद्य का यही अर्थ लगाया है। इसलिये शास्त्रीजी से साग्रह अनुरोध है कि वे इस विषय पर फिर एकबार विचार करें।

एक बात और है। भद्रबाहुकृत कल्पसूत्र, पूज्यपादकृत निर्वाणभक्ति, सकलकीर्तिकृत वर्धमान चरित्र और आशाधरकृत कल्याणमाला आदि में भगवान् महावीर का निर्वाण कार्तिक अमावस्या की रात्रि के अन्तिम प्रहर में स्वातियोग में हुआ बतलाया है। किन्तु वीरसेनकृत धवलाटीका, गुणभद्रकृत उत्तरपुराण, असगकृत वर्धमान चरित्र और श्रुतकीर्तिकृत हरिवंशपुराण में भगवान् का वही निर्वाण कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी को रात्रि के अंतिम प्रहर में स्वातियोग में कहा है। अब यह शंका उठती है कि वस्तुतः महावीर का निर्वाण अमावस्या में हुआ है या चतुर्दशी में? कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के अंतिम प्रहर में जबकि अमावस्या का आरंभ हो चुका था। स्वातिनक्षत्र का योग रहता तो इस शंका के लिये स्थान ही नहीं था। इस विषय में मित्रवर श्रीमान् गोविन्द पै का कहना है कि निर्वाणतिथि को अमावस्या मानने पर ही स्वातिनक्षत्र का योग मिलता है और वह शुभ मुहूर्त ई० पू० ५२७, सितम्बर १३ सोमवार को आया था। इसके पूर्व दिन चतुर्दशी की रात्रि अर्थात् सितम्बर १२ आदित्यवार की रात्रि में चन्द्रमा स्वातिनक्षत्र में नहीं था। किन्तु पूर्ववर्ती चित्रा नक्षत्र में रहा। इस विषय पर खासकर शास्त्रीजी अवश्य प्रकाश डालें। क्योंकि वे ज्योतिष के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। बस, आज इतना ही लिखना था।

अहिंसा और पाँच जैनाचार्य

[पं० नेमिचन्द्र शास्त्री]

जैनाचार्यों ने अहिंसा धर्म का जितना विस्तृत विवेचन किया है, संभवतः अन्यत्र नहीं मिलेगा। श्रावकधर्म और मुनिधर्म का विवेचन करते हुए पूर्ण अहिंसा एवं आंशिक अहिंसा के विश्लेषण के साथ, अहिंसा की मर्यादा, क्षेत्र प्रभृति बातों का बड़ी सूक्ष्मता के साथ निरूपण किया गया है। प्रस्तुत निबन्ध में स्वामी समन्तभद्र, अमितगति, अमृतचन्द्र, आशाधर और शुभचन्द्राचार्य के अहिंसा विषयक वचनों का संकलन किया जायगा। पाठक देखेंगे कि श्रावक धर्म के निरूपण में इस विषय का साहित्य किस प्रकार उत्तरोत्तर विकसित हुआ है। जहाँ चरित्र पाहुड, भाव संग्रह आदि ग्रन्थों में अहिंसा की व्याख्या एवं श्रावक और मुनि की पदमर्यादा के अनुसार अहिंसा की सीमारेखा निर्धारित की गयी है, वहाँ उत्तरवर्ती आचार्यों ने इस धर्म की विस्तृत समीक्षाएँ भी की हैं। तत्त्वार्थ सूत्र के टीकाकार पूज्यपाद[1], अकलंकदेव[2], विद्यानन्दी[3], प्रभृति[4] ने भी

१ प्रमादः सकषायत्वं तद्वानात्मपरिणामः प्रमत्तः प्रमत्तस्य योगः प्रमत्तयोगः तस्मात् स प्राणिनोदुःखहेतुत्वादधर्महेतुः। प्रमत्तयोगादिति विशेषणं केवलं प्राणव्यपरोपणं नाधर्मायेति ज्ञापनार्थम्। उक्तं च—वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते इति। उक्तं च उच्चालिदंमि पादे इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे। आबादेज्ज कुलिंगो मरेज्ज तं जोगमासेज्ज॥ णहि तस्स तण्णिमित्ते बन्धोसुहुमोवि देसिदो समये। मुच्छापरिग्गहोत्ति य अज्झप्पपमाणदो भणिदो॥ ननु च प्राणव्यपरोपणाभावेऽपि प्रमत्तयोगमात्रादेव हिंसेष्यते। उक्तं च मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा। पयदस्स णत्थिबन्धो हिंसामित्तेण समिदस्स॥ इति, नैष दोषः। अत्रापि प्राणव्यपरोपणमस्ति भावलक्षणम् तथा चोक्तम्—स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्। पूर्वं प्राण्यन्तराणान्तु पश्चात्स्याद्वा नवावधः॥—सर्वार्थसिद्धिः पृ० २३०-२३१

२ अनवगृहीतप्रचारविशेषः प्रमत्तः; अभ्यन्तरीकृतेन्द्रियार्थो वा, पंचदशप्रमादपरिणतो वा……।

—तत्त्वार्थराजवार्तिक पृ० २७५

३ हिंसा हि द्वेधा भावतो द्रव्यतश्च। तत्र भावतो हिंसा प्रमत्तयोगः सन् केवलस्तत्र भाव-प्राणव्यपरोपणस्यावश्यंभावित्वात्। ततः प्रमत्तस्यात्मनः स्वात्मघातित्वात् रागाद्युत्पत्तेरेव हिंसात्वेन समये प्रतिवर्णनात्। द्रव्यहिंसा तु परद्रव्यप्राणव्यपरोपणं स्वात्मनो वा तद्विभाविनः प्रायश्चित्तोपदेशो भावप्राणव्यपरोपणाभावात् तदसंभवात् प्रमत्तयोगः स्यात् तद्धि पूर्वकस्य यतेरप्यवश्यंभावात्।

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ४६२

४ जह ते ण पियं दुक्खं, तहेव तेसिं पि जाण जीवाणं।
एवं णच्चा अप्पो वमिओ जीवेसु होहि सदा॥
सव्वेसिमासमाणं हिदयं गब्भो व सव्व सत्थाणं।
सव्वेसिं वदगुणाणं, पिण्डो सारो अहिंसा॥—भगवती आराधना गा० ७८०, ७८१

अहिंसा का विवेचन जी खोलकर किया है। इसी प्रकार भगवती आराधना, मूलाचार[1] आदि में भी अहिंसा का सविस्तार निरूपण किया गया है।

स्वामी समन्तभद्र—

विक्रम संवत् की ३-४ थी शती में स्वामी समन्तभद्र ने विपुल परिमाण में जैन साहित्य का प्रणयन किया है। आपने गृहस्थाचार पर रत्नकरण्ड श्रावकाचार नामक ग्रन्थ लिखा है, इसमें गृहस्थाचार का विस्तृत वर्णन है। गृहस्थ वही हो सकता है, जो आठ मूल गुणों का पालन करे। मूलगुणों को धारण किये बिना कोई भी व्यक्ति श्रावकपद नहीं पा सकता है। स्वामी समन्तभद्र ने पंचाणुव्रतों को मूलगुणों में स्थान देकर आरम्भिक श्रावक को ही आंशिक अहिंसा को सम्यक्तया पालन करने के लिए बाध्य कर दिया है। जिस प्रकार मजबूत जड़ के बिना वृक्ष की स्थिति संभव नहीं अथवा गहरी मजबूत नींव के बिना दीवाल की दृढ़ता संभव नहीं; उसी प्रकार अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणुव्रत के पालन के साथ मद्य, मांस और मधुकात्याग[2] किये बिना गृहस्थ की स्थिति संभव नहीं। अहिंसक और सात्त्विक होने पर ही व्यक्ति यथार्थ में गृहस्थ होता है। जो दयालु है, समस्त जीवों के प्रति जिनके हृदय में अपनत्व की भावना जाग्रत हो गयी है, ऐसा व्यक्ति ही धर्म के उपदेश को सुनने का अधिकारी है। अहिंसा धर्म का पालन करनेवाला श्रावक अपनी इच्छा और वासनाओं को भी संयमित बनाता है तथा इस धर्म के पालने के लिए झूठ, चोरी, कुशील और अधिक संचय की वृत्ति का त्याग करता है। प्राणिमात्र के साथ उसकी सहानुभूति और मित्रता हो जाती है।

स्वको पहचानने तथा आत्मानुभूति में दर्शनमोहनीय का उदय अधिक बाधक है। जब आत्मा में सम्यक्त्व—स्व-स्वरूप का विश्वास हो जाता है तो आत्मा धर्म की ओर प्रवृत्ति करने लगती है। अहिंसा पर विश्वास भी तभी होता है, जब आत्मा में दर्शनमोह के उपशम, क्षय या क्षयोपशम होने पर धर्म धारण की योग्यता उत्पन्न हो जाय। स्वामी समन्तभद्र ने इसी कारण सबसे प्रथम श्रावक को सम्यग्दृष्टि बनने पर जोर दिया है। पाप के कारण हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और अति संचय या अमर्यादित संचय का त्याग करना चारित्र बताया है।

अहिंसाणुव्रत

संकल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्वान्।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः ॥—रत्न० श्लो० ५३

---

१ एइंदियादिपाणा पंचविधावज्जभीरुणा सम्मं।
ते खलु ण हिंसिदव्वा मणवचिकायेण सव्वत्थ ॥—मूलाचार पंचाचार अ० गा० २८९

२ मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥—रत्न० श्लो० ६६

अर्थ—मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से संकल्प कर त्रसहिंसा—द्वीन्द्रियादि जीवों की हिंसा का त्याग करना अहिंसाणुव्रत है।

इस व्रत का समुचित पालन करने के लिए पाँच अतीचारों का भी त्याग करना आवश्यक है।

अतीचार—

छेदनबन्धनपीडनमतिभारारोपणंव्यतीचाराः ।

आहारवारणापि च स्थूलवधाद्व्युपरतेः पंच ॥—रत्न श्लो० ५४

अर्थ—छेदन—पशुओं या मनुष्यों के नाक, कान आदि अंगों का काटना; बन्धन—पशुओं को रस्सी आदि से बाँधना, पीडन—किसी को भी कोड़ा, लाठी आदि से पीटना, अतिभारारोपण—शक्ति से अधिक बोझ लादना; और आहारवारण—आहार-पानी का रोकना अथवा समय पर आहार-पानी का न देना; ये पाँच अहिंसाणुव्रत के अतीचार हैं।

अमितगति—

विक्रम की ११ वीं शती में आचार्य अमितगति ने अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है। इनमें श्रावकाचार प्रसिद्ध ग्रन्थ है; इसमें आचार्य ने अहिंसा धर्म का वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया है। अहिंसा की परिभाषा, गृहस्थ के लिए अहिंसा की मर्यादा, हिंसा के कारण, देव-मंत्र-औषध आदि के लिए हिंसा का निषेध एवं अहिंसा की महत्ता का सविस्तार निरूपण किया है।

अहिंसाणुव्रत की परिभाषा—

स्थूल हिंसा के त्याग को अहिंसाणुव्रत बतलाया है। विश्व में दो प्रकार के प्राणी हैं—त्रस और स्थावर। जो गृहस्थ त्रस जीवों की हिंसा का पूर्णतया त्याग कर देता है तथा मद्य, मांस मधु और अभक्ष्य का त्यागी होता है, वही अहिंसाणुव्रत का पालन करता है। अहिंसाणुव्रत के पालन करनेवाला का संयतासंयत रूप होता है, अतः उसे इन्द्रियों के विषयों से भी विरक्ति रखनी होती है। संसार, शरीर और भोग इन तीनों से भी विरक्त होना आवश्यक है।

द्वेधा जीवा जैनैर्मतास्त्रसस्थावरप्रभेदेन ।

तत्र त्रसरक्षायां तदुच्यतेऽणुव्रतं प्रथमम् ॥

स्थावरघाती जीवस्त्रससंरक्षी विशुद्धपरिणामः ।

योऽक्षविषयान्निवृत्तः सः संयतासंयतो ज्ञेयः ॥ —अमि० श्रा० अ० ६ श्लो० ४-५

अर्थ—जीव दो प्रकार के हैं—त्रस और स्थावर। त्रस जीवों की रक्षा करना अहिंसाणुव्रत है। यद्यपि शक्त्यनुसार स्थावर जीवों की हिंसा का भी अणुव्रती त्यागी होता है; परन्तु पूर्णरूप से स्थावर जीवों की रक्षा करने में गृहस्थ असमर्थ रहता है। अतएव त्रस हिंसा का पूर्ण त्यागी, विशुद्ध परिणामों का धारी, इन्द्रियों के विषयों से विरक्त श्रावक देशव्रती कहलाता है।

हिंसा की परिभाषा—

प्राणी प्रमादकलितः प्राणव्यपरोपणं यदा धत्ते ।
सा हिंसाऽकथि दक्षैर्भववृक्षनिषेकजलधारा ॥—अमि० श्रा० अ० ६ श्लो० २४

अर्थ—प्रमाद से युक्त होकर अन्य जीवों के प्राणों का घात करना हिंसा है। हिंसा करने से संसाररूपी वृक्ष की मर्यादा बढ़ती है—हिंसा संसाररूपी वृक्ष का सिंचन करने के लिए जल की धारा के समान है।

हिंसा के कारण और भेद—

संरंभसमारंभैर्योगकृतकारितानुमतैः ।
सकषायैरभ्यस्तैस्तरसा संपद्यते हिंसा ॥
त्रित्रित्रिचतुः संख्यैः संरंभाद्यैः परस्परं गुणितैः ।
अष्टोत्तरशतभेदा हिंसा संपद्यते नियतम् ॥—अमि० श्रा० अ० ६ श्लो० १२-१३

अर्थ—संरम्भ—कषाय युक्त होकर हिंसा करने का विचार करना; समारम्भ—हिंसा की साधन सामग्री जुटाना; आरम्भ—हिंसा करने का उपक्रम; कृत—स्वयं हिंसा करना; कारित—दूसरे से हिंसा कराना; अनुमोदन—कोई हिंसा करता हो तो उसकी प्रशंसा करना; मन—मन में हिंसा की भावना लाना; वचन—हिंसक वचन बोलना; काम—हिंसा की क्रिया करना तथा क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय के आवेश से हिंसा करना; इस प्रकार एक सौ आठ कारणों से हिंसा होती है—हिंसा के १०८ भेद हैं। प्रत्येक कार्य के संरंभ, समारंभ, आरंभ के भेद से ये ३ तीन भेद हुए; पश्चात् मन, वचन, काय इन तीन योगों से युक्त किया तो ३×३=नौ भेद हुए। इन नौ के साथ कृत कारित और अनुमोदन का संयोग किया तो ९×३=२७ भेद हुए। इनके साथ क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय का योग किया तो २७×४=१०८ भेद हुए।

हिंसा-अहिंसा की व्यवस्था—

म्रियतां मा मृत जीवः प्रमाद बहुलस्य निश्चिता हिंसा ।
प्राणव्यपरोपेऽपि प्रमाद हीनस्य सा नास्ति ॥ —अमि० श्रा० अ० ६ श्लोक २५

अर्थ—हिंसा और अहिंसा की व्यवस्था प्राणों के घात या प्राणों की रक्षा के ऊपर अवलम्बित नहीं है। किन्तु जहाँ कषाय-रागादि युक्त हिंसक परिणाम होते हैं, वहां अवश्य हिंसा होती है। संयम रूप प्रवृत्ति रखने पर—बचाव की भावना रखने पर सावधान व्यक्ति को प्राणी का घात हो जाने पर भी हिंसा नहीं होती। उदाहरण के लिए यों कह सकते हैं कि एक व्यक्ति सावधानी पूर्वक देख-देखकर चल रहा है। उसके पैर उठाने पर कोई क्षुद्र जन्तु अकस्मात् कुचल जाने से मर जाता है, तो उस व्यक्ति को हिंसा का पाप नहीं लगता। इसी प्रकार एक

व्यक्ति असावधानी से मार्ग चलता है, जीवरक्षा का उसको ध्यान नहीं है, ऐसी अवस्था में किसी प्राणी का घात हो या न हो; पर उसे हिंसा का पाप लगेगा। अतः यत्नाचार—सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करना अहिंसा है और अयत्नाचार—असावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करने का नाम हिंसा है।

मन्त्रौषधादि के लिए भी हिंसा का त्याग—

देवातिथिमंत्रौषधिपित्रादिनिमित्ततोऽपि संपन्ना।
हिंसा धत्ते नरके किं पुनरिह नान्यथा विहिता ॥—अमि० श्रा० अ० ६ श्लो० २९
आत्मवधो जीववधस्तस्य च रक्षात्मनो भवति रक्षा।
आत्मा न हि हन्तव्यस्तस्य वधस्तेन मोक्तव्यः ॥—अ० ६ श्लो० ३०

किसी-किसी का मत है कि धर्म मंत्रौषधादि के निमित्त से हुई हिंसा पाप का कारण नहीं है, किन्तु पुण्य का कारण है। आचार्य इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि हिंसा त्रिकाल और त्रिलोक में कभी भी पुण्योत्पादक नहीं हो सकती है। देवी-देवताओं के नाम पर हिंसा करना, अतिथि सत्कार के लिए हिंसा करना, मन्त्र सिद्धि के लिए हिंसा करना, औषध निर्माण में हिंसा का प्रयोग करना तथा पितरों को सन्तुष्ट करने के लिए हिंसा करने से नरक गति की प्राप्ति होती है। क्योंकि जीव हिंसा करना आत्मवध और जीवरक्षा करना आत्मरक्षा है, अतएव सभी प्रकार की हिंसा का सदा त्याग करना चाहिए।

अहिंसा की महिमा—

जीवत्राणेन विना व्रतानि कर्माणि नो निरस्यंति।
चन्द्रेण विना नक्षत्रैर्हन्यन्ते तिमिरजालानि ॥
तिष्ठन्ति व्रतनियमा नाहिंसामन्तरेण सुखजनकाः।
पृथिवीं न विना दृष्टास्तिष्ठन्तः पर्वताः क्वापि ॥
निघ्नानेनाहिंसामात्मधारां निपात्यते नरके।
स्वाधारां न हि शाखां छिंदानः किं पतति भूमौ ॥अमि० श्रा० अ०६ श्लो० १४-१६

अर्थ—जीव दया के बिना व्रत-उपवास भी कर्मों की निर्जरा का साधन नहीं होते हैं—अहिंसा पूर्वक ही व्रतों के पालन करने का फल प्राप्त होता है। जिस प्रकार चन्द्रमा के बिना नक्षत्र समूह अन्धकार का विध्वंस नहीं कर सकता है, उसी प्रकार अहिंसा के अभाव में केवल व्रत-उपवास कर्मों की निर्जरा नहीं कर सकते हैं। सुखोत्पादक व्रत और नियम अहिंसा के बिना कभी भी संभव नहीं है, जिस प्रकार पृथ्वी के बिना पर्वतादि की स्थिति संभव नहीं; उसी प्रकार अहिंसा की पृष्ठभूमि के बिना कोई भी शुभ कृत्य नहीं हो सकता है।

आत्मा का आधारभूत धर्म अहिंसा ही है, इसके अभाव में जीव नरक जाता है। जिस प्रकार जिस वृक्ष की शाखा पर बैठा हो, उसीको काटनेवाला व्यक्ति पृथ्वी पर गिरता है उसी

प्रकार समस्त धर्म और क्रियाओं का आधारस्तम्भ अहिंसा है, इसके बिना धारण किये प्राणी भी नरक जाता है।

हिंसक जीव की हिंसा करना भी अविधेय है—

केचिद्वदन्ति मूढा हन्तव्या जीवघातिनो जीवाः।
परजीवरक्षणार्थं धर्मार्थं पापनाशार्थम्॥
युक्तं तन्नैवं सति हिंस्रत्वात्प्राणिनामशेषाणाम्।
हिंसायाः कः शक्तो निषेधने जायमानायाः॥—अ० ६ श्लो० ३३-३४

अर्थ—पर प्राणियों की रक्षा के लिए, पापनाश करने के लिए एवं धर्म की रक्षा के लिए हिंसक सिंहादि का घात करना विधेय है; क्योंकि हिंसक प्राणी जबतक जीवित रहेंगे तबतक हिंसा करते रहेंगे। अतः हिंसा की परम्परा को नष्ट करने के लिए दुष्ट पापी प्राणियों का घात करना अच्छा है। यह शंका या प्रश्न ठीक नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार सिंहादि अन्य प्राणियों का वध करने के कारण वध्य हैं, उसी प्रकार सिंहादि की हिंसा करनेवाला भी वध्य है; पुनः इसी प्रकार उसकी हिंसा करनेवाला भी वध्य हो जायगा। अतः यह परम्परा अनन्तकाल तक चली जायगी, कहीं भी शान्त नहीं होगी। अतएव हिंसक जीव भी अवध्य है; अहिंसक मानव किसी की हिंसा नहीं करता है। सबके साथ प्रेम और बन्धुत्व का व्यवहार रखता है। अहिंसक प्राणी की आत्मशक्ति के प्रभाव से हिंसक प्राणियों की क्रूरता नष्ट हो जाती है, उनकी आत्मा भी अहिंसक बन जाती है। अतः अहिंसा के द्वारा ही हिंसक को अहिंसक बनाया जा सकता है। हिंसा के द्वारा हिंसक का अन्त नहीं किया जा सकता।

पापी की हिंसा भी अविधेय है—

पापनिमित्तं हि वध. पापस्य विनाशने न भवति शक्तः।
छेदनिमित्तं परशुः शक्नोति लतां न वर्द्धयितुम्॥
हिस्राणां यदि घाते धर्मः संभवति विपुलफलदायी।
सुखविघ्नस्तर्हि गतः परजीवविघातिनां घाते॥
यस्माद्गच्छन्ति गतिं निहता गुरुदुःखसंकटां हिस्रां।
तस्माद्दुःखं ददतः पापं न भवति कथं घोरम्॥—अ० ६ श्लो० ३६-३८

अर्थ—पाप के लिए की गयी हिंसा पाप का मोचन नहीं करा सकती है। लता को काटने के लिए प्रयुक्त कुल्हाड़ी लता का संवर्द्धन नहीं कर सकती। यदि हिंसक जीवों की हिंसा को महान् फलदायक समझते हैं तो यह भारी भूल है; क्योंकि हिंसा स्व-पर सुख का विघातक होने के कारण कभी भी सुखदायक नहीं हो सकती है। अतएव हिंसक सदा नरकादि गतियों को प्राप्त करता है। पापी और हत्यारे का सुधार दण्ड या हिंसा से नहीं हो सकता है। उसका

सुधार भी सहानुभूति और सहृदयता से ही हो सकता है। आत्मा का स्वभाव अहिंसामय है, इसीके प्रयोग द्वारा पापी, दुराचारी और लंपट का सुधार या उत्थान किया जा सकता है। अहिंसा में इतनी बड़ी शक्ति है कि उसके द्वारा संसार से पाप, दुराचार को दूर भगाया जा सकता है। अतः संसार में हिंसा के द्वारा पापी का सुधार संभव नहीं है।

सुखी और दुःखी जीव को मारना भी वर्ज्य है—

दुःखवतां भवति वधे धर्मो नेदमपि युज्यते वक्तुम्।
मरणे नरके दुःखं घोरतरं वार्यते केन॥
सुखितानामपि घाते पापप्रतिषेधने परो धर्मः।
जीवस्य जायमाने निषेधितुं शक्यते केन॥—अ० ६ श्लो० ३९-४०
मनसा वचसा वपुषा हिंसां विदधाति यो जनो मूढः।
जन्मवनेऽसौदीर्घे दीर्घं चंचूर्यते दुःखी॥—अ० ६ श्लो० ४४

अर्थ—इसका दुःख जल्द दूर हो जाय, इसीलिए दुखी को मारने में पुण्य है, पाप नहीं। यह भी गलत है; क्योंकि मारते समय महान् संक्लिष्ट परिणाम मरने और मारनेवाले दोनों के होते हैं, जिससे नरक में जन्म लेना पड़ता है। इसी प्रकार सुखी जीवों को इस ध्येय से मारना ये अवशेष सुख का भोग अगले जन्म में करेंगे; गलत है; क्योंकि मरने और मारनेवाले दोनों के संक्लेश परिणाम होने से दोनों को कुगति की प्राप्ति होती है। जो मन, वचन और काय से हिंसा करता है, वह बहुत काल तक संसार में जन्म-मरण के कष्ट उठाता रहता है।

अहिंसाणुव्रत के अतीचार—

भारातिमात्र्यपरोपघातछेदान्नपानप्रतिषेधबंधाः।
अणुव्रतस्य प्रथमस्य दक्षैः पंचापराधाः प्रतिषेधनीयाः॥—अ० ७ श्लो० ३

अर्थ—अति भारारोप—अधिक बोझा लादना, उपघात—लाठी, कोड़ा आदि से मारना, छेद—नाक-कान आदि का छेदना, अन्नपाननिरोध—अन्न जल का रोकना; और बंध—बांधना ये पंच अतीचार हैं।

अमृतचन्द्राचार्य—

अहिंसा का जितना व्यापक और व्यावहारिक विवेचन १२ वीं शती में आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने किया है, उतना पूर्व या परवर्ती किसी भी आचार्य ने नहीं। गृहस्थ को किस प्रकार के अहिंसा धर्म का पालन करना चाहिये, उसकी अहिंसा-मर्यादा कहाँ तक रहनी चाहिये, आदि बातें इनके ग्रन्थ 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' से जानी जा सकती हैं।

हिंसा का लक्षण—

यत्खलुकषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम् ।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥—पु० सि० श्लो० ४३

अर्थ—कषायरूप परिणत हुए मन, वचन और काय से द्रव्य और भाव प्राणों का घात करना हिंसा है। अभिप्राय यह है कि कषायवश होकर अपने या परके भाव प्राण और द्रव्य प्राण का घात करना हिंसा है।

प्राणघात का नाम हिंसा नहीं है, अपितु रागादि का नाम हिंसा है

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥—४४

अर्थ—राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, शोक, जुगुप्सा और प्रमादादि विभावों को उत्पन्न न होने देना अहिंसा है और इन विभावों की उत्पत्ति होना हिंसा है।

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि ।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥ ४५ ॥

अर्थ—सावधानी पूर्वक आचरण करने वाले सन्त पुरुष के रागादि भावों के बिना केवल प्राणपीड़न से हिंसा नहीं होती है।

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम् ।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥ ४६ ॥

अर्थ—जो प्रमादी जीव कषायों के वशीभूत होकर गमनादि क्रिया यत्नपूर्वक नहीं करता है, उसके 'जीव मरे या न मरे' हिंसा अवश्य होती है। क्योंकि असावधानी और कषाययुक्त भावना का नाम हिंसा है।

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।
पश्चाज्जायते न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥ ४७ ॥

अर्थ—जीव कषाय भाव सहित होने से अपने द्वारा आपको घातता है, फिर पीछे से अन्य जीवों की हिंसा हो अथवा न हो। तात्पर्य यह है कि हिंसा का अर्थ घात करना है, यह घात दो प्रकार का है एक आत्मघात और दूसरा परघात। जिस समय आत्मा में कषाय भावों की उत्पत्ति होती है, उस समय आत्मघात हो जाता है, पीछे यदि अन्य जीवों की आयु पूरी हो गयी अथवा पाप का उदय आया हो तो उनका भी घात हो जाता। आयु के रहते हुए कदाचित् प्राणी की हिंसा नहीं भी हो सकती है; परन्तु कषाय भाव होने के कारण अपनी आत्मा का घात अवश्य हो जायगा।

हिंसा के त्याग क प्रतिज्ञा बिना घात नहीं करने पर भी हिंसा—

हिंसाया अविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥ ४८ ॥

हिंसा दो प्रकार की होती है—अविरमणरूप और परिणमन रूप। पर घात में प्रवृत्त न होने पर भी हिंसा त्याग की प्रतिज्ञा के बिना होने वाली हिंसा अविरमणरूप हिंसा कहलाती है। क्योंकि अहिंसा की प्रतिज्ञा के बिना अन्तरंग में हिंसा का सद्भाव रहता है, अतः प्रतिज्ञा के अभाव में हिंसा नहीं करने पर हिंसा होती है। परघात में मन, वचन, काय से प्रवृत्त होने पर परिणमन रूप हिंसा होती है। इसमें भी प्रमाद रहता है अतएव प्रमाद को दूर करने के लिए पर जीवों की हिंसा के त्याग की दृढ़ प्रतिज्ञा होनी चाहिये।

हिंसा का कारण परिग्रह है—

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥ ४९ ॥

अर्थ—निश्चय कर आत्मा पर वस्तु का कारण नहीं है, अतः सूक्ष्म हिंसा भी नहीं होती है। फिर भी परिणामों की निर्मलता के लिए हिंसा के कारण परिग्रह का त्याग करना उचित है। तात्पर्य यह है कि रागादि कषाय भावों का होना हिंसा है, पर वस्तु का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है; परन्तु रागादि परिणाम परिग्रह के निमित्त से होते हैं, अतः परिणामों की विशुद्धि के लिए परिग्रह का त्याग करना आवश्यक है।

कोई व्यक्ति ऐसा कहे कि मेरे अन्तरंग परिणाम शुद्ध हैं, इसलिए बाह्य आरम्भ—हिंसा करते हुए तथा परिग्रह रखते हुए भी मुझे कोई पाप नहीं लगता; यह ठीक नहीं है। परिग्रह आदि के कारण परिणाम कदापि शुद्ध नहीं रह सकते; क्योंकि उसके ये सब कार्य बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करने से ही होते हैं। इसी भाव को आचार्य ने बतलाया है—

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करणचरणं स बहिःकरणालसो बालः ॥ ५० ॥

अर्थ—जो जीव यथार्थ निश्चय के स्वरूप को न जानकर उसको ही निश्चय श्रद्धान से अंगीकार करता है, वह मूर्ख बाह्य क्रिया में आलसी है और बाह्य क्रिया रूप आचरण को नष्ट करता है।

हिंसाफल की व्यवस्था—

अविधायापि हिंसां हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥ ५१ ॥

अर्थ—जिसके परिणाम हिंसा रूप हो गये हैं, ऐसा जीव हिंसा न करके भी हिंसा का फल भोगने का पात्र होता है। परिणामों में हिंसा न आने पर हिंसा करके भी जीव हिंसा का फल भोगने का पात्र नहीं होता।

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम्।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ॥ ५२ ॥

अर्थ—एक व्यक्ति थोड़ी हिंसा करके अधिक हिंसक परिणामों के कारण उदयकाल में अधिक फल प्राप्त करता है और दूसरा व्यक्ति बड़ी भारी हिंसा करके भी परिणामों की निर्मलता के कारण उदयकाल में स्वल्प फल को पाता है।

कषायों की तीव्रता और मन्दता के कारण फलव्यवस्था--

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ॥ ५३ ॥

दो आदमी मिलकर हिंसा करें तो जिसके परिणाम तीव्र कषाय रूप हुए हैं, उसे उदयकाल में अधिक फल और जिसके परिणाम मन्दकषाय रूप हैं, उसे अल्पफल भोगना पड़ता है।

प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति च कृतापि।
आरभ्य कर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन ॥ ५४ ॥

किसी को हिंसा करने के पहले ही, किसी को करते समय, किसी को हिंसा कर चुकने पर, किसी को हिंसा आरम्भ करने पर और किसी को हिंसा न करने पर अपने कषायभावों की तीव्रता या मन्दता के कारण फल प्राप्त होता है।

एक हिंसा करता है फल अनेक पाते हैं और अनेक हिंसा करते हैं फल एक पाता है--

एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः।
बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग् भवत्येकः ॥ ५५ ॥

एक व्यक्ति हिंसा करता है, पर फल भोगनेवाले अनेक होते हैं, इसी प्रकार हिंसा बहुत से व्यक्ति करते हैं, पर फल एक व्यक्ति को मिलता है। तात्पर्य यह है कि जीव को मारते देखकर जो अच्छा कहते हैं और प्रसन्न होते हैं, वे सभी हिंसा के फल भागी हैं, इसीसे एक करता है और अनेक फल भोगते हैं। इसी प्रकार संग्राम में हिंसा तो अनेक करते हैं, परन्तु उनको आज्ञा देने वाला सेनापति या अन्य स्वामी उसके फल का भागी होता है।

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम् ॥ ५६ ॥

किसी पुरुष को तो हिंसा उदयकाल में एक ही हिंसाफल को देती है और किसी को वही हिंसा बहुत से अहिंसा के फल को देती है।

हिंसा द्वारा अहिंसा फल और अहिंसा द्वारा हिंसा फल--

हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत् ॥ ५७ ॥

किसी को अहिंसा उदयकाल में हिंसा के फल को देती है तथा अन्य व्यक्ति को हिंसा अहिंसा के फल को देती है, अन्य फल को नहीं। अभिप्राय यह है कि कोई व्यक्ति किसी जीव के बुरा करने का यत्न कर रहा हो, परन्तु उस जीव के पुण्योदय से कदाचित् बुरे की जगह पर भला हो जाय, तो भी बुराई का यत्न करने वाला बुरा फल प्राप्त करेगा। इसी प्रकार कोई डाक्टर किसी रोगी का आपरेशन करे, कदाचित् रोगी की मृत्यु हो जावे तो भी डाक्टर की भावना निर्मल है। अतः उसे अहिंसा का फल प्राप्त होगा।

अनेक नयों से हिंसा का स्वरूप समझ कर त्यागना—

अवबुध्य हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेन।
नित्यमवगूहमानैर्निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा ॥ ६० ॥

संवर में तत्पर पुरुष को हिंस्य—जिनकी हिंसा की जावे, ऐसे अपने या पर जीव के द्रव्य प्राण और भाव प्राण अथवा एकेन्द्रियादि जीव; हिंसक हिंसा करने वाला जीव; हिंसा प्राणपीडन या प्राणघात की क्रिया और हिंसाफल—हिंसा से प्राप्त होने वाले नरक निगोदादि फलों को विचार कर अपने शक्त्यानुसार हिंसा का त्याग करना चाहिये।

असत्यादि हिंसा रूप होने से त्याज्य हैं--

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥ ४२ ॥

आत्मा के शुद्धोपयोगरूप परिणामों के घातक होने से असत्य, चोरी आदि हिंसा रूप हैं। शिष्यों को समझाने के लिए इनका विशेष वर्णन किया गया है।

हिंसा की पर्यायें—

अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः।
हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्निहिताः ॥ ६४ ॥

अभिमान, भय, ग्लानि, हास्य, रति, अरति, शोक, काम, क्रोध आदि हिंसा के पर्याय या भेद हैं। और ये सभी भाव व्यसन सेवन से उत्पन्न होते हैं।

मद्य, मांस, मधु, नवनीत और पंचोदम्बर फलभक्षण में त्रसजीवों की हिंसा होती है, अतएव

इनके सेवन का त्याग करना परमावश्यक है। सूखे उदम्बर फल खानेमें दोष नहीं मानना चाहिए, आचार्य इसी का उत्तर देते हैं—

यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात् ॥ ७३ ॥

सुखाकर पांच उदम्बर फलों के भक्षण करने से राग को अधिकता रहने के कारण हिंसा होती है। तात्पर्य यह है कि अहिंसक व्यक्तियों को अपना रहन-सहन और खान-पान भी अहिंसक ही रखना चाहिए।

गृहस्थ के लिए त्याज्य हिंसा—

धर्ममहिंसारूपं संशृण्वन्तोपि ये परित्यक्तुम्।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां तेऽपि मुञ्चन्तु। ७५ ॥
स्तोकैकेन्द्रियघाताद्गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम्।
शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम् ॥ ७७ ॥

जो गृहस्थ स्थावर हिंसा का त्याग करने में असमर्थ हैं, उन्हें त्रस हिंसा का अवश्य त्याग करना चाहिए। स्थावर हिंसा में भी अल्प एकेन्द्रिय घात के अतिरिक्त अवशेष स्थवर जीवों की हिंसा का भी त्याग करना योग्य है।

धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा का त्याग—

सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति।
इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्या ॥ ७६ ॥

भगवान् द्वारा निरूपित धर्म बहुत सूक्ष्म है, अतएव धर्म के निमित्त से हिंसा करने में कोई दोष नहीं है, यह मान्यता गलत है; क्योंकि हिंसा कभी धर्म नहीं हो सकती है।

देवता के लिए हिंसा करना भी पाप है—

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वम्।
इति दुर्विवेककलितां धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्याः ॥ ८० ॥

धर्म देवताओं से होता है, अतएव इस लोक में मांसादि की बलि देना उचित है; यह मानना भी भ्रान्त है; क्योंकि प्राणियों की बलि देने से महान् पाप होता है। देव हिंसा प्रिय नहीं होते। हिंसा से कभी भी पुण्य या धर्म नहीं हो सकता है।

अतिथि के लिए हिंसा करना अनुचित है—

पूज्यनिमित्तं घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति।
इति संप्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनम् ॥ ८१ ॥

पूज्य पुरुषों के लिए बकरा आदि जीवों का घात भी नहीं करना चाहिये; क्योंकि शिष्ट पुरुष जीव हिंसा को सदा पाप समझते हैं।

कोई-कोई कहते हैं कि शाक तथा अन्न के भक्षण करने की अपेक्षा एक जीव का मांस भक्षण करने में अल्प पाप है; क्योंकि जीव जीव समान है। अतएव अनेक एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा न कर एक त्रसजीव का घात करना ज्यादा अच्छा है। आचार्य इसी शंका का समाधान करते हैं।

बहुसत्त्वघातजनितादशनाद्वरमेकसत्त्वघातोत्थम्।
इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्य हिंसनं जातु॥ ८२॥

बहु प्राणियों के घात से उत्पन्न हुए भोजन से एक जीव के घात से उत्पन्न हुआ भोजन अच्छा है, यह मानना मिथ्या है। अतः विचारशील व्यक्तियों को हिंसा नहीं करनी चाहिए। कारण स्पष्ट है कि अन्तरंग ज्ञान प्राण और बाह्य शारीरिक प्राणों के घात की अपेक्षा एकेन्द्रिय की हिंसा से दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय आदि की हिंसा में असंख्यात गुणा पाप और निर्दयता है।

दुष्ट जीव को मारने में हिंसा—

रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम्॥ ८३॥

सर्प, बिच्छू, सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक जीवों को भी इस अभिप्राय से हिंसा नहीं करनी चाहिये कि इन दुष्ट जीवों के मर जाने से सहस्रों की रक्षा होगी; क्योंकि जो हिंसा करता है, वही उसके पाप का भागी होता है। अतः किसी भी प्राणी की हिंसा करके व्यर्थ पाप का अर्जन नहीं करना चाहिए।

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरु पापम्।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः॥ ८४॥

बहु घाती जीव जीते रहेंगे तो अधिक पाप करेंगे, ऐसा सोचकर हिंसक जीवों की हिंसा नहीं करना चाहिये।

दुःखी जीव को मारना भी पाप है—

बहुदुःखासंज्ञपिताः प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम्।
इति वासनाकृपाणीमादाय न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः॥ ८५॥

रोग अथवा दारिद्र्य आदि पीड़ित दुःखी जीवों की हिंसा भी इस अभिप्राय से नहीं करनी चाहिये, कि घात करने से ये दुःख से छूट जायेंगे। क्योंकि शरीर त्याग करने से कोई भी जीव दुःख से छुटकारा नहीं पा सकता है। बल्कि संक्लिष्ट परिणामों से मृत्यु होने पर अधिक पाप का बन्ध होता है तथा मारने वाले को भी पाप बन्ध होता है।

अगले जन्म में सुख प्राप्त होगा, इस उद्देश्य से सुखी को भी नहीं मारना

कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिन एव।
इति तर्कमण्डलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः॥ ८६॥

सुख की प्राप्ति कष्ट से होती है, इसलिए मारे हुए सुखी जीव सुखी ही होंगे, इस कुतर्क का आश्रय लेकर सुखियों का घात नहीं करना चाहिये।

समाधिस्थ की हिंसा करना भी वर्जित है—

उपलब्धिसुगतिसाधनसमाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात्।
स्वगुरोः शिष्येण शिरो न कर्तनीयं सुधर्ममभिलाषिता॥ ८७॥

सत्य धर्म के अभिलाषी शिष्य द्वारा अधिक अभ्यास से ज्ञान और सुगति प्राप्त करने में कारण समाधि प्राप्त करनेवाले गुरु का शिरच्छेदन नहीं करना चाहिये; क्योंकि शिरच्छेदन करनेवाला प्राणपीड़ा जनित हिंसा का भागी होगा।

हिंसा करने से कदाचित् सुख प्राप्त हो तो भी हिंसा त्याज्य है—

अमृतत्वहेतुभूतं परममहिंसारसायनं लब्ध्वा।
अवलोक्य बालिशानामसमञ्जसमाकुलैर्न भवितव्यम्॥ ७८॥

किसी जीव को हिंसा करते हुए सुख-साता युक्त देखकर और आपको अहिंसा धर्म पालते हुए भी दुःखी जानकर अथवा आपको अहिंसा धर्म साधते देख तथा अन्य मिथ्यादृष्टियों को हिंसा में धर्म ठहराते हुए व पुष्ट करते हुए देखकर धर्मात्मा पुरुषों को विचलित न होना चाहिए। अहिंसा ही जीव के लिए समस्त सुखों को देनेवाली है।

आशाधर —

पण्डित प्रवर आशाधर जी ने अपने अनागार और सागार धर्मामृत में मुनि और श्रावक दोनों की अपेक्षा से अहिंसा धर्म का विस्तृत विवेचन किया है। आपने भी प्रमाद के सम्बन्ध से होनेवाले प्राणघात के त्याग पर जोर दिया है।

हिंसा की परिभाषा और व्यवस्था—

सा हिंसा व्यपरोप्यन्ते यत् त्रस स्थावराङ्गिनाम्।
प्रमत्तयोगतः प्राणा द्रव्यभावस्वभावकाः॥
रागाद्यसङ्गतः प्राणव्यपरोपेऽप्यहिंसकः।
स्यात्तद्व्यपरोपेऽपि हिंस्रो रागादिसंश्रितः॥—अना० धर्मा० अ० ४ श्लो० २२-२३

प्रमत्तयोग से त्रस और स्थावर जीवों के यथा संभव द्रव्य और भाव प्राणों का, जो व्यपरोपण होता है, उसको हिंसा कहते हैं।

यदि जीव राग-द्वेष-मोह रूप परिणामों से युक्त नहीं है तो प्राणघात हो जाने पर भी अहिंसक है। राग-द्वेषादि से युक्त होने पर प्राणाघात न होने पर भी हिंसक होता है।

परं जिनागमस्येदं रहस्यमवधार्यताम्।
हिंसारागाद्युत्पत्तिरहिंसा तदनुद्भवः। —अनागार अ० ४ श्लो० २६

जिनागम का यही रहस्य या सार है कि राग-द्वेष, मोह रूप परिणामों का उत्पन्न होना हिंसा है और इनका उत्पन्न न होने देना अहिंसा है।

अहिंसाणुव्रत की परिभाषा—

शान्ताद्यष्टकषायस्य संकल्पैर्नवभिस्त्रसान्।
अहिंसतो दयार्द्रस्य स्यादहिंसेत्यणुव्रतम्॥—सागार अ० ४ श्लो० ७

अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया और लोभ के शान्त—उपशम होने पर मन, वचन, काय और कृत, कारित अनुमोदना से जिस दयालु ने त्रस जीव की हिंसा का त्याग कर दिया है, उसके अहिंसाणुव्रत होता है।

हिंसा के चार भेद करके आशाधरजी गृहस्थ से संकल्पी हिंसा का त्याग कराते हैं।

संकल्पी, उद्योगी, आरम्भी और विरोधी, ये चार हिंसा के भेद हैं। बिना अपराध के जानबूझ कर किसी की हिंसा करना संकल्पी; जीवन निर्वाह के लिए व्यापार, खेती आदि में होनेवाली हिंसा उद्योगी; सावधानी रखते हुए भी भोजन बनाने, पानी भरने आदि में होनेवाली हिंसा आरम्भी और अपनी या दूसरों की रक्षा के लिए जो हिंसा करनी पड़ती है, वह विरोधी कहलाती है। आशाधरजी ने प्रधानतः आरम्भी और अनारम्भी ये दो हिंसा के भेद किये हैं।

इमं सत्वं हिनस्मीति हिन्धि हिन्ध्येष साध्विमम्।
हिनस्तीति वदन्नाभिसन्दध्यान्मनसा गिरा॥
वर्तेत न जीववधे करादिना दृष्टिमुष्टिसन्धाने।
न च वर्तयेत्परं तत् परे नखच्छोटिकादि न च रचयेत्॥

—सागार अ० ४ श्लो० ८-९

इस जीव को मैं मारूँगा, इसे तुम मारो, इसने इसे मारा अच्छा किया आदि का मन, वचन और काय से त्याग करना चाहिये। मन्त्र, रस्सी आदि के द्वारा भी प्राणियों का बन्धन नहीं करना चाहिये तथा प्राणियों के नखादि के काटने की क्रिया भी नहीं करनी चाहिये।

अहिंसक के लिए आवश्यक व्यवहार—

इत्यनारम्भजां जह्याद्धिंसामारम्भजां प्रति।
व्यर्थस्थावरहिंसावद्यतनामावहेद्गृही॥—सागार अ० ४ श्लो० १०

आसन, शय्या, खान-पान आदि सम्बन्धी हिंसा का उचित त्याग करना चाहिये। आरम्भ-जनित कार्यों में भी व्यर्थ स्थावर जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिये।

सन्तोषपोषतो यः स्यादल्पारम्भपरिग्रहः।
भावशुद्ध्येकसर्गोऽसावहिंसाणुव्रतं भजेत्॥—सागार अ० ४ श्लो० १४

अहिंसक को सन्तोषपूर्वक अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह रखना चाहिये; क्योंकि अधिक आरम्भ और अधिक परिग्रह हिंसा का कारण है। मनकी शुद्धि रखना तथा सदा आर्त्त और रौद्र ध्यानों से अपनी रक्षा करना आवश्यक है।

अहिंसाणुव्रत के स्वीकार की विधि—

हिंस्यहिंसकहिंसा तत्फलान्यालोच्य तत्त्वतः।
हिंसां तथोज्झेन्न यथा प्रतिज्ञाभङ्गमाप्नुयात् ॥
प्रमत्तो हिंसको हिंस्या द्रव्यभावस्वभावकाः !
प्राणास्तद्विच्छिदा हिंसा तत्फलं पापसंचयः ॥—सागार अ० ४ श्लो० २०-२१

हिंसा, हिंसक, हिंस्य और हिंसा फल का पूर्णतः विचार करके अहिंसाणुव्रत को स्वीकार करना चाहिए। प्रमादी होना हिंसक है, द्रव्य-भाव प्राणों का धारी प्राणी हिंस्य और प्राणों का घात करना हिंसा है तथा हिंसा का फल पापसंचय करना है।

अहिंसाव्रत की निर्मलता के लिए विधेय —

कषायविकथानिद्राप्रणयाक्षविनिग्रहात्।
नित्योदयां दयां कुर्यात् पापध्वान्तरविप्रभाम् ॥
अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये।
नक्तं भुक्तिं चतुर्धाऽपि सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत् ॥—सागार० अ० ४ श्लो० २२,२४

अहिंसाणुव्रत को निर्मल करने के लिए कषाय, विकथा, निद्रा, स्नेह, रात्रिभोजन एवं मोह-ममता का त्याग करना आवश्यक है।

शुभचन्द्राचार्य—

पंचमहाव्रतों के निरूपण में आचार्य शुभचन्द्रदेव ने अहिंसा धर्म का विस्तृत विवेचन किया है। ज्ञानार्णव में अहिंसा का स्वरूप और उसकी महत्ता पर पूरा प्रकाश डाला गया है।

अहिंसा की परिभाषा—

वाक्चित्ततनुभिर्यत्र न स्वप्नेऽपि प्रवर्त्तते।
चरस्थिराङ्गिनां घातस्तदाद्यं व्रतमीरितम् ॥—ज्ञानार्णव सर्ग ८ श्लो० ८

मन, वचन और काय से त्रस और स्थावर जीवों के घात का सर्वदा के लिए त्याग करना अहिंसाव्रत है।

प्रमाद से हिंसा होती है, प्राणघात से नहीं—

मृते वा जीविते वा स्याज्जन्तुजाते प्रमादिनाम्।
बन्ध एव न बन्धः स्याद्धिंसायाः संवृतात्मनाम् ॥—ज्ञाना० सर्ग ८ श्लो० ९

जीवों के मरते या जीते प्रमादी पुरुषों को निरन्तर ही हिंसा का पापबन्ध होता है और जो संवर सहित अप्रमादी हैं, उनको जीवों की हिंसा होते हुए भी हिंसा रूप पाप का बन्ध नहीं होता।

हिंसा के भेद—

संरम्भादित्रिकं योगैः कषायैर्व्याहतं क्रमात्।

शतमष्टाधिकं ज्ञेयं हिंसाभेदैस्तु पिण्डितम्॥—ज्ञा० स० ८ श्लो० १०

संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ इस त्रिक को मन, वचन, काय की तीन-तीन प्रवृत्तियों से तथा क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों एवं कृत, कारित, अनुमोदना से क्रम से गुणा करने पर हिंसा के १०८ भेद होते हैं। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन कषायों से उत्तरोत्तर गुणा करने पर ४३२ भेद भी हिंसा के होते हैं।

अतः प्रमादमुत्सृज्य भावशुद्ध्याङ्गिसन्ततिम्।

यमप्रशमसिद्ध्यर्थं बन्धुबुद्ध्या विलोकय॥—ज्ञा० स० ८ श्लो० ११

उपर्युक्त संरम्भादि हिंसा परिणामों के १०८ या ४३२ भेद हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति को प्रमाद का त्याग कर भावशुद्धि के लिए समस्त अन्य प्राणियों को बन्धुवत् देखना चाहिये।

हिंसा सदा दुःखदायक है—

सौख्यार्थे दुःखसन्तानं मङ्गलार्थेऽप्यमङ्गलम्।

जीवितार्थे ध्रुवं मृत्युं कृता हिंसा प्रयच्छति॥—ज्ञा० स० ८ श्लो २२

सुख के लिए की गयी हिंसा दुःख-परिपाटी करती है, मंगलार्थ की हुई हिंसा अमङ्गल करती है तथा जीवनार्थ की हुई हिंसा मृत्यु को प्राप्त कराती है। इस बात को निश्चय समझना चाहिये।

चरुमन्त्रौषधानां वा हेतोरन्यस्य वा क्वचित्।

कृता सती नरैर्हिंसा पातयत्यविलम्बितम्॥—ज्ञा० स० ८ श्लो० २७

देवता की पूजा के लिए रचे हुए नैवेद्य तथा मन्त्र और औषध के निमित्त अथवा अन्य किसी भी कार्य के लिए की हुई जीवों की हिंसा जीवों को नरक ले जाती है।

अहिंसा की महिमा—

अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्धतिः।

अहिंसैव गतिः साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती॥

अहिंसैव शिवं सूते दत्ते च त्रिदिवश्रियं।

अहिंसैव हितं कुर्यात् व्यसनानि निरस्यति॥—ज्ञा० स० ८ श्लो० ३२-३३

अहिंसा जगत् की माता है; क्योंकि समस्त जीवों का प्रतिपालन करनेवाली है। अहिंसा ही आनन्द की सन्तति है, अहिंसा ही उत्तम गति एवं शाश्वती लक्ष्मी है। जगत् में जितने उत्तम गुण हैं, सब अहिंसा में ही निवास करते हैं।

अहिंसा ही मोक्ष, स्वर्ग आदि के वैभव को देती है और अहिंसा ही आत्मा का हित करती है तथा समस्त कष्टरूप आपदाओं को नष्ट करती है।

जैनाचार्यों ने अहिंसा पर पर्याप्त विस्तारपूर्वक लिखा है। उनका मत है कि आत्मा की चैतन्य शक्ति की अपेक्षा एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त वनस्पति, जल, वायु, अग्नि, पृथ्वी, कीड़े-मकोड़े, चींटी, मक्खी, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि सभी जीव समान आत्मशक्तिवाले हैं। अतः सब आपस में भाई-भाई हैं, ऐसी अवस्था में किसी भी जीव का वध करना भ्रातृवध के समान महा पापबन्ध का कारण है। झूठ बोलना, चोरी करना, कुशील सेवन करना और अधिक संचय करना हिंसा है। अहिंसक के लिये अपने मन, वचन और काय की समस्त प्रवृत्तियों को शुद्ध रखना अत्यावश्यक है। राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, विषय-कषाय आदि सभी हिंसा के रूपान्तर है। अहिंसक को विचारों को शुद्ध रखने के लिए स्याद्वाद सिद्धान्त का आश्रय लेना भी आवश्यक है तथा आहार-विहार को भी पूर्ण शुद्ध बनाना रखना पड़ता है। मद्य, माँस, मधु का त्याग, अभक्ष्य भक्षण का त्याग, रात्रि भोजन का त्याग, बिना छने जल का त्याग, अमार्यादित भोजन का त्याग भी अहिंसक को करना चाहिये। समस्त प्राणियों के प्रति दयालु होना, समताभाव रखना, ईर्ष्या-घृणादि का त्याग कर विश्वबन्धुत्व को भावना को अपनाना प्रत्येक अहिंसक का परम कर्त्तव्य है।

प्रमुख दि० जैनाचार्यों का विवरण

यह विवरण हमें पूज्य आचार्यश्री महावीरकीर्त्तिजी के एक गुटके में लिखा मिला है। इतिहास के परिज्ञान के लिए आचार्यों की वंशावली, उनका दीक्षाकाल, उनका समय परिज्ञान कितना महत्वपूर्ण होता है, यह सभी इतिहास विशारद जानते हैं। अभीतक दि० जैनाचार्यों की पट्टावलियों और वंशावलियों का अन्वेषण ऐतिहासिक दृष्टि से हुआ ही नहीं है। इस दिशा में प्रयास करने की अत्यन्त आवश्यकता है। हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रशस्तियों के दो तीन संग्रह भी दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रकाशित हो चुके हैं तथा इतिहासविज्ञ प्रेमीजी और मुख्तार सा० के कई निबन्ध संग्रह में प्रकाशित हैं। शिलालेखों के संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। अतः इस सामग्री के आधार पर तथा नवीन अन्वेषणों के आधार पर दिगम्बर जैनाचार्यों का एक प्रमाणिक इतिहास लिखे जाने की बड़ी भारी आवश्यकता है। साधन सामग्री इस समय वर्तमान है। आजका समय इतिहास लिखने के लिए बहुत उपयोगी है। सभी प्रकार के संभव साधन सामने प्रस्तुत हैं। अधिकांश हमारा साहित्य मुद्रित अवस्था विद्यमान है। अतएव इतिहासविज्ञों को इस ओर शीघ्र प्रयास करना चाहिए। यों तो 'दि० जैन साहित्य' का इतिहास भी वर्णी दि० जैन ग्रन्थमाला काशी के तत्त्वावधान में समाज के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों द्वारा तैयार हो रहा है। आरम्भ में तो इतिहास की चर्चा पर्याप्त थी, पर इधर लगभग एक वर्ष से वह चर्चा शान्त सी मालूम हो रही है। उस दिशा में कार्य शीघ्र होना चाहिए। समाज के धनिक श्रीमानों को इस आवश्यक और उपयोगी कार्य के लिए मुक्तहस्त से दान देना चाहिए। वर्णीग्रन्थमाला के अधिकारियों को भी इस ओर अधिक से अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता है। दि० जैन साहित्य और उसके निर्माताओं के इतिहास की अत्यन्त आवश्यकता है। बड़े से बड़े दि० आचार्य का प्रामाणिक जीवनवृत्त ऐतिहासिक ढंग से अभीतक लिखा ही नहीं गया है। अतएव इस ओर समाज का ध्यान शीघ्र ही आकृष्ट होना चाहिए।

प्रस्तुत विवरण में आचार्यों का संवत्, दीक्षातिथि, जाति, गृहस्थ वर्ष, दीक्षा वर्ष, पट्ट वर्ष, अन्तर दिन और सर्व वर्षायु दी जा रही है। इन विवरणों में कहाँ तक प्रामाणिकता है, यह तो इतिहास मनीषी ही जान सकेंगे। यदि कोई ऐतिहासिक विद्वान् आचार्यों के इन विवरणों में संशोधन प्रस्तुत करेंगे, तो भास्कर उसका भी स्वागत करेगा। अतः इस विषय पर अधिक प्रकाश डालने की आवश्यकता है, जिससे इतिहास के निर्माण के लिए प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत की जा सके।

—नेमिचन्द्र शास्त्री

नं०	संवत्	तिथि	आचार्य नाम	जाति	गृहस्थ वर्ष	दीक्षा वर्ष	पट्टवर्ष	अंतर दिन	सर्व वर्षायु
१	४	चैत्रसुदी १४	श्री भद्रबाहु	पंवाररजपूत	२४	३०	२२-१०-२७	३	७६-११-०
२	२६	फाल्गुनसुदी १४	गुप्तगुप्तिश्री	पंवार	२२	३४	९-६-२५	५	६५-७-०
३	३६	आश्विनसुदी १४	श्री माघनन्दी	जैसवाल	२०	४४	४ ४-२६	४	६८-५-०
४	४०	फाल्गुनसुदी १४	श्री जिनचन्द्र	चोसरवा पोरवाड	२४-९-०	३३-३-०	८-९-६	३	६५-९-९
५	४९	पौषवदी ९	श्री कुन्दकुन्द	पल्लीवाल	११	५१-१०-१०	०	५	९५-१०-१५
६	१०१	का० सु० ८	उमा स्वामी	अयोध्यापुरी श्रावक	१९	२५	४०-८-१	५	८४-८-६
७	१४२	आषाढ़ सु० १४	लोहाचार्य	लमेंचू	२१	३८	१०-१०-२७	६	६९-१०-२६
८	१५३	ज्येष्ठ सु० १०	यशकीर्ति	जैसवाल	१२	२१	५८-८-१०	५	९१-८-१५
९	२११	फा० व० १०	यशोनन्दि	जैसवाल	१६	१७	४६-४-९	४	७९-४-१३
१०	२५८	आषाढ़ शु० ८	देवनन्दी	पोरवाल	१०-५-०	१५-१७-०	४९-१०-२८	४	७५-११-२
११	३०८	ज्येष्ट सु० १०	श्री० पूज्यपाद	पद्मावती पोरवाल	१५	११-७-०	४४-११-२२	७	७१-६-२९
१२	३५३	ज्येष्ठ सु० ९	गुणनन्दि	गोला पूरब	१४	११-५-०	१३-३-१	४	४०-८-५
१३	३६४	मा० सु० १४	जम्बूनन्दि	×	१९	१६-३-०	२२-५-१	४	५७-८-५
१४	३८६	फाल्गुन व० ४	कुमारनन्दि	सहालवाल	१६	१०-२-०	४०-२-२०	९	६६-४-२९
१५	४२७	ज्येष्ठ व० ३	लोकचन्द्र	लमेंचू	१८	१६	२६-३-१६	१०	६०-३-२६
१६	४५३	मा० सु० १४	श्री प्रभाचन्द्र	पंचम श्रावक	९	२४	२५-३-१५	१९	५८-५-२६
१७	४७८	फाल्गुनसु० १०	श्री नेमिचन्द्र	नैगम श्रावक	१०	२२	८-६-१	९	४०-९-१०

नं०	संवत्	तिथि	आचार्य नाम	जाति	गृहस्थ वर्ष	दीक्षा वर्ष	पट्ट वर्ष	अन्तर दिन	सर्वंवर्षायु
१८	४८७	पौष वदी ५	भावनन्दि	ईसर	११	१५	२१-७-२४	१२	४६-१-६
१९	५०८	माघ सु० ११	हरिनन्दि	श्री० मालसीकसरा	६	१५	१६-१७-१५	१४	४०-७-२६
२०	५२५	आसौज सु० १०	वसुनन्दि	वघनौरा	१०	३०	६-२-२२	६	४६-३-१
२१	५३१	पौष सु० ११	श्री वीरनन्दि	लमेंचू	६	१३	३०-०-१४	१०	५२-०-२४
२२	५६१	माघ सु० ५	श्री रतनकीर्ति	अग्रवाल	८	१२	२३-४-७	११	४३-५-१८
२३	५८५	आषाढ़ व० ८	,, माणिक्यनन्दि	अग्रवाल	१०	१९	१६-५-१०	१५	४५-५-२५
२४	६०१	पौष व० ३	,, मेघचन्द्र	खंडेलवाल	२४-३-३६	६-७-१३	२५-५-३०	१२	५६-६-२
२५	६२७	आसौ० व० ५	,, शान्तिकीर्ति	सहलवाल	७	१०	१५-०-२५	२०	३२-१-१५
२६	६४२	आ० सु० ५	मेरुकीर्ति	सहलवाल	८	११	४४-३-१६	१३	६३-३-२६
२७	६८६	मगसिर सु० ४	,, महाकीर्ति	सहलवाल	६	१२	१७-११-५	१५	३५-११-२०
२८	७०४	मगसिर व० ६	,, विजयनन्दि	बागड़ा	७	१४	१२-४-०	१५	४२-४-१५
२९	७२६	चैत्र सु ०	,, भूषण	सहलवाल	१४	८	६	२६	३१-०-२६
३०	७३५	वैशा० सु० ५	,, चन्द्र	श्रीवाल	६	१२	१४-३-४	११	३२-४-५
३१	७४९	भा० सु० १०	,, नन्दकीर्ति	नागदहीं	१५	२०	१५-६-४	१३	५०-६-१७
३२	७६५	चै० व० १२	,, देशभूषण	श्रीमाल	१८	२४	०-६-६	७	४२-६-१३
३३	७६५	आसौ० सु० १०	,, अनन्तकीर्ति	पोरवालशाखा	११	१३	१९-६-२५	१०	४३-१०-५
३४	७८१	श्रावण सुदी	,, धर्मनन्दि	नागड़ा	१३	१८	२२-६-२५	५	५३-१०-०

नं०	संवत्	तिथि	आचार्य नाम	जाति	गृहस्थ वर्ष	दीक्षा वर्ष	पट्टवर्ष	अंतर दिन	सर्ववर्षायु
३५	८०८	ज्येष्ठ सु० १५	श्री वीरचन्द्र	वघेरवाल हरसोरा	१३	२५	३२-०-४	८	७०-०-१२
३६	८४०	आषाढ़ व० १२	,, रामचन्द्र	पंचम श्रावक	८	११	१६-१०-०	६	३५-१०-०
३७	८५७	पौ० सु० ३	,, रामकीर्ति	लमेंचू	१४	१६	२१-४-२६	११	५१-५-७
३८	८७८	आसौज सु० १०	,, अभयचन्द्र	अयोध्यापुरी श्रावक	१८	१०	१७-०-२७	४	४५-१-१
३९	८९७	का० सु० ११	,, नरचन्द्र	नैगम श्रावक	१५	२१	१८-९-०	६	५४-९-६
४०	९१८	भादो व० ५	,, नागचन्द्र	बागडा	२१	१३	२३-२-३	१०	६७-०-१३
४१	९३९	भादो सु० ३	,, नैयानन्दि	हूमर	८	१०	८-९-११	६	२६-९-२०
४२	९४८	आसाढ़ व० ८	,, हरिचन्द्र	वघेरकल हरवोल	८-४-०	१४-८-०	२६-१-८	८	४९-१-२६
४३	९७४	आ० शु० ६	,, महीचन्द्र	धाकडा	१४	१८-११-०	१६-६-०	५	४१-५-५
४४	९९०	मा० सु० १४	,, माघचन्द्र	पद्मावती पोरवाल	१३	२०	३२-०-२४	६	६५-३-३
४५	१०३३	ज्येष्ठ व० २	,, लक्ष्मीचन्द्र		११	२५	१४-४-३	१०	४९-११-१३
४६	१०३७	आसौ० सु० १	,, गुणनन्दि	नगौलवाल	१८	२०	१०-१०-२९	१४	४८-११-१३
४७	१०४८	भादों सु० १४	,, गुणचन्द्र	गोलादूस	१०	२२	१७-८-७	१०	४९-८-१७
४८	१०६६	ज्येष्ठ सुदी १	,, लोकचन्द्र	सहलवाल	१५	३०	१३-३-३	४	५८-३-७
४९	१०७९	भाद्रपद सु० ८	,, श्रुतकीर्ति	सचाणु श्रावक	१३	३२	१५-६-६	६	६०-६-१२
५०	१०९४	चैत्र व० ५	,, भावचन्द्र		१२	२५	२०-११-२५	५	५८-०-०
५१	११११	चैत्र व० ५	,, महीचन्द्र	श्रीमाली	१०	२६	२५-६-१०	५	६१-५-१५

नं०	संवत्	तिथि	आचार्य नाम	जाति	गृहस्थ वर्ष	दीक्षा वर्ष	पट्टवर्ष	अंतर दिन	सर्वायु
५२	११४०	भादों सु० ११	श्री माघचन्द्र	पंचम श्रावक	१४	१३	४-३-१७	७	३१-३-२४
५३	११४४	पौष व० १४	,, वृषभनन्दि	बघनौरा	७	३७	३-४-१	४	४७-४-५
५४	११४८	वै० सु० ४	,, शिवनन्दि	सहलवाल	६	३६	७-६-७	१४	५५-७-१
५५	११५५	म० सु० ५	,, वसुचन्द्र	बघनौरा	११	४०	०-७-२८	३	५१-८-१
५६	११५६	आ० सु० ६	,, सहनन्दि	सचाणु श्रावक	७	३२	४-८-२४	५	४०-०-२६
५७	११६०	भा० सु० ५	,, भावनन्दि	हुम्मड श्रावक	११	३०	७-२-०	३	४८-२-३
५८	११६७	का० सु० ८	,, देवनन्दि	धाकड श्रावक	११	३०	७-२-०	३	४४-३-१३
५९	११७०	फा० व० ५	,, विद्याचन्द्र	बागड	१४	३८	५-५-५	१४	५७-५-१९
६०	११७६	आ० सु० ६	,, सूरचन्द्र	नरसिंहपुरा	१०	३५	८-१-२६	२	५३-२-१
६१	११८५	आसौ० सु० १०	,, माघनन्दि	चतुर्थ श्रावक	३-३-०	३२-२-०	४-१-१६	५	५०-६-२१
६२	११८८	मग० सु० १	,, ज्ञानकीर्ति	गंगरी श्रावक	१०	३४	११-०-३	७	५५-०-१०
६३	११९९	मग० सु० ११	,, अंगकीर्ति	×	१३	३३	७-२-८	१०	५३-२-१८
६४	१२०६	फागु० व० १४	,, सिंहकीर्ति	नरसिंहपुरा	८	३७	२-२-१५	११	४७-३-१
६५	१२०९	ज्येष्ठ व०	,, हेमकीर्ति	हुमवड	१३	२४	७-३-२७	१६	४४-४-३
६६	१२१६	आसौ० सु० ३	,, सुन्दरकीर्ति	सहलवाल	६-६-०	१९-३-०	६-६-२०	१०	३२-७-०
६७	१२२३	वै० सु० ३	,, नेमिचन्द्र	नागदुहा	७	१९	७-७-२९	६	३५-६-८
६८	१२३०	मा० सु० ११	,, नाभिकीर्ति	नैगम श्रावक	५	३५	१-११-२६	४	४२-०-०

नं०	संवत्	तिथि	आचार्य नाम	जाति	गृहस्थ वर्ष	दीक्षा वर्ष	पट्ट वर्ष	अन्तर दिन	सर्व वर्षायु
६९	१२३२	मा० सु० ११	श्री नरेन्द्रकीर्ति	नागदुहा	१४	१३	९-०-२८	१२	३६-१-०
७०	१२४१	फा० सु० ११	,, श्रीचन्द्र	बघेरवाल	७	२५	६-३-२४	७	३८-४-१
७१	१२४८	आ० सु० १२	,, पद्मकीर्ति	पोरवाल	१०	२२	४-११-२५	६	३७-०-१
७२	१२५३	आ० सु० १३	,, वर्द्धमान	वघनीरा	१८	५	२-११-२८	३	२६-०-१
७३	१२५६	आ० सु० १४	,, अकलंकचन्द्र	अवशाखा पोरवाल	१४	३३	१-३-२४	७	४८-४-१
७४	१२५७	का० सु० १५	,, ललितकीर्ति	लमेंचू	१३	२४	४-०-०	५	४१-०-५
७५	१२६१	मगसिर व० ५	,, केशवचन्द्र	लमेंचू	११	३५	०-६-१५	६	४६-६-२१
७६	१२६२	ज्येष्ठ सु० ११	,, चारुकीर्ति	पंचम श्रावक	१३	२२	२-३-१	७	४९-३-८
७७	१२६४	आषाढ़ व० २	,, अभयकीर्ति	अठशाखा पोरवाल	११-२-०	३०-५-०	०-४-१०	७	४१-११-७
७८	१२६४	माघ सु० ५	,, वसन्त कीर्ति	साहगोत्र	१२	२०	१-४-२२	८	३३-५-०
७९	१२६६	आसौ० सु० ५	,, प्रख्यात कीर्ति	पंचम श्रावक	११	१५	२-३-३६	४	२८-३-२३
८०	१२६८	का० व०	,, शान्ति कीर्ति	छावडा गोत्र	१८	२३	२-६-७	८	४३-६-१५
८१	१२७१	श्रा० सु० १५	,, धर्मचन्द्र	सेठी गोत्र	१६	२४	२५-०-५	८	६५-०-१३
८२	१२९६	भा० व० १३	,, रत्नकीर्ति	नागदुहा	१९	२५	१४-४-१०	६	५८-४-१६
८३	१३१०	पौ० सु० १४	,, प्रभाचन्द्र	पद्मावती पोरवाल	१२	१२	७४-११-१५	८	९८-११-२३
८४	१३८५	पौ० सु० ७	,, पद्मनन्दि	,,	१०-७-०	२३-५-०	६५-०-१८	१०	९९-०-२८
८५	१४५०	मा० सु० ५	,, शुभचन्द्र	अग्रवाल	१६	२४	५६-३-४	११	९६-३-१५
८६	१५०७	ज्येष्ठ व० ५	,, जिनचन्द्र	अग्रवाल	१२	१५	६४-८-१७	१०	९१-८-२७

श्री वीसतीर्थङ्करों के नाम, चिन्ह व माता, पिता और नगरी के नाम

नं०	नाम	चिन्ह	पिता के नाम	माता के नाम	नगरी के नाम
१	श्री सीमंधरजी	वृषभ	श्रेयांस	सत्य देवी	पुण्डरीकणी
२	,, युगमंधरजी	हाथी	सुदृढ़रथ	सुतारा	सुसीमा
३	,, बाहुजी	मृग	सुग्रीव	विजया	अयोध्या
४	,, सुबाहुजी	कपिल	निशाटिल	सुनन्दा	अलकापुरी
५	,, संजातकजी	सूरज	देवसेन	सेना	विजया
६	,, स्वयंप्रभजी	चन्द्रमा	मित्रभूत	सुमंगला	सुसीमा
७	,, ऋषभाननजी	हरि	कीरत	वीरसेना	अयोध्या
८	,, अनन्तवीर्यजी	गज	मेघ	सुमंगला	विजया
९	,, सूर्यप्रभजी	सूर्य	नागराय	भद्रा	पुण्डरीकणी
१०	,, विशालकीर्तिजी	चन्द्रमा	विजय राय	विजया	सुसीमा
११	,, वज्रधरजी	शंख	पद्मरथ	सरस्वती	पुण्डरीकणी
१२	,, चन्द्राननजी	वृषभ	बाल्मीकि	पद्मावती	विनीता
१३	,, चन्द्रबाहुजी	पद्म	देवनन्दी	सुरेणुका	विजया
१४	,, भुजंगमजी	चन्द्रमा	महाबल	महिमा	सुसीमा
१५	,, ईश्वरजी	सूर्य	गलसेन	ज्वाला	अयोध्या
१६	,, नेमिप्रभुजी	वृषभ	वीरसेन	सेना	पुण्डरीकणी
१७	,, वीरसेनजी	ऐरावत	(भुवपाल) भोपाल	सुभानमती	विजया
१८	,, महाभद्रजी	चन्द्रमा	देवराज	उमा देवी	सुसीमा
१९	,, यशकीर्तिजी	साथिया	भवभूत	गंगा देवी	अयोध्या
२०	,, अजितवीर्यजी	पद्म	सुबोध	कनका	अयोध्या

मूलसंघ भट्टारक गुरु नामावली

[श्री अगरचन्द नाहटा]

जैन इतिहास के अनेकानेक साधनों में पट्टावली, गुर्वावली, स्थविरावली आदि संज्ञाओंवाली, आचार्य परम्परा की नामावली व इतिहास को प्रकाशित करनेवाली रचनाओं का अपना विशिष्ट स्थान है। वास्तव में देखा जाय तो जैन इतिहास की यह मूलभूत सामग्री है। क्योंकि भगवान् महावीर के बाद जैन शासन का नेतृत्व उन कुशल आचार्यों के हाथ में ही रहा, जिनका वर्णन इन रचनाओं में मिलता है। अतः भगवान महावीर के बाद कौन-कौन आचार्य हुए? उनकी गुरु परम्परा क्या रही? वे कब और कहाँ रहे? कहाँ-कहाँ विचर कर जैन शासन की क्या सेवा की? किन-किन राजाओं पर उनका प्रभाव व सम्बन्ध था? उन्होंने किन-किन ग्रन्थों की रचना की? किन-किन को जैन धर्म में प्रतिबोधित किया और उनसे क्या-क्या धार्मिक कार्य करवाये? कहाँ-कहाँ के मन्दिर और मूर्तियों की प्रतिष्ठा की? तीर्थयात्रा की, व संघ निकलवाये, वादियों को शास्त्रार्थ कर उन्हें पराजित किया? इत्यादि अनेकानेक घटनाएँ इन पट्टावलियों आदि में पायी जाती हैं।

प्राचीन काल के मुनियों का जीवन अध्यात्मपूर्ण था, इसलिए वे अपनी प्रसिद्धि तनिक भी नहीं चाहते थे। उन्होंने लोकोपकार के लिए बड़े-बड़े और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का निर्माण किया। पर उनमें से बहुत से ग्रन्थों में तो रचयिताओं ने अपना नामोल्लेख तक नहीं किया। परवर्ती कुछ ग्रन्थकारों ने अपने नाम का निर्देश मात्र कर दिया पर अपना परिचय कुछ भी नहीं दिया। कई ग्रन्थकारों ने तो अपनी रचनाओं को पूर्ववर्ती आचार्यों के नाम पर प्रसिद्ध कर दिया अर्थात् वे इतने निस्पृह थे कि उनके उपदेश पूर्वाचार्यों की परंपरा से प्राप्त हुए हैं, इसलिए हमें अपने नाम बतलाने की आवश्यकता नहीं व पूर्व महर्षि जनता के अधिक श्रद्धा भाजन हैं। अतः उनके नाम से रचित ग्रन्थों का लोकमानस पर अधिक अच्छा प्रभाव पड़ेगा, बस इसीमें उन्होंने रचना के उद्देश्य की सफलता समझी। क्योंकि जिस जनता के लिए उसका निर्माण हुआ है, उनपर उसका अधिक से अधिक प्रभाव पड़े, तो रचना का उद्देश्य सफल हो गया।

क्रमशः लोकैषणा—नाम और यश की कामना बढ़ती गयी। इसलिए ग्रन्थकार अपना परिचय विस्तार से देने लगे; इतिहास के लिए तो यह प्रयत्न बहुत लाभकारी सिद्ध हुआ अन्यथा बहुत से प्राचीन ग्रन्थों के रचना काल और रचयिता का निश्चय अन्य उल्लेखों और अनुमान के आधार से किया जाता है, वह संदिग्ध ही रहता है।

प्राचीन राजाओं और आचार्यों की परम्पराओं का कुछ उल्लेख ग्रन्थान्तरों में मिलता है। जैसे पुराणों में अनेक राजवंशों की नामावलियाँ प्राप्त होती हैं। वैसे ही कतिपय जैन ग्रन्थों में

भी राजाओं और आचार्यों की वंशावली उनके शासन काल के समय के साथ दी हुई मिलती हैं। उदाहरणार्थ जैसे षट्खंडागम, तिलोय-पण्णत्ति में वीर निर्वाण ६८३ वर्ष तक के आचार्यों का और शक राजाओं के राज्यकाल का उल्लेख प्राप्त होता है। ऐसे ही कई श्वेताम्बर ग्रन्थों में उल्लेख हैं जिनके आधार से जैन काल गणना के सुनिश्चित करने का प्रयत्न मुनि कल्याण विजय जी ने अपने 'वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना' नामक बृहत् निबन्ध में किया है।

जैसा कि मैंने अपने अन्य लेखों में लिखा है कि ऐतिहासिक साधन दिगम्बर समाज की अपेक्षा श्वेताम्बर समाज के अधिक प्राप्त होते हैं। कारण भी स्पष्ट है कि दिगम्बर आचार्यों को नग्न आदि रहने से वन एवं गुफाओं में ही अधिक रहना पड़ा। फलतः उनका आध्यात्मिक झुकाव अधिक रहा। जबकि श्वेताम्बर मुनि नगरों और जन साधारण के सम्पर्क में अधिक आये, क्रमशः वे चैत्यों में निवास करने लगे। राजाओं आदि के सम्पर्क में वे अधिक आये अतः उनका आध्यात्मिक झुकाव कम हो जाना स्वाभाविक था।

वीराब्द ९८० में श्वेताम्बर आगम देवर्द्धिगणि ने लिपि बद्ध किये। तब उस समय तक की आचार्य-परम्परा को बताने के लिए स्थविरावलियों का निर्माण हुआ। जिनमें से एक प्राकृत गाथाबद्ध संक्षिप्त स्थविरावली नन्दीसूत्र में पाई जाती है और दूसरी विस्तृत गद्य स्थविरावली कल्पसूत्र के साथ जोड़ी गई है। इनके आधार से हम वीरनिर्वाण तक की १००० वर्षों तक भी अनेक इतिहास की कड़ियों को व्यवस्थित कर सकते हैं। नन्दीसूत्र की स्थविरावली में तो केवल आचार्य परम्परा के नाम देकर उनका गुणोत्कीर्तन किया है पर कल्पसूत्र की स्थविरावली में उन आचार्यों के अनेक शिष्यों के नाम और उनके द्वारा प्रसिद्धि में आये कुल, गण और शाखाओं आदि की जानकारी मिल जाती है। मथुरा की कई प्राचीन मूर्तियों के शिलालेखों में जो गणों आदि का उल्लेख है उनका कल्पसूत्र की स्थविरावली में विवरण मिलता है। तीसरी स्थविरावली हेमवंत स्थविरावली के नाम से प्रसिद्ध है जो मूलरूप में प्रकाशित होने से पूर्व उसका हिन्दी अनुवाद कल्याण विजय जी ने अपने महानिबन्ध के परिशिष्ट में प्रकाशित कर दिया है। इसके बाद कई शताब्दियों तक कोई स्थविरावली या पट्टावली रची हुई नहीं मिलती। इसीलिए छठी शताब्दी से दसवीं शताब्दी के बीच की आचार्य परम्परादि का जैसा वर्णन चाहिए, नहीं मिलता। १२ वीं शताब्दी में फिर कुछ रचनाएँ रची जानी चालू होती हैं जिनमें गणधर सार्द्धशतक, गणधरसत्तरी आदि उल्लेखनीय हैं। १३ वीं शताब्दी से हम ऐतिहासिक साधनों की प्रचुरता पाने लगते हैं। इस समय पूर्व इतिहास का संकलन और नवीन ऐतिहासिक व्यक्ति सम्बन्धी ग्रन्थों का निर्माण जारी हुआ। प्रबन्ध संग्रह आदि कई ग्रन्थों की परंपरा यहीं से प्राप्त होने लगती है। हाँ, संवत् १३३४ में रचित प्रभावक चरित्र में जो कई पूर्वाचार्यों के प्रबन्ध

हैं उनका मूल आधार कई प्राचीन प्रबन्ध संग्रह हैं जो अब मूलरूप में प्राप्त नहीं हैं। कुछ आचार्यों के प्रबन्धों की पाटण में ताड़-पत्रीय प्रतियाँ हैं और अन्य कई प्रबन्धों का संग्रह मुनि जिन विजय जी ने अपने "पुरातन प्रबन्ध संग्रह" में प्रकाशित किया है। इसमें सं० १२९० में जिनभद्र रचित 'नाना कथानक प्रबन्धावली' आदि का उल्लेख है। १४ वीं शताब्दी से तो, जहाँतक पट्टावलियों का सम्बन्ध है, कुछ विशिष्ट पट्टावलियाँ प्राप्त होने लगती हैं। सं० १३०५ में रचित जिनपालोपाध्याय की युगप्रधानाचार्य गुर्वावली, अद्वितीय ऐतिहासिक ग्रन्थ है। इसमें अस्सी वर्षों का इतिहास तो संवतानुक्रम से दिया हुआ है। शायद इस पद्धति से लिखा जानेवाला यह सर्व प्रथम ऐतिहासिक ग्रन्थ होगा। इसकी परंपरा पीछे भी चलती रही फलतः सं० १३९३ तक का तो संवतानुक्रम से लिखा इतिवृत्त हम इस गुर्वावली में पाते हैं। इसके बाद सं० १३४३ का उपकेश गच्छ प्रबन्ध इस गच्छ की गुरु परंपरा का उत्तम परिचय हमें देता है। इसके बाद १५ वीं शताब्दी में रचित मुनि सुन्दर सूरि की तपागच्छ गुर्वावली और मेरुतुङ्ग सूरि की 'अंचलगच्छ पट्टावली' प्राप्त होती है। १६ वीं शताब्दी से तो अनेक गच्छों की पट्टावलियाँ संस्कृत और लोक भाषा में लिखित प्राप्त हैं। जिनमें से कुछ का संग्रह खरतर गच्छ पट्टावली संग्रह, पट्टावली समुच्चय भाग १, २ और विविध गच्छीय पट्टावली संग्रह (मुनिजिन विजय द्वारा संपादित पर अभी अप्रकाशित) में हुआ है। कई पट्टावलियों को मूल व साररूप में हमने भी प्रकाशित किया है। कई अन्य मुनियों ने भी प्राप्त सामग्री के आधार से नये ग्रन्थ लिखकर प्रकाशित किये हैं। कुछ पट्टावलियों का सार 'जैन गुर्जर कवियों भाग २, ३' के परिशिष्ट में भी प्रकाशित हुआ है।

जहाँ तक दिगंबर पट्टावलियों का प्रश्न है, प्राचीन विस्तृत पट्टावलियाँ तो जानने में नहीं आईं। जैसा कि पहले लिखा गया है षट्खण्डागम के वेदना खण्ड में और तिलोय पण्णत्ति में वीरात् ६८३ वर्ष तक के पूर्वधर और अंगधर आचार्यों की नामावली मात्र मिलती है। उसके पश्चात् आचार्य जिनसेन के 'हरिवंश' में वि० सं० ८४० तक की अविच्छिन्न गुरु परम्परा प्राप्त होती है। वीरात् ६८३ वर्ष तक के आचार्यों की नामावलि के बाद ६२७ वर्षों में हुए २९/३० आचार्यों का इसमें वर्णन है। तदनन्तर दर्शन सार में हम कुछ संघ एवं गणों आदि की जानकारी पाते हैं। पर पट्टावलियों के रूप में लिखा कोई प्राचीन ग्रंथ अभी तक देखने में नहीं आया। कुछ फुटकर संक्षिप्त पट्टावलियां जानने में आई हैं वे बहुत परवर्ती रचना प्रतीत होती हैं। इसलिए उनमें दिये हुए प्राचीन आचार्यों के समय आदि संदिग्ध ही लगते हैं। उन सब में प्राचीन कौनसी हैं? इसे तो शोध प्रेमी कोई दिगंबर विद्वान् ही बता सकते हैं। इस संबंध में मेरी जानकारी सीमित होना स्वाभाविक ही है। फिर भी अपने विशाल अध्ययन के बल पर जो थोड़ा बहुत लिख जाता हूँ वह दिगंबर विद्वानों के लिए प्रेरणा दायक होना चाहिये। एक श्वेताम्बर व्यक्ति बार-बार उन्हें अपने ऐतिहासिक साधनों और ग्रंथ-सूची प्रकाशित करने के लिए

प्रेरणा करता है, फिर भी कोई उल्लेखनीय कदम नहीं उठाया जाता यह अवश्य ही विचारणीय है; दिगंबर समाज में पैसों की कमी नहीं। शांति प्रसाद जी जैसे उदार व मुक्त हस्त व्यक्ति से अच्छे कार्यों के लिए जब जितना चाहें पैसा मिल सकता है और विद्वानों की भी दिगम्बर समाज में कमी नहीं। आप उनकी सूची बनाने लगेंगे तो सैकड़ों की संख्या पहुंच जायगी। फिर भी अभी तक दिगम्बर जैन इतिहास के मूल भूत साधनों के संग्रह ग्रंथ तेजी से प्रकाशित नहीं हो रहे हैं, यह बहुत ही लज्जा जनक स्थिति है। प्रतिमा लेखों के संग्रह को ही देखिये, श्वेताम्बर समाज के पन्द्रह-बीस ग्रंथ बहुत बड़े २ और महत्वपूर्ण प्रकाशित हो चुके हैं। तब दिगम्बर समाज में प्रेमी जी की प्रेरणा से प्रकाशित "जैन शिलालेख संग्रह" के दो भाग ही उल्लेखनीय है बाकी की छोटी २ पुस्तकें तो नाम मात्र की हैं। इसी तरह ऐतिहासिक काव्य, रास गीत, पट्टावलियाँ, आदि का कोई संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ। केवल दो "प्रशस्ति संग्रह" अवश्य उल्लेखनीय हैं।

जैन तीर्थों की इतिहास संबंधी सामग्री भी दिगम्बर विद्वानों की रचित बहुत कम मिलती है। कुछ संक्षिप्त 'निर्वाण भक्तियाँ' प्राप्त होती हैं, उनका भी संग्रह होना चाहिये माना कि बड़े-बड़े ऐतिहासिक काव्य, बड़ी २ पट्टावलियाँ और दिगम्बर जैन जातियों की उत्पत्ति के प्राचीन साधन, विशिष्टाचार्यों और श्रावकों के किये हुए धर्मकृत्यों आदि का प्राचीन वर्णन श्वेताम्बर समाज की अपेक्षा कम मिलता है, पर जो कुछ भी सामग्री है, उसको संग्रहित कर शीघ्र ही प्रकाश में लाना चाहिये। अन्यथा सामग्री के अभाव में जैन इतिहास का लेखन ठीक से हो नहीं सकता। अधिकांश सामग्री बिखरी हुई है और वह बहुत छोटे २ रूप में है। इसलिए जहां तक उनका संग्रह प्रकाशित न हो वहां तक उसका उपयोग किया जाना संभव नहीं। कुछ वर्षों पूर्व तो मेरी यह धारणा थी कि दिगम्बर भण्डारों में ऐतिहासिक सामग्री का ही अभाव है पर अब नागौर आदि के भण्डारों के अवलोकन से वह धारणा बदल चुकी है। वास्तव में जो थोड़ी बहुत सामग्री है, वह भट्टारकों के भण्डारों में सुरक्षित है और उनके भण्डारों का सूक्ष्मता से अवलोकन बहुत ही कम किया गया है क्योंकि जब दिगम्बर समाज में कविवर बनारसी दास जी के पश्चात् तेरह पंथ नामक सुधारक पार्टी ने जोर पकड़ा तो भट्टारकीय परम्परा से उसका संघर्ष हुआ। भट्टारकीय परम्परा में श्रावकों में विद्वान् कम हुए, क्योंकि वैसी आवश्यकता नहीं थी। उनको धर्म-साधना कराने वाले भट्टारक और उनके शिष्य थे ही। इसी पराश्रित अवस्था के कारण श्वेताम्बर समाज में भी श्रावक-विद्वान् कम हुए। आवश्यकता ही अविष्कार की जननी है। इधर दिगम्बर तेरह-पंथ में शास्त्रों का पठन-पाठन और समस्त क्रियाकाण्ड श्रावकों को खुद ही करना पड़ा क्योंकि शुद्ध व ऊँचे आचार वाले भट्टारकों की कमी रही और भट्टारकों के क्रियाकाण्ड के वे विरुद्ध थे। अतः उनसे मेल खा नहीं सकता था। धर्म-संरक्षण और साधना का भार स्वयं पर आ पड़ने से श्रावकों को तैयार होना पड़ा। उन्होंने प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन कर जन साधारण के लिए गद्य और पद्य में

उनका लोक भाषा में अनुवाद किया और प्राचीन ग्रंथों के आधार से बहुत से मौलिक ग्रंथ भी बनाये। शास्त्रीय ज्ञान में भट्टारकों से टक्कर लेने के लिए उन्हें बहुत कुछ श्रम करके आगे बढ़ना पड़ा।

भट्टारकों ने अपनी सामग्री को दूसरों को दिखाने व देने में अनुदारता ही रक्खी। इधर सुधारक पार्टी में पंडित अधिक थे पर विरोधी होने के कारण उनके लिए उस सामग्री का दर्शन दुर्लभ-सा था। बीस पंथी भट्टारक परंपरा वालों ने भी अपने गुरुओं के भण्डारों से विशेष लाभ नहीं उठाया। इस तरह वह सामग्री अज्ञात अवस्था में ही पड़ी रही।

इधर जब आमेर के भट्टारकीय भण्डार की सूची प्रकाश में आई और जयपुर जाने पर उस संग्रह के कुछ ग्रंथ स्वयं भी देखे तो ऐसा लगा कि जहाँ तक इन भट्टारकों के भण्डारों का अवलोकन पूर्ण रूप से नहीं किया जायगा, जैन साहित्य का इतिहास अपूर्ण ही रहेगा; उसके बाद मुनि पुण्य विजय जी आदि के नागौर पधारने के प्रसंग से वहां गया और भट्टारक जी से मिलकर उनके भण्डार के अवलोकन की व्यवस्था की तो मेरी वह पूर्व धारणा और भी दृढ़ हो गई। दो दिनों में हमने उस भण्डार को छान डाला। तो उस भण्डार में सैकड़ों अन्य अप्राप्य ग्रंथ हमारे जानने में आये और कई ग्रंथों की बहुत लम्बी २ लेखन प्रशस्तियाँ देखने को मिली। साथ ही कुछ गुटकों आदि में कई भट्टारकों आदि के संबंधित ऐतिहासिक गीत भी मिले जिनके संबंध में इससे पूर्व मुझे कोई भी जानकारी न थी। गुटकाकार संग्रह प्रतियों का इसमें बहुत बड़ा संग्रह है और कई गुटकों में मुझे मूल संघ के नंदी शाखा के बलात्कार गण की गुरुनामावलि देखने को मिली। समयाभाव से इच्छा होने पर भी उसकी उस समय नकल न कर सका। बीकानेर आकर सूची बनाने के लिए नियुक्त पंडित जी से उस नामावलि की नकल भेजने के लिए लिखा गया। और उनसे जो ३५ श्लोकों वाली पट्टावली उपलब्ध हुई वह यहाँ प्रकाशित की जा रही है।

भट्टारक जी से वार्तालाप होने पर विदित हुआ कि उनके पास कई राजाओं और बादशाहों से प्राप्त पट्टे परवाने भी हैं। उनके शासन के अन्य कई स्थानों में भी अच्छे ज्ञान-भण्डार हैं। इनके पास अन्य विस्तृत पट्टावलियाँ भी होनी चाहिये। पर मैं इस सामग्री को देख नहीं पाया। मेरी यह धारणा जरूर बन गई है कि जिस प्रकार श्वेताम्बर समाज में यति की पूज्यों के पास ऐतिहासिक सामग्री अधिक मिलती है। उसी प्रकार दिगम्बर भट्टारकों के पास भी चाहे थोड़ी ही हो पर कुछ काम की सामग्री है जरूर, जिसका हमारे विद्वान् अलगाव वृत्ति के कारण कुछ भी लाभ नहीं उठा सके हैं, भट्टारकों से काम लेने के लिए विनय-व्यवहार में कुशल होना चाहिये।

'जैन सिद्धान्त भास्कर' के प्रथम वर्ष में सेन-गण की ऐसी ही एक संस्कृत पद्य बद्ध लघु पट्टावली भाषानुवाद के साथ प्रकाशित हुई थी। अन्य गणों की भी पट्टावलियाँ मिलती होंगी। ग्रंथ प्रशस्तियों और शिलालेखों के द्वारा उनको संशोधित व प्रामाणिक बनाकर प्रकाशित कराना चाहिये।

एक दो पट्टावलियाँ मैंने ऐसी देखी जो विशेष प्राचीन नहीं पर उनमें पूर्वाचार्यों के वंश, समय आदि का निर्देश किया हुआ था। उसमें से कुछ प्राचीन लेख तो कल्पित से लगे, उनकी जांच अन्य साधनों से की जानी चाहिए।

यथा जयपुर या उदयपुर के म्यूजिम में मैंने एक दिगम्बर शिल्प-पाषाण-खण्ड देखा था। जिसमें बहुत सी छोटी २ मूर्त्तियाँ उत्कीर्णित थीं और उनके नीचे दि०-आचर्य-परम्परा की विस्तृत नामावली खुदी हुई थी। इसी तरह कई दिगम्बर भट्टारकों की पादुकाएं, मूर्तियाँ आदि भी लेख सहित प्राप्त होती हैं। हमारे संग्रह में भी एक ऐसी पीतल की पादुका है, जिसमें सोलहवीं शताब्दी के किसी भट्टारक की पादुका होने का लेख खुदा हुआ है। भट्टारकों के निवास संस्कारादि के स्थानों की पादुकाओं के लेख भी संग्रहीत करने चाहिए। इससे भी पट्टावलियों को शुद्ध करने में मदद मिलेगी।

पट्टावली:—

श्रीमानशेषनरनायकवंदितांघ्रिः,
श्रीगुप्तिगुप्त इति विश्रुत नामधेयः।
यो भद्रबाहू मुनिपुङ्गवपट्टपद्मः,
सूर्यः स वो दिशतु निर्म्मल संघवृद्धिम् ॥ १ ॥
श्रीमूलसंघे जनि नन्दिसंघस्तस्मिन् बलात्कारगणोतिरम्यः।
तत्राभवत् पूर्वपदांश वेदी श्रीमाघनंदीनरदेववंद्यः ॥ २ ॥
पट्टे तदीये मुनिमान्यवृत्तौ जिनादिचन्द्रः समभूदतंद्रः।
ततो भवत्पंचसुनामधामा श्रीपद्मनन्दी मुनिचक्रवर्त्ती ॥ ३ ॥
आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छः पद्मनन्दीति तन्यते ॥ ४ ॥
तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तृत्वप्रकटीकृत सन्मतः।
उमास्वामि पदाचार्यो मिथ्यात्वतिमिरांशुमान् ॥ ५ ॥
लोहाचार्यस्ततो जातोजातरूपधरो मरैः।
सेवनायः समस्तार्थ विबोधनविशारदः ॥ ६ ॥
ततः पट्टद्वयी जाता प्राच्य वाच्युपलक्षणात्।
तेषां यतीश्वराणांस्युर्नामिनीमानित कृत्तः ॥ ७ ॥
यशः कीर्त्तिर्यशोनन्दी देवनन्दी महामतिः।
पूज्यपादापराख्ये यो गुणनन्दी गुणाकरः ॥ ८ ॥

अजनन्दी बज्रवृत्तिस्तार्किकाणां महेश्वरः ।
कुमारनन्दी लोकेन्दुः प्रभाचन्द्रो वचोनिधिः ॥ ९ ॥
नेमिचन्द्रो भानुनन्दी सिंहनन्दी जटाधरः ।
वसुनन्दी वीरनन्दी रत्ननन्दी रतीशभित् ॥ १० ॥
माणिक्यनन्दी मेघेन्दुः शान्तिकीर्त्तिमहायशाः ।
मेरुकीर्त्तिर्म्महाकीर्त्ति विष्णुनन्दी विदांवरः ॥ ११ ॥
श्रीभूषणः शीलचन्द्रः श्रीनन्दी देशभूषणः ।
अनन्तकीर्त्ति धर्म्मादिनन्दी नंदितशासनः ॥ १२ ॥
विद्यानन्दी रामचन्द्रो रामकीर्त्तिरनिन्द्यवाक् ।
अभयेन्दुर्नरचन्द्रो नागचन्द्रः स्थिरव्रतः ॥ १३ ॥
नयनन्दी हरिश्चन्द्रो महीचन्द्रो मलोज्झितः ।
माघवेंदुर्लक्ष्मीचन्द्रो गुणकीर्त्तिर्गुणाश्रयः ॥ १४ ॥
गुणचन्द्रो वासवेंदु लेकिचन्द्रः सुतत्त्ववित् ।
त्रैविद्यः श्रुतकीर्त्त्याख्यो वैयाकरणभास्करः ॥ १५ ॥
भावचन्द्रो महाचन्द्रो माघचन्द्रः क्रियाग्रणीः ।
ब्रह्मनन्दी शिवनन्दी विश्वचन्द्रस्तपोधनः ॥ १६ ॥
सैद्धान्तिको हरिनन्दी भावनन्दी मुनीश्वरः ।
सुरकीर्त्तिर्विद्याचन्द्र सुरचन्द्रश्रियांनिधिः ॥ १७ ॥
माघनन्दी ज्ञाननन्दी गंगकीर्त्तिमहत्तमः ।
सिंघकीर्त्तिर्हेमकीर्त्तिश्चारनन्दी मनोज्ञधीः ॥ १८ ॥
नेमिनन्दी नाभिकीर्त्ति नरेन्द्रादियशः परम् ।
श्रीचन्द्र पद्मकीर्त्तिश्च वर्द्धमान मुनीश्वरः ॥ १९ ॥
अकलंकश्चन्द्रगुरुर्ललितकीर्त्तिरुत्तमः ।
त्रैविद्यः केशवश्चन्द्रश्चारुकीर्त्ति सुधर्म्मणी ॥ २० ॥
सैद्धान्तिकोभयकीर्त्तिर्वनवासी महातपाः ।
वसंतकीर्त्तिर्व्याघ्राहिसेवितः शीलसागरः ॥ २१ ॥
तस्य श्रीवनवासिनस्त्रिभुवनप्रख्यातकीर्त्तेरभु,
च्छिष्योनेक गुणालयः शमयमध्यानापगासागरः ।
वादीन्द्रः परवादि वारणगणे प्रागल्भ विद्रावणे,
सिंहः श्रीमतिमंडयेति विदितस्त्रैविद्यविद्यास्पदम् ॥ २२ ॥

विशालकीर्त्तिर्वरवृत्तमूर्तिस्ततो महात्माश्रुतकीर्त्तिदेवः ।
एकान्तराद्युग्रतपो विधाता धाता बसन्मार्गविधे विधाने ।। २३ ।।
श्रीधर्म्मचन्द्रो जनि तस्य पट्टे हम्मीरभूपालसमर्च्चनीयः ।
सैद्धान्तिकः संयमसिन्धुचन्द्रः प्रख्यात माहात्म्य कृतावतारः ।। २४ ।।
तत्पट्टे जनि रत्नकीर्त्तिरनघः स्याद्वादविद्यांबुधि-
र्नाना देश विवृत्त शिष्यनिवहः प्राच्यांघ्रि युग्मोगुरुः ।
धर्म्माधर्म्म कथास्वसक्तधिषण पापप्रभावाधको,
बालब्रह्मतपः प्रभावरहितः कारुण्य पूर्णाशयः ।। २५ ।।
पट्टे श्रीरत्नकीर्त्तिरनुपमतपसः पूज्यपादीय शास्त्र,
व्याख्या विख्यातकीर्त्तिगुणगणनिलयः सक्रियसार चंचुः ।
श्रीमानानन्दधामा प्रतिबुधनुतमामानसंहापिवादो,
जीयादाचन्द्रतारं नरपतिविदित श्रीप्रभाचन्द्रदेवः ।। २६ ।।
हंसो ज्ञानमरालिकासमसमाश्लेषप्रभूताद्भुता,
नन्दः क्रीडतिमानसेति विशदे यस्यानिशंसर्द्वतः ।
स्याद्वादामृतसिंधुवर्द्धनविधोः श्रीमत्प्रभेन्दु प्रभोः,
पट्टे सूरिमतल्लिका स जायतात् श्रीपद्मनन्दीमुनि. ।। २७ ।।
महाव्रति पुरंदरः प्रशमदग्धरागांकुरः,
स्फुरत्परमपौरुषः स्थितिरशेषशास्त्रार्थवित् ।
यशोभर मनोहरी कृत समस्त विश्वम्भरः,
परोपकृतितत्परो जयति पद्मनन्दीश्वरः ।। २८ ।।
स्याद्वादामृतसिंधुवर्द्धनकरः सौम्यैर्गुणैवल्लभः,
षट् तर्कागम जैनशासन महालब्धप्रतिष्ठोत्सवः ।
पट्टे श्रीमुनि पद्मनन्दि विबुधः कल्याणलक्ष्मीकरः,
सोयं श्री शुभचन्द्रदेव मुनियो भव्यैर्जनैर्वंदितः ।। २९ ।।
पट्टे श्री शुभचन्द्रदेवगणिनः श्रीपद्मनन्दीश्वरः,
स्तर्क्कव्याकरणादिग्रन्थकुशले विख्यात कीर्त्तिर्गणी ।
श्रीमांश्रीजिनचन्द्रसूरिरभवद्रत्नत्रयालंकृतो,
हेयादेयविचारमार्गचतुरश्चारित्रचूडामणिः ।। ३० ।।
प्रकटित जिनमार्गोध्वस्त मोहान्धकारो,
जितनयपरवादि सप्तभङ्गेद्धबोधः ।

विधुतविषयसंगस्वीकृतात्मप्रसंगो,
जयतु सततधामा श्रीजिनेन्द्रर्यतीन्द्रः ॥ ३१ ॥
तत्पट्टोदयभूधरे जनि मुनि श्रीमत्प्रभेन्दुर्वशी,
हेयादेयविचारणैकचतुरो देवागमालंकृतौ ।
मेयं भोजदिवाकरादि विविधे तर्के च चंचुश्चणो,
जैनेन्द्रादिक लक्षणप्रणयने दक्षोनुययोगेषु च ॥ ३२ ॥
त्यकत्वा सांसारिकीं भूतिं किंपाकफलसन्निभं,
चिन्तारत्ननिभां जैनीं दीक्षां स प्रापत च वित् ॥ ३३ ॥
पद्मनन्दी गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी ।
पाषाणघटिता येन वाहिता श्रीसरस्वती ॥ ३४ ॥
ॐ ह्रीयन्त गिरौ तेन गच्छः सारस्वतो भवेत् ।
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्री पद्मनन्दिने ॥ ३५ ॥
इति श्री मूलसंघे भट्टारक श्री भद्रबाहूवादिगुरुणां नामावली समाप्तः ।
॥ इति ॥

कल्पित कथा समीक्षा

भगवान महावीर स्वामी के अवतार के विषय में श्वेताम्बर और दिगम्बरों में बड़ा ही मत भेद है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय मानता है कि भगवान महावीर स्वामी का गर्भ परिवर्त्तन हुआ। श्वेताम्बर कल्प सूत्र पृ० १० वें पर बतलाया गया है कि महावीर स्वामी पहले नीच गोत्र के उदय से ऋषभदत्त ब्राह्मण की देवनंदा ब्राह्मणी के गर्भ में आये थे। फिर इन्द्र ने हरिणगवेसी देव को भेजकर भगवान महावीर स्वामी को ८२ दिन के पीछे देवनन्दा के पेट में से निकलवाकर त्रिशला रानी के पेट में रखवा दिया और उसकी गर्भस्था पुत्री को देवनंदा के पेट में रखवा दिया।

श्री महावीर स्वामी के गर्भ में आने के पहले देवनंदा को १४ शुभ स्वप्न दीखे थे और ८२ दिन के पीछे त्रिशला रानी के पेट में पहुंचने के पहिले वैसे ही १४ शुभ स्वप्न त्रिशला रानी को भी दिखलाई दिये। इस प्रकार भगवान महावीर स्वामी का गर्भ परिवर्त्तन होना श्वेताम्बर ग्रन्थों में माना गया है जिसमें से कुछ छोड़कर श्री अगरचंदजी नाहटा ने कल्पसूत्र के आधार पर "जैनसिद्धान्त भास्कर" भाग २० किरण १ जून सन् १९५३ पृष्ट ३९ वें पर लेख प्रकट किया है। परन्तु ऐसी असम्भव बात को एक दम से मान लेना विद्वानों का काम नहीं है। इसलिये इसे युक्ति की कसौटी पर कसकर पाठकों के सम्मुख रखते हैं। ऐसा असम्भव लेख बिना टीका—टिप्पणी के प्रकट कर देना खटकता है। इसलिये खुलासावार यह लेख भेजा जा रहा है।

१ क्या इन्द्र में गर्भ बदलने की शक्ति है? यदि है तो जिस प्रकार त्रिशलारानी की गर्भस्थ पुत्री को देवनंदा के गर्भ में और देवनंदा के गर्भस्थ पुत्र को (महावीर स्वामी को) त्रिशला रानी के पेट में पहुँचाया; उसी प्रकार १९ वें तीर्थंकर जिसको श्वेताम्बर मत में स्त्री के रूप में माना गया है उस मल्लिनाथ तीर्थंकर को किसी लड़केवाली स्त्री के पेट से निकाल कर मल्लिनाथ की माता के पेट में पहुँचाता और मल्लिनाथ की माता के पेटवाली लड़की को उस स्त्री के गर्भ में पहुचाता जिससे १९ वें तीर्थंकर को किसी प्रकार का दोष न लगता; परन्तु इन्द्र ऐसा न कर सका क्योंकि बात असम्भव थी। अतः महावीर स्वामी के गर्भ हरणवाली बात मिथ्या है।

२ इन्द्र ने भी परिश्रम उठाकर क्या किया श्वेताम्बर ग्रन्थों के कथनानुसार महावीर स्वामी की आत्मा का शरीर ब्राह्मण के वीर्य तथा ब्राह्मणी के रज से बन गया। अब उस बने हुए तथा ८२ दिन बाद ब्राह्मणी के रस रक्त से वृद्धि पाये हुए पिंड को इन्द्र चाहे जहाँ उठाकर रख देवे पिंड बदल नहीं सकता। इस कारण इन्द्र का परिश्रम व्यर्थ समझना चाहिये।

३ हरिणगवेसी देव ने महावीर स्वामी का गर्भ देवनंदा ब्राह्मणी के मुख से निकाला? या उदर से निकाला? अथवा योनि मार्ग से निकाला? मुख से तो इस कारण नहीं निकल

सकता कि गर्भ औदारिक शरीर के रूप में था उस स्थूल औदारिक शरीर को बिना उदर आदि फाड़े उदर तथा मुख मार्ग से निकलना असम्भव है। यदि उस देवने गर्भ को योनि-मार्ग से निकाला तो कहना चाहिये कि ब्राह्मणी के यहाँ ही महावीर स्वामी ने जन्म ग्रहण किया क्योंकि गर्भस्थ बालक का अपनी माता की योनि से बाहिर निकलना ही जन्म लेना कहलाता है।

४ लोक में किसी साधारण पुरुष को भी दो पिताओं का पुत्र कहना अपमान जनक माना जाता है फिर श्री महावीर स्वामी तीर्थंकर सरीखे लोक वन्दनीय महापुरुष को ऋषभदत्त ब्राह्मनी और सिद्धार्थ राजा का पुत्र कहना कितना घोर पापजनक वचन है।

५ देवनंदा ब्राह्मणी के पेट में श्री महावीर स्वामी के आते समय देवनंदा को १४ स्वप्न दिखलाई दिये थे तदनुसार उसके घर गर्भकल्याणक हुआ होगा। और त्रिशला रानी के पेट में पहुँचने पर उसको भी १४ स्वप्न दिखलाई दिये तब उसके यहां भी गर्भ कल्याणक हुआ होगा। इसलिये श्री महावीर स्वामी के दो कल्याणक हुए। यदि किसी एक ही स्थानपर गर्भ कल्याणक हुआ तो प्रश्न यह है कि दूसरे स्थानपर क्यों नहीं हुआ ? क्योंकि नियम है कि तीर्थंकर की माता के पेट में आने पर ही गर्भ कल्याणक होता है।

६ श्री महावीर स्वामी के माता-पिता असल राजा रानी थे ? या ब्राह्मण ब्राह्मणी थे ? यदि यह कहा जाय कि राजा रानी थे तो ब्राह्मण ब्राह्मणी क्यों नहीं, जिनके रज-वीर्य से महावीर स्वामी के शरीर का पिंड बना और ८२ दिन तक ब्राह्मणी के पेट में उसके रस-रक्त से पालन हुआ ? यदि यह कहो कि ब्राह्मण ब्राह्मणी थे तो राजा रानी क्यों नहीं जिनके यहां गर्भ में ६ मास रहकर निर्वाह हुआ।

इत्यादिक अनेक प्रबल अनिवार्य दोष उपस्थित होने से निष्कर्ष निकलता है कि महावीर स्वामी का गर्भ हरण नहीं हुआ गर्भ हरणवाली बात सर्वथा असत्य एवं कल्पित है।

कर्म सिद्धान्त भी इस कल्पित बात को बहुत बलपूर्वक सर्वथा असत्य सिद्ध करता है क्योंकि देखिये नीच गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ा कोड़ी सागर है। यदि मारीच ने अधिक से अधिक संक्लेश परिणाम रक्खे थे तो उसको २० कोड़ा कोड़ी सागर की स्थिति वाला कर्मबन्ध होगा। यह २० कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति वाला कर्म सिद्धान्त के नियमानुसार दो हजार वर्ष पीछे ही अपना आबाधा काल टालकर उदय में अवश्य आना चाहिये और तदनुसार दो हजार वर्ष पीछे ही मारीच का जन्म नीच घर में नीच गोत्र के उदय से बराबर २० कोड़ा कोड़ी सागर तक नीच कुल में ही होना चाहिये था। किन्तु ऐसा हुआ नहीं क्योंकि जिस समय उसके नीच गोत्रकर्म का बन्ध हुआ बतलाया जाता है उस समय से लेकर करोड़ों वर्ष तो केवल उसी उच्च कुलीन मनुष्य शरीर में रहा। दो हजार वर्ष के स्थान पर दो वर्ष समझ लीजिये उच्च गोत्र ही होता रहा। कभी किसी स्वर्ग का देव, कभी कहीं का राजा, कभी कहीं

ब्राह्मण हुआ। इस प्रकार उच्च कुल में ही उत्पन्न होता रहा। यदि मारीच के भव में उसने महावीर स्वामी के भव में रह सकने योग्य बड़ी स्थिति वाले नीच गोत्र कर्म का बन्ध किया था तो बीच-बीच में ऐसे उच्च गोत्रीय भाव कदापि नहीं मिलते थे। बीच-बीच के जन्म में तो नीच गोत्र कर्म का उदय आया नहीं किन्तु महावीर स्वामी के भव में उस नीच गोत्र कर्म का उदय आ गया। यह बात स्वयं श्वेताम्बरीय कर्मग्रन्थ रचयिता विद्वानों के लेख से बिल्कुल असत्य साबित होती है।

श्वेताम्बर ग्रन्थकारों को इतने पर ही संतोष नहीं आया और भी कई प्रकार के दोष लगाये गये हैं। आजन्म ब्रह्मचारी महावीर स्वामी का विवाह होना और सन्तान होना। गला सड़ा फेंकने लायक भोजन मुनि अवस्था में खाना और केवलज्ञान होने के बाद उनके शरीर में पेचिस का रोग होना और उसके दूर करने को औषध का सेवन करना। इत्यादि—

श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में भगवान् महावीर स्वामी का विवाह होना और उनके सन्तान होना भी माना गया है।

परन्तु "आवश्यक निर्युक्ति" ग्रन्थ का कर्त्ता यह भी बतलाता है—

"वीर' अरिट्ठनेमि पास' मल्लि च वासपुज्ज' च।
ए ए मुत्तणजिणे अवसेसा आसि रायणो॥ २२१॥
राय कुलेसु बिजाया विशुद्ध वसेसु खत्तिय कुलेसु।

'णय इत्थि अभिसेआ' इस पदकी टिप्पणी में लिखा है कि—

"स्त्रीपाणिग्रहण राज्याभिषेकोभय रहित्ता इत्यर्थ।

अर्थात्—महावीर, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ, मल्लिनाथ और वासुपूज्य ये पाँच तीर्थङ्कर ऐसे हुए कि न तो इनका पाणिग्रहण हुआ और न राज्याभिषेक। ये क्षत्रिय राजकुलोत्पन्न थे, कुमारावास से ही प्रव्रजित हो गये थे।

उक्त ये दोनों ही ग्रन्थ श्वेताम्बरीय हैं एक भगवान् महावीर स्वामी का विवाह होना बतलाता है तो दूसरा विवाह का निषेध करता है। इसलिये दोनों ग्रन्थ अमान्य हैं? क्योंकि "कल्पसूत्र" बतलाता है कि ऋषभदत्त ब्राह्मण की ब्राह्मणी के गर्भ में आये "आवश्यक निर्युक्ति" ग्रन्थ क्षत्रिय कुल में उत्पन्न बतलाता है—१६ वें तीर्थङ्करी मल्लिकुमारी को भी 'मल्लिनाथ' लिखा है। अतः नाथ शब्द पुरुष वाचक है।

"भगवान् महावीर स्वामी का जीवन आदर्श" यह एक बड़ा लम्बा चौड़ा पोथा है और इसके लेखक स्थानकवासी साधु चौथमलजी हैं। पृष्ठ २८५-२८६ वें पर बतलाते हैं कि—

"फिरते फिरते भगवान् एक गृहस्थ के घर पहुँचे उसका नाम 'आनन्द' था, उस समय उस गृहस्थ की एक दासी जिसका नाम बहुला था भोजन के पात्रों को साफ करके उन्हें मलना

(माँजना) चाहती थी, और उसके जरा पहले उन्हीं बर्तनों को पोंछ-पाँछ करके उनमें लगे हुए ठंडे और बुसे हुए चावलों को निकाल कर वह फेंकने में ही थी कि इतने में एक भिक्षुक रूप में अपने द्वार पर खड़े हुए भगवान् को उसने देखा वह उसी समय उनसे बोली, इन ठंडे बुसे चावलों को मैं फेंकना चाहती हूँ अगर आप चाहें तो इन्हें ले लें। प्रभु ने बिना किसी प्रकार की जरा भी किसी प्रकार की अरुचि या उदासी के भाव दिखलाये, प्रसन्न चित्त से उन्हें लेने के लिये दासी के सामने हाथ पसार दिये और उससे ग्रहण कर वहीं खड़े-खड़े आहार किया। फिर प्रभुने यष्टिक ग्राम से विहार कर दिया"।

बात समझ में नहीं आती—क्योंकि जानवर मनुष्य के मल-मूत्र का भी भक्षण करते हैं, गंदी से गंदी, अपवित्र से अपवित्र वस्तु खा जाते हैं फिर ऐसा सबसे खराब पदार्थ कौनसा शेष रहा जो फेंकने योग्य हो जिसे जानवर भी न खा सके। और फिर ऐसी कौनसी लाचारी आगई कि पशुओं के भी न खाने योग्य वे चावल भगवान ने खाये।

देखिये—और एक गजब की बात। जबकि भगवान महावीर स्वामी को केवलज्ञान हो गया उस केवलज्ञान होने के बाद बतलाया जाता है कि किसी गोशाल नाम के व्यक्ति ने उन पर तेजो लेश्या छोड़ी जिसके दाह से भगवान महावीर स्वामी को पेचिस के दस्त हो गये, उन दस्तों के बन्द करने के लिये भगवान ने सीहा नाम के मुनि द्वारा गृहस्थ के घर से लेकर औषध का सेवन किया।

श्वेताम्बरीय "भगवती सूत्र" पृष्ट १२६६ से १२७२ तक जो लिखा है उसके पहले सूत्र में यों बतलाया है—

> "तं गच्छहणं तुम सीहा मठियगामं णयरे रेवती ए गाहाव—
> यणीये गिहे तथणं रेवतीए गाहावयणीये मम अट्ठाए दुवे
> कवोय शरीरा उवक्खडिया तेहिं णो अट्ठो अत्थि। से अयणो प—
> रियासि मज्जार कडए कुक्कुड मसए तमाहाराहिं, तेण अट्ठो।"

इसकी संस्कृत छाया यों इसके नीचे लिखी है—

> "तद्गच्छ त्वंसिंह ? मंठिकग्रामे नगरे रेवत्या, गृहपतिप—
> त्न्या गिहे, तत्र रेवत्या गृहपतिपत्न्या ममार्थं द्वे कपोत शरीरे
> उपस्कृते ताभ्यां नैवार्थोस्ति अथान्यं परिवासितं मार्जार कृतं
> कुक्कुर मंसकं तमाहार (आनय) तेनार्थोऽस्ति।

यह कथन बीच वाली गाथाओं में दिया है जो विस्तार के भय से यहां नहीं लिखा है। आगे पृष्ठ १२७२ पर जो गाथा है उसमें यह बतलाया गया है कि—

"तं एणं समणस्स भगवओ महावीरस्स तमाहारं आहारियस्स
समणस्स विपुल रोगायं के खिप्पामेव उवसने, हट्ठे जाए आरोगो
बलियशरीरे तुट्ठा, श्रमणं." ॥ इत्यादि
संस्कृत—तहा समणस्स भगवओ महावीरस्स तमाहारमाहार्थं
माणस्य विपुल रोगातङ्क क्षिप्रमेवोपशान्तः हृष्टो जात आरोग्यो
बलवच्छीशरीरः तुष्टाः श्रमणः। इत्यादि

अर्थात्—तब उस आहार को करने वाले श्रमण भगवान महावीर स्वामी का प्रबल रोग व्याधि तुरन्त शान्त हो गई। भगवान महावीर प्रसन्न हुए, उनका शरीर नीरोग हुआ। सब साधु सन्तुष्ट हुए।

उपसंहार

१—जैन साधु संघ की अतीत कालमें—अंतिम श्रुतकेवली श्री आचार्य भद्रबाहु से पहले भगवान महावीर, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, आदिनाथ तीर्थंकर के शासन में भी पूर्ण अचेलक-नग्न परंपरा रही है, मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासन काल में बारह वर्षीय अकाल पड़ा था, तब नग्न परीषह को कुछ साधुओं ने छोड़ करके कुछ वस्त्र लेने प्रारम्भ किये। इससे पहले एक भी जैन साधु रंचमात्र भी सचेल नहीं रहा।

२—भगवान महावीर माता त्रिशला के ही गर्भ में आये—किसी ब्राह्मणी के गर्भ में नहीं आये, वे आजन्म ब्रह्मचारी रहे, तपः काल में कान में कीले ठोकने आदि का उपसर्ग नहीं हुआ, न केवली अवस्था में पेचिस का रोग हुआ, न उसके उपशम के लिये उनको औषधि सेवन करना पड़ा।

३—सबसे प्रथम षट्खण्डागम, कषायपाहुड, समयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार आदि दिगम्बरी ग्रन्थों की पुस्तक रूप में रचना हुई है। फिर इन ग्रन्थों का आधार लेकर श्री उमास्वामीने तत्त्वार्थ सूत्र बनाया और लगभग ५०० वर्ष पीछे वीर सं० ९८० में वल्लभीपुर में देवर्द्धिगणीजी ने आचारांग आदि नाम रखकर श्वेताम्बरीय आगम ग्रन्थों की रचना की। जिनमें कि अनेक प्रकार की शिथिलाचारी बातें वर्त्तमान हैं।

४—भद्रबाहु आचार्य (अन्तिम श्रुतकेवली) ने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा और उनका समाधिमरण श्रवणबेलगोला में चन्द्रगिरि पहाड़ी पर हुआ।

नोट—भगवान् महावीर की जीवनी के सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर आगम में पर्याप्त अन्तर है। किसी अज्ञात नामक कृपालु लेखक ने यह निबन्ध भास्कर में प्रकाशित करने के लिए भेजा था यह लेखक भास्कर के नियमित पाठक हैं, यह इनके लेखन से स्पष्ट है। इसके लिखे जाने का कारण यह है कि आजकल स्कूल और कॉलेज की इतिहास विषयक पुस्तकों में भगवान् की जीवनी पायी जाती है। यह जीवनी प्रायः श्वेताम्बर आगमों के आधार पर रहती

है; जिसमें बहुत सी असंभव और कल्पित बातें जोड़ी गयी प्रतीत होती हैं। विचारक व्यक्ति उन बातों को स्वीकार नहीं करेगा। कुछ दिन पहले की बात है कि हमारे एक मित्र भगवान् महावीर स्वामी की जयन्ती के अवसर पर आयोजित सभा में भाषण करनेवाले थे। उन्होंने भाषण करने के पूर्व कहा कि 'भाई साहब आपके यहाँ भगवान् के गर्भापहरण की अनर्गल घटना कैसे जोड़ दी गयी है ? मैंने उन्हें उत्तर दिया कि यह केवल एक सम्प्रदाय की मान्यता है। वास्तव में भगवान् का गर्भापहरण नहीं हुआ। इसे कोई भी समझदार स्वीकार नहीं करेगा। इसी प्रकार विवाह और सन्तान का होना, केवली अवस्था में रोगी होना तथा औषधि का सेवन करना; अभक्ष्य भक्षण करना आदि ऐसी बातें हैं, जो बुद्धिसंगत नहीं हैं। इन बातों को यदि प्रक्षिप्त मान लिया जाय तो आगम क्षति नामक दोष नहीं आयेगा। बौद्ध साहित्य की देखादेखी ही ये ऊट-पटांग बातें श्वेताम्बर सम्प्रदाय में चली आई हैं। इन्हीं पुरानी कुछ मान्यताओं के आधार पर आज अनेक अन्वेषक विद्वान् परम अहिंसक जैनधर्म में भी माँसाहार और मदिरापान की झाँकी पाते हैं। अतएव अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के जीवनवृत्त में से असंभव और आगम विरोधी बातों को निकाल उभय सम्प्रदाय की ओर से एक ऐसा प्रामाणिक जीवनवृत्त प्रकाशित हो, जो सबके लिए मान्य हो। श्वेताम्बर आगम में बहुत सी बातें अच्छी हैं तथा दिगम्बर आगम में भी भट्टारकीय ग्रन्थों में बहुत सी बातें असंगत हैं; अतः दोनों सम्प्रदायों के आगम ग्रन्थों की चर्चा उठाना तो हृदय पर चोट करना ही कहा जायगा। पर इस तथ्य से कोई भी विचारक व्यक्ति इन्कार नहीं कर सकता है कि भगवान् महावीर के जीवनवृत्त में मनगढ़न्त बातों को स्थान नहीं देना चाहिए।

भगवान् महावीर वैशाली के क्षत्रियकुण्ड ग्राम के गणतन्त्राधिपति महाराज सिद्धार्थ की रानी त्रिशला के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होने के कारण इन्द्र ने इनके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण ये पाँचों कल्याणक सम्पन्न किये थे। भगवान् आजन्म बाल ब्रह्मचारी रहे। यह इकलौते पुत्र थे। ३० वर्ष की अवस्था तक घर में रहे। पश्चात् दिगम्बर दीक्षा लेकर बारह वर्ष तक मौन होकर घोर तपश्चरण किया। अनन्तर केवल ज्ञान प्राप्त कर ३० वर्षों तक जनता को धर्मोपदेश देते रहे। केवलज्ञान के पश्चात् शरीर के परम औदारिक हो जाने से आहार और निहार का निरोध हो जाता है। ७२ वर्ष की आयु में पावापुरी में कार्त्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के अवसान और अमावास्या की प्रातः वेला में भगवान् का निर्वाण हुआ। तीर्थंकर जरा, जन्म, मरण, रोग, शोक, क्षुधा, तृषा, भय, आश्चर्य, आतंक, राग, द्वेष और मोह आदि अठारह दोषों से रहित होते हैं। अतः भगवान् महावीर में भी उपर्युक्त दोषों में से कोई भी दोष नहीं था। ये ३४ अतिशय, ८ प्रातिहार्य और ४ अनन्तचतुष्टय से युक्त थे। अतः भगवान् की जीवनी एक सर्व सम्मत और प्रामाणिक निकलनी चाहिए।

—नेमिचन्द्र शास्त्री

साहित्य-समीक्षा

संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद:—लेखक श्री अत्रिदेव विद्यालंकार; भूमिका लेखकः डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डी० लिट्; प्रकाशकः भारतीय ज्ञानपीठ काशी; मूल्य तीन रुपये; पृष्ठ संख्याः २४०; साइजः डबल-क्राउन सोलहपेजी।

संस्कृत साहित्य अगाध समुद्र है, इसमें सभी प्रकार के विषय लिखे गये हैं। साहित्यिक ग्रन्थों का निर्माण मनीषी कवियों ने सहस्रों शास्त्रों का मन्थन करके, प्रकृति के सौन्दर्य का पान करके एवं मानव हृदय की छोटी से छोटी बात को भी बड़ी सूक्ष्मता से निरीक्षण करके किया। यह सत्य है कि वन, पर्वत, नदी, नाले, निर्झर, नक्षत्र खचित आकाश अनादिकाल से मानव को अपनी ओर आकर्षित करते आ रहे हैं। मानव की राग-तन्त्री उक्त निरीक्षणों से झन-झना उठती है, जिससे कविता कामिनी का जन्म हो जाता है। संस्कृत काव्य ग्रन्थों में छल-छलाते काव्य रस के साथ ज्योतिष, आयुर्वेद, भूगोल, इतिहास, मूर्त्तिकला, चित्रकला, वास्तुकला, संगीतकला, धर्मशास्त्र, दर्शन आदि विषय फुटकररूप में प्रचुर परिमाण में आये हैं। लेखक ने पाणिनी, भास, अश्वघोष कालिदास, विष्णुशर्मा, हाल, भारवि, शूद्रक, विशाखदत्त, दण्डी, बाणभट्ट, भवभूति, माघ, त्रिविक्रमभट्ट, श्रीहर्ष और पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य ग्रन्थों का अनुशीलन कर आयुर्वेद के अनेक सिद्धान्तों का विवेचन किया है। रोगों के निदान, उनकी स्थिति, उनकी औषधि, जीवन को स्वस्थ और सबल बनाने के लिए स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों का विवेचन किया गया है। भोजन स्वास्थ्य का कारण है, इसके अभाव में हम अधिक दिन तक जीवित नहीं रह सकते, इसी प्रकार भोजन का गलत प्रयोग भी स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है। उचित और उपयुक्त मात्रा में भोजन का प्रयोग करने पर भोजन अमृत का कार्य करता है और गलत ढंग से तथा अनुपयुक्त भोजन कर लेने से जीवन संकट में पड़ जाता है। इस भोजन के सिद्धान्त को संस्कृत के कवियों ने सुन्दर ढंग से निरूपित किया है।

कवियों के काव्यग्रन्थ में आये हुए आयुर्वेद के सिद्धान्तों के विवेचन के अनन्तर अक्ष, अगस्ति, अगुरु, अतियुक्तलता, अपराजिता, अर्घ, अर्जुन, अरिष्ट, अलक्तक, अशोक, आम, इक्षु, एला, कदली, कमल, करवीर, कर्णिकार, कचनार, किंशुक, कुंकुम, कुटज, कुरवक, कुश, कुसुम्भ, केसर, खदिर, गुग्गुलु, चन्दन, जामुन, जाती, ताम्बूल, तिल, तिलक, देवदारू, नागकेशर, बिल्व, बीजपूरक, भूर्ज, मन्दार, मालती, मुस्ता, लवंग, लाजा, लोध्र, शाल्मली, शिरीष, शैवाल, शोभाञ्जन, सप्तपर्ण, सरसों और हरिद्रा वनस्पतियों का विवेचन संस्कृत के काव्य ग्रन्थों के आधार पर किया है। कवियों ने इन वनस्पतियों के विवेचन में काव्य के सौन्दर्य के साथ, इनके गुणों का भी विवेचन किया है। प्रकृति प्रेमी कवि आम, केला, कचनार को केवल उपयोगिता की

दृष्टि से नहीं देखता वह तो उनमें मानवीय भावनाओं का दर्शन करता है। इन वनस्पतियों को वह मानव की तरह उल्लास, विषाद में डूबते हुए पाता है। आयुर्वेद के शोधक विद्वान् श्री अत्रिदेवजी ने काव्यग्रन्थों से उक्त वनस्पतियों की उपयोगिता का अच्छा विश्लेषण किया है। इस सम्बन्ध में एक बात यह कहनी है कि कवि वृक्ष और लताओं का वर्णन काव्य के रसको गति देने के लिए करता है, उपयोगिता गुण उसकी दृष्टि में नहीं रहता। शोधकर्त्ता ने इस छिपे हुए उपयोगिता गुण का आयुर्वेद की दृष्टि से विश्लेषण नहीं किया। एकाध स्थल पर तो ऐसा ही लगा कि उद्धरणमात्र एकत्र कर दिये गये हैं।

इस संकलन में एक कमी यह भी है कि जैन कवि और जैन काव्यों की पूर्णतः उपेक्षा की गयी है। जबकि यशस्तिलक, धर्मशर्माभ्युदय, पुरुदेव, जीवन्धरचम्पू, गद्यचिन्तामणि आदि श्रेष्ठतम काव्य ग्रन्थों में उक्त आयुर्वेद के विषयों की भी कमी नहीं है। हमारा कहना इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में इसलिए नहीं है कि ये किसी सम्प्रदाय विशेष के ग्रन्थ हैं, अतः इनका समावेश होना ही चाहिए था; बल्कि इसलिए है कि ये काव्यग्रन्थ संस्कृत साहित्य में बेजोड़ है। हमें आश्चर्य इस बात का है कि भारतीय ज्ञानपीठ काशी की परम्परा यह है कि उनके यहाँ कोई भी ग्रन्थ उनकी ग्रन्थमाला के सम्पादक की स्वीकृति के बिना मुद्रित नहीं होता। सम्पादक भी प्रत्येक पंक्ति का अवलोकन कर ही स्वीकृति देते हैं, फिर क्यों उन्होंने लेखक का ध्यान इन उपेक्षित ग्रन्थों की ओर आकृष्ट नहीं किया। अस्तु,

विद्वान् लेखक ने एक नयी दिशा शोध करनेवालों के लिए प्रदान की है, अतः वह धन्यवाद के पात्र हैं। छपाई-सफाई, गेट-अप आदि अत्युत्तम है।

और खाई बढ़ती गई:—लेखक : भारतभूषण अग्रवाल; प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; मूल्य ढाई रुपया; पृष्ठ संख्या १५०।

प्रस्तुत रचना में लेखक के आठ रेडियो नाटक संग्रहीत हैं। इस संग्रह में 'और खाई बढ़ती गई' यह तीसरा नाटक है। इसी के नामकरण पर पुस्तक का नाम रखा गया है। यह तीसरा नाटक रेडियो टैकनिक की दृष्टि से अच्छा है तथा लेखक ने किशोर और उसके पिता के चित्रण द्वारा समाज के दोनों वर्ग—उदार और अनुदार का अच्छा चित्र प्रस्तुत किया है। विचार और आदर्शों की भिन्नता ही पिता-पुत्र को अलगकर देती है। समाज में किशोर के पिता जैसे रुपये की तीन अठन्नी बनाने वालों की कमी नहीं। ये शोषण करने में जब अपनी सन्तान को नहीं छोड़ सकते हैं, तो अन्य व्यक्ति को क्या छोड़ेंगे। किशोर का यह स्वगत कथन कितना मार्मिक है—"मुझे यह रहस्य साफ-साफ दिखाई देने लग गया कि जिस व्यक्ति के लिए जीवन का सारा तत्त्व तिजोरी में भरा है, वह भावनाओं की कोमलताओं से ठीक उसी तरह अपरिचित है, जिस तरह नेत्रहीन व्यक्ति प्रकाश के रंगों से।" इससे स्पष्ट है कि समाज में लालची, तृष्णावान् व्यक्ति

अपने हृदय के टुकड़े सन्तान का भी अहित करते हुए नहीं छोड़ता है। उसकी दृष्टि में एक मात्र चाँदी के खनखनाते, प्रशासक की मुद्रा से सुशोभित टुकड़े ही सबकुछ होते हैं। इनके लिए वह अपनी इज्जत, आबरू का भी ख्याल नहीं करता। वह उसी कार्य के लिए पैसे खर्च करता है, जहाँ से लाभ की संभावना हो। मरते समय तक वह दूसरों को धोखा देता है और अपना उल्लू सीधा कर लेना चाहता है। 'और खाई बढ़ती गई' नाटक में किशोर का पत्र है जिसे उसने नाटकी ढंग से अपने पिता के पास लिखा है। नाटककार ने इसमें समाज का सुन्दर चित्रांकन किया है।

इस नाटक संग्रह का प्रथम नाटक है—'महाभारत की साँझ' लेखक ने इसमें महाभारत की एक सन्ध्या का चित्र प्रस्तुत किया है। सेना के तितर-बितर हो जाने पर दुर्योधन भागकर जा छिपता है और युधिष्ठिर तथा भीम उसे ढूढ़ते हुए जाते हैं। दुर्योधन धर्म की दुहाई देकर युधिष्ठिर से युद्ध की तय्यारी के लिए समय माँगता है। इस पर युधिष्ठर उत्तर देते हैं—'अरे पामर! तेरा धर्म तब कहा चला गया था, जब एक निहत्थे बालक को सात-सात महारथियों ने मिलकर मारा था, जब आधा राज्य तो दूर, सुई की नोक बराबर भी भूमि देना तुझे अनुचित लगा था। अपने अधर्म से इस पुण्यलोक भारत भूमि में द्वेष की ज्वाला भभकाकर अब तू धर्म की दुहाई देता है। धिक्कार है तेरे ज्ञान को! धिक्कार है तेरी वीरता को !!

दुर्योधन—"एक निहत्थे, थके हुए व्यक्ति को घेरकर वीरता का उपदेश देना सहज है, युधिष्ठिर! मुझे खेद है, मैं उसके लिए तुम्हारी प्रशंसा नहीं कर सकता, पर सच कहता हूँ तुमसे, इस नर हत्याकाण्ड से मुझे विरक्ति हो गई है। इस रक्त रंजित सिंहासन पर बैठकर राज्य करने की मेरी कोई इच्छा नहीं है। तुम निश्चिन्त मन से जाओ और राज्य भोगो। सुयोधन तो वन में जाकर भगवद्भक्ति में दिन बिताएगा"।

इन वार्तालापों से विजयी और पराजयी की भावनाओं का पता सहज में लगाया जा सकता है। घायल दुर्योधन युधिष्ठिर से कहता है—"मैं तो सबकी सार बात जानता हूँ कि तुम्हारी महत्त्वाकांक्षा ही इस नरसंहार का इस भीषण रक्तपात का मूल कारण है। मैं तो एक निस्सहाय, विवश व्यक्ति की भाँति केवल जूझ मरा हूँ, तुम्हारे चक्रान्त में मेरे लिए यही पुरस्कार निर्धारित किया गया है।" दुर्योधन का यह कथन कहाँ तक सत्य है यह तो पाठकों पर ही छोड़ा जायगा। किन्तु युधिष्ठिर की महत्त्वाकांक्षा पर क्या युद्ध का दायित्व नहीं है। घायल दुर्योधन को लज्जित करने के लिए युधिष्ठिर का जाना आदि प्रश्न ऐसे हैं, जिन पर पाठकों को रुककर विचार करना पड़ता है। लेखक के ये नाटक व्यंग्य और विनोद के साथ समाज का स्वस्थ चित्र भी प्रस्तुत करते हैं। आज समाज के नव निर्माण की कितनी आवश्यकता है, यह किसी से छुपा नहीं। अतएव वर्त्तमान में इस प्रकार के नाटकों की विशेष आवश्यकता है। लेखक ने साहित्य के एक रिक्त स्थान को पूर्ण करने का आयास किया है।

क्या मैं अन्दर आ सकता हूँ [वैयक्तिक शैली के शृङ्खलाबद्ध लेखों की एक माला]:—लेखक: श्री रावी; प्रकाशक: भारतीय ज्ञानपीठ काशी; मूल्य: ढाई रुपया; पृष्ठ संख्या: १६० ।

हिन्दी में वैयक्तिक शैली के निबन्धों का प्रायः अभाव है श्री रावी ने इस शैली के निबन्ध लिखकर माँ भारती के भाण्डार को समृद्ध शाली बनाया है। वैयक्तिक निबन्धों का लेखक अपनी व्यापक अनुभूति के आधार पर समाज का सच्चा चित्र प्रस्तुत करता है। इस विषय के लेखक की अनुभूति जितनी गहरी होती है, निबन्ध उतने ही प्रभावोत्पादक होते हैं। प्रस्तुत निबन्ध संग्रह के निबन्ध दो खण्डों में विभक्त हैं—प्रथम और द्वितीय। प्रथम खण्ड में १३ निबन्ध और द्वितीय खण्ड में १० निबन्ध हैं। प्रथम खण्ड के प्रथम निबन्ध में 'मुझे कुछ कहना है' शीर्षक में ही लेखक ने अपने उद्देश्य की ओर संकेत कर दिया है। 'सवाल बनाम सिगरेट' में बड़ा ही सुन्दर संकेत किया है कि आज के व्यस्त जीवन में रोटी-रोटी रा जने तक अधिकार एवं अबाध भोगेच्छा की तृप्ति की ही प्रधानता है, जिससे संस्कृति, धर्म, ज्ञान और कला के सम्बन्ध में किसी को भी विचार करने की आवश्यकता नहीं। समाज के विकार रूपी रोगों की चिकित्सा, कला, साहित्य और संस्कृति में है। जीवन की नीरस घड़ियों में रस का संचार इन्हीं के द्वारा हो सकता है। चिन्तनशील लेखक ने बड़े ही सुन्दर ढंग से स्वस्थ प्रेम, कला और संस्कृति के ऊपर प्रकाश डाला है। लेखक ने 'माला यों फेरिये' शीर्षक में लिखा है—"समाज के बीच रहते हुए सुखपूर्वक बढ़ने के लिए शायद यह आवश्यकता पड़ेगी कि आप अपने विचारों में पूरी और समाज के बीच व्यवहारों में आंशिक, केवल उतनी स्वच्छन्दता का प्रयोग करें जितने से आपके सुख में बाधा न पड़े। व्यवहारों में जिस स्वच्छन्दता के बरतने से समाज को और आपको अस्वास्थ्यकर चोट लगे, उसका न बरतना ही बुद्धिमानी भी जान पड़ती है।"

"विचारों में पूर्व स्वतन्त्रता और कर्मों में समाज द्वारा नियन्त्रित—कुछ इसी आशय का किसी बड़े व्यवस्थाकार का भी कहना है।

इससे स्पष्ट है कि लेखक ने समाज निर्माण के लिए अपने चिन्तनपूर्ण इन निबन्धों द्वारा स्वस्थ और सबल मौलिक सिद्धान्तों का प्रयोग किया है। इन निबन्धों से व्यक्ति और समाज दोनों ही जीवन कला का पाठ सीख सकते हैं। जीवनोत्थान की पर्याप्त सामग्री इनमें वर्तमान है।

गीत संगम [सन १९४९ से सन १९५५ तक के कतिपय गीतों का संग्रह]:—रचयिता: श्री रञ्जनसूरिदेव; मिलने का पता: लता प्रकाशन: पटना ३।

श्री रंजनजी विचारक विद्वान् और कवि हैं। संस्कृत, प्राकृत, पाली आदि प्राचीन भाषाओं का अध्ययन और परिशीलन भी आपने किया है। यही कारण है कि इस संग्रह के सभी गीतों की भाषा ललित और प्राञ्जल है। इस संग्रह के सभी गीत तीन भागों में विभक्त हैं—आशा, कामना

और वेदना। सभी गीतों में स्वाभाविक गीत धारा का अक्षुण्ण प्रवाह है, ये सौन्दर्य स्रोत में मानव के अन्तस् को डुबा देने की पूर्ण क्षमता रखते हैं। इनमें संगीत का अनुबन्ध है, पर इससे भावात्मकता में वृद्धि ही हुई है। गीतों में मार्मिकता और स्नेहसिक्त रसधारा इतनी अधिक गहरी और शीतल है, जिससे उसके पावन शैत्य का समाहत प्रभाव मानवीय वृत्ति पर पड़े बिना नहीं रह सकता। यद्यपि इन गीतों में वैयक्तिक सुख, दुःख, हर्ष, शोक, राग, द्वेष एवं हास-अश्रु विद्यमान हैं, तो भी कवि ने अपनी भावनाओं को विश्वजनीन बनाने के लिए पूरा आयास किया है। आत्मचेतना की जागृति एवं लयपूर्ण भाषा में आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति सर्वत्र वर्तमान है। निम्न पंक्तियों में कल्पना के साथ रागतत्त्व का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसका पाठक स्वयं अनुभव कर सकेंगे।

ऊषा की नीलम शय्या पर—
बिखरे हैं जावक-अरुण राग
धरती के श्यामल अंचल पर—
झर रहे रश्मियों के पराग,

आगे ५६ संख्यक गीत में कल्पना, विचार और भावना की त्रिवेणी में निमज्जन करता हुआ कवि क्लान्त एवं त्रस्त विश्व में विश्वास खोजता शान्ति का मार्ग ढूंढ़ रहा है। अतः जगत् के राग-विरागों के गंगायमुनी संगम पर खड़ा होकर कहता है—

वश्व खोजता चलता हूँ।
पता नहीं, मुझको जग छलता या मैं ही जग को छलता हूँ?
तिमिर-पंथ पर भटक रहा है
शूलित-कीलित-सा नवयौवन;
आतप-मलान मृदुल किसलयसा
सूख रहा भावों का उपवन,
पता नहीं, मुझ से जग जलता या मैं ही जग से जलता हूं?

इस प्रकार इस संग्रह के सभी गीत सरस और सुन्दर हैं, वैयक्तिक अनुभूति में सामाजीकरण हैं। हम नवयुवक कवि की उन्नति की कामना करते हैं और साथ ही उनसे अनुरोध करते हैं कि उनकी अन्य रचना हमें शीघ्र ही पढ़ने को प्राप्त होगी। इस सरस रचना का पाठकों को रसास्वादन करना चाहिए। गेट-अप, जिल्द, छपाई आदि नयनभिराम हैं।

—नेमिचन्द्र शास्त्री

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XXI JUNE, 1955. No I

Edited by

Prof. A. N. Upadhya, M. A., D. Litt.
Prof. Jyoti Prasad Jain, M. A., LL. B.
Sri, Kmata Prasad Jain, M. R. A. S., D. L.
Pt. K. Bhujbali Shastri, Vidyabhushan.
Pt. Nemi Chandra Shastri, Jyotisacharya

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY.
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Inland Rs. 3. Single Copy. Rs 1/8

CONTENTS.

ॐ

JAINA ANTIQUARY

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "

[अकलंकदेव]

Vol. XXI No I | ARRAH (INDIA) | JUNE 1955.

JĪVAKA CHINTĀMAṆI.

Muktialambakam—Chapter on Liberation.

By

Prof A. Chakravarti, M.A., I.E.S., (Rtd)

Section I—Vijayā Devī's Renunciation.

The facts narrated below relate to the period of Jīvaka's reign. He conquerred all his enemies and regained the Kingdom lost by his father. Once again he established peace and propserity. By his generosity, he spent his wealth liberally for the welfare and happiness of his subjects. To satisfy the desire of his Queen Mother, he

[The Jīvaka Chintāmaṇi is the foremost of the five Mahākāvyas and is undoubtedly 'the greatest existing Tamil literary monument.' It remains unrivalled in Tamil literature for its grandeur of conception, elegance of literary diction and beauty of description of nature. Professor A. Chakravarti is well-known for his devoted studies in Tamil literature, and his excellent monograph 'Jaina Literature in Tamil' was published through the pages of the Jaina Antiquary. It is very good of him that he is giving to us an exhaustive Summary of the Chapter on Liberation from the Jīvaka Chintāmaṇi. The Tamil classic has its ideological and cultural characteristics; and it deserves to be studied in comparison with similar classics, dealing with the life of Jīvaka, in Sanskrit, Kannada and other languages. For such a study Professor Chakravarti's resume is of great value. Editor.]

raised a huge and grand temple near an Aśoka tree for the Ominicient Lord who destroyed the 8 kinds of Karma and who realised the 8 divine qualities. A village surrounded by fertile paddy fields was set apart as a gift to the temple for the performance of daily pūjā and celebrating the annual festival for the Omnicient Lord. In memory of all those who protected and helped Jīvaka from the day of his birth upto his victory, the Queen Mother dedicated all the happy results of these good deeds to them, because these great souls will not accept any material reward as a mark of her gratitude. When she landed near the cremation ground and gave birth to a child, the goddess of the place, took care of her and after delivery, carefully led her to Āśrama of Tāpasis. In grateful remembarance of this goddess, she had another temple raised at that place in the name of the goddess. The peacock vehicle in which she escaped from the Capital and which safely brought her down to land, she did not forget. She had a portrait of that always in her chamber. The child Jīvaka was brought up by great merchant Kandukaḍan who secured as companions for his adopted child 504 children. The Queen Mother arranged with her brother Govinda to feed 505 children every day with the pure cow's milk and also to feed them with rich food. It was only then that the Queen Mother got rid of her anxiety and care.

Sunandā, the adopted mother of Jīvaka, one day approached the Queen Mother. She was embraced with joy by Queen Mother and was praised for the service rendered to Kuru dynasty for saving and nursing the child Jīvaka. Then she called the 8 queens of Jīvaka with great affection and told them as if communicating a secret as follows :—"You, 8 queens, represent the 8 garlands over the crown of the State which I saw in my dream. May God bless you with children. May you all have unswearving faith in the Lord."

After meeting her 8 daughters-in-law, she called her son, the King, to come near her. The King approached her humbly, worshipped the Queen Mother with the flowers and bowed before her touching her feet with the crowned head. After respectfully hailing his mother, he was asked to sit by herself. The Royal Mother addressed her son as follows :—

"You must have heard from others all that had happened to your father. Now, My Dear Worshipful Jīvaka, I will tell you all that has happened to the great King, your father. Please listen to me. The King who was enjoying the royal prosperity was unfortunately clouded by lust and sensual pleasures like the beautiful moon at the time of eclipse. So he became a slave to sensual pleasures. He did not care about the disrespectful remarks of his people. He would not accept the wise advice of his learned Ministers. He spent his life like a mad elephant beyond the control of its Mahout. His Ministers realising that their presence would be of no use, left their services. Just as the sea breaks the protective embankments and submerges the coastal city, all the protective advice rendered by his Ministers was of no use to protect the king from being drowned in the mere sensual pleasures. He forgot all his kingly duties. All his friends and relations went away in disgust leaving him alone. This helpless situation is but the result of his own conduct. You plant a castor seed but you cannot expect a hard and weighty "Acha" tree to grow out of that seed. Realising the helplessness of the King, the treacherous Army Commander, Kaṭṭiyaṅgāran, to whom he delegated all his powers, undermined the King's sovereignity and usurped all the powers to himself. The king realised too late the dangerous situation. In order to save the unborn prince —yourself—he put me on the peacock vehicle and bade me to quit safely. After my escape, the King unprotected, faced the situation and became a victim in the hands of the treacherous commander. This tragic end is but the result of the King's own conduct. When you sow evil seeds, you cannot harvest good. Oh! My Son, the ruler, I narrate all these to you so that you must beware of sensual pleasures. How the time is ripe for me to renounce the world and spend my time in a holy monastery." Hearing these sad words of his mother, the king was shocked and swooned. At once, his queens and the women servants of the Royal Household sprinkled rose-water on his face and gently fanned him. Then he got up as if waking from his sleep and asked the Queen Mother to communicate her message to him. Then she addressed him in the following words.

"We are all deeply immersed in the desire to live. We never know the exact period of life that we are likely to have from birth

to the end. But at the end when death overtakes us, we feel helpless to save our life from the jaws of Death. At that time, the only thing left to us is to feel sorry for uselessly wasting our life. We cannot get back all those wasted days with the hope of spiritual regeneration. That is impossible for us. Death will necessarily swallow us as the glutton swallows rich food. The end is certain In spite of such a life, marked by birth and inevitable end, we are fortunate enough to be born as men in happy circumstances. Born in such a happy environment, you must take advantage of the situation and sincerely make effort for your spiritual development by walking the path of righteousness. Instead of walking this path of righteousness, if we live immersed with the pleasure in the midst of wife and children, we are sure to be frustrated. Persons who are brought together by the tie of family affection will all get dispersed at the critical moment, just like rain drops get dispersed by strong wind. Hence, I advise you not to become a slave of environment. The way of desire for sensual pleasure, family affection etc.—all these things prevent your spiritual development. Hence, I advise you not to show affection for your dear ones because such an affection is an impediment to spiritual development. Take courage to forget that I am your Mother and let me have freedom to adopt my own way of ascetic life."

Again the Queen Mother addressed the following words on the importance of virtue. "Instead of being intoxicated with sensual pleasures in the company of beautiful maiden utterly blind to the value of virtue before old age overtakes you, my dear friends, attend to Tapas and Dharma—penance and piety. Body is but an abode of painful diseases. It serves as a delicious food for death. Before the body loses its health and becomes decrepit, try to share your food with the needy and cultivate noble qualities achievable through the instrument of human body. After all, body is but a cart and man is its driver. Life in the body is the axle of the cart. If by long and constant use, the cart becomes worn out and dilapidated, there is no possibility of reconditioning it by introducing a new life, a fresh axle. But body gets abandoned finally as useless. In some cases, the body, instead of lasting till the end of the date of the age, may get destroyed even earlier by getting struck in the stream of

sorrow and misery. Hence before this cart becomes useless by losing its axle of life, man must achieve all the benefits derivable from that body. Therefore, my friends, try to achieve maximum moral benefit as your fare in driving the cart. Ordinarily, men are ruled by desire. They do not try to achieve moral greatness. They do not know the exact nature of Dharma They slavishly pursue this desire for pleasure. Realise that this object of desire is quite worthless. Hence, desist pursuing such worthless desires. We see in this world persons living in great prosperity reluctantly eating their rich food offered in golden plate by their beloved wife. The very same person as a result of adversity may lose all his wealth and may go about begging for food carrying a mud plate in his hand. My dear friends, realise that wealth is nothing. Direct your attention on spiritual discipline. For that is the only thing worthy of achieving. Again, we see in this world even the queen in the royal household, who was accustomed to drink milk in a golden cup, may lose all her royal glory as a result of evil destiny. Filled by poverty and hunger, she may go from door to door begging for food. Such is the nature of the world. Hence, never desire wealth, my friends. Pursue righteousness. We see in this world such poverty and misery. A woman may have only small rag scarcely fit to cover her nakedness.. Thus covering her nakedness with one hand and the rag, she may lift her other hand to pluck a few leaves for cooking. She may cry out in that situation cursing her destiny that has led her to this shameful misery. My dear friends, after witnessing such things in life, never approach wealth. Devote yourself to Tapas and spiritual discipline. Even a young man with beautiful and well-built body, which will be a source of joy for the young women to look at, may become old and bent in body and may require a support of a stick to stand aright. Thus you realise that youth is but a ephemeral event in life." All this moral advice the Queen Mother, addressed for the benefit of her son Jīvaka.

Carefully listening to these words of the Queen Mother, Sunandā, took the advice as also applicable to herself. She turns to Jīvaka and addresses him as follows :—"Oh ! noble King, Queen Mother's decision to renounce the world may be considered either good or bad. But I entirely accept that decision. I have also decided to

follow her." Hearing these words of Sunandā, Jīvaka stood speechless not knowing what to say. Thus, leaving Jīvaka behind, both the mothers left the place for the monastery. The other ladies at the royal household stood there helplessly shedding tears. The City began to cry in grief. The people in the City did not cry so much even on that day when the Queen escaped from the City on her peacock machine. The noise of crying was similar to the roar of sea during cyclone The Queen Mother's palankin was followed by 1,000 others carrying 1,000 other women also who followed the Queen Mother. All of them reached the holy Āśrama precided over by Pomma, the Mother Superior of the sacred Āśrama.

The Queen Mother surrounded by 1,000 followers got down and entered the holy Āśrama and bowed before the chief ascetic Pomma and begged her to admit herself and all as her followers into her Āśrama and to guide them to cross the ocean of Saṁsāra. At this request from the Queen Mother, the Chief of the Āśrama replied thus: 'S iritual discipline through ascetism is an extremely difficult experience But leading a life according to the path of righteousness without undertaking ascetism will make life in this world happy and praiseworthy and may also result in deriving happiness in Svarga hereafter Hence. you ladies, desist from asceticism" At this word of warning, the Queen Mother replied "Oh! Holy Mother. We will listen to your preaching of Dharma later on. Please initiate us now in the ascetic life" At this importunate request, the female ascetics in the Āśrama began to make all the necessary arrangements for the ceremony of initiation. The place was decorated with flowers and leaves. Lights were lit. The seat was beautifully decorated. The Queen Mother's feet were washed with milk. Her royal dress of silken stuff was all removed. The white cotton cloth was tied round her breast. According to the rules of spiritual discipline, other ladies had also undergone the same ceremony. Their ornaments and garlands were all removed. Ordinary cotton cloth was tied round their breast. Then the Queen Mother and Sunandā and all the other ladies who followed them were seated facing east. Then all their beautiful dresses were cut by the female ascetics of the Āśrama and were taken away in plate from the place. After the ceremony, all the ladies appeared like peacocks which shed their feathers. Thus

living in the Āśrama, the ladies adopted their ascetic life. They had found faith in the sacred scripture revealed by the Lord Omnicient. They were all seriously engaged in spiritual discipline. They filled their souls with spiritual qualities. Their body made of bones and flesh when filled with many spiritual qualities resembled a golden pot filled with jewels and precious stones.

The noble ascetics remained in the Āśrama quite indifferent to the world outside. Neither the praise nor the blame from the people around had any reaction in them. They were deeply interested in the study of the scripture. They were not subject to any doubt or delusion. Their faith in the world revealed by the Lord was shining like a beacon light before the whole world. One day, the King followed by his queens went to the Āśrama all carrying flowers of worship. There, they worshipped at the feet of the Queen Mother pouring flowers at her feet. Then he addressed as follows :—

'Oh Holy Mother! In the days gone by, I had not the good fortune to live with you. Now, after the victory, I hoped to be with you in the palace. But you have renounced the world and the royal environment. I beg to make one request. Be pleased to stay in the City so that I may have the pleasure of visiting you often." The holy ascetic the Royal Mother made no reply to this request. She remained silent like a statue. Then, Pomma, the Mother Superior of the Āśrama intervened and replied as follows: "The good lady remained silent without replying in order to make you realise that the old domestic relation will not hold good any more. You may forget and give up the feeling of the old relationship." Hearing these words of explanation, the King together with his queens began to sob in grief. Then the King spoke as follows: "Oh Sacred Mother, I do not want to claim and re-establish the old filial affection and be frequenting Āśrama. My sole desire to visit the Āśrama is to see and realise the courage of the noble ascetics who are devoted to Lord and who carry out the spiritual discipline enjoined in the holy scripture."

Hearing these words from the King, all the female ascetics of the Āśrama were moved by sympathy and begged the ascetic Queen Mother to utter a word of comfort assuring her that such a kind

reply would not in any way interfere with her faith and devotion to the spiritual discipline. At this request of the female ascetics of the Āśrama, the Queen Mother turned to the King and spoke as follows: "The very object that you mention as yours to perceive those that follow the holy Dharma in directing the people to walk the path of salvation, is identically the same object to realise which we renounce the world and join the holy Āśrama" At this the king spoke as follows. 'Holy Ascetic, you took no trouble to bring me up as your son. Now your renouncing me and the world is but proper," Then turning to Sunandā, he said: "Since you took trouble to bring me up, you are my real mother. Up to now you have not done anything to cause me pain. Now you renounce the world and me. You have been cruel to me, you cruel and heartless lady."

Thus, he expressed his grief before her like a wounded cub struggling in pain before his mother. Then Sunandā spoke as follows: "Let the past be forgotton. Having lost my husband, I remained with you without grumbling. For this the world blamed me that instead of mourning my lost husband, I remained in royal glory living in your palace. Now when the royal Mother spurned as trifle the wealth and prosperity of the royal household and entered as an ascetic in the Āśrama if I remained in the palace enjoying the prosperity of royal household, the world will curse still more. Do you really want me to be an object of blame and ridicule?". With these words, she conforted the king and asked him to go back to the palace and attend to State duties. Then the Ascetic Queen Mother addressed the Nandattan Sunandā's son, in the following words: "Do not feel pain at heart because we renounced the world and entered the Ascetic Āśrama. We will never forget you We wish you a happy future". They were happy hearing these words.

Thereafter, he praised the ascetics consistent with their stay in the holy Aśrama, left the Aśrama and went back to the palace. His queens then took leave of their mothers-in-law and followed the king and entered the royal palace. Thereafter, the noble Queen of the late King Sachchandan with beauty well known to the whole world considered the happiness of the world as merely a bubble, renounced the world, gave up all desires for wordly things, and strictly walking

the path of righteousness, strenuously engaged in spiritual discipline with the firm belief that that is the only path for salvation.

Section II —Water Sports.

The Ministers of the State feared that the King Jīvaka still had some kind of attraction towards ascetic life. They wanted to divert his attention from such an idea. They decided to bring back his thought towards domestic happiness. With that purpose, they devised water-sport for the king. They filled with scented water the bathing pool near the royal palace. They placed a number of boats in the water. They brought the different kinds of garlands and boquets, intended to serve as love-weapons during the mock-battle. They requested the King to visit the bathing pool filled with scented water and requested him to take part in the water-sports. The King and the Ladies of the royal Household divided into two teams, one captained by the chief Queen Gandharvadattā and the other by the king himself. Gandharvadattā is supposed to personate Kaṭṭiyaṅgāran in this mock battle and the King Jīvaka has to be the rival. Each side equipped with various weapons of flower, entered the tank and began the battle of water-sport. Each side began to strike the other with the various weapons designed by flowers. When the two teams thus began to attack each other, Gandharvadattā took her mechanical syringe and through that sent strong showers of coloured water over the ladies in the opposite side. They were not able to bear this shower of coloured water. Their eyes became red. To escape from this attack through syringe, they dived in the water and hid their faces But they could not remain under the water for long. Hence, they had to get their head above the water. As soon as they lifted up their heads above the water surface, Dattā's force immediately attacked the ladies with the showers of coloured water. Not knowing what to do to defend themselves, they all turned to the King begging for protection, The King seeing their helpless situation, angrily took his syringe and sent a rain of coloured water on the ladies led by Gandharvadattā. They in their turn attacked the king by throwing garlands and boquets on him. He replied by sending stronger showers through the syringe. They got frightened by the attack from the king. In their consternation, they tried to

hide themselves by running here and there in the tank, some losing their clothes in the water. When their body was thus uncovered, they had to cover themselves in the froth on the surface of the tank. The King did not like to attack them when they stood exposed without their clothes, slipped down from their body. He draw the attention of Gandarvadattā that she was stark naked and thus called for the mock battle in the water to be stopped. They all got out from the tank, dried their body, wore their silken clothes, tied their hair in their usual manner and adorned their heads with flowers. They all left the pool very happily.

Section III—Enjoying the Seasons.

The Kink Jīvaka could not forget the beautiful appearance of the Queens after the water sports. After imbibing their beauty through his eyes, he was continuing the sport throughout the year, the nature of the sport and the enjoyment varying with the seasons.

Severe Summer: The sun is very hot in summer. The heat is unbearable. Therefore he had raised the hall filled with cold sandal paste and water. He spends the day time bathing in this sandal water. At night in the moon-light, he spends his time with his Queens. When he was thus playing with the ladies of the royal household, the pearl garlands worn by the queens snapped and the pearls got scattered on the ground. The King Jīvaka whose beauty would be an object of envy to the God of Love, thus spends the summer in the company of his Queens witnessing the dance and enjoying the music throughout.

Rainy Season: After the passing away of summer heat, the rainy season begins. Clouds gather, there is tremendous thunder. Hearing the thunder, the queens are frightened and run to the King for protection embracing him. Their movements then resemble the waving of a branch of a tree full of flowers. It begins to rain. While playing in the terrace, they get drenched They hurriedly come down to the hall below. The ornaments worn by the ladies and the king are producing characteristic sounds while they all come down in a hurry. Thus they spend the rainy season eating sweet cakes and drinking rich cows' milk. The king and the ladies of the royal household happily spend their time in the palace.

Winter cold season: The rainy season has passed away. The winter cold has set in. The ladies of the Royal household desired to protect themselves in the cold by burning incence in the hall, warming their body in the heat and wearing garlands of flowers. The God of Love sent his arrows and attacked the king. The King, tried to please the ladies providing all that they require, spends the cold winter in the company of the queens. One of his Queens Guṇamālā brought to the King a cup of sweet drink. She looks low at the vessel and there perceives the reflection of her face. She imagines that to be the moon. Out of jealousy, she wants to drive away the moon from there. She drinks the liquid imagining that the moon has hurriedly resumed her seat in the sky. Looking at the moon in the sky, Guṇamālā's jealousy did not disappear. The King perceives her in the grip of jealousy. Her face expresses pain and suffering The king comforts her by asking her not to be worried about the rival moon. "Dear Lady, forget the moon rivalling in your face. Get rid of the pain in your heart", so saying, he draws her nearer and embraces her. Her sorrow disappears giving place to joy.

The Season of early dew: The dew season has appeared. To suit the change of weather, the ladies of the royal household put on their fur coats. After removing the unsuitable dresses, they put on suitable dresses and garlands for the season and bed their tresses with scented fumes. Fruits and fried rice mixed with honey formed their main food during the season. The king also has spent most of his time inside the palace with his queens. Thus the days are spent till the next season.

The season of late dew: During this season, the ladies adorned themselves with garlands of white flowers. They put on woollen robes of purple colour. Daily they had spent their life dancing, singing and playing the musical instruments. Thus they spend their time in the hall in the ground floor. When the King and the Queens are engaged in play adorned fully with ornaments, which produced sound mingling with the general music. Thus they spend the whole of late dew season till the mild summer season sets in.

The Spring season: The spring season has set in. The Northern wind has ceased to blow. The trees have put in fresh and tender

foliage. Fresh flowers have blossomed in them. The spring season looked like the harbinger of the coming of God of Love. Bees and wasps have begun to hum after drinking the honey. Birds are warbling in joy. The ladies of the royal household in order to welcome the joy of the coming spring, have started preparing themselves for the season. They had a cold bath and then dried their hair with hot fumes by burning incence Then they dressed beautifully, having garlands of flowers in their crown They wear their silken dresses. Around their waist, they fixed the jewelled belt. Ornaments are worn round their neck and rings on their fingers. They have their ear-rings in their ears, anklets on their ankles, and on their neck they set right their marriage ornament called 'Thali'. They put on the brilliant diamond garlands round their neck. After thus making up with beautiful dresses, they are walking into a beautiful garden. After spending sometime in the garden, they get on the royal elephants. Riding on the elephants, they all leave the City and go out towards fields in the country side. They all get down from their elephants and go near the paddy fields bent with rich ears of corn. They pluck a few ears in the field, tie them up and wear them along with their pearl garlands. Thus, playing and enjoying in the open field with the nature full of life and smile, the Queens enjoy the beauty around them. They plucked flowers from the fields and having them in their hands, they appeared as if tendering an invitation to the King that it is time for him to drink their beauty and to enjoy them. Thus ends the spring season.

—To be Continued.

ICONOGRAPHY OF THE JAIN GODDESS SACCIKA

By

R. C. Agrawala, M. A., Superintendent

Archaeology and Museums, Udaipur Circle, Udaipur

Referring to the ancient temples at Osian[1], Dr. D. R. Bhandarkar[2] states that the most celebrated of the temples on the hill here is that of *Saciyā Mātā* and that "it is a sacred place in Mārwār and people even from as far south as Palanpur come here to worship the goddess. It is however the Oswāla Jains, who regard her with peculiar reverence. They bring their children to tho temple for tonsure ceremony ......The worshippers dare not pass the night at Osian after paying their homage to the goddess for if they do so, they are sure to be overtaken by some calamity or the other "

As regards the sanctum of the above temple, "the outside walls have 4 niches—what are called the principal niches and an extra on the south. In the former, facing the south, east and north respectively, are Cāmuṇḍā, the Mahiṣāsuramardinī and Śītalā riding on an ass and holding a *śūrpa* and a basket In the 4th niche is naked image of Bhairava." On the back side of the shrine is an inscription (dated *Saṃvat* 1234 *Caitrasudi* 10 *Gurau.*) which relates that a certain banker called Gayapāla had installed the images of Caṇḍikā, Śītalā, Saccikā, Kṣemaṅkarī[2a] and Kṣetrapāla in the sanctum (*Jaṅghāghara*) of the goddess Saccikā. This inscription runs thus :—

1. About 39 miles from Jodhpur. There is a railway station of the same name on the Jodhpur-Phalodī-Pokaran railway line.

2. *Archaeological Survey of India* (*Annual Report*), 1908-9, Pt. II, p. 109. *Saciyā* is the corrupt form of the word *Saccikā* which has itself been derived from Skt. *Satya* = true.

2a. It is interesting to note the mention of the temple of Kṣemāryā Kṣemakarī in a early mediaeval inscription from Vasantagaḍh (Sirohī, Rājasthāna) and dated in *saṃvat* 682 (625 A. D.); *Epigraphia Indica*, IX, pp 191 ff; *PRASWC*, 1905-6, pp. 49 ff.

3. P. C. Nāhaḍ, *Jaina Lekha Saṅgraha*, I, Calcutta, 1918, p. 198, no. 805; *Administration Report of thc Archaeolgical Department*, Jodhpur, 1949, XXI, p. 10.

"संवत् १२३४ चैत्रसुदि १० गुरौ घोर बड़ांशु गोत्रे साधु रहुदा सुतसाधु जाल्हण तस्य भार्या तयो सुतेन साधुम ल्हा दोहित्रेण साधु गयपालेन सच्चिकादेवि प्रासाद कर्मणि चण्डिका-शीतला-श्रीसच्चिकादेवि-क्षेमंकरी-क्षेत्रपाल प्रतिमाभिः सहितं जंघाघरं आत्मश्रेयार्थं का ... म् ।" This inscription has been engraved just near the sculpture of Mahiṣa-mardinī in the main back niche of the *garbha-griha* of Sachiyā Mātā's temple.

The installation of the images[4] of the above gods and goddesses in a Jaina temple is very interesting. As a matter of fact, we come across the names of Tāntric goddesses such as Kaṅkālī, Kālī, Mahākālī, Cāmuṇḍā, Durgā ... ...etc., in the Jaina pantheon.[5] The Jaina literature also describes Kṣetrapāla and one such image from Gandhawal (Gwalior) too is very interesting (Cf Bhattacharya, *Op. cit.*, pp. 180 1 and f. n. p. 181). The Jūnā Stone Inscription (dated *saṃvat* 1352) from Mārwār also refers to the gods Vighnamardanā Kṣetrapāla and Cāuṇḍarāja in the Jaina temple of Ādi Nātha (Cf. *Epigraphia Indica*, XI, pp. 59-60).

It is also essential to refer to another inscription of *Saṃvat 1236 Kārttika sudi 1 Budhavāre* in the temple of Saciyāmātā itself. Here we find the name of the goddess written as *Saccīkā devī* or *Sañcikā devī* It has also been stated therein that the temple of this deity was at Upakeśa (ie modern Osian). This inscription runs[6] thus :—

"संवत् १२३६ कार्त्तिक सुदि १ बुधवारे अद्येह श्री केल्हणदेव महाराजराज्ये ... ...तद्भुक्तौ श्री उपकेशीय श्री सच्चिकादेवि देवगृहे श्री राजसेवक गुहिलगांकय विषयी धारावर्षेण संचिकादेवि गोष्ठिकान् भणित्वा तत्समक्ष त इयं व्यवस्था लिखापिता । यथा—श्री सच्चिका देवि द्वारं भोजकैः प्रहरमेकं यावदुद्घाट्य स्थितं स्थातव्यं । भोजकपुरुष प्रमाणं द्वादश वर्षीयोत्तरः तथा गोष्ठिकैः श्री सच्चिकादेवि कोष्ठागारात् मुगमा० १० । घृतकर्ष १ भोजकेभ्यो दिनं प्रति दातव्यः ॥

4. According to Bhandarkar (*op. cit*). Caṇḍikā here is Cāmuṇḍā in the niche facing south; Śitalā has been installed in the sanctum; Kṣemaṅkarī appears to be Mahiṣāsuramardinī and Kṣetrapāla is the nude Bhairava.

5. Cf M. R. Majumdar's paper 'Treatment of Goddesses in Jain and Brahmanical Pictorial Art' in the *Journal of the U. P. Historical Society*, Lucknow, 1950, XXIII, pp. 218-27; U. P Shah's paper 'Iconography of the Sixteen Jaina Mahāvidyās', *Journal of the Indian Society of Oriental Art*, Calcutta, XV, 1947, pp. 114-77; *The Jaina Iconography* by B. C. Bhattacharya, Lahore, 1939, pp. 170-1, 180-1, 121-9 etc.

6. Nāhaḍ, *Op. cit.*, I, p. 198, no. 804.

The Pārśva Nāth temple at Lodravā (10 miles from Jaisalamera, Rājasthāna) contains a white marble image of *Gaṇeśa*, kept to the left side of the *pradakṣiṇāpatha* The pedestal of this sculpture bears an inscription of 4 lines and it is dated in *saṃvat* 1337 ie. more than a century later than those from Osian and referred to above. This Jaina inscription of 1337 *saṃvat* (=1280 A.D.) refers to the worship of goddess Saccikā and god Gaṇeśa [7] Not only that, the images of these deities were carved and installed at a far off place as Ajmer (ie. *Ajayameru*). The text[8] of this record runs thus :—

"ओं सं० १३३७ फा० सु० २ श्रीमामा मनारथ मांदरयोगे श्री देवगुमाचार्य शिष्येण समस्त-गोष्ठिवचनेन पं० पद्मचंद्रेण अजयमेरू दुर्गे गत्वा द्विपंचासत-जिनबिंबानि सच्चिकादेवि ग(ण)पति सहितानि कारितानि प्रतिष्ठितानि ·····सूरिणा ॥

This bears testimony to the worship of Saccikā *devī* in Rājasthāna in the 12th and 13th centuries A D [9] From the above epigraphs and the niches of the temple at Osian it appears that she was closely associated with Cāmuṇḍā, Mahiṣāsuramardinī etc In this connection it is extremely essential to refer to the *Upakeśagaccha Paṭṭāvalī*[10] which throws a flood of light on the various problems associated with the form and nature of Saccikā and her worship by the Jain community after her conversion by Ratnaprabha Sūri. From this *Paṭṭāvalī* it is evident that Saccikā was a non-Jaina goddess and had got all the traits of Mahiṣāsurmardinī. The story, as given there, runs that *Ācārya* Ratnaprabhasūri once prevented some of the Jains from visiting the temple of Saccikā for '*she is merciless and incessantly delights in hearing the sound of the breaking of bones and killing of*

7. For *Gaṇeśa* in the Jaina iconography, consult Bhattacharya, *Op. cit*, pp. 181-2.

8. *Nāhaṛ, Op. cit.*, 1929, Vol II, p 172, no. 2565.

9. Dr. Bhandarkar (*Op cit.*, p 110) admits that "the basement moulding of the shrine [of Saciyamātā at Osian] are undoubtedly old but all other work is of a much later date—The temple of Saciyamātā, though originally perhaps as old as the 8th century, the time when the Jaina temple was built, cannot be placed earlier than the middle of the 12th century".

10. Sanskrit text as published in the *Paṭṭāvalī Samuccaya*, 1933, Viramgām, Vol. I, p. 187; and English translation of the same by A.F R. Hoernle in the *Indian Antiquary*, 1890, XIX. pp. 237-8.

buffalloes, goats and other animals; the floor of her temple is stained with blood and it is hung about with festoons of the fresh skins; the teachers of devotion rites and service. are cruel men; she is altogether disgusting and horrible[11]'. These lines are very helpful in determining the true form and nature of Saccikā who was not at all adorable for the followers of the golden rule of *ahiṃsā paramo dharmaḥ*. It is further narrated in the above *Paṭṭāvali* that the people could not be pursuaded by *Ācārya* Ratnaprabhasūri in any way. It was not possible for the former to discard her worship for they told the Jaina *Ācārya* quite frankly that "what you say O Lord ! is quite true, but if we do not go to worship that cruel *Devi*, she will slay us and our families."[12]

The later portion of this story then relates a dialogue between goddess Saccikā and Ratnaprabhasūri who ultimately converted her to the Jaina view of life. We are also informed here of her non-vegetarian diet. She did not like the various kinds of cakes, sweetmeats, camphor, saffron and other *sātvika* edibles which alone could be offered by the adherers of the Jaina faith. In the words of the Jaina *Ācārya* "what she wanted was an animal sacrifice but it was neither proper for him to give nor for her to take.[13]"

This is in nutshell what the *Upakeśagaccha Paṭṭāvalī* has to say about the goddess Saccikā of Osian where still exists her well-known temple (as referred to above).

A broken sculpture of Mahiṣāsuramardinī in the Sardār Museum at Jodhpur confirms the above form of this goddess, In this white marble image, only the lower portion (comprising the legs of the deity, a lion, a buffalo and the small inscription of 6 lines on the pedestal) prove that this sculpture[14] of goddess Saccikā was made

---

11. अतः आचार्येण प्रोक्तं:—तेषां देवीनां निर्दयचित्ताया महिषबोत्कटादि जीववध वधास्थिभङ्ग शब्द श्रवणकुतुहल प्रियया अविरतायाः, रक्ताङ्कितभूमितले आर्द्र चमवन्धवन्दनमाले, निष्ठुरजनसेवितं, धर्मध्यान-विघातके महाबीभत्स रौद्रे श्री सच्चिकादेविगृहे गंतुं न बुध्यते ।

12. आचार्यः वच: श्रुत्वा ते प्रोचुः प्रभो युक्तमेतत परं रौद्रा देवी यदि न्यलिप्याम तदा सा कुटुम्बान् मारयति ।

13. आचार्यः प्रोक्तं—त्वया वधो याचितः स तु लातुं दातु न बुध्यते ।

14. The writer of the present paper is extremely happy in bringing this important sculpture before the scholarly world This image, up to this time, was lying uncared for in one of the show cases of the Jodhpur Museum.

and installed by a certain Jaina *ganini*[15] in *Samvat 1237 Phālguna Śudi 2 Manga lavāra* This inscription on the pedestal also refers to the qualities[16] and *gaccha*[17] of the *ganinī* who caused this image to be prepared and installed towards the end of the 12th century A.D. ie. about a few years ater than first of the two epigraphs (of the temple of Saciyāmātā) as cited above. The inscription on the pedestal of this fragmentary sculpture can be read as :—

1 संवत् १२३७ फाल्गुन सुदि २ मंगलवारे
2 श्रीमदूकेशगच्छीया सर्वदेवामहत्तरा (आशी)
3 (त्) लोकविख्याता सत्यशीलक्षमा स्या
4 विनेयिका गणिनी...... र्मश्रा
5 तेनेयं कारिता देवीसच्चिका ना......यसे
6 ..... ॥ प्रतिष्ठिता श्री कक्कु ...

The remaining portion up to the pedestal) of this sculpture of Jodhpur Museum (from Revāḍā, *alias* Harasawāḍā, *parganā* Jaswantpurā, Mārwār) is very interesting. Her legs are quite visible and she wears a *dhotī* hanging up to the middle portion of her left leg. The right foot is placed on the buffalo below. Just near the right foot of the standing deity appears a lion in a ferocious pose. Not only that, the lion has caught hold the tail of the buffalo in its mouth with the result that the tongue of the latter has naturally come out. This is sufficient to suggest that the sculpture depicts the goddess Mahiṣāsuramardinī[18] in her *raudra-rūpa*. The Jains gave her the name of *Saccikā* as is also evident from the *Paṭṭāvalī* cited above.

This is in nutshell the iconography of goddess Saccikā as furnished by the *Upakeśagaccha Paṭṭāvalī* and the sculpture of the

15. A lady who is the head of the community of the Jains nuns.

16 *Sarvadevamahattarā, lokavikhyātā, satya śīla-kṣamā* etc. These were infact the required virtues of a Jain monk or nun

17 ie *Ukeśagaccha Ukeśa* is modern Osian itsel.

18. Dr H Goetz (*The Art and Architecture of the Bikaner State*, 1950, Oxford, p. 30) also refers to the cult of Durgā Mahiṣāsuramardini still existent among the Jains in some form or the other.

Jodhpur Museum. The existence of the cult of *Saccikādevī* has also been corroborated by the inscriptions of the 12th and 13th centuries A.D. The entry of the Hindu gods and goddesses within the fold of Jainism is a glaring example of the wide outlook of Indian philosophy. Not only that even prominent Hindu gods (Brahmā, Viṣṇu and Maheśa) used to be adorned by the Jains in the form of the *Jinas* This is quite evident from an epigraph[19] from Nāḍol (Mārwār) dated *saṃvat* 1218 (=1161 A.D.). This Jaina inscription begins with the adoration of the *Jinas* in the form of the prominent deities of the Brahmanic faith[20] ie. ओं स्वस्ति श्रियै भवन्तु वो देवाः ब्रह्म-श्रीधर-शङ्कराः सदा विरागवन्तो ये जिनजगति लोके विश्रुताः ।

It is really interesting to note that there also exists a temple dedicated to Saciyā Mātā at Jūnā (Mārwār). Śri Purusottama Prasāda Gaur (*Prācīna Śilālekha Saṅgraha*, Jodhpur, 1924, p. 2) refers to the existence of exactly a similar inscription as has already been referred to in connection with the above fragmentary sculpture of the Jodhpur Museum The inscription from Jūnā runs as follows :—

"Dated *Saṃvat* 1237, Tuesday, the second day of the bright half of Phālguna There was a pious lady named Sarvadevā. She was renowned in the world, belonged to the Ūkeśagaccha, and was endowed with good many virtues as piety, truth etc. She had a pure hearted female disciple called Caraṇamātya (cf *Caraṇamatyā* of the inscription on Jodhpur Museum image). The latter happened to be a *Gaṇinī*. It was she who caused to be made this image (of Saccikā) for her own welfare as well as for that of others. The existing image was installed by Śrī Kakuda Sūri". The epigraph from Jūnā thus clearifies the name of Kakuda Sūri whereas the image of Jodhpur Museum makes only two letters clear ie *Kaku*.

The identical nature of the above epigraphs is very interesting indeed. Since both the epigraphs bear the same language, phraseology and the date, it is very likely that the image, now lying in the

19. *Epigraphia Indica*, IX, pp. 67-8.

20. Cf. My paper (on the influence of Jainism on a unique Yoga-Nārāyaṇa Image of Jodhpur Museum), *Journal of the Museums Association of India*, X, 1954 and *The Jaina Antiquary*, Arrah, June 1954.

Jodhpur Museum, once graced the temple of Saciyā Mātā at Jūnā It is really regretted that not a single inscribed sculpture of Saccikā as such has so far been procured from Osian—a place which is so closely associated with the worship of this female deity but the principal back niche of the temple of Saciyā Mātā contains the image of Mahiṣamardinī. Not only that, the inscription of V. S. 1234, referring to the temple as that of *Saccikā devī*, has been engraved just near the image of Mahiṣamardinī. Moreover, the deity now under worship in the main temple here is that of Mahiṣamardinī. This is sufficient to prove that Saccikā and Mahiṣamardinī were closely associated with each other. As a matter of fact Cāmuṇḍā, Mahiṣmardinī . etc., come within the fold of the well known '9 Ḍurgās' (*Nava-durgā*).

The following epigraph from the temple of Saciyā Mātā states that Cāmuṇḍā was the former name of Saccikā and that she was converted to the Jaina pantheon by Śrī Ratnaprabha-Sūri :—

(i) *Saṃvat Virāt 70 varṣe*

(ii) *Śrī Ratnaprabhasura Jine*

(iii) *Savāla kiyā Cāmuṇḍā*

(iv) *Ko Siciyāya kaṛi be*

(v) *Oeṣa Kanwalāgachawāle saṃ be*

(vi) 1655 *ro.*

[*Administrative Report of the Archaeological Department, Jodhpur* xxi, p. 10]

It was well known to the people of Osian in V. S. 1655 (= 1598 A.D) that Saccikā was none other than Cāmuṇḍā or another name given to the Brahmanic goddess Durgā. Besides this, they were fully aware of the narration as given in the *Upakeśagaccha-paṭṭāvalī* and already cited above.[21]

My friend, Dr. U. P. Shah, has recently informed me that images of Mahiṣamardinī are still worshipped in some of the Jaina temples of Western India. It was in the month of December 1955, that the Collector of Bhīlamārā (Udaipur Division) sent us a hoard of 9 Jaina

21. Paper based on my articles published in the *Artibus Asiae*, Ascona XVII, pp. 232-4 and *The Journal of Bombay Branch Royal Asiatic Society*, Bombay Dec. 1954, pp. 63-6......etc.

bronzes[22] unearthed at Singoli near Bioda Police-station. It was really interesting to note that this lot contained a small bronze of Mahiṣamardinī Durgā too; a fact which also bears testimony to her worship by the adherers of the Jaina faith during the mediaeval period. It is extremely essential to search for more material having a bearing on the iconography of the Jaina goddess Saccikā

22. These images have now been cleaned and their detailed account will be published very soon. Most of them bear the date and the inscriptions on their back. Infact they are very important from iconographic point of view too. The existing bronzes have now been deposited in the Victoria Hall Museum at Udaipur.

PŪJYAPĀDA DEVANANDI.

By

Prof. Jyoti Prasad Jain, M.A., LL.B.

In our previous paper[1] we have seen that the Pūjyapāda of the Chalukyan records and of the Dhavala Tīkā of Vīrsena could not have been Dēvanandi, but that he was none other than Bhaṭṭa-Aklamkadeva (circa 600-675 A D.) There are also no two opinions about the fact that Pūjyapāda Dēvanaṅdi preceded Aklaṁka. The Jaina tradition reaching back upto those very times is unanimous on this point. Dēvanandi has always been mentioned before Aklamka, in literature as well as in inscriptions. Aklamka himself mentions Devanaṅdi, practically incorporates the whole of his Sarvārthasiddhi in his own Tattwārtharāja-vārtika and shows great respect and admiration for the latter's Jainendra grammar.

There is also sufficent evidence to prove that there must have intervened atleast a century between these two scholars We know that (1) Siddhasena, the author of Sanmati-tarka (early 6th century A D.) preceded Aklamka but he himself came after Devanandi since he mentions and quotes from the latter.[2]

(2) In an inscription of 1137 A D, some important and ancient gurus of the Dramila sangha are mentioned, and it says that after Samantabhadra swāmi came Pātrakēsari, Vakragrīva, Vajranandi, Sumati-Bhattaraka and Aklamka.[3] And in the Mallisena epitaph of 1129 A.D. after Vajranandi there are mentioned Pātrakēsari, Sumatidēva, Kumārasēna, Chintāmaṇi, Srivardhadēva, Mahēswara and Aklamka.[4] In both these inscriptions Pātrakesari and Vajranandi find mention and that too before Aklamka. Pātrakesari wrote his Tri laxana-kadarthana in refutation of the theory of the great

1. J A. vol. XIX nos. 1 & 2.

2. J. K. Mukhtar—Anekant, Sanmati Siddhasenanka, Nov. Dec. 1949; Sukhlal Sanghavi—Introd. to Sanmati-Tarka.

3. no. 17 of Belur Taluk, E. C. V Bl. 17 p. 51.

4. Sr. Belgola Inscriptions.

The Srivardhadeva mentioned herein also belongs to the 6th century as he is mentioned as a contemporary by poet Dandi.

Buddhist scholar Dignāga (6th century A.D) And Aklamka has quoted from this work of Pātrakesari and has alluded to him, though simply by the term 'Swami'. This, however, later on led to some confusion even in the mind of Aklamka's first commentator, Anantavīrya. It seems Pātrakesari was a near predecessor or senior contemporary of Aklaṃka, and it is why the latter mentioned him merely by the respectful epithet Swami instead of giving out his full name. It has also been stated in the first of the two inscriptions referred to above that Patrakesari was the head of the Dramila Sangha. (श्रीमद् द्रमिलसंघाग्रेसर्) And on the authority of the Darśanasara we know that this Sangha had been founded by Vajranandi, the great grand disciple of Pūjyapāda Dēvanandi. It is obivious, therefore, that Vajranandi must have preceded Patrakesari.

(3) According to another stone inscription assigned to the 10th century A.D. and which also mentions Aklamka's famous dispute with the Buddhists, it has been said that after Guṇanandi Śabdabrahma came Aklamka Siṃhāsana'.[5] Now according to the Pattavali of the Nandisamgha, a Guṇanandi was the grand disciple of Pujyapāda Devanandi and was the preceptor of Vajranandi. We also know that this Gunanandi wrote a recast of the Jainendra called Prakriyāvatāra, and that he has been mentioned alongwith Pujyapāda (श्री पूज्यपादम् अमलम् गुणनन्दि देवम्) by Somadeva (10th century A.D.) in the beginning of his Śabdārṇava-Chandrikā, a gloss on the Jainendra. A quotation under the name of Guṇanandi occurs under Sutra no. 24 of the Śabdamaṇi-darpaṇa of Kēśirāja (c. 1250 A.D.) and also on p. 169 of the Karṇāṭaka-śabdānuśāsana (16th century) The epithet Śabdabrahma used for Gunanandi in the inscription itself indicates a master grammarian, thus it appears that this Gunanandi the grammarian who preceded Aklamka is the same scholar to whom the recast of the Jainendra is attributed and who was a grand disciple of Pujyapada Devanandi.

With these facts before us we may certainly surmise that Devanandi must have preceded Aklamka by atleast a century, if not more.

---

5. M. A. R. for 1923, p 15.

A Gunanandi was the preceptor of the donee of the Mercurra plates (466 A.D.) He would also thus be a contemporary of Devanandi'

The two lower and upper limits, for the date of the composition of his Jainendra were fixed by the late Dr. K. B. Pathaka, as 450 A.D (Vik. 507), the date of Iśwara Kṛṣna Vārṣaganya, the author of Sāṃklya-Kārikā who was referred to by Devanandi, and 660 A.D (Vik. 717) the date of Vāman's Kāśikāvrtti which refers to the Jainendra. If we leave the lower limit untouched for the present, the upper limit has certainly been brought down to about 500 A D. In further confirmation of this lowering down of the upper limit, it may be asserted that the first mention of the Vrahaspati Samvatsara is found in the Jainendra and the same era appears in the Gupta and Kadamba grants dating from Saka 379 to 450 (or 457 to 528 A.D.). Siddhasena, the author of Sanmatitarka who mentions Devanandi is placed in the first quarter of the 6th century A.D Then Devanandi's great grand disciple Vajranandi who preceded Patrakesari, a predecessor of Aklamka (600-675 A.D) cannot be taken beyond the last quarter of the 6th century A.D. In fact, he is said to have founded the Dramila Sangha in Samvat 526 which in all probability was an year of the Saka era as the same era was generally prevalent all over the south of India. This date would, therefore, come to 604 A.D. This seems to have been the last year of Vajranandi's pontifficate in the Nandi Samgha, because by founding a new Samgha he must have dissociated himself from the main line. The Pattavali of the Nandi Sangha assigns to him 22 years and thus his dates would be 582-604 A. D But if the date given by the Darśanasāra is taken to be in the Vikrama era as the work itself makes it out to be, then Vajranandi's dates would be 447-469 A.D. The said Pattavali assigns 56 years to his two predecessor together and 50 years to Devanandi himself. It would, therefore, mean that Devanandi lived either in 476-526 A.D. or in 341-391 A.D., accordingly as the date (526) of the foundation of the Dramila Sangha by Vajranandi is in the Saka or Vikrama era respectively. But the Pattavali also states that Devanandi was the 10th guru beginning from Bhadrabahu II who ascended the pontifical chair in Vik. 4 (or 53 B.C.) and that his own pontifficate lasted from vik. 258 to 308 (or 201 to 258 A.D.). According to the same authority he was the sixth guru from Padmanandi Kundkund. But the Mercarra copper plates dated Saka 388 (A.D. 466) state that the Ganga King Avinita

kongni gave grants to one Chandra-(or Vanda)-Nandi of the same Sangha-gana as Devanandi, and that the grantee was the sixth guru in succession after Kundkund. Thus it is quite likely that this donee of the Mercarra plates was a colleague or codisciple of Devanandi Pujyapada. But at the same time it is also clear that the dates given by the Pattavali are not worthy of reliance. They are highly contradicted by more early and more reliable pieces of evidence as well as by the general sequence of historical facts. We have seen, in a previous issue of the Antiquary that Durvinita Kongni, the royal pupil of Devanandi ruled over the Ganga Kingdom in circa 480 520 A. D. The date of Aklamka and his nearness to Patrakesari, Vajranandi and Gunanandi makes it highly improbable that Devanandi should have lived in the 3rd or 4th century A D Moreover, the date of Iswarkrisna (circa 450 A.D.) who is mentioned by Devanandi also precludes any possibility of the latters being taken back prior to the 5th century A.D. He certainly came after Kunkund, Umaswami and Samantabhadra; but their respective dates i.e. the better part of the first century A.D. for the first two and circa 120-180 A.D. for the third, as established uptodate after a careful and close examination of all the available facts and data by modern scholars create no great difficulty. For the intervening four gurus between Kundkund and Devanandi a period some 300 or 350 years certainly seems a bit to much, but it is just possible that the number of intervening gurus was larger. Besides, in those early times, particularly in the case of these ascetic Yogis longevity must have also been quite considerable. It is true that there is no definite data to fix his date with greater exactness, but taking all things into consideration it seems quite obvious that he could not have lived beyond A.D. 500 nor prior to A.D. 400.

Hence the date of Devanandi Pujyapada as arrived at by Lewis Rice, Prof. R. Narsimhamachar, Dr. Buhler, Dr. Keilhorn and others and hitherto generally accepted and which is the later half of the 5th century A.D. (i.e. circa 450-500 A.D.) proves to be approximately correct.

This Devanandi was the first Jaina guru to have been otherwise known as Pūjyapāda. He was so called because his feet had been worshipped by the gods. Another of his names was Jinendra buddhi

because he had been endowed with a towering intellect. He was a Kannadiga and lived in or near Talkad the capital of the western Gangas of Gangawadi 96000. He was the chief pontiff of the Nandigana otherwise known as Desiyagana of the Kundkundanvaya in the Mūla Samgha. The name of his preceptor was Yaśonandi and his chief disciple and successor was Jayanandi. His granddisciple Gunanandi was a celebrated grammarian, and the latter's disciple Vajranandi was the organiser of the Dramila Samgha and thus responsible for the introduction of Jainism in Madura the capital of the Pandyas in the far Dravidian South. Devanandi Pujyapāda also enjoyed royal patronage and the western Ganga emperor Maharajadhiraja Durvinita Konguivarma was his pupil and devotee. He seems to have rendered the Sanskrit Śabdāvatāra of his master into Kannada. The Pujyapāda charite of the Kannada poet Chandayya and the Rajavalikatha of Devachandra, both works of quite late origin, inform us that Devanandi was born in a respectable Brahmin family and that the name of his father was Madhava Bhatta and that of his mother was Śrīdevī. They also assert that Pāṇiṇi was his maternal uncle which is impossible because the great grammarian had preceded Devanandi by about a 1000 years and is known to have belonged to the extreme north, unless, however, he was some later South-Indian namesake of Pāṇiṇi. These accounts, in fact are more or less of a legendary character and not worthy of much reliance. Tradition also attributes to Devanandi certain miraculous achievements. He is said to have journeyed to the Videhakshetra where no ordinary human being can go; is said to have lost his eyesight due to practising severe austerities but to have regained it by a concentrated meditation upon and recitation of the Sāntyaṣṭaka; his feet are said to have been worshipped by the gods; he is said to have been endowed with Auṣadha Riddhi, the miraculous power of healing; the touch of water used for washing his feet is said to have had the virtue of turning iron into gold, and so on. What truth there is in these traditional stories one cannot say. Still in the absence of anything definitely contrary there seems to be no harm in taking them at their face value.

At least, there is no doubt that Devanandi Pujyapada is one of the most celebrated and renowned Jaina ascetic scholar of the

Digambara school. Kundkund, Umaswamin, Samantabhadra, Pujyapāda and Aklamka, in the same order have always been regarded as the greatest celebrities of ancient times belonging to that school. He was a great author, a pre-eminent scholar and a versatile genins. He was not only a great philosopher and master of Jaina doctrine, but was also a sublime mystic and renowned Yogi. As a Laxaṇakāra, that is in the art of defining things he was superb. He was a great poet, well versed in the laws of prosody and a fine logician too. As a grammarian he is classed among the greatest masters of that Science, and was highly proficient in the science of medicine, particularly in the Śālākya Tantra. He was said to have been well versed in the mystry of the six systems of philosophy and to have been endowed with infinite learning'. Posterity gave him such titles as Viswavidyacharana i. e. an ornament to the universal knowledge.

His wellknown works are (1) The Jainendra Vyākaraṇa (2) The Sarvārthasiddhi, a learned commentary on the Tattwārtha-adhigama-sûtra of Umāswāmin, (3) Samādhitantra also known as Samādhi-śataka a mystic composition, (4 Iṣṭopadesha, (5) Daśabhakli or Siddhabhaktyadi-sangraha, (6) Sabdā·atāra, the famous Nyasa on Panini's grammar, (7) Kalyāṅakāraka, a masterly work on medicine, (8) Jaināhhiṣeka, a devotional and poetic piece on prosody, (9) Śāntyaṣṭaka, a devotional hymn. Jayakirti in his Chhandānuśāsana attributes to him a work on prosody by name Chhanda śāstra, Lewis Rice a Surasasangraha and R. B. Hira Lal an Urepāsakāchāra and a Śrāvakāchāra. A Nyasa on Śākaṭāyana and on Panini's Kasika vrtti along with some other works are also attributed to him.

The high esteem in which this great saint scholar Devanandi, the Pujyapada I of Jaina tradition, was held by posterity may be gleaned from the following extracts from the works of later scholars and from epigraphical records :—

१ इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्न पिशली शाकटायनाः ।[1]
पाणिन्यमर जैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौच शाब्दिकाः ॥ (—धातुपाठ)

1. Another version of this verse as found in damaged form on the last page of the palm leaf ms, of शब्दार्णव चन्द्रिका :—

"इन्द्रश्चन्द्रश्शाकट तनयः पाणिनिः पूज्यपादो ।
यश्चोवाचापिशलिरमरः काशकृत्स्न ·········शब्दपारायणोऽस्ति ॥"

२ नमः श्री पूज्यपादाय लक्षणं यदुपक्रमम् ।
यदेवात्र तदन्यत्र यन्नात्रास्ति न तत्क्वचित ॥ (जैनेन्द्र प्रक्रियायां–गुणनन्दिः)

३ प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम् ।
द्विसंधानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ॥ (नाममालायां-धनञ्जयः)

४ अचिद्धः सिद्धसेनस्य विरुद्धो देवनन्दिनः ।
द्वेधा समन्तभद्रस्य हेतुरेकान्त साधने ॥
Quoted by Aklamka in his सिद्धिविनिश्चय—(ch. VI) हेतु लक्षण सिद्धि, repeated by Anantavirya in his commentary on that work and also by Vadiraja in his न्यायविनिश्चय विवरण। It has also been quoted by Laxmidhara in his एकान्तखंडन but in a slightly varied form, viz. असिद्धं सिद्धसेनस्य विरुद्धं देवनन्दिनः ।
द्वयं समन्तभद्रस्य सर्वथैकान्त साधनमिति ॥

५ The same Laxmidhara in his above mentioned work also speaks of Pjyapāda as "षड्दर्शन रहस्य संवेदन सम्पादित निस्सीम पांडित्यः मंडिताः"।

६ कवीनांतीर्थकृद्देवः कितरांतत्र वर्ण्यते ।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम् ॥ (आदि पुराणे जिनसेनः)

७ अचिन्त्य महिमादेवः सोऽभिवंद्यो हितैषिणा ।
शब्दाश्चयेन सिद्धयन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः ॥ (पार्श्वनाथ चरिते वादिराज)

८ पूज्यपादः सदापूज्यपादः पूज्यैः पुनातुमाम् ।
व्याकरणार्णवोयेन तीर्णो विस्तीर्ण सद्गुणः ॥ (पाण्डवपुराणे शुभचन्द्रः)

९ शब्दाब्धीन्दुं पूज्यपादं च वन्दे— नियमसारटीकायां पद्मप्रभः

१० अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्त संभवम् ।
कलंक मंगिनाम्सोऽयं देवनन्दी नमस्यते । —(ज्ञानार्णवे शुभचन्द्रः)

११ सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसंघस्स कारगो दुट्ठो ।
णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्तो ॥
पंचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरण पत्तस्स ।
दक्खिण महुराजादो दाविडसंघो महामोहो ॥ —(दर्शनसारे देवसेनः)

१२ "नरदि जैनेन्द्रं भासुरं एनल् औरेदं पाणिणी यके टीकुं बरेदं तत्त्वार्थमं टिप्पणदिम् आरपिदं यन्त्रमन्त्रादिशास्त्रोक्त करमं भूरक्षणार्थं विरचिसि जसमुं तालिददं विश्वविद्याभरणं भव्यालियाराधित पदकमलं पूज्यपादं व्रतीन्द्रम् ।"
—(कन्नडधर्मपरीक्षायां कृतिविलासः)

१३ "इदु सकल आदिम जिनेन्द्रोक्त सिद्धान्तपयः पयोधिपारग श्री पूज्य पादमुनीन्द्र चारु चरणारविंद गंध गुणनंदित मानस श्री मदखिल कला गमोत्तुंग मंगविभुरचितमप्य

खगेन्द्रमणिदर्पण दोळु पोड शाचिक रं समासम्" —(खगेन्द्रमणिदर्पणे मंगरासः)

१४ 'पूज्यपादमुनिगलु पेलद कल्याण कारक वाइड निर्धान्तकदिष्टं' —(चित्र हरिमाम)

१५ "यो देवनन्दि प्रथमाभिधानो बुद्धया महत्या स जिनेन्द्र बुद्धिः ।
श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पदायुगपदीयं ॥
जैनेन्द्र निजशब्द भाग मतुलं सर्वार्थसिद्धिःपरा ।
सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्ध कवितां जैनाभिषेकः स्वकः ॥
छन्दः सूक्ष्मधियं समाधिशतकं स्वास्थ्यं यदीयं विदा ।
माख्यातीह स पूज्यपाद निरः पूज्योमुनिनांगुणैः ॥
(Sr Belgola Insc 40 (64) s. 1085)

१६ "सुखि⋯न्याय कुमुद चन्द्रोदय कृते नमः, शाकटायनकृत्सूत्र कर्ते प्रभीन्दवे ।
न्यासं जैनेन्द्र संज्ञं सकल बुधनुतं पाणिनी यस्य भूयो,
न्यासं शब्दावतारं मनुजतति हितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा ।
यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचय दिह तां भात्यसौ पूज्यपाद,
स्वामी भूपाल वंद्यः स्वपर हितवचः पूर्णदृग्बोधवृत्तः ॥"—(E. C. VIII Nr 46)

१७ प्रागभ्यधायि गुरुणा किल देवनन्दी, बुद्धया पुनर्विपुलया स जिनेन्द्र बुद्धिः ।
श्री पूज्यपाद इतिचैषबुधैः प्रचख्ये यत्पूजितः पदयुगे वनदेवताभिः ॥
(S B.G.no 105 (254) of s. 1320)

१८ श्री पूज्यपादोद्धृत धर्मराज्यस्ततो सुराधीश्वर पूज्यपादः ।
यदीय वैदुष्य गुणानिदानीं वदन्ति शास्त्राणी तदुद्धृतानि ॥
धृत विश्वबुद्धिरयमत्र योगिभिः कृतकृत्य भावमनुबिभ्रदुच्चकैः ।
जिनवद्बभूव यदनङ्ग चापहृत्स जिनेन्द्रबुद्धिरिति साधुवर्णितः ॥

तथा

"श्री पूज्यपाद मुनिर प्रतिमौषधर्द्धि र्जीयाद्विदेह जिन दर्शन पूतगात्रः ।
यत्पाद धौतजल संस्पर्श प्रभावात् कालायसं किलतदा कनकीचकार ॥
SBG. no. 108 (258) of S. 1355)

१९ सर्व व्याकरणे विपश्चिदधिपः श्री पूज्यपादः स्वयम्— in praise of Meghchandra Travidyadeva—(SBG. nos. 47, 50).

२० जैनेन्द्रे पूज्यपाद :— for Jinachandra (SBG. no. 55).

२१ शब्दावतार कार देवभारती-निबद्ध-बृहत्पथाः — for Ganga King Durvinita (E.C. XII Tm. 23 p. 7).

२२ जीयात्सोऽत्र जिनः समस्त विषयः श्री पादपूज्योऽमलो ।
भव्यानन्दकरः समाधिशतक श्रीमत्प्रभेन्दुः प्रभुः ॥—(समाधितंत्र टीकायां प्रभाचन्द्रः)

etc. etc.

JAINA GURUS OF THE NAME OF PŪJYAPĀDA

(Conclusion)

By

(Prof. Jyoti Prasad Jain, M.A., LL. B)

Thus we have seen that some two dozen references and allusions in literature and epigraphical records, to the Jaina gurus known by the name of Pūjyapāda when boiled down leave us with about sixteen apparently unconnected Pūjyapādas. But a further and closer examination of all the data available shows that they can easily be further resolved into atleast four quite distinct Jaina gurus of that name, namely Pūjyapāda Devanaṇdi (circa 450-500 A.D.), Pūjyapāda Bhaṭṭa-Aklaṃka-deva (circa 600-675 A. D.), Pūjyapāda Yogi the Siddha (circa 1300 A.D.), and Pūjyapāda Bhattaraka of Karkala (circa 1500 A.D.)

It is quite possible that besides these four some other guru or gurus with the same name may yet be found out, but as to the existence and distinctly separate identities of the above mentioned four Pūjyapādas there is absolutely no doubt It is also obvious that they themselves have often been confused with one another, and it is not a new thing nor an only instance. Bhadrabahu, Padmanaṇdi, Kālaka, Samantabhadra, Siddhasēna, Guṇanandi, Aklaṃka, Vidyānand, Anantvirya, Jinasēna, Vādiraja, Prabhāchandra, Nemichandra, Dharmabhūṣaṇa, Śubhachandra, Sakalakirti are some of the more important Jaina gurus and eminent authors who each had several later namesakes of his own, which circumstance has ever led to considerable confusion and misunderstanding in the minds of historians and scholars both old and new. The mixing up of different, many a time quite unconnected traditions without analysing them scientifically has often played havoc. And it has been mostly due to similarity of names.

In this particular case of the Pūjyapādas the reasons for such a confusion are quite obvious. For example, (1) they find mention under the identical name, Pūjyapāda. But it should now he evident that in the case of the first guru, that is Devanandi, this term has

been applied to him as a title which he had won by his Yogic-cum-mystic powers and which later tradition believed was due to the fact that his feet had been worshipped by the forest deities (वनदेवताभि:) In the case of Aklamka this term was used simply as a mark of respect meaning that his feet were worth worshipping, as is often done by many people for their predecessors, gurus, parents or respected elders. Although in his case the term never seems to have become much popular, still its use is known to have persisted for several centuries after him It is why the authorship of his Sārasangraha (or Pramāṇa sarasangraha) and Nyayakumudchandra (i.e. Laghiyastriya) was attributed to Devanandi. The third and fourth Pujyapadas had this term for their real and proper name and not as a title or mere mark of respect. By that time the name had become so popular that it began to be adopted as a first name.

(2) Both Devanandi and Aklamka were mentioned by some later writers simply by the term Dēva. But while it was the first part or a short form of the original name of Devanandi, it denoted the Sangha of the latter and was also used simply out of reverence for him (i.e. Aklamka) by his successors, admires and commentators who were zealous students of his own school of Jaina logic. (3) Both of them were famous for their mastery over Sanskrit grammar, and if Devanandi was the author of the masterful work Jainendra, probably of the Sabdavatara Nyasa on Panini's work also and was regarded as an authority in that branch of learning, we have reason to believe that Aklaṃka might also have written some valuable work on grammar. (4) Both of them wrote their respective commentaries, the Sarvārthasiddhi and the Tattwārtharājavārtika on the Tattwārthādhigama Sutra of Umāswamin, and both these works equally held in high esteem by posterity were generally referred to by their generic name Tattwartha Bhasya. (5) Prabhāchandra (980-1065 A.D.) wrote a vrtti on the Jainendra of Devanandi Pūjyapāda and the Nyaya-kumudchandra Tika on an important work of Pujyapāda Aklamka, and he also wrote a Nyāsa on the grammar of Śākaṭāyana junior. Hence in later times he also became a source of confusion between the first two Pujyapadas It is also likely that this Prabhachandra *himself might also have been alluded to by some later admirers of his by the term Pujyapada. In that case the number of the known*

Pujyapadas will go up to five, and in that case some of the work viz. Pratishthapatha, Upasakachara etc. might also be his creations.

(5) There is ample evidence to prove that Devanandi was also a reputed master of the science of medicine and had also written some work or works on that subiect. At the same time, Pujyapāda III was also a famous physician and alchemist who seems to have written some books on medicine. He was also a Siddha and a Yogi and both these qualifications are ascribed to Devanandi as well. Then Nagarjuna the famous Buddhist scholar is known to have flourished comparatively close to the times of Devanandi, but another Nagarjuna, the famous Siddha of South India, who is regarded as one of the great early Acharyas of the Siddha school of South Indian medicine, is said to have been the disciple and sister's son of Pujyapāda yogi, presumably that of circa 1300 A. D (6) A Buddhist scholar, Jinendrabuddhi wrote a Nyasa on the Kasikavrtti and since Devanandi also had Jinendrabuddhi as another of his names, these two scholars have also often been confused (7) Aklamkadeva and the Pujyapada no. 4, of Karkal, both have been called Bhattarakas. But while the former was so called simply out of respect, the latter was a regular Bhattaraka, a distinct class of the Digambara Jaina gurus of later times. (8) There are many inferior and later compilations on medicine, Pratishtha ceremonies, Sravakachāra, etc. which must have been the creations of the later Pujyapadas and which have generally been believed to have been the works of either of the first two Pujyapadas.

From the foregoing discussions, atleast one fact is clear and it is that the history of the Jaina Sangha is still in the making, and although everyday fresh and valuale light is being thrown on its different phases and aspects, there is yet much which requires to be properly done.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में दो बार प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देश के लिये ३) है, जो पेशगी लिया जाता है। १॥) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं। मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो तो इसकी सूचना शीघ्र कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म, साहित्य, दर्शन प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

PRINTED AT SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD.
ARRAH

जैन-सिद्धान्त भास्कर

भाग २१ किरण १

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. XX No I

Edited by

Prof. A. N. Upadhya, M. A., D. Litt.
Prof Jyoti Prasad Jain M A., LL. B.
Sri. Kamata Prasad Jain, M.R.A.S., D.L.
Pt. K Bhujbali Shastri, Vidyabhushan.
Pt. Nemi Chandra Shastri, Jyotishacharya.

Published by
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAIN SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH (Bihar)

Annual Inland Rs 3. Single Copy Rs. 1/8

JUNE, 1954.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व सम्बन्धि षाण्मासिक पत्र

भाग २१ जून १९५४ किरण १

सम्पादक :

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्

प्रोफेसर ज्योति प्रसाद जैन एम. ए., एल. एल. बी.

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल.

श्री पं० के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) एक प्रति का १॥)

विषय सूची

श्रीजिनाय नमः

जैन सिद्धान्त-भास्कर

जैन पुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षण्मासिक पत्र

भाग २१ } जून, १९५५ । आषाढ़, वीर नि० सं० २४८१ { किरण १

राजस्थान में जैन-देवी सच्चिका पूजन

[लेखक—श्रीयुत रत्नचन्द्र अग्रवाल, एम० ए०]

१ सचिया माता का सुविख्यात देवालयः—

जोधपुर नगर से लगभग ३८ मील दूर स्थित ओसियाँ[1] (प्राचीन उपकेश व ऊकेश) का 'सचियामाता का मन्दिर' एक ऊँची पहाड़ी पर निर्मित है। यह सचियामाता उसी देवालय के मध्यकालीन शिलालेखों की 'सच्चिका' व 'सच्चिका' ही है। मारवाड़ में 'सचिया' के इस पवित्र स्थान की बहुत मान्यता है तथा सैकड़ों मील से यात्री यहाँ अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने आते हैं। ओसवाल जैन बन्धु तो इस देवालय को बहुत महत्त्व प्रदान करते हैं। सचिया के उपासकों के विषय में यह कहा जाता है कि यदि वे ओसियाँ आवें तो माता के दर्शन तो अवश्य करें परन्तु दर्शनोपरान्त उन्हें एक भी रात्रि वहाँ नहीं ठहरना चाहिए। उन्हें यह भय रहता है कि वहाँ एक रात्रि भी रहने से कहीं देवी क्रुद्ध न हो जावे।

२ जैन शिलालेखों में सच्चिकाः—

(१) सचियामाता के उपर्युक्त देवालय में स्वयं गर्भगृह के बाहर की ताकों में प्रमुख तीन ताकों में तो चामुण्डा, महिषासुरमर्दिनी तथा शीतला की मूर्तियाँ उत्कीर्ण

---

१ ग्राम से लगभग १ मील दूरी पर इसी नाम का रेलवे स्टेशन जोधपुर-फलोदी-पोकरन रेलवे लाइन पर स्थित है।

२ द्रष्टव्य—आर्कयॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, ऐनुवल रिपोर्ट, १९०८-९, पृ० १०९-११०

हैं। देवी के इस भवन के प्रमुख गर्भगृह के पीछे संवत् १२३४ चैत्रशुदि १० गुरुवार का एक शिलालेख उत्कीर्ण है, जिससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस देवगृह में चण्डिका, शीतला, सच्चिका, क्षेमंकरी[१] तथा क्षेत्रपाल की मूर्तियाँ स्थापित हुई थीं। शिलालेख का महत्त्वपूर्ण अंश[२] इस प्रकार है:—

"सच्चिकादेवि प्रासाद—कर्मणि चंडिका-शीतला-श्रीसच्चिकादेवी-क्षेमंकरी-श्री क्षेत्रपाल-प्रतिमाभिः सहितं जंघाघरं आत्मश्रेयार्थं कारितम्"। इसी लेख के पास प्रधान ताक की मूर्ति महिषमर्दिनी की है।

(२) इस वृत्त तथा उपर्युक्त ताकों की मूर्तियों में पूर्ण साम्यता प्रतीत होती है। सच्चिका का सम्बन्ध महिषासुरमर्दिनी, चण्डिका आदि तान्त्रिक देवियों से था। जैनधर्म के विशाल दृष्टिकोण के परिणाम स्वरूप तान्त्रिक विचारधारा के अन्तर्गत कतिपय देव-देवियों की अभिव्यक्ति चित्र एवं मूर्तिकला द्वारा सिद्ध हो चुकी है[३]। मारवाड़ राज्यान्तर्गत जूना नामक स्थान के संवत् १३५२ (=१२९५ ई०) के लेख[४] द्वारा यह ज्ञात होता है कि श्री आदिनाथ के प्राचीन देवालय में विघ्नमर्दन क्षेत्रपाल, चाउण्डराज...... आदि की मूर्तियाँ विद्यमान थीं। इतना ही नहीं ब्राह्मण तथा जैन मतावलम्बियों का तो बहुत प्रेम का व्यवहार नाडोल के संवत् १२२८ (=११६१ ई०) के लेख[५] द्वारा और भी स्पष्ट हो जाता है क्योंकि यहाँ लेख के प्रारंभ में ही ब्रह्मा—विष्णु तथा महेश की 'जिन' नाम से स्तुति की गई है अर्थात्—ओं स्वस्ति श्रियै भवन्तु वो देवाः ब्रह्मश्रीधरशङ्कराः सदा विरागवन्तो ये जिनजगति लोके विश्रुताः[६]।

(३) ओसियाँ के सचियामाता मन्दिर के एक अन्य लेख में भी सच्चिका देवी के पवित्र गृह का उल्लेख है। विक्रम संवत् १२३६ कार्त्तिक शुदि १ बुधवार का यह

१ वसन्तगढ़ (सिरोही, राजस्थान) से प्राप्त संवत् ६८२ (=६२५ ईसवी) के लेख में इस भूभाग में क्षेमार्या क्षेमंकरी के देवालय की विद्यमानता का बोध होता है।

२ पूर्णचन्द नाहड़ कृत 'जैन लेख संग्रह', भाग १, कलकत्ता, १९१८, पृष्ठ १९८, लेख संख्या ८०५।

३ जर्नल यू० पी० हिस्टोरिकल सोसाइटी, भाग २३, १९५०, पृ० २१८-२७; जर्नल इण्डियन सोसाइटी ऑफ ओरिएन्टल आर्ट, भाग १५, १९४७, पृ० ११४-१७७; बी० सी० भट्टाचार्य कृत 'जैन आइकानोग्राफी १९३९, लाहौर, पृ० १२८-९, १७०-१, १८०-१, इत्यादि, डॉ० एच० गोएत्स, आर्ट एण्ड आर्कीटेक्चर आफ बीकानेर स्टेट, १९५०, आक्सफोर्ड, पृ० ५.०।

४ एपिग्राफिया इण्डिका, भाग ११, पृ० ५९—६०। ५ वही भाग ९, पृ० ६७—८।

६ द्रष्टव्य मेरा लेख, जर्नल इण्डियन म्यूजियम्स, भाग १०, १९५४—जोधपुर संग्रहालय की एक योगनारायण प्रतिमा पर जैन प्रभाव।

लेख इस प्रकार है:—"अद्येह श्री केल्हणदेव महाराज राज्ये......तद्भुक्तौ श्री उपकेशीय श्री सच्चिकादेवि देवगृहे श्री राजसेवक......धारावर्षेण सच्चिकादेवि भक्तिपरेण श्री सच्चिकादेवि गोष्ठिकान् भणित्वा......श्री सच्चिकादेवि कोष्ठागारात् मुग मा १० । घृतकर्ष १ भोजकेभ्यो दिनं प्रति दातव्यः [नाहड़, उपर्युक्त, पृ० १६८, लेख संख्या ८०४] । इस लेख द्वारा सच्चिका देवी का ओसियाँ (उपकेश) नगर के साथ सम्बन्ध सुस्पष्ट है ।

(४) लोद्रवा (जैसलमेर से लगभग १०–१२ मील) के प्राचीन पार्श्वनाथ मन्दिर में रक्खी हुई गणेशप्रतिमा की चरण चौकी पर वि० संवत् १३३७ (= १२८० ई०) के लेख[1] द्वारा भी ईसा की १३ वीं शताब्दि में सच्चिका पूजन पर प्रकाश पड़ता है । यहाँ यह बताया गया है कि इस देवी की मूर्ति अजमेर दुर्ग पर स्थापित हुई तथा पूजी गई:—"अजयमेरुदुर्गे गत्वा द्विपंचासत जिनबिम्बानि सच्चिकादेवि गणपति सहितानि कारितानि प्रतिष्ठितानि" । जैन बन्धुओं द्वारा गणेशपूजन[2] भी सर्वज्ञात ही है ।

३. सच्चिका देवी का स्वरूप:—

अब यह निर्धारित करना आवश्यक है कि जैन देवी सच्चिका का क्या स्वरूप था ? ओसियाँ के शिलालेखों व सचिया माता के देवगृह की प्रधान ताकों द्वारा तो यह ज्ञात होता है कि सच्चिका तान्त्रिक देवी ही थी । इस दिशा में अधिक ज्ञान 'उपकेशगच्छ पट्टावली'[3] द्वारा प्राप्त है । यहां सच्चिका के भोजन, रौद्र एव अहिंसात्मक पूर्व रूप इत्यादि के विषय में प्रचुर सामग्री उपलब्ध है । इस पट्टावलि में यह वर्णित है कि सच्चिका देवी प्रथम महिषासुरमर्दिनी रौद्र रूपा थी तथा श्री रत्नप्रभसूरि के प्रभाव से हिंसाभाव त्याग कर जैनधर्म में प्रविष्ट हुई । प्रारंभ में हिंस्र देवी होने के कारण यह जैन बन्धुओं द्वारा न पूजी जाती थी । रत्नप्रभसूरि के मुख से निकले हुए वाक्य के अनुसार तो "सच्चिका के देवभवन में नहीं जाना चाहिए क्योंकि यह देवी निर्दय हृदया है; अस्थिभञ्जन क्रिया द्वारा प्रसन्न होने वाली है; महिषादि जन्तुओं को खाने वाली है; इसके मन्दिर का फर्श रक्तरञ्जित रहता है...इत्यादि [अतः आचार्येण प्रोक्तः - भो यूयं श्राद्धा तेषां देवीनां निर्दयचित्ताया महिष-बोत्कटादिजीववधास्थिभंगशब्द श्रवण कुतुहल-

१ नाहड़, उपर्युक्त, भाग ३, पृ० १७२ लेख संख्या २५६५ ।

२ द्रष्टव्य भट्टाचार्य, उपर्युक्त, पृ० १८१–२ ।

३ पट्टावली समुच्चय, भाग १, वीरमगाम, १९३३, पृ० १८७ तथा हर्नले द्वारा अनूदित अंश, इण्डियन एण्टीक्वेरी, १८९०, भाग १९, पृ० २३७—२३८ ।

प्रियया अविरतायाः रक्तांकितभूमितले आर्द्रचर्म्मबद्धवंदनमाले निष्ठुरजनसेवितं धर्मध्यानविघ्नापके महाबीभत्सरौद्रं श्री सच्चिकादेविगृहे गंतुं न बुध्यते]। भला सत्य एवं अहिंसा के परमोपासक जैनाचार्य इस प्रकार की देवी का पूजन क्यों कर करते ?

उक्त पट्टावलि में यह भी वर्णित है कि रत्नप्रभसूरि ने यह प्रयत्न किया कि लोग सच्चिका के मन्दिर में प्रवेश तक न करें परन्तु लोगों को सदैव यह भय बना रहता था कि वह घोररूपा कहीं उन्हें सकुटुम्ब ही न मार डाले [आचार्यैः वचः श्रुत्वा ते प्रोचुः—प्रमोयुक्तमेतत् परं रौद्रा देवी यदि छलिस्याम तदा सा कुटुम्बान् मारयति]। इसी पट्टावली के अगले संदर्भ में यह उल्लेख है कि रत्नप्रभसूरि के समक्ष प्रकट हुई तथा कुछ भक्ष्य पदार्थ मांगे। इस पर निरामिष आचार्य ने यथाप्राप्य मिष्टान्नादि भेंट किये परन्तु पशुबलि की इच्छुक उस देवी को वह सब स्वीकार न था। स्वयं रत्नप्रभसूरि कहने लगे कि "वह तो पशुबलि चाहती है जिसको भेंट करना मेरे लिये कठिन है [आचार्यैः प्रोक्तं—त्वया वधो याचितः स तु लातुं दातुं न बुध्यते]। तदनन्तर सच्चिका ने रौद्ररूप का त्याग कर जैनधर्म की दीक्षा ग्रहण की।

४ सच्चिका की एक महत्त्वपूर्ण पाषाण-प्रतिमाः—

उपकेशगच्छपट्टावलि द्वारा प्रस्तुत विवरण की पुष्टि तो जोधपुर संग्रहालय की एक खण्डित पाषाणप्रतिमा द्वारा हो जाती है। इस मूर्ति को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय इस लेख के लेखक को ही है! जोधपुर संग्रहालय की सी मूर्ति अभी तक तो अन्यत्र कहीं नहीं मिली है—ऐसा कहने में संकोच नहीं है। सम्भव है भविष्य में इस आशय की प्रतिमाएँ प्रकाश में आवें। जोधपुर संग्रहालय की इस अज्ञात मूर्ति में देवी का ऊपर का भाग सर्वथा खण्डित एवं अविद्यमान है। केवल दोनों टांगें तथा दोनों पैर विद्यमान हैं तथा टांगों पर धोती पहनी हुई है। टांगों के नीचे पड़ा हुआ महिष तथा उस पर वेग से झपटता हुआ सिंह सर्वथा स्पष्ट हैं। सिंह ने महिष की पूंछ को अपने मुख में पकड़ लिया है तथा वेदना के परिणामस्वरूप महिष की जिह्वा बाहर निकल आयी है। श्वेतसंगमरमर की बनी इस प्रतिमा के नीचे चौकी पर विक्रम संवत् १२३७ का एक लघुलेख उत्कीर्ण है जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि महिषासुरमर्दिनी देवी का नाम सच्चिका भी था तथा इसकी प्रतिष्ठा एक गणिनि (जैन भिक्षुणियों के गण की अग्रणी) द्वारा सम्पन्न हुई थी। प्रस्तुत लेख में इस गणिनी के गुणकर्मशीलस्वभाव तथा गच्छ पर भी प्रकाश पड़ता है। संवत् १२३७ की यह कलाकृति अतीव महत्त्वपूर्ण है। इसकी चरणचौकी का शिलालेख इस प्रकार है:—

(१) संवत् १२३७ फाल्गुन सुदि २ मंगलवारे
(२) श्रीमदूकेशगच्छीया सव्वदेवमहत्तरा (आर्शा
(३) त्) लोकविख्याता सत्यशीलक्षमा...स्या
(४) विनेयिका गणिनी चरणमत्या·······म्मेला
(५) तेनेयं कारिता देवीसच्चिकाम्ना····· यसे।
(६) ·······॥ प्रति (ष्ठिता) श्रीकक्कु·······॥

यह मूर्ति मारवाड़ान्तर्गत जसवन्तपुरा परगने के ग्राम रेवाड़ा (व हरसवाड़ा) से प्राप्त हुई है। यही लेख जूना (मारवाड़) स्थित सिचियाय माता के मन्दिर में भी उत्कीर्ण है [द्रष्टव्य, पुरुषोत्तम प्रसाद गौड़ कृत 'प्राचीन शिलालेख संग्रह' जोधपुर, पृ० २]। ओसियाँ के वि० सं० १६५५ के लेख द्वारा भी स्पष्ट हो जाता है कि सच्चिका तथा चामुण्डा समानार्थक शब्द हैं। ["चामुण्डा को सिचियाय करी रत्नप्रभसुर जी ने" —अर्थात् रत्नप्रभसूरि जी ने चामुण्डा को सच्चिका रूप में परिणत किया था]। सम्भव है जोधपुर संग्रहालय वाली मूर्ति जूना के देवालय से ही रेवाड़ा पहुँची हो।

राजस्थान के इस भूभाग में ईसा की १२ १३ वीं शताब्दियों में सच्चिका-पूजन अतीव महत्वपूर्ण है तथा दो संस्कृतियों के समन्वय का द्योतक है। प्रस्तुत निबन्ध में प्रथम प्रयास द्वारा अल्प सामग्री को विद्वद्वर्ग के समक्ष समुपस्थित किया जा रहा है। आशा है शीघ्र ही अज्ञात एवं यत्र तत्र बिखरी पड़ी एतद्विषयक अन्य मूर्तियाँ प्रकाश में आवेंगी जिससे राजस्थान के इस प्रदेश में सच्चिकोपासना पर अधिक प्रकाश पड़ सके। डॉ० शाह ने मुझे बताया है कि कतिपय जैन देवालयों में अभी भी महिषमर्दिनी की पूजा होती है। यह सब वास्तव में महिषमर्दिनी के सच्चिका रूप में अङ्गीकार भाव के परिणाम स्वरूप ही सम्भव हो सका है।

मध्यकालीन जैन साहित्य में मुद्रा सम्बन्धी सामग्री

[श्रीयुत् रत्नचन्द्र अग्रवाल, एम. ए.]

जैन साहित्य के सम्यक् अध्ययन द्वारा मुद्रा के क्षेत्र में पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है। जैन साहित्य में तो बहुत सी विदेशी [1] मुद्राओं का भी उल्लेख उपलब्ध है। यथा—पणिक, पायङ्क, सतेरक, साभरक, खत्तपक, दीनार, केवडिका अथवा केतर......... इत्यादि। इनमें कुछ तो ऐसे शब्द हैं जो जैन ग्रन्थों द्वारा ही प्रकाश में आ सके हैं। सम्भव है भविष्य में अन्य बहुमूल्य सामग्री हमारे वर्तमान ज्ञान में अत्यधिक वृद्धि कर सके। प्रस्तुत लेख में ९ वीं शताब्दि तथा उसके उपरान्त के कुछ ग्रन्थों द्वारा ज्ञात सामग्री का संक्षेप में ही विवेचन किया जायगा।

१. सतेर

ईसा पूर्व की तृतीय एवं चतुर्थ शताब्दि के उपरान्त यूनानी सम्पर्क के प्रभाव से तद्देशीय मुद्रा का प्रचार भारतवर्ष में हुआ तथा ग्रीक स्वर्णमुद्रा स्टेटर का उल्लेख तक्षशिला से प्राप्त खरोष्ठी लिपि के लेखों में उपलब्ध है [2]। यही शब्द छठी शताब्दि के एक अप्रकाशित जैन ग्रन्थ में 'सतेरक' रूप में उपलब्ध है यथा:— सतेरको त्ति तं सव्वं पुण्णाम समभादिसे [3]। ईसा की ९ वीं शताब्दि के जैनाचार्य महावीर ने 'गणितसार संग्रह' में सतेर का उल्लेख करते हुए यह दर्शाया है कि १ सतेर = २ दीनार [4] अर्थात्:—

संकेत चिह्न:—

जर्नल = जर्नल न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, बम्बई।

शोध = शोधपत्रिका, उदयपुर।

ना० प्र० = नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५२, अंक ४, संवत् २००७, पृ० २६५-८०।

पृ० = पृष्ठ संख्या।

वही = जिसका ठीक ऊपर उल्लेख किया गया है।

उपर्युक्त = जिसका पहले उल्लेख हो चुका है।

१ द्रष्टव्य, ना० प्र०, पृ० २७५ तथा आगे; जर्नल, भाग १२ का द्वितीयाङ्क, पृ० १६८ तथा आगे; जर्नल, भाग १४, पृ० १०७—११०; जगदीशचन्द्र जैन कृत लाइफ इन ऐन्शेयट इण्डिया ऐज़ डिपिक्टेड इन जैन कैनन्ज़, बम्बई, १९४७, पृ० १२० तथा जर्नल यू० पी० हिस्टोरिकल सोसाइटी, १८, पृ० ६६ तथा आगे। इस क्षेत्र में डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० जगदीशचन्द्र जैन तथा डॉ० उमाकान्त शाह के लेख विशेषरूपेण उपयोगी हैं।

२ द्रष्टव्य मेरा लेख जर्नल, १५, पृ० १५३—४।

३ वही, १४, पृ० ११०; अङ्गविज्जा, पुण्णामपटल, अध्याय ९।

४ द्रष्टव्य मेरे लेख, जर्नल १५, पृ० १५३-४; वही १४, पृ० १०३-४।

द्रच्चूणो भागषट्केन दीनारोऽस्माद्विसंगुणः।
द्वौ दीनारौ सतेरं स्यात् प्राहुर्लोहेऽत्र सूरयः [१] ॥

यही भाव यशोमित्र कृत अभिधर्मकोशव्याख्या (टोक्यो संस्करण, भाग २, १९३२, पृ० ३६८) में भी व्यक्त किया गया है :—

दीनार सतेरवच्च । यथापूर्वको दीनारो द्वितीयेन सह
सतेरो भवति तथा हि लोके एक दीनार मूल्येन
द्वितीयं दीनारं दीनारमूल्यं वा तेन पूर्वकेण दीनार-
मूल्येण सहाधिकमपेक्ष्य कश्चित् वक्ता भवेत् ।
दीनार सतेरो मया लब्ध इति दीनारद्वयं मया लब्धमित्यर्थः ।

प्राचीन शक 'सतेर', आर्मेनियन 'सतेर' सौग्डियन 'स्तिर', कूचियन 'सतेर', प्राचीन खोतानी 'सतीर'…… ……इत्यादि सब ग्रीक स्टेटर से ही निकले हैं [२] । उपर्युक्त गणितसारसंग्रह की एक अन्य प्रति (गवर्नमेन्ट ओरिएण्टल लाइब्रेरी, मद्रास) में 'सतेराख्यं' पंक्ति भी सतेर शब्द के प्रयोग पर प्रकाश डालती है ।

२ द्रम्म

यूनानी (ग्रीक) 'ड्रैख्म' से ही संस्कृत व जैन साहित्य का 'द्रम्म' (अथवा 'दम्म') बना है । इसीका अपभ्रंश रूप दाम (मूल्य तथा अकबर के काल में रुपये का चालीसवां भाग) है तथा रूपान्तर दमड़ी, दमड़े, धमड़…………इत्यादि [३] । जैन ग्रन्थ 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह' (सिंघी जैन ग्रन्थमाला, १९३६, कलकत्ता) में दाममूड़ा (पृ० ५३ नोट) तथा 'द्रम्ममूड़ा' [४] (पृ० ५२) रूप भी उपलब्ध हैं । इसी ग्रन्थ के पृ० ८० पर वर्णित 'मूढ़कशत १८' की पादटिप्पणी में यह उल्लेख मिलता है कि जगडु सेठ ने दुर्भिक्ष के समय पर निम्न प्रकार से दान दिया, अर्थात् ८००० मूड़ तो वीसलदेव के लिये; १६ हजार हम्मीर के लिये तथा २१ हजार सुलतान के लिये [अट्ठयमूड-सहसा वीसलदेवस्स सोल हम्मीरा । एक वीसा सुलताणा पयदिन्ना जगडु दुकाले] । मूड़ या मूढ़क की व्याख्या अभी तक अस्पष्ट है । आशा है विद्वद्वर्ग इस ओर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न

१ श्री रङ्गाचार्य द्वारा सम्पादित गणितसारसंग्रह, १९१२, मद्रास, अध्याय १, श्लोक ४३ ।

२ बुलेटिन ऑफ स्कूल ऑफ ओरियण्टल एण्ड ऐफ्रिकन स्टडीज़, लन्दन विश्वविद्यालय, १३, पृ० १२८-९; एम० एन० ढल्ला कृत ज़ोरोस्ट्रियन सिविलिज़ेशन, न्यूयार्क, १९२२, पृ० ३५७; एण्टीक्विटीज़ ऑफ इण्डिया (बार्नेट कृत), १९१३, लन्दन, पृ० २०७; मेरा लेख, गंगानाथ झा रिसर्च सोसाइटी, प्रयाग, १०, पृ० १३४ ६; जी० आर० केये द्वारा सम्पादित, दि० बख्शाली मैन्युस्क्रिप्ट, १९२७, कलकत्ता, भाग १-२, पृ० १३०, ६४, ६७–८ इत्यादि ।

३ द्रष्टव्य मेरा लेख शोध०, दिसम्बर १९५३, पृ० २-३ । 'दम्म' रूप के लिये द्रष्टव्य अर्द्धमागधी-कोश पाइअ-सद्द-महण्णवो', कलकत्ता ।

४ पृ० ५२ पर 'द्रम्ममूड़ा' भी तथा पृ० १३२ पर 'सामुद्रमा'; पृ० ६५ पर 'कोडिद्राम दण्ड'……इत्यादि ।

करेगा। इतना तो निश्चित ही है कि ये शब्द तत्कालीन मुद्राविशेष के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं [द्रष्टव्य मेरा लेख, शोध, दिसम्बर १६५३, पृ० ८]।

३. भीमप्रिय द्रम्म

मारवाड़ के एक लेख (विक्रमसंवत् १३५२) में भीमप्रिय द्रम्मों से सम्बन्धित 'भीमप्रियदशविंशोपक'[1] का उल्लेख हुआ है। इस दिशा में पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह में भी कुछ उल्लेख उपलब्ध हैं यथा:—

(अ) भीम प्री० (—पृ० ६५)

(ब) भीम प्री द्राम ६८ लक्ष (—पृ० ३३)

(ज) भीमपुरी द्राम (—पृ० ३३ फुट नोट ६)

(द) भीम प्री (य) द्रम्म लक्ष (—पृ० ३४)

(य) राजमहाराज श्री (भी) मसेन द्रम्म लक्षत्रय दाने (—पृ० ६५)।

सम्भव है कि महाराजा भीमसेन द्वारा चलाई गई मुद्रा को ही भीमप्रियद्रम्म नाम से सम्बोधित किया जाने लगा हो। ठक्कुर फेरुकृत 'द्रव्यपरीक्षा' ग्रन्थ में 'भीमपुरी' मुद्रा का उल्लेख आया है [जर्नल ८, भाग २, पृ० ६५]

४. लोह द्रम्म

पुरातन प्रबन्ध संग्रह के पृ० ६५ पर एक स्थान पर 'लोहे के बने' द्रम्मों का भी उल्लेख हुआ है अर्थात् —१४ लोहडिआ अथवा इका आगला द्राम। इसी ग्रन्थ के पृ० १५३ पर 'लोहटिक' की 'लोहडिय द्रम्म" कह कर परिभाषा की है। श्रीधर के 'गणितसार' की टीका में द्रामि २० लोहडीआ,[2] द्वारा सम्भवतः इसी वर्ग के द्रम्मों का बोधक प्रतीत होता है।

५. निष्क

'प्रबन्धचिन्तामणि' (सिंघी जैन ग्रन्थमाला, कलकत्ता, पृ० ७ फुटनोट ८) में एक प्राचीन भारतीय मुद्रा 'निष्क'[3] का वर्णन किया गया है:— निष्काणां परितोषके मम सदाकोटिर्मदाशा कोशाधीश .... इत्यादि। स्कन्द पुराण के श्रीमालमहात्म्य में भी एक लाख निष्कों के दान का वर्णन है। श्री भास्कराचार्य कृत 'लीलावती' नामक गणित ग्रन्थ के प्रारम्भ [अध्याय १, श्लोक २] में ही यह बताया गया है कि १६ द्रम्मों का १ निष्क होता है:—

१ ऐपिग्राफिया इण्डिया, ११, पृ० ५९-६०; पूर्णचन्द्र नाहड़ कृत जैनलेख संग्रह, १, पृ० २४४।

२ द्रष्टव्य जर्नल, ८, १६४६, पृ० १४० तथा आगे। द्रम्मों का उल्लेख प्रबन्धचिन्तामणि, युगप्रधानाचार्य गुर्वावलि, प्रबन्धकोश......... इत्यादि अन्य जैन ग्रन्थों में उपलब्ध है। पुरातन-प्रबन्धसंग्रह, (पृ० ५०) में केवल 'लोहटिक' का भी उल्लेख है यथा—लोहटिकं विना यामि।

३ निष्क के लिये द्रष्टव्य जर्नल १५, पृ० ११ तथा आगे; वही, १२, पृ० १६१ तथा आगे।

वराटकानां दशकद्वयं यत्सा काकिणी, ताश्च पणश्चतस्त्रः।
ते षोडशद्रम्म इहावगम्यो, द्रम्मैस्तथाषोडशभिश्च निष्कः॥

यह निष्क एक स्वर्णमुद्रा ही थी।

६. टङ्क

संस्कृत साहित्य में सर्वप्रचलित शब्द टङ्क से ही आधुनिक हिन्दी शब्द 'टका' बना है। जैन ग्रन्थ प्रबन्धकोश (सिंघी जैन ग्रन्थमाला, पृ० २६) में सोने के बने हुए 'सौवर्णटङ्कों' का उल्लेख हुआ है अर्थात्—सपादलक्षेण सौवर्णटङ्कैर्निष्पन्न इति। 'श्राद्धतिकमण सूत्रवृत्ति' (१२) तथा 'सुपासनाहचरिअ' (५१३) में भी टंक उपलब्ध है तथा 'प्राकृतपिङ्गल' के अनुसार एक टङ्क परिमाण में ४ माषे के बराबर होता है[१]। पुरातनप्रबन्धसंग्रह (पृ० १२३) में वर्णित पंक्ति 'उंदरटंका २०' भी महत्वपूर्ण है। इस प्रकार के टंकों के विषय में विशेष विवेचन की परमावश्यकता है।

७. गदहिया मुद्रा

डॉ० भण्डारकर[२] ने यह विचार प्रगट किया था कि द्रम्म शब्द रजतमुद्रा का सूचक है तथा 'गधैया-का-पैसा'[३] ताम्रमुद्रा का। इस दिशा में जैनग्रन्थ उपकेशगच्छपट्टावलि द्वारा यह प्रतीत होता है कि यह मुद्रा भीनमाल (प्राचीन श्रीमाल, मारवाड़) से सम्बन्धित थी तथा चांदी की बनी थी। यहां इसका नाम 'गदहिया मुद्रा'[४] मिलता है अर्थात्:— तत्पट्टे संवत् ११०८ वर्षे ………ततो गुरूपदेशेन ज्वलितानि छगणानि रूप्यमयानि भवन्ति। ततो तेन रूप्येन गदहिया मुद्रा पातिता ………सवालक्ष मुद्रिका दत्ता। ततो गर्दभयानि भारयत्वा पत्तने जगाम……… तद्धनं देशे सत्क्षेत्रे व्ययो कृतः।

८. विंशोपक

कुछ विद्वानों का विचार है कि द्रम्म के बीसवें भाग का नाम विंशोपक है [एपिग्राफिया इण्डिका, ११ पृ० ४१; वही, १, पृ० १६६; वही, १०, पृ० १६ नोट ३] परन्तु डॉ० भण्डारकर इस मत के पक्ष में नहीं हैं (लैक्चर्ज……, पृ० १८८-६)। १४ वीं शताब्दि के ग्रन्थ गणितसार की टीका में विंशोपक का पर्यायवाची 'वीसा' था जिसे एक ताम्रमुद्रा कहा गया है [जर्नल, ८, पृ० १४३]। द्रम्मों के साथ सम्बन्धित कई प्रकार के विंशोपकों का शिलालेखों में भी पर्याप्त उल्लेख मिलता है।

---

१ पाइअसद्दमहण्णवो, भाग २, पृ० ४५९।

२ लैक्चर्ज ऑन ऐन्शैण्ट इण्डियन न्यूमिस्मैटिक्स, १९२१, कलकत्ता, पृ० २०७।

३ श्री रैप्सन ई० जे० (इण्डियन कौएन्ज, १८९८, स्ट्रैसबर्ग, पृ० ३४) ने तो इस मुद्रा को 'बङ्बोहिकद्रम्मों' से सम्बन्धित किया है। द्रष्टव्य जर्नल, १२, पृ० २०२।

४ श्री पट्टावलिसमुच्चयः, भाग १, १९३३, वीरमगाम, पृ० १९१।

जैन ग्रन्थों में भी विंशोपक का प्रयोग उपलब्ध है यथाः—(१) पञ्चविंशोपकानर्जयित्वा प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० ६६); (२) विंशोपक[1] (पुरातनप्रबन्धसंग्रह, पृ० १३२) इत्यादि। प्राकृत[2] ग्रन्थों का विसोवग (व विसोवग) भी विंशोपक से ही निकला है।

६. नाणक

मृच्छकटिक (अंक १, दृश्य १) तथा याज्ञवल्क्य-स्मृति में 'नाणक' मुद्रा का उल्लेख मिलता है। मृच्छकटिक के अनुसार ये कुषाणकालीन सिक्के थे[3] [डॉ० अग्रवाल का अध्यक्षीय भाषण], कुषाणों की मुद्राओं पर विदेशी देवी नाना (Nana) का प्रदर्शन भी उपलब्ध है। डॉ० रायचौधरी[4] के उल्लेखानुसार 'नाणक' मुद्रा सम्भवतः इसी 'नाना' देवी के नाम पर चली हो। कालान्तर में तो नाणक शब्द मुद्राविशेष के अर्थ में न प्रयुक्त हो, साधारण मुद्रा (अर्थात् सिक्का) के अर्थ में ही प्रयोग में आने लगा। मराठी, गुजराती तथा राजस्थानी लोकोक्तियों द्वारा यह शब्द आजतक सुरक्षित है। एक राजस्थानी लोकोक्ति में कहा गया है कि पैसे रुपये द्वारा काणे व्यक्ति का भी विवाह सम्भाव्य है अर्थात् "नकद नाणों बींद परणीजे काणों"। जैन साहित्य में नाणक के कुछ अपभ्रंशरूप उपलब्ध हैं यथाः—

(१) णाणं (अंगविज्जाग्रन्थ-उपर्युक्त) यथाः—तधोणाणं च मासको।

(२) णाणक (अभिधानराजेन्द्र, जैन प्रभाकर प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम; पाइअसद्द महण्णवो, भाग २, पृ० ४७७)।

कुछ जैनग्रन्थों में तो 'नाणक' शब्द पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। यथाः—

(१) रूप्यनाणक (प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० ७७)—रजतमुद्रा का निर्देशक है।

(२) बृहत्कल्पभाष्य की टीका (श्लोक १६६६) करते हुए विक्रम संवत् १३३२ के जैन विद्वान् श्री क्षेमकीर्त्ति ने देशी-विदेशी मुद्राओं (नाणक) का विशद विवेचन किया है यथाः[5] —

१ इसी पृष्ठ पर 'सासु द्रमा ३' पंक्ति कुछ अस्पष्ट प्रतीत होती है।

२ पाइअसद्दमहण्णवो, ४, पृ० १००७; द्रष्टव्य मेरा लेख, शोध, दिसम्बर १६५३, पृ० ५-७; हथुण्डी (मारवाड़) के वि० सं० १०५३ वाले लेख में प्रयुक्त विंशोपक शब्द परिमाण-सूचक भी है [जैनलेखसंग्रह, श्रीपूर्णचन्द्रनाहरकृत, भाग १, पृ० २३७]।

३ जर्नल, १२, पृ० १६८। द्रष्टव्य लैक्चर्ज ...., पृ० १६१;

४ पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्शैण्ट इण्डिया, कलकत्ता, ५ संस्करण, पृ० ४७५ फुटनोट ४

५ जर्नल १४, पृ० १०६; बृहत्कल्पभाष्य, भाग २, पृ० ५७३—श्री पुण्यविजय जी द्वारा सम्पादित। यहाँ पर क्षेमकीर्ति ने प्रत्येक नाणक का विशेष नाम, प्रचलन क्षेत्र तथा उसकी धातु का स्पष्ट उल्लेख किया है।

श्री बैजनाथपुरी का यह विचार है कि कुषाणमुद्रा पर अंकित 'नाना' को भारतीय अम्बा स्वीकार करना चाहिए (इण्डियन कल्चर, कलकत्ता, भाग ७, नं० ४, पृ० ४६२-३)।

"कपर्दकादयो मार्गयित्वा तस्य दीयन्ते। ताम्रमयं वा नाणकं यत् व्यवह्रियते, यथा दक्षिणापथे काकिणी। रूपमयं वा नाणकं भवति यथा भिल्लमाले द्रम्मः। पीतं नाम सुवर्णं तन्मयं वा नाणकं भवति, यथा—पूर्वदेशे दीनारः। केवडिका नाम यथा तत्रैव पूर्वदेशे केतराभिधानो नाणक-विशेषः"।

(३) कपर्दका मालवदेशीय नाणकम् (पुरातनप्रबन्धसंग्रह, पृ० २१)।

इस प्रकार निम्नमुद्राओं का बोध होता है:—

(अ) ताम्रमुद्रा, काकिणी—दक्षिणापथ की;

(ब) रजतमुद्रा, द्रम्म—भिल्लमाल की;

(ज) सुवर्णमुद्रा, दीनार—पूर्व देश की;

(द) केवडिका अथवा केतर—पूर्व देश की;

(य) कपर्दक—मालव देश की।

१०. केवडिका, केतर अथवा केदार

पूर्व देश में प्रचलित 'केवडिका' अथवा 'केतर' नामाभिधेय नाणक विशेष का ऊपर उल्लेख किया गया है। 'रूप्य' शब्द की व्याख्या करते हुए स्वयं काशिकाकार ने 'केदार' मुद्रा का उल्लेख किया है यथा—"आहतं रूपमस्य रूप्यो दीनारः, रूप्यः केदारः, रूप्यं कार्षापणम्"। जैन साहित्य का 'केतर' तथा काशिका का 'केदार' पर्यायवाची प्रतीत होते हैं[1]। यह मुद्रा 'किदार-कुषाण' नामक विदेशी राजाओं द्वारा चलाई गई थी। ऐसे सिक्के पर्याप्तमात्रा में मिले भी हैं जिन पर 'किदार' शब्द अङ्कित है[2]। यह स्मरण रखना आवश्यक होगा कि केतर मुद्रा गुप्तकाल में प्रचलित थी तथा इसे आहतमुद्रा नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार दीनार के विषय में काशिकाकार की पूर्वोक्त पंक्ति ठीक नहीं जंचती [जर्नल, १५, पृ० ३८]।

प्रादेशिक मुद्रा सम्बन्धी अवशिष्ट सामग्री

दक्षिणापथ, मालवा, पूर्वदेश, भीनमाल (मारवाड़)..........इत्यादि की मुद्रा पर प्रकाश डाला जा चुका है। उसी टीकाकार (क्षेमकीर्ति) ने बृहत्कल्पभाष्य के कुछ श्लोकों (३८९१-२) की टीका करते हुए लिखा है कि:—

"द्वीपं नाम सुराष्ट्राया दक्षिणस्यां दिशि समुद्रमवगाह्य यद्वर्तते तदीयौ द्वौ साभरकौ रूपकौ स उत्तरापथे एको रूपको भवति। द्वौ च उत्तरापथरूपकौ पाटलिपुत्रक एको रूपको भवति

१ जर्नल, १२, पृ० १९९; वही १४, पृ० १०६; लैक्चर्ज........., पृ० १३३; जर्नल १५, पृ० ३७-८; शाह, जर्नल एम० एस यूनि० ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, मार्च १९५४, पृ० ५९ फुटनोट १९।

२ हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पटना, १९५३, पृ० ५४ फुट नोट ३; ए न्यू हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पीपल, भाग ६, १९४६, लाहौर, पृ० २३; लैक्चर्ज.........पृ० २०५।

॥ १८६१ ॥ दक्षिणापथौ रूपकौ काञ्चीपुर्यां द्रविड़विषय प्रतिबद्धया एकः नेलकः रूपको भवति। सः काञ्चीपुरी रूपको द्विगुणितः सन् कुसुमपुरनगरसत्को एको रूपो भवति ! कुसुमपुरं पाटलिपुत्रमभिधीयते"[१] । यहाँ पर कुछ अवशिष्ट मुद्राओं का पारस्परिक सम्बन्ध प्रस्तुत किया गया है तथा ये सब चाँदी के ही सिक्के हैं—

२ साभरक रूपक=१ उत्तरापथ रूपक।

२ उत्तरापथरूपक=१ पाटलिपुत्र (या कुसुमपुर) रूपक।

२ दक्षिणापथरूपक=१ नेलक जो द्रविड़ राज्यान्तर्गत काञ्चीपुरी में प्रचलित था।

२ नेलक=१ पाटलिपुत्र (या कुसुमपुर) रूपक।

उल्लिखित वृत्त से यह ज्ञात होता है कि भारतवर्ष के भिन्न भिन्न प्रदेशों की मुद्रा का आपस में घना सम्बन्ध था तथा एक दूसरे के मूल्य एवं अनुपात से परिचय का भाव सर्वथा विद्यमान था। यहाँ यह कहना कठिन है कि उत्तरापथ तथा पाटलिपुत्र के रूपक किस प्रकार के थे तथा उनका क्या क्या परिमाण था। सम्भव है भावी खोजों द्वारा इस दिशा में कुछ प्रकाश पड़ सके।

साभरक द्वीप की स्थिति सुराष्ट्र के दक्षिण में थी तथा वहां की मुद्रा का भी उत्तरापथ की मुद्रा से सम्बन्ध भली भांति ज्ञात था। ११६० ईसवी के प्रवचनसारोद्धार[२] ग्रन्थ की टीका करते हुए सिद्धसेन ने यह भी दर्शाया है कि सुराष्ट्र तथा साभरक द्वीप के मध्य केवल १ योजन का अन्तर था [द्वीपश्च यः सुराष्ट्रामण्डले दक्षिणस्यां दिशि योजनमात्र समुद्रमवगाह्य तिष्ठति सोऽत्र गृह्यते]। डॉ० मोतीचन्द्र के विचार में साभरक-रूपक पूर्व मुस्लिम युग के 'सेबिअन' [Sabean] सिक्के ही हैं[३] । 'पाइअसद्दमहण्णवो' के सम्पादक के अनुसार (भाग ४, पृ० १११४) तो १ साभरक सिक्का = १ रुपया व सोलह आना।

भीनमाल की मुद्रा

बृहत्कल्पभाष्य टीका में वर्णित "रूप्यमयं वा नाणकं भवति यथा भिल्लमाले द्रम्मः" का उल्लेख किया गया है। यही उल्लेख निशीथचूर्णि (पृ० ६१६) में भी उपलब्ध है[४] । अतः यहां पर यह स्पष्ट है कि भीनमाल (मारवाड़) की मुद्रा चांदी की बनी हुई थी तथा इसे "श्रीमालीय द्रम्म" या "पारौपथ द्रम्म" नाम से सम्बोधित किया जाता था। इस दिशा में 'लेखपद्धति' नामक ग्रन्थ द्वारा

---

१ जर्नल, १४, पृ० १०६; बृहत्कल्पभाष्य, उपर्युक्त, भाग ४, पृ० १०६६।

२ जर्नल, १४, पृ० ११०; पाइअसद्दमहण्णवो, ४, पृ० १११४।

३ जर्नल, १४, पृ० ११०, फुटनोट २; वही, १२, पृ० २००-१; जगदीशचन्द्र जैन, लाइफ........, उपर्युक्त पृ० २८१, १२०।

४ जर्नल, १२, पृ० २०१-२ [—डॉ० अग्रवाल का भाषण]।

पर्याप्त सामग्री उपस्थित की गई है अर्थात् उस समय के उधार-पत्रों में निम्न पंक्तियों का वर्णन विशेषाकर्षक है:—

अ (१) श्री श्रीमालीयखरटङ्क शालाहत त्रिःपरीक्षित हट्ट व्यवहार जीर्णविश्वमल्ल[1] प्रिय द्र० [पृ० २०]

(२) श्रीश्रीमालीयखरटङ्कशालाहत त्रिःपरीक्षित हट्टव्यवहारिक्यप्रचरत् श्रेष्ठद्विवल्लक्य वीसल-प्रिय द्र० [पृ० ४२]

ब (१) श्रीश्रीमालीयखरटङ्क शालाहत त्रिःपरीक्षितहट्टव्यवहारिक्य प्रचलित श्रेष्ठश्रीमत्पारोपथ रौक्य गृहीत द्र० [पृ० ३४]

(२) श्रीश्रीमालीयखरटङ्क शालाहत त्रिःपरीक्षित हट्टव्यवहारिक्य प्रचरत् श्रेष्ठश्रीमत्पारु-पथकगृहीत द्रम्म [पृ० ४३]

श्री दलाल (पृ० ११४, ११८) का यह विचार है कि "पारौपथ (व पारूपथक) सिक्के व्यक्ति विशेषों के नाम पर सम्बोधित हुए हैं यथा बाबाशाही, महम्मुदी"। अभी यह कहना कठिन है कि इनका यह नाम कैसे पड़ा। इतना तो निश्चित है (उपर्युक्त उल्लेख द्वारा) कि ये सब सिक्के श्रीमाल नगर की टंकशाला (टकसाल) में तीन बार परखे गये; बिना मिलावट के तथा रोकड़ लिये हुए थे। यहां पर इस वर्ग के लिये 'आहत' विशेषण प्रयोग में आया है। गत वर्ष मुझे स्वयं भीनमाल नगर में पुरातत्त्व सम्बन्धी खनन [Archaeological Excavations] करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था परन्तु एक भी मध्यकालीन मुद्रा की प्राप्ति न हो सकी। श्रीमाल नगर तो एक स्वतन्त्र टकसाल थी तथा इस प्रदेश में खनन द्वारा इस वर्ग के सिक्कों की प्राप्ति की पूर्णाशा थी। इस दिशा में श्रीमाल की प्राचीन मुद्रा की सर्वदा प्रतीक्षा बनी रहेगी। अभी तक भीनमाल नगर से चांदी के बने गधैया सिक्कों की ही और वह भी अल्प संख्या में प्राप्ति ज्ञात है।

कोंकण देश के शक संवत् ११८२ के लेख में पोरुत्थ;[2] अपरादित्य के लेख[3] में (शक संवत् ११०६) पोरुथि द्र, पारुत्थ द्र, पारुथि व पारुत्थि"इत्यादि का उल्लेख भी महत्वपूर्ण है। श्री एलेक्ज़ेण्डर किड तो इन्हें खुरासनी व पार्थियन मुद्रा से सम्बन्धित करने का प्रयत्न करते हैं[4]। उनका विचार है कि ये 'तातरिय व तहिरियेह व खुरासनी दिरहम' ही हैं।

---

१ जर्नल, १२, पृ० २०२। इन द्विवल्लक द्रम्मों में २ वाल (=६ रत्ति) का खोट मिला होता था [लेखपद्धति, सी० डी० दलाल द्वारा सम्पादित, १६२५, बड़ौदा, पृ० ११८]; युगप्रधानाचार्य गुर्वावलि में इन्हें केवल 'द्विवल्लक द्रम्म' नाम से सम्बोधित किया गया है [जर्नल, १२, पृ० २०२]।

२ ऐपिग्राफिया इण्डिका, २३, पृ० २८०।

३ जर्नल बिहार रिसर्च सोसाइटी, पटना, भाग २६, अंक ४, पृ० २११, २१३, २१५; इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, २०, १६४४, पृ० ६६।

४ गज़ेटियर बॉम्बे प्रौविन्स, १८९६, भाग १, खण्ड २, पृ० २०, पृ० २१ नोट ६; मेरा लेख, शोध, दिसम्बर १९५३, पृ० ८-६।

उपर्युक्त द्रम्मों के विषय में जैन साहित्य द्वारा पर्याप्त सामग्री उपस्थित की गई है अर्थात्:—

(१) मालवा के परमार नरवर्मन (१०९७–१११९ ईसवी) ने, जिनवल्लभ सूरि से प्रसन्न हो, उन्हें ३ ग्राम या ३००,००० पारुत्थ द्रम्म लेने को कहा परन्तु जिनवल्लभसूरि ने दोनों को ही ठुकरा दिया। इसके विपरीत उन्होंने यह इच्छा प्रकट की कि नरवर्मन् महोदय चित्तौड़ की चुँगी के नाके (Customs House) से इन दो खरतर मन्दिरों के निमित्त प्रतिदिन दो पारुत्थ–द्रम्मों के दान की व्यवस्था कर दें तो उत्तम हो[1]।

(२) पुरातनप्रबन्ध संग्रह में इन द्रम्मों के भिन्न २ रूपों का उल्लेख किया गया है यथाः—

पाड़ु (र) थक या पारूथक (पृ० ५३), पारुथक[2] (पृ० १२८), पारूथा[3] (पृ० ७८)··· इत्यादि। इतना ही नहीं यहां यह भी बताया गया है कि १ पारूथक द्रम्म = ८ साधारण द्रम्मों के [पृ० ५३]:—सुरत्राणेन लक्ष ३६ द्रम्माणां याचिता। वापडेनोक्तम् वयं द्रम्मान् न जानीमः। पाडू (र) थकान् दास्यामः। पार्श्वस्थैरुक्तम्—देव ! मन्यताम्। एकस्मिन् पारूथकेऽष्टौ द्रम्मा भवन्ति।

जालोर के राव उदय सिंह के मंत्री द्वारा व्यक्त यह उक्ति आश्चर्यजनक प्रतीत होती है कि "हम द्रम्मों को नहीं जानते" [वयं द्रम्मान् न जानीमः]; अपितु उन्होंने पारूथक द्रम्मों के प्रति ही जानकारी प्रकट की। इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि जालोर–भीनमाल के क्षेत्र में ही पारूथक द्रम्मों का प्रचार था यद्यपि राजकीय सभासद इन द्रम्मों का साधारण द्रम्मों के साथ सम्बन्ध से पूर्णतया परिचित ही थे। उपर्युक्त लेखों से भी यह विदित होता है कि ये द्रम्म कोंकण तथा मालव आदि प्रदेशों तक प्रचलित थे। इस स्थिति में यह भी कहना कठिन है कि यह मुद्रा भीनमाल–जालोर (वर्तमान जालोर ज़िला) तक ही सीमित थी। इस दिशा में विशेषानुसन्धान की आवश्यकता है।

दीनार अथवा दीणार

रोम देश की मुद्रा 'डिनेरियस' (Denarius) का जैन साहित्य में प्रयोग प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। यहां इसके भिन्न २ रूप (अर्थात् दीणार, दीनार) मिलते हैं। उपर्युक्त अङ्गविज्जा (छठी शताब्दि ई०) ग्रन्थ में वर्णित 'दीणार[4] मासक' (=दीनारमाषक) तो तृतीय शताब्दि ई० के नागार्जुनी–कोण्डा के लेख में वर्णित 'दीनारि-म सक'[5] ही प्रतीत होता है। महावीराचार्य के गणितसारसङ्ग्रह ग्रन्थ में एक सुवर्ण का दो दीनारों के बराबर होने का उल्लेख ऊपर किया जा

१ इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, १९५०, भाग २६, पृ० २२४, डा० अग्रवाल (जर्नल, पृ० २०१–२) ने इन द्रम्मों का पाठ "पारूथ" द्रम्म किया है तथा खरतरगच्छपट्टावालि की तिथि १०१०–१३२६ ईसवी निर्धारित की है।

२ अर्थात्—२८ लक्षपारुथकद्रम्मान्।

३ अर्थात्—पारूथाद्रम्माश्चतुर्विंशतिसहस्त्रैः क्यका।

चुका है[४]। क्षेमकीर्त्ति की बृहत्कल्पभाष्यटीका (श्लोक १६६६) के अनुसार दीनार नामक स्वर्ण-मुद्रा पूर्वदेश में प्रचलित थी:—पीनं नाम सुवर्णं तन्मयं वा नाणकं भवति यथा पूर्व देशे दीनारः। श्री भद्रबाहु कृत कल्पसूत्र[१] (भावनगर संस्करण, १६१५, द्वितीयक्षण, संख्या ६३) में दीणार रूप उपलब्ध है। इस मुद्रा का उल्लेख पउमचरिय[२] तथा बृहत्कथाकोश[३] में भी किया गया है। संस्कृत व बौद्धसाहित्य तथा भारतीय शिलालेखों में भी दीनार सम्बन्धी सामग्री भरी पड़ी है।

(१) लगभग ७ वीं शताब्दि में रचित 'निशीथचूर्णि' (पृ० ८४३) में 'मयूराङ्कित दीनार' का उल्लेख अतीव महत्वपूर्ण है। डॉ० मोतीचन्द्र (जर्नल, १६, भाग १, १६५४, पृ० ३) का विचार है कि यह दीनार विशेष गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम की मयूरवर्गवाली मुद्रा का द्योतक प्रतीत होता है। वास्तव में जैन साहित्य में प्रारम्भिक युग की मुद्राओं (अर्थात् खत्तक, सतेरक, पायङ्क, मयूराङ्कित-दीनार..........इत्यादि) का उल्लेख अति महत्वपूर्ण है।

(२) हरिभद्रसूरि कृत प्रशस्तियों में पाटन के आरंभिक चालुक्य नृपवर्ग (अर्थात् मूलराज, चामुण्ड, वल्लभ, दुर्लभराज) की मुद्राओं का उल्लेख अतीव महत्वपूर्ण है। इनसे यह भी ज्ञात हुआ है कि उल्लिखित शासकों की टंकशाला के अध्यक्ष वीर नामक अधिकारी ने इन सब मुद्राओं पर लक्ष्मी की आकृति अङ्कित करवाई थी। [द्रष्टव्य श्री उमाकान्त शाह के लेख का सारांश, अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलन के हेतु प्राप्त निबन्धों का सारांश-संग्रह, १६५३, अहमदाबाद, पृष्ठ १७२]। राजस्थान के जैन शिलालेखों द्वारा भी 'वीसलप्रिय द्रम्म' तथा 'भीमप्रिय दशविंशोपक', 'रूपक' आदि सिक्कों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। [द्रष्टव्य पूर्णचन्द्र नाहर, जैन लेख संग्रह, १, पृष्ठ २४८, २४६..........इत्यादि; मेरा लेख, शोध-पत्रिका, उदयपुर, दिसम्बर १६५३, पृष्ठ १—६]।

---

४ जर्नल, १४, पृ० ११०।

५ दिनेशचन्द्र सिरकार कृत 'सक्सैस्सर्ज आफ दि सातवाहनाज', कलकत्ता, १६३६, पृ० २६-७; एपिग्राफिया इण्डिका, २०, पृ० २९; द्रष्टव्य लैक्चर्ज ....पृ० १८३-४।

१ यही भाव यशोमित्र कृत अभिधर्मकोशव्याख्या में भी उपलब्ध है। द्रष्टव्य मेरा लेख, जर्नल १५, पृ० १५३-४।

२ द्रष्टव्य कल्पसूत्रानुवाद, श्री जैकोबी कृत, सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट सीरीज़, २२, पृ० २; अर्धमागधीकोश, श्री रत्नचन्द्र महाराजकृत, भाग ३, १९३०, पृ० १७२; अभिधान—राजेन्द्र, पृ० २५४० इत्यादि। पुरातन-प्रबन्ध संग्रह में भी दीनार का उल्लेख मिला है [पृ० ५, ६, ३३, ११७ इत्यादि]

३ श्री विमलसूरिकृत। द्रष्टव्य विण्टरनीत्ज़ कृत हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २, पृ० ४७७ फुटनोट ३।

४ १४३ ४२। द्रष्टव्य जर्नल यू० पी० हिस्टोरिकल सोसाइटी, १९, पृ० ८६।

(३) द्रम्म का उल्लेख आवश्यकचूर्णि (७ वीं शताब्दि) में उपलब्ध हुआ है यथा 'नउलओ द्रमएन यवितो'। इस ग्रन्थ में द्रमअ तथा द्रमक रूप मिलते हैं [जर्नल ऑफ एम० एस० यूनि० बड़ौदा, मार्च १९५४, पृ० ५६–७]। वैसे तो मारवाड़ान्तर्गत गोठ मंगलोद नामक स्थान से प्राप्त ७ वीं शताब्दि के शिलालेख में भी द्रम्मों का वर्णन किया गया है [द्रष्टव्य ऐपिग्राफिया ११ पृ० २९९ तथा आगे]।

उल्लिखित अल्पवृत्त द्वारा यह विदित होता है कि जैन ग्रन्थ तो मुद्रा के क्षेत्र में एक अमूल्य भण्डार हैं। इस दिशा में अधिक सामग्री को प्रकाश में लाने की नितान्त आवश्यकता है। आशा है विद्वद्वर्ग जैन साहित्य का भारतीय व विदेशी मुद्रा के दृष्टिकोण से अधिक मात्रा में मन्थन कर ज्ञानवृद्धि के प्रशस्त कार्य में सहयोग प्रदान करेंगे। जैन साहित्य द्वारा प्रस्तुत कुछ सामग्री का तो संस्कृत एवं बौद्ध साहित्य में सर्वथा अभाव ही दिखाई देता है। सम्भव है भावी खोजों द्वारा और अधिक बहुमूल्य सामग्री की प्राप्ति हो सके।

जैन सम्राट् कुमारपाल सोलङ्की

[श्रीयुत् प्रो० ज्योतिप्रसाद जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०, लखनऊ]

सिद्धराज जयसिंह की मृत्यु के उपरान्त उसकी इच्छानुसार उसका दत्तक पुत्र गुर्जर साम्राज्य का अधिकारी न हो सका। प्राचीन गुजराती इतिहास ग्रन्थों से पता चलता है कि सिद्धराज के मन्त्रियों ने उक्त दत्तक पुत्र का हक मारकर कुमारपाल को अन्हिल-बाड़े के सिंहासन पर बैठाया था। इसमें सन्देह नहीं कि उसके बहनोई कन्हदेव तथा आश्रयदाता कैलम्बराज उसके प्रधान सहायक थे, आचार्य हेमचन्द्र भी उसीके समर्थक थे और स्वयं राजपुरोहित देवश्री ने अपने हाथों से उसका राज्याभिषेक किया। स्यात् ऐसा करके इन लोगों ने बुद्धिमानी का ही काम किया, क्योंकि अपने तीस वर्ष (सन् ११४३–११७३ ई०) के राज्यकाल में उसने न केवल गुर्जर साम्राज्य की उसके अनेक विभिन्न शत्रुओं से ही सुरक्षा की वरन् उसकी सर्वतोमुखी उन्नति एवं अभिवृद्धि भी की। उसके समय में साम्राज्य की सीमाएँ सर्वाधिक विस्तार को प्राप्त हो गई थीं। स्वयं आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार उसने चेदि, दशार्ण, मालव, महाराष्ट्र, अपरान्त, कुरु, सिन्धु आदि अनेक देशों को विजय किया था और उसके साम्राज्य की सीमा उत्तर में तुरुष्क देश पर्यन्त, पूर्व में गंगा तट तक, दक्षिण में विन्ध्याचल तक और पश्चिम में समुद्र पर्यन्त थी। उत्तरवर्ती प्रबंधकारों के अनुसार उसके साम्राज्य में अठारह देशों का समावेश था। उसके राज्यकाल में देश ने अभूतपूर्व समृद्धि और प्रजा ने अद्वितीय शान्ति और सुख का उपभोग किया था। किसी भी प्रकार का स्वचक्र या परचक्र संबंधी उपद्रव नहीं हुआ, लक्ष्मी के समान प्रकृति भी देश पर प्रसन्न थी, पूरे राज्यकाल में एक भी दुर्भिक्ष नहीं पड़ा। साथ ही ज्ञान, विज्ञान और कला की महत्ता की अभिवृद्धि हुई और धार्मिकता के प्रवाह से भी जनता व्याप्त हो गई। इसमें सन्देह नहीं कि जैन सम्राट् कुमारपाल के समय में अन्हिल बाड़े के सोलङ्कियों का गुर्जर साम्राज्य अपनी सर्वतोमुखी उन्नति के चरम शिखर पर था, और तत्कालीन भारतवर्ष का सर्वाधिक समृद्ध, शक्तिशाली, उदार एवं सुसंस्कृत साम्राज्य था।

कुमारपालके इतिहास की सामग्री के प्रधान साधन उसके गुरु हेमचन्द्राचार्य रचित 'संस्कृत द्वयाश्रय' काव्य के अन्तिम पांच सर्ग, 'प्राकृत द्वयाश्रय' के आठ सर्ग, 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष 'चरित्र' के अन्तिम भाग, 'महावीर चरित्र', कुमार पाल के उत्तराधिकारी अजयपाल के मन्त्री यशःपाल द्वारा रचित 'मोहराज पराजय' नामक नाटक, कुमारपाल की मृत्यु के ११ वर्ष पश्चात् सोमप्रभसूरि कृत 'कुमारपाल प्रतिबोध

तथा राजपुरोहित सोमेश्वर कृत कीर्त्ति कौमुदी नामक समकालीन कृतियों में, चित्तौड़ आदि के शिलालेखों में तथा 'कुमारपाल प्रबंध', कुमार पाल चरित्र', 'प्रबंध चिन्तामणि', 'प्रभावक चरित्र', चतुर्विंशति प्रबंध' आदि उत्तरकालीन रचनाओं में उपलब्ध होते हैं।

कुमार पाल का जन्म सन् १०९३ ई० में दधिस्थली (देथली) नामक स्थान में, जो कि उसके पिता की जागीर थी, हुआ था। मुनि जिन विजय जी के मतानुसार[1] जो मेरुतुंग के कथन पर आधारित है 'भीमदेव प्रथम का ज्येष्ठ पुत्र क्षेमराज था, जो अपने छोटे भाई कर्ण को राज्य देकर तपस्वी हो गया था। उसके पुत्र देवपाल ने भी अपने पिता का ही अनुकरण किया और भोगपरायण कर्ण की मृत्यु होने पर जीते-जी चिता में प्रवेश कर गया। उसका पुत्र त्रिभुवनपाल था, जो एक धर्मपरायण क्षत्रिय था, उसके सदाचारी एवं नीति परायण जीवन का प्रभाव सिद्धराज की स्वच्छन्दता पर अंकुश का काम करता था और सिद्धराज भी उसका आदर करता था। कुमारपाल इसी त्रिभुवन पाल का पुत्र था, जिसे अपने पूर्वजों से सदाचार, नीतिमत्ता, धार्मिकता आदि अमूल्य गुणों की निधि मिली थी; किन्तु एक अन्य मत के अनुसार कुमारपाल का पितामह हरपाल भीम प्रथम की उपपत्नी चौला देवी से उत्पन्न हुआ था, कदाचित् इसी कारण ज्येष्ठ होते हुए भी वह राज्य सिंहासन न पा सका और निराश होकर मंडुकेश्वर तीर्थ में जाकर तपस्या करने लगा। हरपाल के पुत्र त्रिभुवन पाल ने काशमीरी देवी से विवाह किया था और उसके तीन पुत्र तथा कन्याएँ उत्पन्न हुईं। इनमें कुमारपाल ज्येष्ठ था। उसकी बड़ी बहिन प्रमिला जयसिंह के एक सेनापति कण्हदेव के साथ विवाही गई थी। अपने संकटकाल में कुमारपाल अपनी स्त्री को प्रमिला के आश्रय में छोड़कर प्रवास में गया था और अन्ततः अपने दूसरे बहनोई कण्हदेव की सहायता से ही वह राजा हो पाया। उसकी दूसरी बहिन देवल का विवाह सपादलक्ष के स्वामी अर्णोराज के साथ हुआ बताया जाता है[2]। किन्तु यह कथन भ्रमपूर्ण है। वास्तव में अर्णोराज का विवाह जयसिंह सिद्धराज की एकमात्र कन्या कञ्चन कुमारी के साथ हुआ था, कुमारपाल की बहिन देवल के साथ नहीं।

सपादलक्ष भी उस समय का एक प्रसिद्ध राज्य था और उसमें पंजाब प्रान्तस्थ हांसी, अजमेर, जोधपुर से ६ मील उत्तर में स्थित मारवाड़ की प्राचीन राजधानी मन्दोर, मेवाड़ का मांडलगढ़ आदि स्थान सम्मिलित थे। अर्णोराज अर्थात् अनाजी चौहान ने ही अजमेर में प्रसिद्ध अनासागर झील का निर्माण कराया था। खरतरगच्छ

१—राजर्षि कुमार पाल–पत्रिका नं० २२, J. C. R. S.

2—Kumar pala Chalukya-U. S. Tauh, J. G. May 1914, pp 181-188

की पट्टावलि के अनुसार वह जिनदत्तसूरि का मित्र था और उनके लिये अजमेर में एक जैन मंदिर निर्माण कराने के लिये उसने भूमि प्रदान की थी। उसकी राजधानी शांकुभरी अर्थात् सांभर थी। ये चौहान राजे जैन धर्म के प्रति अत्यधिक सहिष्णुता एवं आदर का भाव रखते थे और उक्त वंश के अनेक व्यक्ति जैनधर्म के भक्त भी थे। अजमेर का प्रसिद्ध सोनीवंश उस समय भी विद्यमान था और उन्होंने हस्तिनागपुर आदि दूरस्थ तीर्थों के लिए दिगम्बर जैन मूर्त्तियां निर्माण कराकर प्रतिष्ठित कराई थीं'। राज्य में दिगम्बर-श्वेताम्बर उभय सम्प्रदाय के साधुओं का विहार होता था।

कुमारपाल का पिता त्रिभुवनपाल अपने पिता, पितामह की भाँति संसार त्यागी तो नहीं हुआ; किन्तु वह सदाचारी और नीतिपरायण था। राजा सिद्धराज उसका आदर करता था और उसने उसे एक जागीर भी प्रदान की थी। ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्धराज के राज्यकाल के उत्तरार्ध में राजा के कोई पुत्र संतान न होने के कारण और उसकी आगे भी कोई संभावना न होने से त्रिभुवन पाल के मन में यह आशा उदित हुई कि सिद्धराज की मृत्यु के उपरान्त वह स्वयं अथवा उसका पुत्र कुमारपाल सिंहासन प्राप्त कर सकता है। इस आकांक्षा से प्रेरित होकर संभवतया उसने सिद्धराज के जीवन काल में ही अपने लिये उत्तराधिकार सुरक्षित करने के लिए प्रयत्न करने शुरु कर दिये थे। सिद्धराज को उनकी सूचना जैसे ही मिली उसने त्रिभुवनपाल की हत्या करवा कर इस कंटक को दूर कर दिया। कुमारपाल उस समय पूर्ण युवा था और अपने पिता से कहीं अधिक महत्त्वाकांक्षी था। यह बात सिद्धराज से छिपी न रही, अतः उसने पिता की भांति पुत्र को भी नष्ट करने का उपाय किया। किन्तु कुमारपाल अपनी चतुराई, भाग्य और सहायकों की कृपा से बच निकला। अपने जीवन की रक्षा के लिये उसे वर्षों तक इधर उधर मारे मारे फिरते और छिपते रहना पड़ा। उसकी सारी युवावस्था इसी संकटापन्न दशा में बीती।

अस्तु, जयसिंह सिद्धराज की मृत्यु के पश्चात् सन् ११४३ ई० में कुमारपाल ही अन्हिलवाड़े के सिंहासन पर आसीन हुआ। उस समय उसकी आयु लगभग पचास वर्ष की थी। राज्य प्राप्त करने के उपरान्त ही उसने अपने सभी समर्थकों एवं संकट काल के सहायकों को उदारतापूर्वक सन्तुष्ट किया। महामन्त्री उदयन के सुयोग्य पुत्र वाहड (वाग्भट्ट) को उसने अपना प्रधान मन्त्री बनाया। कुम्भकार अलिंग को राजसभा का प्रमुख सदस्य बना दिया और पुरोहित देवकी आदि को विपुल द्रव्य प्रदान किया। किन्तु राज्य के कुछ पुराने सामन्त सर्दारों को उसका यह व्यवहार नहीं रुचा,

१—हमारी पुस्तक—'हस्तिनापुर'

उनकी स्थिति को धक्का पहुंचा था, अतः वे उसके शत्रु हो गये और उसकी हत्या करने के लिये षड्यन्त्र रचने लगे। किन्तु भेद खुल गया और समस्त षड्यन्त्र कारियों को कठोर दण्ड दिया गया। राजा होने के थोड़े समय बाद ही उसका अपने परम सहायक कण्हदेव के साथ भी मनमुटाव हो गया। संभवतया इन दोनों के बीच अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करने का द्वन्द्व चला। कण्ह ने राजा की अवहेलना की और उसके नीचकुलोत्पन्न होने का प्रचार किया तथा उसके राज्याधिकार औचित्य का भी प्रश्न उठाया। स्वाभिमानी कुमारपाल इसे सहन न कर सका। कण्हदेव उसका बहनोई था और राज्य प्राप्ति में प्रधान सहायक था, अतः राजा ने पहले तो उसे चेतावनी दी, किन्तु इस पर कण्ह ने कोई ध्यान नहीं दिया। विवश होकर कुमारपाल ने उसे बन्दी किया और अन्धा करवा दिया, तत्पश्चात् सिद्धराज के दत्तक पुत्र चाहड के कारण अर्णोराज के साथ उसके भीषण युद्ध हुए। किन्तु बावजूद गृहद्रोह एवं विश्वासघातों के कुमारपाल ने अपनी वीरता एवं अद्भुत सैन्य संचालन पटुता के कारण उन दोनों को करारी हार दी और बन्दी बना लिया। तिसपर भी अर्णोराज को उसने फिर से मुक्त कर दिया और चाहड को भी क्षमा करके अपने दरबार में ही एक पद दे दिया। चाहड की चालाकी से मालवापति बल्ललदेव ने भी उसी समय गुजरात पर आक्रमण करने की तैयारी कर दी थी। कुमारपाल का एक विश्वास वीर सेनापति कालभट द्रुतवेग से बल्ललदेव के ऊपर चढ़ दौड़ा और उसका शिरश्छेद करके उसने कुमारपाल की विजय पताका उज्जयिनी के राजमहल पर फहरा दी। जिस समय राजा अर्णोराज के विरुद्ध सेना लेकर जा रहा था तो आबू के निकट पहुंचने पर उसीके एक सामन्त, चन्द्रावती के महामंडलेश्वर विक्रमसिंह ने उसकी हत्या करने का षड्यन्त्र रचा। कुमारपाल सावधान था और इस बार से भी बाल बाल बच गया। विक्रमसिंह की जागीर जप्त कर ली गयी और वह उसके भतीजे यशोधवल को दे दी गयी। मालवा और मारवाड़ दोनों को सिद्धराज ही विजय कर चुका था, किन्तु कुमारपाल के राज्य होनेपर उन दोनों ने ही गुजरात की पताका को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न किया, किन्तु अपनी राजनीतिक विचक्षणता एवं अतुल पराक्रम से कुमारपाल ने उन दोनों को ही फिर से भली प्रकार पराभूत किया। उसने पंजाब पर भी आक्रमण किया और चित्तौड़ विजय किया। जिस साजन कुम्भकार ने एक बार काँटों के ढेर में छिपाकर उसकी सिद्धराज के सैनिकों से रक्षा की थी उसे इस चित्तौड़ प्रदेश के सातसौ ग्रामों की वार्षिक आमदनी का पट्टा लिख दिया। इन सब बातों का उल्लेख सन् ११५० के चित्तौड़ के शिलालेख में मिलता है। एक बार

फिर वह सपादलक्ष की ओर झुका और चाहड के सेनापतित्व में ही अर्णोराज पर आक्रमण करके उसे बुरी तरह हराया तथा विपुल धनराशि—सातकरोड़ स्वर्ण मुद्राएँ और सातसौ अश्व प्राप्त किये।

गुजरात की दक्षिणी सीमापर कोङ्कण-राज्य था जिसकी राजधानी ठाणापत्तन में शिलाहारवंशी राजा मल्लिकार्जुन, जिसका कि विरुद्ध 'राजपितामह' था, राज्य करता था। कोकेण के दक्षिण में गोपालपट्टन (गोआ) में कर्णाटक के कदम्बवंशियों का राज्य था। सिद्धराज की माता मयणल्ला देवी इसी राजवंश की कन्या थी अतः गुजरात और कदंबों को इस गाढ़ मैत्री के कारण बीच में धँसे हुए शिलाहार भी सोलङ्कियों के मित्र बने रहे। किन्तु कुमारपाल के राज्य होते ही और मालवा एवं मारवाड़ को उसके विरुद्ध उठते देख मल्लिकार्जुन ने भी गुजरात पर आक्रमण करने की तैयारी की। यह घटना लगभग सन् ११५६ ई० की है। कुमारपाल की अधिक भाग सेना मारवाड़, मालवा के युद्धों में फँसी थी, फिर भी उसने मन्त्रीराज उदयन के पुत्र दण्डनायक आँम्रडभट्ट को एक सेना लेकर कोंकण चक्रवर्ती का दर्प चूर्ण करने के लिए तुरत रवाना किया। जिस समय यह सेना नदी पार कर रही थी तो मल्लिकार्जुन ने उस पर अचानक आक्रमण करके उसे तितर बितर कर दिया। किन्तु कुमारपाल इस असफलता से निराश नहीं हुआ और उसने तुरन्त नवीन तैयारी के साथ आँबड को फिर से भेजा। इस बार वीर आँबड ने शिलाहार नरेश को बुरी तरह हराया और उसका सिर काटकर अपने राजा के पास अन्हिलवाड़े भेज दिया। कोंकण गुर्जर साम्राज्य में मिला लिया गया। कुमारपाल की राज्यसत्ता दक्षिण में भी दूर तक फैल गई और सह्याद्रि के सुदूर शिखर तक गुजरात को ताम्रचूड विजय ध्वजा फहराने लगा। आँम्रडभट्ट को इस सेवा के उपलक्ष में राजा ने निहत शिलाहार नरेश का विशद 'राजपितामह' प्रदान किया। विन्ध्यअटवी को पददलित करनेवाले, गजयूथों को शिक्षित करके अन्हिलवाड़े की हस्तिशालाओं को अजेय बना देनेवाले तथा धनुर्विद्या प्रवीण दण्डनायक लहर भी जैन ही थे।

वस्तुतः कुमारपाल मिथ्या महत्त्वाकांक्षी नहीं था। फिर भी वह एक प्रतापी एवं पराक्रमी नरेश था, विविध राज्योचित गुणों का उसके व्यक्तित्व में भली प्रकार समावेश था। उसकी सहज सफलता का एक यह भी प्रधान कारण है कि राज्यारूढ़ होते ही उसने जिन मन्त्रियों, सेनापतियों और राज्य कर्मचारियों को नियुक्त किया था वे सभी अत्यन्त सुयोग्य, विश्वासी एवं प्रभुभक्त सिद्ध हुए। अतः सिंहासन पर बैठने के छः सात वर्ष के भीतर ही वह समस्त आन्तरिक द्रोह, विरोध एवं षड्यन्त्रों

का दमन करने में सफल हुआ, तथा आगामी छः सात वर्षों में ही उसने अपनी उपरोक्त चमत्कारी दिग्विजय भी सम्पन्न कर ली। अवशेष लगभग १५ वर्ष उसे देश की समृद्धि बढ़ाने, शासन व्यवस्था को सुचारुरूप देने, ज्ञान और कला को प्रोत्साहन देने, धर्मसाधन करने तथा ऐसे ही अन्य शान्तिपूर्ण कार्यों के सम्पादन के लिये मिल गये।

अपने प्रारंभिक जीवन में प्रत्युत सिंहासन पर बैठने के भी कुछ समय बाद तक कुमारपाल अपने पूर्वजों की नाईं धर्म से शैव था। वह पशुबलि में भी विश्वास करता था और मद्यमांसादि का भी सेवन करता था। रक्तपात करने एवं विनाशकारी युद्धों के छेड़ने में भी उसे कोई हिचक न होती थी। किन्तु आचार्य हेमचन्द्र सूरि के संसर्ग में आने के उपरान्त धीरे धीरे उसमें सद्धर्म की भावना जागृत होने लगी। उनके उपदेशों के प्रभाव से वह शनैः शनैः जैनधर्म का परमभक्त हो गया। सन् ११५६ में उसने प्रकट रूप से जैनधर्म अंगीकार कर लिया। इस धर्म परिवर्तन के कारण उसका जीवन ही बदल गया। उसने श्रावक के बारह व्रत धारण किये, मद्यमांसादि सेवन का सर्वथा त्याग कर दिया, राज्य विस्तार के लिए युद्ध करने छोड़ दिये, अपने निर्बल पड़ोसी राज्यों के अधिकारों का भी आदर किया, मृत्यु दण्ड बन्द कर दिया, जीव हिंसा की बन्दी के लिए राज्य भर में अमारि घोषणा करवादी, देवी देवताओं के उपलक्ष से होने वाली पशुबलि का भी निषेध कर दिया, मदिरादिक मादक द्रव्यों की बिक्री बन्द करवादी और द्यूत क्रीड़ा के विरुद्ध कानून पास किये। उसने निस्सन्तान विधवाओं को पीछे छोड़ जाने वाले मृत व्यक्तियों की सम्पत्ति को राज्य द्वारा जप्त किये जाने की प्राचीन प्रथा का अन्त कर दिया, भले ही इससे राज्यकोष को एक करोड़ रुपये वार्षिक से अधिक धन की हानि हुई। उसकी आकांक्षा संघपति बनने की थी, अतः गुरु हेमचन्द्र के उपदेश से उसने अपने समस्त परिवार, मन्त्रियों, व्यापारियों, मुनियों एवं आर्यिकाओं आदि से युक्त विशाल चतुर्विध संघ सहित शत्रुञ्जय, गिरनार तथा काठियावाड़ के अन्य तीर्थस्थलों की भक्ति पूर्वक यात्रा एवं वन्दना की।

कुमारपाल निर्माता भी अद्भुत था। परम्परानुसार प्रायः सर्व अज्ञात मूल जिन मन्दिरों एवं अन्य धर्मायतनों के निर्माण का श्रेय मौर्य सम्राट् सम्प्रति के पश्चात् उसीको दिया जाता है। कहा जाता है कि उसने १४४० नवीन जिनालय निर्माण कराये और १६०० प्राचीन मंदिरों का जीर्णोद्धार कराया, राजधानी में उसने अपने पिता की स्मृति में भ० नेमिनाथ का त्रिभुवन विहार नामक मनोरम जिनालय बनवाया। एक बार अपने प्रवासकाल में वह तीन दिन का भूखा था, करम्भा नामक

एक दीन स्त्री ने उसपर तरस खाकर उसे अपने घर भोजन कराया था, अतः राजा होने पर उस देवी के प्रति कृतज्ञता प्रकाशनार्थ उसने उसके नाम पर करम्भा विहार नामक मंदिर बनवा दिया। खम्भात के उस मन्दिर का, जिसमें हेमचन्द्रसूरि की दीक्षा हुई थी, जीर्णोद्धार कराकर उसमें बहुमूल्य रत्नमयी प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित कराईं। हेमचन्द्र द्वारा समर्थित गौड़ बृहस्पति के प्रस्ताव पर सोमनाथ के जीर्ण-शीर्ण मन्दिर का भी पुनरुद्धार किया। मारवाड़स्थ जालोर के दो मन्दिर भी उसी के बनवाये हुए कहे जाते हैं। गिरनारपर्वत पर उसने सीढ़ियां बनवाईं। उसने अन्हिलपुर में पार्श्वनाथ के लिए कुमार विहार बनवाया तो शिव के लिए उसी के पड़ौस में कुमार पालेश्वर का भी निर्माण कराया। ऐसी उत्कट धार्मिक सहिष्णुता के विरले ही उदाहरण मिलेंगे।

जब सिंहासन पर बैठा तो कुमारपाल नितान्त निरक्षर था किन्तु मन्त्री कपर्दिन के आग्रह से उसने पढ़ना लिखना प्रारम्भ किया और एक वर्ष में ही तीन काव्यों को व्याख्यासहित पढ़ डाला। उसे विद्वानों की संगति तथा उनके वाद-विवादों में अत्यधिक आनन्द आता था। कवि पंडित और चारण सभी उसके दरबार की शोभा बढ़ाते थे और सम्मान तथा आश्रय प्राप्त करते थे। श्रीपाल उसकी सभा का राजकवि था और सोलक संगीताचार्य। अन्य अनेक जैन-अजैन विद्वान् उसकी राजधानी को शोभित करते थे, और इसी कारण कुमारपाल के गुजरात को विवेक बृहस्पति का विरुद्ध प्राप्त हुआ। इस राजा ने २१ शास्त्र भंडार स्थापित किये और प्राचीन ग्रंथों एवं लेखों की प्रतिलिपि कराने के लिये एक विशाल कार्यालय खोला।

कुमारपाल आदर्श एक पत्नीव्रत का पालक था, अपनी एकमात्र महिषी भोपला देवी से वह अत्यन्त प्रेम करता था। उसकी मृत्यु के उपरान्त भी शायद उसने दूसरा विवाह नहीं किया। आचार्य हेमचन्द्र का यह प्रिय शिष्य एक आदर्श जैन नरेश था। भारत के अन्य महान् नरेशों चन्द्रगुप्त, मौर्य, अशोक, सम्प्रति, खारवेल, विक्रम, हर्ष, अमोघवर्ष, अकबर आदि की भाँति यह प्रतापी जैन सम्राट् एक सच्चे साधु की उदारता और त्याग के साथ साथ एक निपुण राजनीतिज्ञ की बुद्धिमत्ता से युक्त, रण कुशल शूरवीर और सहृदय एवं प्रजा वत्सल था। उसका व्यक्तिगत जीवन भी बहुत शुद्ध, सरल एवं धार्मिक था। वह उदार चेता सर्वधर्मसमभावी, दूरदर्शी, निष्पक्ष न्यायप्रिय, कर्त्तव्य परायण, गुण ग्राहक, परिश्रमशील, मितव्ययी एवं सरल प्रकृति का व्यक्ति था। उसकी दिनचर्या एक आदर्श धार्मिक नरेश की दिनचर्या है। धर्म की प्रभावना तथा अन्य अनेक लोकोपयोगी एवं लोक रंजन के कार्यों से वह सर्व

प्रिय होगया था। अपने उपरोक्त गुणों के कारण सम्राट् कुमारपाल को 'परम आर्हत' राजर्षि, जीवदाता, दीनोद्धारक, शरणागत वज्रपञ्जर, विचार चतुर्मुख, परनारी सहोदर इत्यादि अनेक समुपयुक्त उपाधियों एवं विरुद प्राप्त हुए थे। गुर्जरेश्वरों के राज-पुरोहित नागर श्रेष्ठ महाकवि सोमेश्वर के शब्दों में (कीर्त्तिकौमुदी काव्य) इस चौलुक्य चक्रवर्ती जैन सम्राट् कुमारपाल ने 'अपने बाणों से समरांगण में अनेक राजाओं को ही नहीं जीता था वरन् अपने लोकप्रिय गुणों से अपने पूर्वजों को भी जीत लिया था।"

कुमारपाल के कोई पुत्र नहीं था, केवल एक कन्या थी जिसका पुत्र प्रतापमल्ल था। राजा का एक भतीजा अजयपाल गद्दी का दावेदार था, किन्तु सिद्धराज की ही भाँति कुमारपाल भी अपने दौहित्र को ही उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। उसे वह अजयपाल की अपेक्षा श्रेष्ठ भी समझता था। हेमचन्द्र तथा उसका दल भी प्रतापमल्ल का ही समर्थक था। उत्तराधिकार के प्रश्न की यह समस्या चल ही रही थी कि हेमचन्द्र अकस्मात् रोग ग्रस्त हो गये और सन् ११७२ में उनकी मृत्यु हो गई। राजा अपने प्रिय गुरुदेव का वियोग सहन न कर सका और छः महीने बीतते-बीतते उसकी भी सन् ११७३ मृत्यु हो गई।

एक मत के अनुसार, हेमचन्द्र की मृत्यु के ३२ दिन बाद ही स्वयं अजयपाल ने विष देकर कुमारपाल को मार डाला था। हेमचन्द्र का ही एक शिष्य, बालचन्द्र अजयपाल का पक्षपाती था और उसने रामचन्द्र आदि के विरोध एवं गुप्त अभिप्राय की सूचना अजयपाल को दे दी थी। उस काल के श्वेताम्बर यति राजनीति में तो प्रायः प्रकट भाग लेते ही थे, उनमें से कुछ एक ऐसे भी थे जो गुप्तकालीन बौद्ध साधुओं की भाँति कूटनीति से भी काम लेते थे, दलबन्दियों में पड़ते थे और राज्य के आन्तरिक षड्यन्त्रों में भी पूरा योग देते थे।

कुमारपाल के मरते ही अजयपाल ने सिंहासन हथिया लिया और अपने आपको सम्राट् घोषित कर दिया। उसने प्रतापमल्ल के सहायकों और समर्थकों से बुरी तरह बदला लिया और मृत सम्राट् के साथियों पर अमानुषिक अत्याचार किये। उसके द्वारा निर्मित देवालयों तक को नष्ट कर दिया। मन्त्री कपर्दि को गिरफतार करके बन्दीगृह में डाल दिया। हेमचन्द्र के पट्टधर कवि रामचन्द्र को गरम तवे पर बैठा कर मार डाला महादण्डनायक आंबडभट्ट से मृत्यु या आधीनता दोनों में से किसी एक को पसन्द करने के लिये कहा गया, परन्तु उस वीर केसरी ने गरज कर उत्तर दिया कि "इस जन्म में तो अर्हंत भगवान ही मेरे देव हैं, हेमचन्द्र ही मेरे गुरु और कुमार पाल ही मेरे स्वामी

हैं, अन्य कोई नहीं हो सकता।" इस पर राजा ने सेना सहित उसके घर पर आक्रमण किया और वह शूर वीरता पूर्वक लड़ता हुआ वीर गति को प्राप्त हुआ। अजयपाल एक निकम्मा और अत्याचारी शासक था, किसी धर्म तथा व्यक्ति का आदर करना वह नहीं जानता था। प्रजा में कोई भी व्यक्ति उससे सन्तुष्ट नहीं था। उसके जैन मन्त्री यशःपाल जो 'मोहराज पराजय' नामक नाटक का रचयिता भी था, तथा आभड़ आदि बड़े बड़े राज्य मान्य जैन सेठ भी उसकी मति फेरने में असमर्थ रहे। अतः तीन वर्ष बीतते-बीतते एक द्वारपाल द्वारा पेट में छुरा भोंक दिये जाने से सन् ११७७ ई० में दुष्ट अजयपाल की तत्क्षण मृत्यु हो गई।

उसका मित्र गुरुद्रोही एवं गुरुभाई का हत्यारा यति बालचन्द्र भी सुखी न रह सका "यह अपने ही गोत्र की हत्या कराने वाला है", ऐसा कहकर ब्राह्मणों ने बालचन्द्र को अजयपाल के मन से भी उतार दिया। इससे लज्जित होकर वह मालवे की ओर चला गया और वहीं उसकी मृत्यु हुई।

अजयपाल के पश्चात् भीम द्वितीय गद्दी पर बैठा। यह इस समय बालक ही था। उसका सज्जन नामक एक जैन सेनानायक था जो नियम से प्रातः सायं सामायिक करता था। युद्ध भूमि में भी हाथी के ऊपर बैठे बैठे ही अपने समय पर वह एकाग्र चित्त से दो घड़ी अपने इस आध्यात्मिक कृत्य का सम्पादन कर लेता और फिर शत्रु संहार की रणभेरी फूंककर अपने क्षात्रधर्म का पालन करता। उसीके सेनापतित्व में आबू की तलहटी में शहाबुद्दीन गोरी जैसे प्रचंड विजेता को भी पराजित होना पड़ा था। मुसलमान इतिहासकार भी इसे स्वीकार करते हैं।

भीम द्वि० के पश्चात् मूलराज द्वि० और त्रिभुवनपाल क्रमशः इस वंश के राजा हुए। किन्तु कुमारपाल के बाद सोलङ्की साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया था, यह ह्रास काल था और इस अवनति का प्रधान उत्तरदायित्व इन दुर्बल नरेशों पर ही है। फिर भी इस ह्रास काल में भी गुजरात के गौरव एवं प्रतिष्ठा की भरसक सुरक्षा जैन वीरों ने की। इन जैन वीरों में वस्तुपाल, तेजपाल बन्धु युगल सर्वाधिक स्मरणीय हैं। ये दोनों भाई आदर्श जैन थे। मन्त्रीश्वर वस्तुपाल ने गुजरात के स्वराज्य को नष्ट होने से बचाने के लिये अपने जीवन में त्रेसठ बार युद्ध भूमि में गुर्जर सैन्य का सञ्चालन किया था। इस प्रचंड वीर में स्वाभिमान भी इतना उग्र था कि सामान्य जैन साधु के अपमान का दण्ड देने के लिये उसने स्वयं गुर्जरेश्वर के मातुल का हाथ कटवा डाला था। वह निर्माता भी अद्भुत था। आबू का विश्वविद्यालय जैन कलाधाम-भ० नेमिनाथ का मन्दिर उसने सन् १२३२ ई० में करोड़ों रुपये के

व्यय से बनवाया, सेरिसा में पार्श्वनाथ का भव्य मन्दिर निर्माण कराया, तथा अन्य अनेक स्थानों में नवीन जिनालय बनवाये और पुरानों का जीर्णोद्धार कराया। जैन धर्मायतनों के अतिरिक्त उसने सोमेश्वर, भृगुक्षेत्र, शुक्लतीर्थ, वैद्यनाथ, द्वारिका, काशी, प्रयाग, गोदावरी आदि अनेक हिन्दू तीर्थस्थानों की पूजा अर्चा के निमित्त लाखों का दान दिया, शैव एवं वैष्णव मन्दिर बनवाये, सैकड़ों ब्रह्मशाला एवं ब्रह्मपुरियों का निर्माण किया। अनगिनत कुंए खुदवाये, वाटिकाएँ लगवाईं, सरोवर बनवाये, विद्यापीठ स्थापित किये, अरक्षित स्थानों में दुर्गों का निर्माण किया, सैकड़ों शिवालयों का पुनरुद्धार किया, वेदपाठी ब्राह्मणों को वर्षासन दिये, यहाँ तक कि मुसलमानों के लिये भी मस्जिदें बनवा दीं और संगमर्मर का एक कलापूर्ण सुन्दर तोरण बनवाकर मक्का शरीफ भिजवाया। ऐसा असाधारण सर्वधर्म समदर्शी एवं महादानी महामात्य तथा वीर सेनानायक जैनधर्म ने ही गुजरात को भेंट किया।

सोलङ्कीवंश का अन्तिम राजा त्रिभुवनपाल धोलका के सामन्त वीसलदेव द्वारा सन् १२४३ ई० में निष्कासित कर दिया गया और सोलङ्कियों के स्थान में बघेले अब गुजरात के स्वामी हुए। वीसलदेव बघेले के समय में भी मन्त्रीश्वर वस्तुपाल अपने पद पर प्रतिष्ठित रहे। सन् १२९८ तक इस प्रान्त पर बघेलों का ही राज्य रहा। वीसलदेव के समय सन् १२५७ में गुजरात में भीषण दुष्काल पड़ा उस समय जगडूशाह नामक जैनधनिक ने अन्न एवं धन से दुष्कालपीड़ितों को जीवन दान दिया था।

अन्त में, अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति उलुगखाँ एवं नसरतखाँ ने गुजरात पर भीषण आक्रमण किया और कर्ण बघेले को पराजित करके उसकी स्त्री कमला देवी और पुत्री देवल देवी को पकड़ कर दिल्ली पहुंचा दिया। शनैः शनैः गुजरात पर मुसलमानों का राज्य स्थापित हो गया। किन्तु अलाउद्दीन के इन प्रलयंकारी आक्रमणों के समय में गुजरात की आक्रान्त जनता की अद्भुत सेवा पाटण के जैनबन्धुयुगल शाह समरा और सालिग ने की थी। उन्होंने अपनी असाधारण राजकीय पहुँच के कारण सैकड़ों जैन एवं हिन्दू मन्दिरों को मुसलमानों द्वारा विध्वंस होने से बचा लिया, नष्ट-भ्रष्ट हुए देवालयों का पुनरुद्धार किया व कराया। हजारों लोगों को मुसलमानों के कैदखानों से मुक्ति दिलाई, जनता को सर्व प्रकार आश्वासन एवं सहायता प्रदान की।

वस्तुतः, चावड़े गये, सोलङ्की गये, बघेले गये और मुसलमान आये, परन्तु गुजरात की जैन वणिक् शक्ति प्रायः पूर्ववत् बनी रही। स्वदेशी स्वधर्मी राजाओं के समय जो राजकार्य, सेना आदि में उनकी प्रधानता थी वह तो नहीं रही, जैन युद्ध वीरों

एवं मन्त्रियों का तो प्रायः अभाव हो गया किन्तु व्यापार और नागरिक जीवन में उनका प्राधान्य पूर्ववत् बना रहा। जैन साधुओं और विद्वानों को भी कोई बाधा नहीं हुई अतः धार्मिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक प्रगति में विशेष रुकावट नहीं आई। गुजरात के इस उत्कर्ष का लोभ इतिहास की स्मृति का संरक्षण भी सबसे अधिक जैनों ने ही किया है। तत्कालीन इतिहास के सर्वाधिक महत्त्व पूर्ण साधन जैन रचनाएँ ही हैं।

अस्तु इसमें सन्देह नहीं कि यदि मध्यकाल के उस पूर्व मुस्लिम राजपूत युग में गुजरात प्रान्त में जैनधर्म का अभूतपूर्व प्रचार एवं उन्नति हुई तो फलस्वरूप उक्त प्रदेश का राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक भी चरमोत्कर्ष हुआ और उस उत्कर्ष के साधन में जैन जनों का ही सबसे अधिक एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान रहा था।

शासनदेवी अम्बिका और उनकी मान्यता का रहस्य ।

[श्रीयुत कामता प्रसाद जैन, D L., M. R. A. S.]

भारतवर्ष में देवी देवताओं की मान्यता प्राचीन काल से चली आ रही है। मोहनजोदड़ो के पुरातत्त्व से भी देवी-देवताओं की मान्यता सिद्ध होती है। ब्राह्मणों के वैदिक साहित्य में भी उनका अभाव नहीं है। जैनों के यहाँ भी तीर्थङ्करों की शासन देवियां और देवता प्रसिद्ध हैं। मथुरा कंकालीटीला से एक कुशान कालीन मूर्ति मिली है, जिसे तीर्थङ्कर की माता बताया जाता है। (चित्र नं० १) जिन माता की पूजा का विधान शास्त्रों में मिलता है[1]। इससे स्पष्ट है कि जैनों में ईस्वी पूर्व की शताब्दियों से किंवा पहले से किसी रूप में देवी-देवताओं की मान्यता प्रचलित थी! प्रस्तुत लेख में हमें शासनदेवी अम्बिका के विषय में विचार करना अभीष्ट है।

अम्बिका देवी की मान्यता जैनों और ब्राह्मणों में समान रूप से मिलती है। हम दोनों ही मान्यताओं पर क्रमशः विचार करेंगे।

जैन मान्यता—

पहले ही जैन मान्यता को लीजिये। जैन मान्यता में शासन देवताओं की स्थिति नितान्त अर्वाचीन तो नहीं भासती; क्योंकि उनकी मूर्तियां ईस्वी की प्रारंभिक शताब्दियों की मिली हैं। यों तो चौबीस तीर्थङ्करों के शासन देवता अलग-अलग हैं, परन्तु उनमें अम्बिका देवी की मान्यता प्रमुख और प्राचीन है। उनका सम्बन्ध प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव के साथ भी जोड़ा जाता है[2]। यद्यपि अम्बिका वास्तव में २२ वें तीर्थङ्कर नेमिनाथ की शासनदेवी मानी गई हैं। अम्बिका देवी की उत्पत्ति के विषय में जैनों के दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में एक कथा प्रचलित है, जिसे यहाँ संक्षेप में उपस्थित किया जाता है।

दिगम्बर कथा—

दिगम्बर जैनों में यद्यपि अम्बिका का उल्लेख प्रतिष्ठा ग्रन्थों में हुआ है, परन्तु उनकी उत्पत्ति विषयक कथा 'पुण्याश्रव कथाकोष' की एक प्राचीन प्रति में 'यक्षीकथा' के शीर्षक से मिलती है। यह प्रति जिनकांची के भट्टारक जी के भंडार में है। प्रो० टी० एन० रामचन्द्रन्[3] ने इसके आधार

१—संभवतः चक्रेश्वरी को ही अम्बा कहा गया होगा।

२—अंबा: सर्वाः सविभ्य स्त्रिजगदधिपते प्रासपूजाधिकारा अत्रागत्याध्वरोर्व्या व्यजनकृतमिह स्वादरेण वृणांतु। अध्वर्यु पत्निका ना प्रनतनुकृतयोर्दोषहीनां प्रकल्प्य यादिश्रोवोषपूर्वं विहितयमवमां भूषयेत्पुण्यमूर्तिम् ॥७१८॥

—श्री जयसेन प्रतिष्ठा पाठ

3—Tiru paruthi Kuḍḍam and its Temples, pp. 157-160.

से अम्बिका की कथा का सार लिखा था, जिससे प्रगट है कि गिरिनगर में सोमशर्मन् नाम का ब्राह्मण रहता था। अग्निला उसकी पत्नी थी। शुभंकर और प्रभंकर उसके दो पुत्र थे। सोमशर्मा ने पिता का श्राद्ध किया। ब्राह्मणों को न्योता। किन्तु उनके पहले ही वरदत्त मुनि उधर आ निकले। अग्निला ने उनको पड़गाह कर विधिवत् आहार दिया। उसके पति को यह असह्य हुआ। उसने उसे घर से निकाल दिया। वह अपने दोनों पुत्रों और एक दासी को साथ लेकर ऊर्जयन्त पर्वत पर वरदत्त मुनि के पास गई और वहीं आम्रवन में रहने लगी। इसके आगे की कथा वैसी ही है जैसी एक दिगम्बर कथा में मिलती है जो वादीचन्द्रजी की रची हुई है।

श्री वादीचन्द्रजी कृत अम्बिका कथा का सार श्री अगरचंदजी नाहटा ने 'अनेकान्त' (वर्ष १३ किरण ४-५ पृ० १०७-१०८) में इस प्रकार दिया है:—

भारत के सौराष्ट्र प्रान्त के जूनागढ़ के राजा भूपाल थे। उनकी रानी का नाम कनकावती था। इस नगरी में राजपुरोहित सोमशर्मा रहता था। जो कुलीन होने पर भी मिथ्यादृष्टि था। इसकी अग्निला नाम की बुद्धिमती पत्नी थी। वह जैनधर्मानुयायी थी। पति शैव और स्त्री जैन थी। इस धार्मिक भेद के कारण कुछ वैमनस्य रहना स्वाभाविक था। एक बार पितृश्राध्य के दिन सोमने ब्राह्मणों को निमंत्रित किया। संयोगवश ब्राह्मणों के आने से पूर्व ही जैन मुनि ज्ञानसागर जी उसके घर भिक्षार्थ पधारे, अग्निला ने हर्षपूर्वक उन्हें प्रासुक आहार दिया। मुनि आहार कर रैवताचल की गुफा में धर्मसाधन करने लगे। उधर किसी ईर्षालु ब्राह्मण ने अग्निला को मुनि को आहार देते देखा था। उसने निमंत्रित ब्राह्मणों के समक्ष द्वेष बुद्धि से उसे अनौचित्यपूर्ण बतलाया। ब्राह्मणों के भोजन से पूर्व मुनि को आहार दिया गया। इसलिए ब्राह्मण बिना भोजन किए ही गाली देते हुए चले गए, सोमशर्मा निमन्त्रित ब्राह्मणों को इस तरह भूखे जाते देख अग्निला पर कुपित हुआ। वह उसे मारने को दौड़ा— इससे भयभीत होकर अग्निला अपने शुभंकर और प्रभंकर दोनों पुत्रों को एक कमर में और एक को हृदय में लेकर रैवताचल को चली। वहां ज्ञानसागर मुनि विराज रहे थे। उन्हें नमस्कार कर बैठ गई। मुनि ने उससे भयभीत होने का कारण पूछा, पर बतलाने पर कुल व पति की निन्दा होगी जानकर कुछ भी न कहा।

"इधर उसके पुत्र क्षुधावश रोने लगे। वहाँ वह उन्हें क्या दे? बड़ी चिन्ता हुई। पर इसी समय मुनिदान के पुण्य-प्रभाव से निकटवर्ती आम्र-वृक्ष अकाल में ही फलों से परिपूर्ण हो गया! उसकी लुम्बिकायें नीचे लटकने लगीं। जिनमें पके हुए फल थे। अग्निला ने उन आम्रों से पुत्रों की भूख शान्त की। (श्लोक ३२) इधर कुपित भूखे ब्राह्मणों ने अपने घर जाकर पत्नियों से जाकर भोजन मांगा। पर उन्होंने निमंत्रण के कारण भोजन नहीं बनाया था, अतः कहा ठहरिये—

भोजन अभी बना देती हैं। संयोगवश इसी समय आग लगी और क्षण भर में अग्निला के घर को छोड़ नगर के सब घर जल गये। तब वे ब्राह्मण धनधान्य घर से हीन होकर भूखे और थके हुए सोम के घर वापिस पहुँचे, उन्होंने सोम से कहा कि तुम्हारी भार्या धन्य है; और उसकी प्राप्ति से तुम भी धन्य हो। मुनि-दान के प्रभाव से तुम्हारा घर बच गया। यदि भोजन तैयार हो तो हमें दो। सोम ने आगत सब ब्राह्मणों को भर पेट भोजन कराया, फिर भी वह अक्षय भंडार हो गया (श्लोक ४३) सोम शर्मा अपनी गुणवती पत्नी के सत्कार्य को याद कर उसे मनाने को रैवताचल की ओर चला, अग्निला ने उसे रैवताचल की ओर आते देख, कि वह मारने को आ रहा है—अब क्या करूँ? उसके हाथ से मारे जाने की अपेक्षा स्वयं मर जाना अच्छा है। वह झट से ऊँचे शिखर पर चढ़कर नेमिनाथ का ध्यान करते हुए कूद पड़ी। जिनेश्वर के शुभ ध्यान से मर कर, वह अम्बिका नामक नेमिनाथ की यक्षिणी हुई। जिसके स्मरण से आज भी विघ्न दूर होते हैं। (श्लोक ४८)

उसका पति ढूंढता हुआ वहां पहुँचा; और उसे मरा हुआ देख विषाद करने लगा। इतने में अग्निला देवी के रूप में पुत्रों को लिए हुए दिखाई दी। सोम ने कहा—घर चलो। अग्निला ने कहा—कि मैं तुम्हारी पत्नी नहीं, देवी हूँ। सोम पत्नी के विरह से दुःखी होकर झम्पापात करके मर गया और मर कर सिंहरूप देवी का वाहन हो गया। अम्बिका उस पर बैठ कर घूमती है।

सोमशर्मा का भाई शिवशर्मा वहाँ आया तो देवी ने अपने दोनों पुत्रों को धन के साथ सौंप दिया, पर पुत्र मन्दबुद्धि वाले थे; इसलिये पढ़ने का प्रयत्न करने पर विद्वान् नहीं बन सके। वे दुखित होकर पहाड़ पर पहुँचे और अम्बिका को याद किया तो अम्बिका ने उन्हें शारदा मंत्र दिया और भादो सुदी १ से ११ तक उपवास सहित जाप करने से बुद्धिमान बनोगे—कह उन्होंने वैसा ही किया और विद्वान् हो गये। शुभंकर ने द्वारिका में बौद्ध पण्डित को जीता, ज्ञान प्रभाव देख कामदेव (प्रद्युम्न) ने कन्याओं द्वारा उनकी पूजा की।

कुछ काल बाद नेमिनाथ वहाँ पधारे, उनसे यह जानकर कि द्वारिका का विनाश होने वाला है, प्रद्युम्न आदि ने दीक्षा ली। शुभंकर और विभंकर ने भी दीक्षा लेकर परम पद प्राप्त किया।

इस प्रकार अम्बिका देवी की उत्पत्ति की यह कथा है। चूंकि भ० नेमि के समय में यह घटना घटी और उनके तीर्थ के लोगों को अम्बिका देवी ने उपकृत किया, इसलिये वह शासन देवी मानी गई। उनकी मूर्तियां भी बनने लगीं। पंडित प्रवर आशाधर जी (१३ वीं शताब्दि) ने अपने 'प्रतिष्ठासार' नामक ग्रन्थ में अम्बिका देवी की आराधना का विधान इस अपेक्षा से ही किया है; यथाः—

'सव्येकद्युपगप्रियंकरसुतुकप्रीत्यै करे बिभ्रतीं
दिव्याम्रस्तवकं शुभङ्कर करश्लिष्टान्यहस्ताङ्गुलिम्।
सिंहे भर्तृचरे स्थितां हरितभामाम्रद्रुमच्छायगां
वदारूं दशकार्मुकोच्छ्रयजिनं देवीमिहाम्नां यजे ॥१७६॥

भावार्थः-देवी आम्रा (= अम्बिका) का यजन करते हैं क्योंकि वह उन जिनेन्द्रकी भक्त है जिनका शरीर दस धनुष प्रमाण ऊँचा है—वह देवी गहरे हरित आभावाली है; वह आम्रवृक्ष की छाया में रहती है; वह सिंह पर सवारी करती है, जिसका जीव पूर्वभव में उनका पति था; वह अपने बायें हाथ में दैवी आम्रफलों का गुच्छा अपने प्रियंकर पुत्र के संतोष के लिए लिये हुए है, जो उनके वामभाग की गोद में बैठा हुआ है; और उनके सीधे हाथ की अङ्गुलियों को शुभङ्कर पकड़े हुए है।

पं० आशाधर के पश्चात् रचे हुए प्रतिष्ठा पाठों में भी शासन देवियों का उल्लेख है;[१] परंतु आचार्य जयसेन कृत सर्व प्राचीन प्रतिष्ठा पाठ में उनका उल्लेख नहीं है। श्री जयसेन जी ने मंडपविधान में चारोंनिकाय के देवों का आह्वान अवश्य किया है, जिन में भवनवासी देव भी हैं। इसमें यक्ष आह्वान के साथ यक्षी के लिए कोई पृथक उल्लेख नहीं है; परंतु यक्षों में ही उनका आह्वान गर्भित माना जाता हो तो आश्चर्य नहीं। देवियों में जिनमाता का 'अम्बा' रूप में और इन्द्राणी एवं दिक्कुमारियों का उल्लेख उन्होंने किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि समयानुसार उक्त यक्षादि आह्वान के आधार से ही यक्ष-यक्षीरूप शासन देवता नियत किये गये। यह एक विषय है जो खोज की अपेक्षा रखता है।

जो हो दिगम्बर कथानक से स्पष्ट है कि अम्बिका देवी तीर्थंकर नेमिनाथ की शासन देवी—यक्षी थीं; जो पूर्वभव में उनकी परम भक्त और उपासिका रहीं। देवपर्याय में भी वह जिनेन्द्र भक्ता मिलतीं हैं।

श्वेताम्बर कथा—

श्वेताम्बर जैन साहित्य में अम्बिका का सर्व प्राचीन उल्लेख श्री बप्पभट्टिसूरि (वि० सं० ८०० —८९५) विरचित 'चतुर्विंशतिका' की भ० नेमिनाथ की स्तुति में निम्नलिखित दो श्लोकों में मिलता है:—

१—नेमिचन्द्र जी (१६ वीं शती) ने 'प्रतिष्ठा तिलक' (७/२२) में अम्बिका का उल्लेख किया है: "धत्ते वामकटौ प्रियंकर सुतं वामे करे मञ्जरी, आम्रस्यान्यकरे शुभङ्कर तुजौ हस्तं प्रशस्ते हरौ। आस्ते भर्तृचरे महाम्रविटपिच्छायं श्रिताऽभीवृदा, याऽसौ तां नुतनेमिनाथपदयोर्नम्रामिहाम्रां यजे ॥"

"जिनवचसि कृतार्थो संश्रिता कम्रमाम्रं
समुदितसुमनस्कं दिव्य सौदामनीरुक्।
दिशतु सततमम्बा भूतिपुण्यात्मकं नः
समुदितसुमनस्कं दिव्यसौदामनीरुक्॥८८॥
सिंहेऽसिं हेलयाऽलं जयति खरनखैर्वीतनिष्ठेऽतनिष्ठे
शुक्रे शुक्रेशनाशं दिशति शुभकृतो पण्डितेऽखण्डिते खम्।
याते या तेजसाढ्या तडिदिव जलदे भाति धीराऽतिधीरा
पत्यापत्यापनीयात्सुदित समवराद्वैयाधमं बाधमम्बा॥९६॥

यहां उनके शरीर की आभा दिव्य-सौदामिनी के समान श्वेत लिखी है और उनके नख शत्रु के खड्ग को भङ्ग करने में समर्थ बताये हैं। इसी पुस्तक में (पृ० १४८–१५०) अम्बिका देवी कल्प और उसका गुजराती अनुवाद भी दिया हुआ है। उसकी कथा इस प्रकार है:—

"सौराष्ट्र देश में कोडीनार नगर था। उसमें वेदपाठी ब्राह्मण सोम रहता था। उसकी पत्नी का नाम अम्बिका था, जिससे उसके दो पुत्र सिद्ध और बुद्ध नामके हुए थे। सोम ने पिता का श्राद्ध किया और ब्राह्मणों को न्योता। रसोई तैयार हुई। अम्बिका की सास स्नान करने गई थी। इतने में एक मासोपवासी जैन साधु भिक्षार्थ पहुँचे। अम्बिका ने विधिवत् उनको आहार दिया। सास ने लौटकर रसोई में प्रवेश किया और जाना कि साधु को भिक्षा दी गई तो वह गुस्सा हो बोली कि "अग्रशिखा साधु को क्यों दी? पहले पिण्ड भरना थे।" उसने सोम से भी सर्व वृत्तान्त कहा। वह आग बबूला हो गया–उसने माना कि उसकी पत्नी स्वच्छन्द है इसलिए उसे घर से निकाल दिया। अम्बिका ने दुखी होकर सिद्ध पुत्र की उंगली पकड़ी और बुद्ध को गोदी ले एक ओर को चल दी। मार्ग में पुत्र तृषातुर हुए तो उसके शील प्रभाव से सूखा सरोवर जल से लहलहा उठा। उसने पुत्रों को शीतल जल पिलाया। पश्चात् लड़के क्षुधातुर हुए तो सामने का सूखा आमका पेड़ हरा भरा हो गया। उसके फल पुत्रों को दिए और उसी आम के वृक्ष तले वे आराम करने लगे। उधर अम्बिका के सासरे में एक कौतुक हुआ कि एक स्त्री ने अपने बालकों को भोजन कराकर उच्छिष्ट भोजन बाहर फैंका तो देवों ने शील धर्म का प्रभाव जतलाने के लिए उसको सोने मोती का कर दिया। अग्निशिखा पर्वतों से बात करने लगी–इतनी ऊँची उठ गई। यह सब देखकर सास को प्रतीत हुआ कि यह सब कुछ उसकी सुलक्षणी बहू का पुण्य प्रभाव है और पुत्र से बोली कि बहू को वापस लिवा लाओ। तदनुसार सोम लिवाने चला। अम्बिका ने दूर से आता देखा तो भयातुर हुई। समझी मारने आ रहा है। चारों ओर देखा तो एक कुंआ दिखाई पड़ा। वह उसी में जा गिरी और शुभपरिणाम से मरकर सौधर्मकल्प से चार योजन नीचे स्थित कोहंड विमान में अम्बिका नामकी महर्द्धिका देवी हुई। विमान के नामकी अपेक्षा वह

'कोहराडी' भी कहलाई। सोमने अपनी महासती पत्नी को कुये में गिरा देखा तो वह भी गिरा और मरकर उसी विमान में अभियोगिक देवपर्याय में उत्पन्न हुआ। अपने कर्मानुसार वह देवसिंह का रूप रखकर अम्बिका देवी के वाहन का काम करता था। इन भगवती अम्बिका देवी के चार हाथ हैं। दो हाथों में वह आमों की डाली और पाश ग्रहण करती हैं तथा शेष दो हाथों में अंकुश और पुत्र रखती हैं। उनके शरीर का वर्ण तपाए सोने जैसा है। वह नेमिनाथ भगवान की शासन देवी हैं और गिरिनार की शिखर पर बसती हैं। सम्यग्दृष्टियों के विघ्नों को दूर करतीं हैं।"

इसके अतिरिक्त 'प्रभावक चरित्र' एवं अन्य ग्रंथों में भी यह कथा मिलती है। उसका सार नाहटा जी ने यों लिखा है:—

"कणाद मुनि के स्थापित काशहृद नगर के सर्वदेव ब्राह्मण की देवी सत्य देवी थी। उसकी पुत्री अम्बा कोटिनगर के सोमभट्ट को विवाही गई। विभाकर और शुभंकर दो पुत्र हुए। एक समय नेमिनाथ के शिष्य सुधर्मसूरि के आज्ञावर्ती दो मुनि अम्बिका के घर पधारे, अम्बिका ने उन्हें आहार कराया। इतने में ही सोमभट्ट आ पहुंचा और उसने बिना महादेव के भोग लगाये भोजन का स्पर्श क्यों किया गया कहा और आक्रोशवश उसे मारा। वह दोनों पुत्रों को एक गोद में और एक अंगुली पकड़ कर रैवतागिरि पहुँची। नेमिनाथ को वन्दना कर आम्रवृक्ष के नीचे विश्राम किया। भूखे बच्चों को आम्रफल देकर पुत्रों सहित शिखर पर झम्पापात किया। नेमिनाथ के स्मरण से देवी हुई। इधर विप्र का क्रोध शान्त हुआ। वह भी रैवताचल को आया। और उन्हें मरा देख पश्चाताप करता हुआ स्वयं भी कुण्ड में पड़कर मर गया। व्यंतर होकर देवी का वाहन सिंह बना। अम्बा देवी अब भी गिरि पर नेमिनाथ के भक्तों की सहाय करती हैं।"

श्री हेमचन्द्राचार्य जी ने 'त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र' (९।३८५) में, श्री शोभनमुनि ने 'स्तुतिचतुर्विंशतिका' (८८ व ९६ श्लोक) इत्यादि ग्रन्थों में भी अम्बिका देवी को नेमिनाथ की शासन देवी लिखा है।

कथाओं की समानता-

उक्त सभी कथायें भ० नेमिनाथ के समय में घटित घटना को चित्रित करती हैं। सभी से प्रगट है कि उस समय वैदिक मत का प्राबल्य था—स्त्री के व्यक्तित्व का कुछ मूल्य न था—जैन साधुओं को ब्राह्मण वर्ग सम्माननीय दृष्टि से नहीं देखता था। इनमें जो कुछ अन्तर है वह नगण्य है। श्वेताम्बर और दिगम्बर कथाओं में शरीर के वर्ण और अग्निला के नाम सम्बन्ध में अन्तर है। एक बड़ा अन्तर यह है कि दिगम्बर अम्बिका को यक्षपर्याय का बताते हैं और श्वेताम्बर सौधर्म कल्प की देवी। किन्तु सभी एक स्वर से उन्हें भ० नेमि की शासन देवी स्वीकार करते हैं।

अम्बिका देवी की मूर्तियां-

जब अम्बिकादेवी शासनदेवता मान्य हुई और लोगों को यह विश्वास हुआ कि उनकी आराधना से विघ्न बाधाएँ दूर होती और इच्छित फल की प्राप्ति होती है, तो उन्होंने उनकी मूर्तियां भी बनाई।

अम्बिका देवी की मूर्तियां ईस्वी प्रारंभिक शताब्दियों तक की मिली हैं। उनका सुन्दर विवेचन और संकलन श्री उमाकान्त प्रे० शाह ने अपने एक लेख में किया है, जिससे अम्बिका की मूर्तियों का अच्छा परिचय मिलता है। पहले जो मूर्तियां बनीं वे बिल्कुल मनुष्यनी रूप में दो हाथोंवाली थीं। ऐसी सर्व प्राचीन मूर्तियां मथुरा, नवमुनि गुफा उदयगिरि खंड गिरि (उड़ीसा) और काठियावाड़ में ढंककी गुफाओं से उपलब्ध हुई हैं। ये मूर्तियां ईस्वी द्वितीय से सातवीं शताब्दी के मध्यवर्ती काल की हैं। मथुरा कंकालीटीला की मूर्ति गुप्तकालकी है। इसमें अम्बिका के दो हाथ हैं, जिनसे एक में आम्रलुम्बिका और दूसरे से बालक को लिये है। (चित्र सं० २) ढंक की मूर्ति भी ऐसी ही है। (चि० सं० ३)

दक्षिण भारत में भी अम्बिका देवी की मूर्तियां उपलब्ध हैं। श्री टी० एन० रामचन्द्रनजी ने जिनकांची के दिगम्बर जैन मठ की दीवालों पर अम्बिका की एक विलक्षण मूर्ति चित्रित देखी है। यह चित्राङ्कण 'पुण्याश्रव' की यक्षीकथा के अनुरूप किया गया है। वह पद्मासन में चार हाथों सहित चित्रित है। दो अधिक हाथों में पाश और अंकुश है। शेष दो अभय और वरद मुद्रा में हैं। किन्तु मैसूर स्टेट के अन्तर्गत अङ्गडि नामक स्थान की जैन बस्ती में अम्बिका की एक बड़ी ही सुन्दर कलामय मूर्ति दो हाथों वाली है। वह खड़ी हुई है और उसकी त्रिभंग की कमनीयता दर्शनीय है। उसके एक हाथ में आम्रलुम्बिका और दूसरे में बालक है।

देवगढ़ के दि० जैन मंदिर से प्राप्त अम्बिका की मूर्तियां भी कला के सुन्दर नमूने हैं। उनके मस्तक के ऊपर भ० नेमिनाथ की मूर्ति बनी हुई है।

श्वेताम्बर जैनों ने भी अम्बिका की दो एवं चार हाथोंवाली मूर्तियां बनाई हैं। आबू की विमलवसही में अम्बिका की लीलतासन मुद्रा में दर्शनीय मूर्ति है। बड़ौदा, सेरिसा (कलोल) आदि स्थानों के श्वेताम्बर जैन मंदिरों में भी उनकी मूर्तियां मिलती हैं।

उपलब्ध मूर्तियों से पता चलता है कि पहले-पहले अम्बिका देवी की मूर्तियां दो हाथों वाली बनाई गई और वह उनकी उत्पत्ति विषयक मूल कथानक को देखते हुए ठीक भी थी, परन्तु उनके हाथों की संख्या बढ़ती गई। और अब उनकी मूर्ति दो हाथोंवाली के अतिरिक्त चार, आठ और बीस हाथोंवाली भी मिली है। इस प्रकार की मूर्ति का नमूना आबू की विमलवसही की एक छत में अंकित मिलता है। उनकी मुद्रा भयंकर है और वह हाथों में खंग, शक्ति, गदा,

अंकुश सर्प, फरसा, कमंडलु, कमल आदि लिये हुए हैं [१]।

अलंकृत रूप का रहस्य—

अम्बिका देवी की उत्पत्ति विषयक कथा को देखते हुए उनकी मूर्तिका सुन्दर, सौम्य और स्वाभाविक स्वरूप दो हाथों वाला ही होना चाहिये, क्योंकि मूल रूपमें वह मनुष्य ही थीं। उपरान्त उनके चार, आठ और बीस हाथ बनाये गये, वह रहस्य से खाली नहीं है।

हम जानते हैं कि प्राचीन काल में अलंकृत भाषा का प्रयोग होता था। रहस्यमय रूपकों द्वारा आध्यात्मिक तथ्यों का निरूपण किया जाता था। बैरिस्टर चम्पतराय जी ने 'असहमत-संगम' में बताया है कि वेद, अवस्था, इंजील आदि धर्मग्रन्थ अलंकृत-भाषा में लिखे हुए हैं। मंत्र-तंत्र वाद में भी अलंकृत भाषा का प्रयोग हुआ है। अतः यह प्रतीत होता है कि मध्यकाल में जैनी भी इस अलंकृत भाषा से प्रभावित हुए और उन्होंने वैदिक ब्राह्मणों की देखादेखी अम्बिका देवी की दो से अधिक हाथों वाली मूर्तियां बनाईं। इसका आधार अलंकृत-काव्य-शैली ही प्रतीत होती है।

अम्बिका भ० नेमि की शासन देवी हैं—मनुष्यभव में भी वह उनकी भक्त थीं। भक्त होनेका अर्थ है आराध्यदेव के बताये मार्ग पर चलना उनके प्रशस्त मार्ग को प्रकाशित करना—अम्बिला अथवा अम्बिका ने भ० नेमि के शासन को इस प्रकार से ही प्रभावित किया था। तीर्थङ्कर अज्ञान को मिटाने के लिये अहिंसक और आध्यात्मिक क्रान्ति को जन्म देते हैं जिससे मानव समाज की कायापलट जाती है—वह मानव बनकर आगे आता है। भ० नेमिने भी एक ऐसी ही क्रान्ति को जन्म दिया और उसे सफल बनाया। उनके समय में निम्नलिखित बड़ी बड़ी बुराइयाँ फैली हुई थीं जिनको उन्होंने आमूलचूल मिटाया—

(१) **हिंसामय** युद्धों का ताँता बँधा हुआ था। यादव-जरासंध, यादव-चैत्र आदि युद्धों के पश्चात् कौरव-पाण्डवों का महाभारत हुआ। विचारशील और प्रज्ञावान युवक नेमिने अनुभव किया कि हिंसा का अन्त होना चाहिये। अहिंसा जीवन-नौका की पतवार होना चाहिये।

(२) **माँस-मदिरा** का बहु प्रचलन ही हिंसक वृत्ति को पनपा रहा था—वासना थिरक रही थी। युवक नेमिने इसकी निर्ममता का दृश्य अपने विवाह के समय देखा। उनका मन क्रान्ति की ज्वाला से धधक उठा। उन्होंने विवाह का कंगन तोड़ डाला और मौरमुकट उतार फेंका। वह आध्यात्मिक क्रान्ति लाने के लिये गिरिनार की शिखर पर साधना करने के लिये चले गये और सर्वज्ञ बनकर उन्होंने अज्ञान की धज्जियाँ उड़ा दीं।

१—अम्बिका देवी की मूर्तियों के विषय में विशेष परिचय पाने के लिए डॉ० उमाकान्त पी० शाह का 'Iconography of the Jaina Goddess Ambikā' नामक जर्नल ऑफ दी यूनीवर्सिटी ऑफ बाम्बे, भा० ६ खंड २ में देखिये।

(३) असमता और अज्ञानता समाज में फैल रही थी। स्त्री और शूद्रों का कोई व्यक्तित्व ही न था। द्रौपदी जैसी सती का अपमान खुले दरबार में हो सकता था—क्षीरकदम्ब जैसा प्रखर बुद्धि इसलिये ही ब्राह्मण का शिष्यत्व नहीं पा सकता था कि वह नीचकुल में जन्मा था। ब्रह्मचर्य का अनादर हो रहा था। पुत्र के बिना सद्गति का मिलना असंभव समझा जाता था—यदि पुत्र न हो तो श्राद्धतर्पण कौन करे? किन्तु भ० नेमिने इस विषमता को मिटाया—समाज में समता और विवेक को जागृत किया। अम्बिका के जीवन में उनको यह क्रान्ति व्यवहारिक रूप धारण किये हुए मिलती है। इसलिये ही वह शासन देवता हुई है।

हमारे विचार से अम्बिका देवी का रूप भ० नेमि की इस क्रान्ति की सफलता का द्योतक है। अम्बिका अहिंसा की प्रतीक है—वह अम्बा अहिंसा है—उनका वाहन सिंह हिंसा का प्रतीक है। जब हिंसा अहिंसा के आधीन रहेगी तब मानव जीवन में विषमता आ ही नहीं सकती—भ० नेमिने यह स्पष्ट बताया था। दूसरे इससे मातृत्व की विशिष्टता भी स्पष्ट होती है—स्त्र का सम्मान होना ही चाहिये। हिंसा अहिंसा के इङ्गित पर चले, इसके लिए मानव को फलाहारी होना आवश्यक है। मानव का स्वाभाविक और आदि आहार फल ही है। एक हाथ में आम की डाली यही बताती है। अम्बिका का दूसरा हाथ शुभंकर पुत्र के ऊपर है और विहंकर पुत्र उनकी गोद में छाती-से सटा हुआ अङ्कित है—यह चित्रण बताता है कि वस्तुतः कौन से पुत्र मानव की सद्गति के लिये आवश्यक हैं! हाड़माँस के औरस पुत्रों के होने अथवा न होनेपर मानव का आत्मकल्याण निर्भर नहीं है। वह निर्भर है मानव की अहिंसावृत्ति की सन्तति पर! द्रव्यरूप में अहिंसा का पालन शुभंकर होता ही है—इसीलिये अम्बिका से शुभंकर पुत्र अलग अङ्कित हुआ मिलता है। वह बाह्य प्रवृत्ति का द्योतक है। दूसरा पुत्र विहंकर गोद में इसलिये है कि भावों की शुद्धि ही जीव के लिये कल्याणकर है—वह अन्तर की वृत्ति है और मानव को पूर्ण, शुद्ध और सुखी बना देती है। इस प्रकार अम्बिका की मूर्ति का आध्यात्मिक रहस्य है—वह भ० नेमि द्वारा सफलीकृत मानव क्रान्ति की सजीव प्रतिमूर्ति—प्रतीक है!

उपरान्त उनके चार, आठ और बीस हाथ बनाये गये वह आध्यात्मिक शक्तियों को लक्ष्य करके रक्खे गये प्रतीत होते हैं। चार कषायों को मिटाने के लिये चार हाथ चाहिये—ज्ञानका अंकुश और संवर की पाश जीवन साफल्य के लिये आवश्यक ही है। आठ हाथ आठ कर्मों को विध्वंस करके आठ गुणों को प्राप्त करने के लिये बनाये गये प्रतीत होते हैं। सारांश यह कि शासन देवी के रूप में उन तीर्थङ्कर द्वारा किये हुए सफल कार्यों का अलंकृत चित्राङ्कण हुआ प्रतीत होता है जिनके शासन की वह देवी है। इस विषय में खोज करने की आवश्यकता है। अम्बिका देवी का अलंकृतरूप तो यही बताता है। इस रूप में उनकी आराधना आत्मगुणों की आराधना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

वैदिक मान्यता में—

वैदिक मान्यता में आदि देवता इन्द्र, वरुण, सूर्य आदि हैं। देवियों के लिये ऋग्वेदादि में प्रायः कोई स्थान है ही नहीं, फिर भी ऋग्वेद में उषा का देवी रूप में उल्लेख मिलता है; यथा—

'उपमा येपिशत्तमः कृष्णं व्यक्तमस्थित। उषऋणेव यातय ॥ ७॥

'हे उषा! हे रात्रि की अधिष्ठात्री देवी! सब ओर फैला हुआ यह अज्ञानमय काला अन्धकार मेरे निकट आ पहुँचा है। तुम इसे ऋण की भाँति दूर करो; जैसे धन देकर अपने भक्तों के ऋण दूर करती हो, उसी प्रकार ज्ञान देकर इस अज्ञान को भी हटा दो।

—ऋग्वेद मं० १० अ० १० सू० १२७ मंत्र १७

इसमें उषा को एक शक्तिमयी देवी के रूप में आह्वान किया गया है जो अज्ञानान्धकार को मेटती है। उषा से अन्धकार मिटता ही है—वह काल सफल और पुण्यमयी माना गया है। अज्ञान दूर करने के लिये अन्तस् में सम्यक् सम्बोधिका उदय होना आवश्यक है—यह सम्बोधि ही उषा करके उल्लेखित की गयी हो तो आश्चर्य नहीं; परन्तु ऋग्वेद की उषा का सम्बन्ध अम्बिका से कुछ भी प्रतीत नहीं होता!

हमारे मित्र श्री श्रीनिवासजी वर्मा का कहना है कि यजुर्वेद और सामवेद में भी देवियों का कोई उल्लेख नहीं मिलता। उन्होंने अथर्ववेद और पुराणों से देवियों के विषय में कुछ उद्धरण भेजे हैं, जिनके लिये हम उनके आभारी हैं। 'अथर्ववेद' में देवी का एक उल्लेख निम्न प्रकार किया गया है—

"ॐ सर्वे वै देवा देवीमुपतस्थुः कासि त्वं महादेवीति ॥ १ ॥
साब्रवीत्—अहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्तः प्रकृति पुरुषात्मक
जगत्। शून्यं चाशून्यं च ॥२॥ अहमानन्दानानन्दौ अहं
विज्ञानाविज्ञाने। अहं ब्रह्मा ब्रह्मणी वेदितव्ये। अहं पञ्च-
भूतान्यपञ्चभूतानि। अहमखिलं जगत् ॥३॥ वेदोऽहमवेदो
ऽहम्। विद्याहमविद्याहम्। अजाहमनजाहम् अधश्चो-
र्ध्वं च तिर्यक्चाहम् ॥४॥" (देव्यथर्व शीर्षम्)

अर्थ-ॐ सभी देवता देवी के समीप गये और नम्रता से पूछने लगे कि हे महादेवि! तुम कौन हो? ॥१॥ उसने कहा—मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ। मुझसे प्रकृति पुरुषात्मक सद्रूप असद्रूप जगत् उत्पन्न हुआ है ॥२॥ मैं आनन्द और आनन्दरूपा हूँ। अवश्य जानने योग्य ब्रह्म और अब्रह्म मैं ही हूँ। पञ्चीकृत और अपञ्चीकृत महाभूत भी मैं ही हूँ। यह सारा दृश्य जगत् मैं ही हूँ ॥३॥ वेद और अवेद मैं हूँ। विद्या और अविद्या भी मैं, अजा और अनजा भी मैं; नीचे ऊपर अगल बगल भी मैं ही हूँ ॥४॥ अथर्ववेद के इस देव्यथर्वशीर्षम् में २६ श्लोक इसी प्रकार के हैं। इनमें

देवी को शक्तिरूप में चित्रित किया है—मूल में वह ब्रह्मस्वरूप है, इसलिए आन्तरिक अध्यात्म-शक्ति ही है। जैनाचार्य समन्तभद्रस्वामी भी अहिंसा-शक्ति को ब्रह्मरूप बताते हैं। (अहिंसाभूतानां ब्रह्मपरमं) यह अन्तर्स्थित ब्रह्म ही लोक में नाना प्रकार के विकसित रूप में दृश्य हो रहा है, इसी लिये शक्ति रूपी देवी के नाना रूप बताये हैं। यहां अलंकृत भाषा का रहस्य स्पष्ट है।

किन्तु अम्बा अथवा माता के रूप में देवी का रूप पौराणिक काल में ही मिलता है। श्री मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत 'सप्तशती' में देवी की उत्पत्ति का वर्णन निम्न प्रकार लिखा है:—

"इत्थं निशम्य देवानां वचांसि मधुसूदनः।
चकार कोपं शम्भुश्च भ्रुकुटी कुटिलाननौ॥
ततोऽतिकोपपूर्णस्य चक्रिणो वदनात्ततः।
निश्चक्राम महत्तेजो ब्रह्मणः शङ्करस्य च॥
अन्येषां चैव देवानां शक्रादीनां शरीरतः।
निर्गतं सुमहत्तेजस्तच्चैक्यं समगच्छत॥
अतीव तेजसः कूटं ज्वलन्तमिव पर्वतम्।
ददृशुस्ते सुरास्तत्र ज्वालाव्याप्तदिगन्तरम्॥
अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेव शरीरजम्।
एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा॥
यदभूच्छाम्भवं तेजस्तेनाजायत तन्मुखम्।
याम्येन चाभवन् केशा बाहवो विष्णुतेजसा॥ इत्यादि"

पूर्वकाल में देवताओं और असुरों में पूरे सौ वर्षों तक घोर संग्राम हुआ था, इसमें असुरों का स्वामी महिषासुर था और देवों के नायक इन्द्र थे। उस युद्ध में देवताओं की सेना महाबली असुरों से परास्त हो गई। सम्पूर्ण देवताओं को जीतकर महिषासुर इन्द्र बन बैठा। तब पराजित देवता प्रजापति ब्रह्माजी को आगे करके उस स्थान पर गये जहां शङ्कर और विष्णु विराजमान थे। यह उक्त श्लोकों का प्रसंग है। देवताओं ने अपनी पराजय और असुरों के पराक्रम का यथावत् वृत्तान्त उन दोनों देवेश्वरों से कहा और रक्षा की याचना की। तब देवताओं के वचन सुनकर भ० विष्णु और शिव ने दैत्यों पर बड़ा क्रोध किया। उनकी भौंहें तन गईं और मुंह टेढ़ा हो गया। तब अत्यन्त कोप से भरे हुए चक्रपाणि श्री विष्णु के मुख से एक महान् तेज प्रगट हुआ। इसी प्रकार ब्रह्मा, शङ्कर तथा इन्द्र आदि अन्यान्य देवताओं के शरीर से भी बड़ा तेज निकला। वह सब मिलकर एक हो गया। महान तेज का वह पुञ्ज जाज्वल्यमान पर्वत-सा जान पड़ा। देवताओं ने देखा, वहां उसकी ज्वालाएँ समस्त दिशाओं में व्याप्त हो रही थीं। सम्पूर्ण देवताओं के शरीर से प्रगट हुए उस तेज की कहीं तुलना नहीं थी। एकत्रित होने पर वह एक नारी के रूपमें

परिणत हो गया और अपने प्रकाश से तीनों लोकों में व्याप्त जान पड़ा। भगवान शङ्कर का जो तेज था उससे उस देवी का मुख प्रगट हुआ। इसी प्रकार प्रत्येक देवता, विष्णु, वरुण, चंद्र, सूर्य, ब्रह्मा, यम आदि के तेज से उस देवी के अङ्गप्रत्यङ्ग बन गये। इस प्रकार अन्यान्य देवताओं के तेज से उस कल्याणमयी देवी का आविर्भाव हुआ—वह जगन्माता हुई। अम्बा देवी की उत्पत्ति की यह कथा अध्यात्म रहस्य से खाली नहीं है। यह अलंकृत भाषा का सुन्दर रूपक है। अम्बिका की मूर्त्ति का रूप और आकार प्रकार भी इसी आधार से बना। अतः उसकी उपासना आध्यात्मिक शक्तियों की ही उपासना है।

वेद और पुराणों में बाह्य घटनाओं का जिक्र प्रायः नहीं के बराबर है। वे आध्यात्मिक ज्ञान कराने के लिये अलंकृत काव्यशैली की अनूठी रचनाएँ हैं। उनको शब्दार्थ में पढ़ना ही नहीं चाहिये—यही कारण है कि उनको गुरुमुख से पढ़ने का विधान था। गुरु पात्र शिष्य को ही उनका आध्यात्मिक रहस्य बताता था। वैदिक ऋषियों ने सभी अध्यात्मशक्तियों के रूपक गढ़ने में कमाल किया है और उन सभी का पुञ्ज अम्बिका देवी का रूपक है।

इस दृष्टि से वैदिक देवता, इन्द्र, सूर्य, अग्नि, आदि कोई व्यक्ति विशेष न रहकर अध्यात्म-शक्ति अथवा परमब्रह्म परमात्मा के ही विविध गुणों को व्यक्त करनेवाले रूप हैं। विद्वानों ने सूर्य को सर्वज्ञता का प्रतीक, इन्द्र को संसारी जीवात्मा का प्रतिरूप, और अग्नि को तप का रूपक सिद्ध किया है। वशिष्ट ऋषि अलंकृतरूप में श्रुति के प्रतीक हैं और विश्वामित्र मनन के। उनके पारस्परिक संघर्ष तर्क और श्रद्धा के संघर्ष की ओर इशारा करते हैं। श्रुति ही श्रेष्ठ है—इसलिए वशिष्ट सर्वत्र विजयी होते हैं। सृष्टि रचना का भाव मानस में अध्यात्म भावों का सिरजन करने से है। संरक्षण आध्यात्मिक विकास का द्योतक है और संहार आसुरी प्रवृत्तियों को नष्ट करने का इंगित है। अतएव ब्रह्मा अध्यात्म बुद्धि का रूपक है, जो मानस को व्यवस्थित करके उसमें अध्यात्म-भावरूपी व्यक्तियों का सिरजन करता है। विष्णु संरक्षक के रूप में धर्मभाव के प्रतीक हैं—वह ब्रह्मा द्वारा सिरजे हुए अध्यात्मभावों का संरक्षण करते हैं और शिव अथवा महेश वैराग्य के प्रतिरूप हैं, जो सभी दुष्कर्मों का नाश कर देता है। इन सभी देवताओं का रहस्यमयीरूप बड़ा ही बोधप्रद है। आवश्यकता है कि यह रहस्य खोज निकाला जावे। अम्बिका देवी में इन सभी देवताओं अथवा आत्मशक्तियों का हौज केन्द्रीभूत किया गया है। इसीलिए अम्बिका की मान्यता विशेष है।

जैन और वैदिक मान्यता की तुलना।*

जैन और वैदिक मान्यता की तुलना करने पर हम उनको एक दूसरे से सर्वथा विभिन्न पाते हुए भी उन्हें अति निकट पाते हैं; क्योंकि उन दोनों का भाव एक है। अवश्य ही जैनमान्यता

* विशेष के लिए बैरिस्टर चम्पतराय कृत 'असहमत संगम देखिए।

एक ऐतिहासिक घटना के आधार पर टिकी हुई है—तो उधर देवासुर संग्राम भी एक घटित घटना मानी जाती है। जो हो, दोनों मान्यताएँ एक ही दिशा की ओर इंगित करती हैं और वह दिशा है अध्यात्मवाद की! दोनों ही यह घोषित करती हैं कि मानव को हिंसादि आसुरी वृत्तियों को अहिंसादि आत्मगुणों का विकास करके पराजित कर देना चाहिये। अम्बिका इन आत्मगुणों का जाज्वल्यमान प्रतीक है। उनके भक्त उन्हें उनके असलीरूप में पहिचानें और उनसे दया एवं आत्मबल का पाठ पढ़कर आत्मविजयी बनें। उनकी मान्यता का यही रहस्य है!

अथ मोहरम गुरालिख्यते, मतिचन्द्रिका

दोहा

रूपरेष अवसेप नहि, निराकार आकार ।
गुन अस्थित निर्गुन वही, सकल जगत आधार ॥१॥
सबै इन्द्र ब्रह्माण्डको, पोषन भरन सुभाइ ।
फतेसिंघ है तुव सरन, प्रथमहि बन्दौं ताय ॥२॥
प्रभु गुरु सरसुती भारकर, उमानन्द गनेश ।
वेद व्यास कमला जगहि, रक्षा करहू महेस ॥३॥
फतेसिंघ तुव सरन है, जोतिक मति अनुसार ।
भाव सहित दूषन रहित, तू निरवाहन हार ॥४॥
पातसाहि नैसेरवा, आदिल महा उदार ।
युजु रूचिमोहि रउजीरमा, सर्वसास्त्र हुसियार ॥५॥
साह कहि जासों तबे, ऐसो करौ विचार ।
आवै भलि बुरी बरस, जानि परै निरधार ॥६॥
कवि पंडित सब जोतिहि, आगम जाननहार ।
प्रथम हती वह पारसी, सो मत देकै साषि ॥
पुरमसाहि प्रताप तै, वरनत भाषा भाषि ।
दस अरू आठ विचारि सत तेरह ऊपर जान ॥
तब याकौ समुभै वहै पढ़ौ पारसी जान ॥
फतेसिंघ भाषा करी, मुनि समभैसब कोइ
दस अरू आठ विचारि सत, तेरह ऊपर जान ॥
दास आपनौ जानि कें, सातुक मत उर धारि ।
भूल चूक सब माफ कर, लीजौ हृदय विचारि ॥
यह मतिचन्द्रविसाल, अति बांचै सुनै जो कोइ ।
बरस दिनाकौ आगमन, षबदार सो होइ ॥

चौपाई

मास मोहरम को इम जानौ, सुनौ भेद ताकौ जु बषानौ ।
हाय होस तरकन को होई, मुहरमा मासु जानिये सोई ॥

दोहा

मासु मुहरम तीज सुदि, आन परै जिहिवार
ता दिन तै वा बरसके, फल अफल निरधार

चौपाई

जौन वार वह तीजु जु होई, ताके फल जानै सब कोई
भली बुरी वरस जो आवै, यातें सब भेदनको पावै

दोहा

पसु पंछीकौ नर आदिदै, जेसी होनी होइ
काल चाल वरसा सकल, यातै समुभौ सोइ

अथ रविवार फल—

जौ वह तीज परै इतवारी, तौ नीकी सब वरस विचारी।
परजा देस सुखी सब होई दूवंद फिसाद उठे नहि कोई
पानी मनकौ चीतौ वरसै, सस्ते अन्न उनादि सरसै
फले अधिक व्रछादिक भले पंथी सुखी गैल जे चले
पसु पंछीकौ महा अनंद, है कपास कौ थोरो दुद
अधिक फरै मातु दिल होई, येसी या जानै सब कोई
चौपिवन दूधहोइ अधिकारो, सोदागिर कौ नफा सवारौ
गोहू अधिक होइगे भले, भांति यहै परबूजा चलै
राजा रंक सुखी सब कोई, कुन अस्त्रिन के पकि है सोई
तिल अरु अन अधिकारे जानौ, येसकृत्र पुनि भेद बखानौ
सुरज ग्रहन वरस वह पडै, आडौ घटि सोवी सुख करै
रवि की तीजु यही फल होई, फतेसिंघ कहि दीनौ सोई

यति श्री मतिचंद्रकाय रवि फलाफल वर्ननं
फतेसिंघ विरचितायां प्रथमो तात

तिथि वार भेद दूसरी

दोहा

जौ मुहरम की तीज सुदि, सोमवार कौ होइ
ताको फल यैसो कहत, कहत वरनसुनाउ सोइ

चौपइ

पातसाहघट पोरिष होई, वरसै अछो सोई
अंन अन्नादि सब सस्ते जानौ, बड़े बड़े को मृत्यु बखानौ
राह बाट सब नीकै चलै, वैपारी सौदा मैं फलै
चौपिन दूध बहुत सौ होई, ब्रछन फल फरिहै इमि सोई

लोग लुगाई रोगिल होई, व्याधि कष्ट बहु विधि ते रोई
षेती और काम सबनीके, पुजवे राम मनोरथ जीके
रूई तिली उजिल पुनि जानो, ऊष होय बहु घायह मानो
पंछिन कौं कछु बेहरूनाही, नहीं फिसाद वरस उहिमांही
अन बहुतें पै पवन झकोरैं, अछन मूल डार तैं टोरें
बहुत तेज आगि पुन करै, रोग बहुत पें नाही मरें
चौपिन छेरिनकौ उसवास, मनघरि राषौ बहु विस्वास
चंद्रवार वह तीज जु परै, सो वा ऐसे फलको करै

इति श्री मतिचंद्रिकाया चंद्रवार फलाफल वर्ननं फतेसिंघ विरचितायां दुतियौ बृतान्त

चौपही

जौ वह तीज मंगली परै, नैचेया पुनि दंगल करै
मंगल होय ग्रहन को राज, बिनसै रईयत सब दुषित समाज
पानी वेसम यें पुनि वरसे, रोवे रईयत सव दुष सरसै
वोही वरस काल बहु परै, दुषी होय परजा थरहरै
राह वाट में डमै अधिकाई, राजन आपुसमा जल राई
मीर अमीर मवे वे लरै, आपु समझ विग्रहू करै
चोपै बहुत सोजै है मारै, अछ फरे घटि मेवा वारै
चौपिन तरे दूध बहु नाही, होकै महगे अन्न बिकाही
रूई ऊष तिल महगे महा, वडौ काल कछु जाय न कहा
दासी दास पुत्र अरु नाती, छाडी भगै सब भांति न भाती
येक न येक कवि डारत ठाढे, येकन बालक वरतें काढे
घात छीन मानस की होई, अदल निमाफ करै न कोई
वहुधा सृष्टि मरै वह जानो, अमीरन के छूटे जु ठिकानौ
अपनी अपनी वाट सव गहै, कोउ पूरव कोउ उत्तर है
आग तेज वेहर अधिकाई, सो पुनि अछन टौरौ घाई
सूरज ग्रहन परै वह साल, टाडी अरू सुवरन तें काल
हैं मोंडो लवरस यह भाई, वने पहिल सौ वरसै सोई
कछु वस्तु पुनि घटिती गनियै, समय न मेघ न वरसे सोई
मेवा आदि अछन हि फरे, तीज मंगली यह गुनि करै

वाची सुनी जथा प्रति भाषी, फते सिंघ पारसी दे साषी

इति श्री मतिचंद्रिकायां भौमवार फल वर्ननं फतेसिंघ विरचितायां तृतीयो तात

दोहा

जो मेहरम की तीज सुदि, बुधवार कौं होई
फल अफल वरनन करौं, सुनि समुझै सब कोई

चौपई

राजा बुध ग्रहन कौ होवरस, तासमै दूध न होई
धरती हिंदुस्तानग सोई, वे समयै पुनि वरषा आही
कारज सुफल लटे पुनि जानौ, पातसमहिसौ जूझ वषांनौ
रूक जै है दौलत कै काम, आई वरस जु महा निकाम
तिल गोहूँ महगें जु विकाई, रूई ऊन पुनि मिलती नाही
डरू मानसकौ नेक न होई, नाज परीद होई बहु सोई
सृष्टि दुषीवरस उही जानौं, राह वाट में विग्रह मांनौ
बेपारी कछु नफा न पावै, ग्रहन परै चंद्रमा सतावै
टाडी आवै जानौ घनी, मीर अमीर न लगिगी ठनी
मरि हैं जूझ जूझ कै सोई, आपु समाझ भगे नहि कोई
वाषै बहुत होई परवजा, देस हाथ और के सूजा
जांनी हिन्दुस्तान के साहू, आपु ममाज करै वहु चाहू
चौंपिनकी घटती पुनि जानौं, वारवार बहु आग वपांनौ
घनु घारिनकौ रोग सतावैं, बुध तीजके ये गुन गावै
लिषी पारसी वाची जैसी, फतेसिंह वरनत हौं तैसी
यामै कहौ होत हैं जैसो, जानि परै सब भलौअ नैसो

इति श्री मतिचंद्रिकायां बुधवारफलाफल वर्ननं फतेसिह विरचितायां चतुर्थौ तात ४

तीज बृहस्पति मुहरम सुदि, आनि परैसुनि ताकी विदो
गुरौ राज ग्रहन को करै, वरसै नीर अधिक छित भरै
प्रथीमै विग्रह नहि करै, पातसाहि निहचल हो रहै
भले काम सबही के सरस, घनु घारिनकौ नीकी वरस
सुषी चौकी हायौ सब पंछी, है गरीबकौ बहुधा अछी

रोग बहुत लरकनकौ आवै, उपजैघटिक पास इमि जानौ
बेहर आग जो बहुत बखानौ, तीज बृहस्पति यह फल जानौं
फतेसिंह यह भेद बषांनौ

इति श्री मतिचंद्रिकायां गुरुवार फलाफल वर्नंनं फतेसिंह विरचितायां
पांचमो तात

जो मुहरम की तीज सुदि सुक्रवारी, ग्रहन राज सुकुमार विचारी
सस्ते अन्न होय उहिलासा, गौहू करै अधिक प्रतिपाला
पातसाहि घटि पोरिष जानौं, मानस दुवा नितदार बषांनौ
चोरी तैं बची है सब कोई, आनन्द बहुधा प्रगटै सोई
सब सस्ते अच्छी पुनि कही, पेतीक है माफक सही
जाडौ महा अधिक पुनि सरसै, बरखा समयौ पुनि बरसै
तदपि गौहू नीकें जानौ, मीठौ दूध होई रस मानौ
मानस रहै मात दिल सोई, नफा वनिज में माफक होई
बहुत राग मानसको कहियै, तीज सुक के या फल लहियै
प्रथम पारसी यामति सही, फतेसिंह भाषा कर कही

इति श्री मतिचंद्रिकायां सुक्रवार फलाफल वर्नंनं
फतेसिंह विरचितायां षष्टमो तात

जौ वह तीज सनीचरी परै, राज ग्रहन को सनिइकु करै
द्वंद फिसाद बहुत अधिकाई, साहिन आपुसमाझ लड़ाई
रइयत होउ दुषी अधिकारी, राह बाट पुनि जैहै मारी
नौपिजनकों षतरा है सही, बनजमाझ कछु नफा न कही
पंछिनकों कछु बरस न नीकी, आनि परै नौंनिके जीकी
मारे जाहि रोग पुनि मारे, येक विष लागन बहुधा करै
मृत्यु लोक उहिसालि घनेरो, ग्रह राजासन होइ अनेरो
अवधौ योर करै या करता, जानै जो पालक है हरता
फतेसिंघ जथा प्रति साषी, प्रथम हिदै पारसी मति साषी
छूटि जाइ सबई मतिकाचे, राम नामतिहिकौ जो बांचै

दोहा

षुरम साह प्रताप तैं, बरनत भाषा भाषे
कोच नग्र सुभ स्थान में, फारसी मति दे साषि

संवतु आदिजु अंत ही, मास वही पुनिमान
सुदि अष्टमी गुरूवार को, पूरन प्रति बनि जानि
जो याको वांचै सुनै, फल पावे ततकाल
आगम जाने वरसको, व्यापै काल न वाल

इति श्री मतिचंद्रिकायां सनिवार फलाफल वर्ननो नाम सप्तमो वार।
फलाफल वर्ननं फतेसिंघ विरचितायां मोहुरम गुरा संपूर्ण।
सुभं भवतु मंगलं ददातु । श्री श्री।

हनसोगे

[ले०—विद्याभूषण पं० के० भुजबली शास्त्री मूडबिद्री]

हनसोगे ग्राम मैसूर जिलान्तर्गत कृष्णराज नगर तालुक में सालिग्राम से लगभग पाँच मील दूरी पर अवस्थित है। हाँ, इस समय यह ग्राम दो भागों में विभक्त है। एक का नाम चिक्क (छोटा) हनसोगे और दूसरे का नाम दोड्डु (बड़ा) हनसोगे। पर संभवतः बहुत पहले यह अविभक्त रूप में ही रहा होगा। क्योंकि कई स्थलों में—ग्रन्थों एवं शिलालेखों में—चिक्क या दोड्डु इस विशेषण को न लगाकर सिर्फ हनसोगे के ही रूप में इसका उल्लेख पाया जाता है। इसका एक प्रमाण और है कि मुनियों में प्रचलित प्रसिद्ध हनसोगे 'बलि' जो है, इसके साथ चिक्क या दोड्डु कोई भी विशेषण लगाया हुआ मेरे देखने में नहीं आया। साथ ही साथ विभक्त इन दो ग्रामों में विशेष अन्तर भी नहीं है। दोनों पास ही पास हैं। पूर्व में इसके अभ्युदय के काल में ये दोनों अविभक्त रहकर प्रायः इसकी अवनति के काल में गृह संख्या एवं जन संख्या की कमी से ग्राम दो भागों में विभक्त हो गया होगा। ऐसी दशा में दोनों गाँवों के बीच में, बाद खेतों का बन जाना स्वाभाविक है। इसके लिये प्राचीन स्थानों के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं।

यह अनुमान मैं उस स्थान को देखकर कह रहा हूँ। १० अक्टूबर, १६५४ को 'चिक्क हनसोगे श्री आदीश्वरस्वामी-देवालय जीर्णोद्धारसंघ' सालिग्राम के सुयोग्य कार्यदर्शी श्री एल० पी० पार्श्वनाथ बी० ए० इस महत्त्वपूर्ण प्राचीन स्थान को दिखलाने के लिये वहाँ पर मुझे लिवा ले गये थे। मैं इसके लिये पार्श्वनाथजीका हृदय से आभारी हूँ। पार्श्वनाथजी वर्तमान वातावरण से परिचित एक धर्मश्रद्धालु, उत्साही नवयुवक हैं। खैर, अब मैं प्रस्तुत विषय पर आ जाता हूँ।

चिक्क हनसोगे में इस समय एक त्रिकूट जिनालय मौजूद है। इसमें तीन जिन मूर्तियाँ विराजमान हैं। इन मूर्तियों में यों तो कोई चिन्ह देखने में नहीं आता है। फिर भी लोगों का कहना है कि बीच की प्रधान मूर्ति आदिनाथ की और शेष दोनों में से एक पार्श्वनाथ की और दूसरी नेमिनाथ की। इसमें संदेह नहीं है कि यह मन्दिर प्राचीन और कला की दृष्टि से सुन्दर है। अनुमानतः ११ वीं शताब्दी का यह जिनालय वीर राजेन्द्र नन्नि चंगाल्वदेव द्वारा पुनः प्रतिष्ठापित होकर प्रायः 'राजेन्द्रचोल जिनालय' के नाम से प्रसिद्ध है।

मन्दिर के दरवाजे पर पड़े हुए पत्थरों पर के लगभग ई० सन् १०६० के एक कन्नड शिलालेख से विदित होता है कि उत्तरीय नहर से सींची गई सारी जमीन सर्वप्रथम ताम्बे के शासन (लेख) पूर्वक रावण के संहारक रामचन्द्र के और बाद विक्रमादित्य के द्वारा इस मन्दिर के लिये जो दान दी गई थी, उस पूरी जमीन को मारसिंहदेव ने फिर दान किया और पहले की ही तरह

इसका रक्षण भी किया[1]। इस लेख से इतना तो अवश्य सिद्ध होता है कि यह मन्दिर वस्तुतः बहुत प्राचीन है। साथ ही साथ कला की दृष्टि से भी महत्त्व का है। यहाँ पर और भी कई लेख हैं। इन लेखों से मालूम होता है कि एक जमाने में यह स्थान विशेष प्रसिद्ध रहा। यहाँ के प्राप्त कतिपय लेखों में कुछ मुनियों की परंपरा भी दी गई है। जनश्रुति है कि प्राचीन काल में यहाँ पर एक विशाल जैन मठ और आसपास बहुत से जैन मन्दिर विद्यमान थे। बल्कि आज भी यत्र तत्र (जहाँ तहाँ) इसके बहुत से चिन्ह दृष्टिगोचर होते हैं। सुना है कि आजकल भी आसपास के कुछ मन्दिरों में पूजादि की व्यवस्था है और प्रायः जैनेतर जनता भी इसमें विशेष दिलचस्पी लेती है।

इस समय दक्षिण कन्नड जिलांतर्गत कारकल में जैनों का जो प्रसिद्ध मठ मौजूद है, वह इस हनसोगे मठ का ही शाखा-मठ है। इसके लिये अनेक शिलालेखीय एवं ग्रांथिक प्रमाण मौजूद हैं। कारकल में मठ के ठीक सामने 'चतुर्मुखबसदि' के नाम से एक विशाल, कलापूर्ण सुन्दर जैन मन्दिर जो वर्तमान है, तत्सम्बन्धी शिलालेख में भी मन्दिर निर्माण काल के स्थानीय गुरु ललितकीर्ति को पनसोगे अर्थात् हनसोगे के देशीय गणीय स्पष्ट बतलाया है। कवि चंद्रम कृत 'गोम्मटेश्वरचरितो' में भट्टारक ललितकीर्ति के गुरुदेव कीर्ति को पनसोगे पूर्वाद्रि के अनुपम सूर्य घोषित किया है। 'जिनयज्ञफलोदय' के कर्ता मुनि कल्याणकीर्ति जी कारकल के तत्कालीन मठाधीश ललितकीर्तिजी के शिष्य थे। इनका समय शा० श० १३५० है। यह कल्याणकीर्तिजी कारकल में बाहुबली स्वामी की विशालकाय सुन्दर मूर्ति को (ई० सन् १४३१-३२) स्थापित कर अपने नाम को अमर करनेवाले वीरपाण्ड्य भैरवरसओडेय के समकालीन हैं। मुनिजी के गुरु उपर्युक्त ललितकीर्तिजी भैरव राजवंश के क्रमागत राजगुरु थे। आज भी कारकल मठ की गद्दी पर बैठनेवाले भट्टारकों का वही परंपरागत ललितकीर्ति नाम चला आता है। कल्याणकीर्तिजी ने अपने 'जिनयज्ञफलोदय' में भी गुरु ललितकीर्तिजी को मूलसंघ, कुन्दकुन्दान्वय, देशीयगण, पुस्तकगच्छ, देवकीर्ति के शिष्य, पनसोगे वंश के रत्न, चरित्रवान्, शीलवान् आदि बतलाया है[2]।

पनसोगे ग्रामवासी मुनि रविचन्द्रजी के द्वारा 'आराधनासमुच्चय' नामक श्रावकाचार सम्बन्धी एक लघु कलेवर ग्रन्थ भी रचा गया है, जो कि अभी अप्रकाशित है। इस ग्रन्थ के अन्त में यह पद्य मिलता है—"श्रीरविचन्द्रमुनीन्द्रैः पनसोगेग्रामवासिभिर्ग्रंथः रचितोऽयमखिलशास्त्रप्रवीण-

१ एपिग्राफिका कर्णाटिका भा० IV नं० २५

२ "श्रीमूलसंघे मुनिशीलतुंगे श्रीकौन्दकुन्दे वरसूरिवृन्दे।
वंशे च देशीयगणे गुणाढ्ये मत्याभतुच्छे घनपुस्तगच्छे ॥४११॥
आसीदसीमापनसोगेपूर्वो वक्यम्बुराशिगु णरत्नराशिः।
तस्मादभूच्चन्द्र इव यतीन्द्रः श्रीदेवकीर्तिर्जितमारमूर्तिः ॥४१२॥

विद्वन्मनोहारी"। यह भी इनमोगे के महत्त्व को प्रकट करने में सहायक है। अस्तु, अब इस लेख के कलेवर को बढ़ाना मुझे इष्ट नहीं है। अतः जैन समाज से इस अवसर पर इतना निवेदन कर देना चाहता हूँ कि चिक्क इनमोगे में इस समय जो जीर्णोद्धार का कार्य चल रहा है, इसमें प्रत्येक धर्मप्रेमी यथाशक्ति अवश्य सहायता कर दें। क्योंकि प्राचीन क्षेत्रों सम्बन्धी यह एक आवश्यक उपयोगी धर्मकार्य है।

सद्गोत्रजस्तदनुवृत्तरथाधिरूढः सच्छीलवाजिरखिलाश्मसुखप्रवृत्तिः।
दोषाकराक्रमणचारुकरप्रचारो हंसोऽप्यसौ ललितकीर्तिरभूदहंसः ॥४१३॥
श्रीललितकीर्तियतिमहदुदयगिरेरभवदागममयूखः।
कल्याणकीर्तिमुनिरविरखिलधरातलबोधनसमर्थः ॥४१४॥
स्वसंपादित 'प्रशस्ति-संग्रह' ४४-१७)

सिद्धराज सोलङ्की का दत्तक पुत्र तथा सम्राट् कुमारपाल का प्रतिद्वन्द्वी

[श्रीयुत्— प्रो० ज्योतिप्रसाद जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०, लखनऊ]

गुजरात के इतिहास में सोलङ्की नरेशों का शासनकाल स्वर्णयुग कहलाता है, जो अनेक दृष्टियों से उचित ही है। उक्त स्वर्णयुग के निर्माण का श्रेय तद्वंशीय जिन नरेशों को है उनमें चालुक्य चक्रवर्ती महाराज सिद्धराज जयसिंह (१०९४—११४३ ई०) का विशिष्ट स्थान है। यह राजा इस वंश का छठा नरेश था और महमूद गजनवी के समकालीन गुर्जरराज भीम प्रथम का पौत्र तथा उदयवराहकर्ण का पुत्र था। कर्ण एक भोगपरायण व्यक्ति था और गजनवी के दुर्दान्त आक्रमण से देश को पहुँचने वाली क्षति की पूर्ति करने की न उसमें क्षमता ही थी और न उसने उस ओर कोई प्रयास ही किया। विलासिता, शिथिलाचार, ह्रास और अवनति ही उसके शासनकाल की विशेषताएँ रहीं। किन्तु उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी जयसिंह सिद्धराज ने अपने पचास वर्ष के राज्यकाल में अन्हिलवाड़े के सोलङ्की राज्य की न केवल शक्ति, समृद्धि, विस्तार और प्रतिष्ठा ही बढ़ाई वरन् अपने सुयोग्य जैन मन्त्रियों की सहायता से शासन को भी सुसंगठित किया और ज्ञान एवं कला को भी विपुल प्रोत्साहन दिया।

अपने अन्तिम जीवन में सिद्धराज को एक ही दुःख था, उसके कोई पुत्र नहीं था। केवल एक पुत्री को छोड़ कर संभवतः उसके अन्य कोई सन्तान ही नहीं हुई। स्ववंश में उसका कोई निकट आत्मीय भी ऐसा नहीं था जो उसका उत्तराधिकारी हो सके। जो थे वे उसके पितामह भीमदेव की उपपत्नी की सन्तति में से थे। इनमें से त्रिभुवन पाल और उसका पुत्र कुमारपाल प्रमुख थे। सिद्धराज नहीं चाहता था कि उसकी मृत्यु के उपरान्त इन लोगों के हाथ में उसका राज्य चला जाय। विशेषकर जब उसे राज्य प्राप्ति के लिये इनके द्वारा किये जाने वाले षड्यन्त्रों और घातों का पता चला तो वह इनसे अत्यन्त असन्तुष्ट हो गया। त्रिभुवनपाल को तो उसने मरवा ही डाला और उसका पुत्र कुमारपाल बड़ी कठिनाई से अपने प्राण बचाकर भाग निकला। अतः सिद्धराज ने इन लोगों से अपनी राज्य की सुरक्षा करने तथा अपनी मृत्यु के उपरान्त होने वाले उत्तराधिकार के द्वन्द को मिटाने के लिये चाहड नामक एक युवक को गोद ले लिया और उक्त दत्तक पुत्र को ही अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया।

किन्तु सिद्धराज के इस दत्तक पुत्र का व्यक्तित्व बहुत रहस्य पूर्ण है। निश्चित रूप से यह कहना कि वह कौन था, कठिन है। गुजरात के तत्कालीन इतिहास के प्रधान साधन उसी प्रदेश में तथा प्रायः उसी काल में अथवा उसके कुछ शतकों के भीतर ही रचे गये अनेक जैन

ग्रन्थ हैं। ये ग्रन्थ किन्हीं अंशों में धार्मिक एवं साम्प्रदायिक होते हुए भी मुख्यतः ऐतिहासिक ही हैं और ऐसे व्यक्तियों द्वारा रचे गये हैं जिन्हें उक्त इतिहास की जानकारी थी अथवा उसके साधन सुलभ थे! बिना इन ग्रन्थों की सहायता और समुचित उपयोग के उक्त प्रान्त का, विशेषकर मध्यकालीन इतिहास यथार्थतः एवं शृंखलाबद्ध रूप में न जाना ही जा सकता है न लिखा ही। तथापि इन्हीं ग्रन्थों में सिद्धराज के उक्त दत्तक पुत्र के सम्बन्ध में कुछ ऐसे परस्पर विरोधी एवं उलझन में डालने वाले कथन हैं जिनके कारण उस व्यक्ति का ऐतिह्य अन्धकाराच्छन्न हो गया और ऐतिहासिकों के लिये एक पहेली बन गया। श्री एस० बनर्जी ने अपने एक महत्त्वपूर्ण निबंध में इस समस्या को सुलझाने का तथा गुजरात के जैन सम्राट् कुमारपाल के इस प्रबल प्रतिद्वन्द्वी की वास्तविकता पर प्रकाश डालने का अच्छा प्रयत्न किया है[1]।

वस्तुतः हेमचन्द्राचार्य ने अथवा सिद्धराज या कुमारपाल के समकालीन अन्य किसी लेखक ने अपनी किसी कृति में सिद्धराज द्वारा किसी व्यक्ति को दत्तक पुत्र बनाने का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। कुमारपाल के समर्थकों और पक्षपातियों द्वारा वैसा किया जाना संभव भी न था। फिर भी उस प्रतिद्वन्द्वी के स्पष्ट अथवा अस्पष्ट संकेत और उनके प्रबल विरोध एवं विद्रोह की सूचनाएँ तत्कालीन कृतियों में भी मिलती हैं। किन्तु गुजरात के इतिहास से सम्बंधित जिन प्राचीन ग्रन्थों में यह कथन पहले पहल मिलता है कि महाराज सिद्धराज जयसिंह के मन्त्रियों ने उसके दत्तक पुत्र का अधिकार अपहरण करके कुमारपाल को अन्हिलपुर पट्टन के सिंहासन पर आसीन कर दिया था और इस घोर अन्याय से क्षुब्ध होकर मृतमहाराज के उस न्याय्य उत्तराधिकारी ने सपादलक्ष (अजमेर) के राजा आनक (अर्णोराज) से सहायता की याचना की, वे ग्रन्थ यद्यपि हैं जैन लेखकों की ही कृतियाँ, किन्तु कुमारपाल की मृत्यु के पर्याप्त समय पश्चात् रचे गये थे। इन ग्रन्थों में भी उक्त व्यक्ति के भिन्न भिन्न नाम मिलते हैं। कुमारपाल प्रबंध के अनुसार उसका नाम 'चारभट' था, प्रभावक चरित्र के अनुसार 'चाहभट', कुमारपाल चरित्र के अनुसार 'छाहड' तथा चतुर्विंशति प्रबन्ध के अनुसार 'चाहड'।

इनमें से 'चारभट' और 'चाहभट' में तो कोई अन्तर ही नहीं है, इसी प्रकार चाहड और छाहड में भी विशेष अन्तर नहीं है, और चाहड स्वयं चारभट का ही रूपान्तर है। 'प्रबंध चिन्तामणि' की एक हस्तलिखित प्रति में उसका नाम चाहड लिखा है किन्तु एक अन्य प्रति में 'बाहड' उपलब्ध होता है उसका मन्त्रीराज उदयन के तन्नाम पुत्र (बाहड अथवा वाग्भट) के साथ एकीकरण कर दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतिलेखकों की कृपा से 'चाहड' का रूपान्तर 'बाहड' हो गया और एक प्रति में बाहड नाम देखकर पश्चाद्वर्ती लिपिकारों ने सिद्धराज के प्रसिद्ध जैन अमात्य श्रीमालवंशी वणिक उदयन के उसी नाम के पुत्र के साथ उसका अभिन्नत्व प्रतिपादन

1 'Identity of Chahad'—Proceedings I. H. C. (VII session), Madras, p. 357.

कर दिया। मुनि जिनविजय जी द्वारा सम्पादित प्रबंध चिन्तामणि के एक अनुच्छेद का अन्त 'उदयन देवस्य' के साथ तथा दूसरे का प्रारंभ 'वाहडनामाकुमार' के साथ हुआ है[1]। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस व्यक्ति का नाम वास्तव में 'चाहड' ही था।

हेमचन्द्राचार्य अपने 'संस्कृत द्वयाश्रय काव्य' में उसका उल्लेख स्पष्टतया चाहडरूप में ही करते हैं। इस काव्य के १६ वें सर्ग में एक गुप्तचर महाराज के पास यह समाचार लाता है कि उसके कुछ सर्दार अर्णोराज के पक्ष में चले गये हैं तथा इस बात की पूरी संभावना है कि स्वयं चाहड भी शत्रु पक्ष से मिलने ही वाला है। गुप्तचर कहता है—

"ओ राजन्! कन्थक ग्राम तथा कन्थक झील के तटवर्ती अरण्य प्रदेश एवं शिवरूर प्रदेश में स्थित तेरे सर्दारों ने कल तेरा पक्ष त्याग दिया है और यह भय है कि कुमार चाहड भी जो हाथी पर सवार साक्षात् देवराज तुल्य ही दीख पड़ता है कल होते न होते तेरे शत्रुओं से जा मिलेगा[2]। इस श्लोक में चाहड का "इस्त्यधिरोहणेन्द्र" शब्दों में वर्णन किया है जिसका स्पष्ट अर्थ है कि वह 'गजारूढ़ इन्द्र सदृश प्रतीत होता था' 'किन्तु इस घटना के लगभग सौ वर्ष पश्चात् बनी हुई उक्त काव्य की टीका में इन शब्दों की व्याख्या– 'हक्कामात्रेण हस्तिनां विचालक-त्वात्" रूप से की गई है जिसका अर्थ है कि वह अपने युद्ध गर्जनाओं से शत्रुपक्ष के हाथियों में भय का सञ्चार करता था। परवर्ती लेखकों ने इस टीकाकार के उक्त कथन पर से यह निष्कर्ष निकाल लिया कि चाहड महाराज कुमारपाल की गजसैन्य का रक्षक अथवा सेनापति था और यह कि उसने अपने हाथियों से इस जोर की चिंघाड़ करवाई की शत्रु पक्ष की हस्ति सैन्य स्तंभित रह गई और आगे न बढ़ सकी[3]। यह कथन नितान्त काल्पनिक एवं मन गढ़न्त है और इसका आधार उक्त द्वयाश्रय काव्य की टीका का उपरोक्त उल्लेख ही प्रतीत होता है। संभवतः ऐसे ही कथनों पर विश्वास करके पं० दुर्गाशंकर शास्त्री ने भी चाहड को गुर्जर सम्राट् की गजसेना का रक्षकाधिकारी बतलाया है। उपरोक्त काव्य के उसी श्लोक में चाहड का "तव चाहड" करके उल्लेख किया गया है जो कि सिद्धराज के साथ उसके निकट संबंध अथवा आत्मीयता का सूचक है। श्री बनर्जी ने 'ओराजन्' आदि शब्द कुमारपाल के लिये समझ लिये हैं जो भूल प्रतीत होती है।

प्रबन्ध चिन्तामणि की कुछ प्रतियों में 'कुमारपाल प्रबन्ध' के अन्तर्गत 'बाहड प्रबन्ध' में कुमारपाल के इस प्रतिद्वन्दी को मन्त्री उदयन का पुत्र मानकर उसे वाणिक पुत्र कहा है, किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यह गलती प्रबन्ध चिन्तामणि की प्रतिलिपि के गलत पाठ का

१ प्रबन्ध चिन्तामणि—सं० जिनविजय, पृ० ७६

२ सं० द्वयाश्रय काव्य, सर्ग १६, श्लो० २४

३ चतुर्विंशति प्रबंध, जि० वि० पृ० ५२, तथा प्रभावक चरित्र, जि० वि०, पृ० २०१

परिणाम है। मुनि जिनविजय द्वारा संपादित उक्त ग्रन्थ के संस्करण में कुमारपाल प्रबन्ध के अन्तर्गत जो 'चाहड प्रबन्ध' संकलित है उसमें चाहड को 'कुमार' अर्थात् राजकुमार कहा है, जिससे ध्वनित होता है कि वह क्षत्रिय पुत्र था, और उसे सम्राट् कुमारपाल का एक मन्त्री बतलाया है[१]। उसमें यह भी कथन है कि इस मन्त्री की अतिशय उदारता को देखकर राजा ने उसे डाँटा कि "तुम अपने द्रव्य को दाहिने बाँये अन्धाधुन्ध लुटा रहे हो जिसे मैं सहन नहीं कर सकता।" इस पर मन्त्री चाहड ने राजा को सगर्व प्रत्युत्तर दिया कि "इसका कारण यह है कि तुम्हारा जन्म तो राज्यवंश में आ नहीं है और मैं स्वयं राज्यकुलोत्पन्न हूँ। इसी कारण मेरी ऐसी प्रवृत्ति है।" (यतः स्वामी परम्परया न नृपतेः सुतः अहम् तु नृपसुतः अतो मयैव द्रव्य-व्ययः साधीयान क्रियते)[२] इस उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि चाहड एक राजपुत्र था, वह कोई वणिकपुत्र अथवा सामान्य गजपाल नहीं था।

चतुर्विंशति प्रबन्ध तथा राजशेखर के प्रबन्धकोष में भी उसे स्पष्टरूप से राज्यकुलोत्पन्न (राजपुत्र) कहा है। इन ग्रन्थों के अनुसार सिद्धराज की मृत्यु के उपरान्त भी कुछ काल तक कुमारपाल राजधानी से अनुपस्थित ही रहा अतः उसके वहाँ पहुँचने तक राज्यमन्त्रियों ने मृत महाराज की पादुकाएँ सिंहासन पर स्थापित करके राज्यकार्य संचालन किया। उस समय मालव राजकुमार चाहड ने राज्य को हस्तगत करना चाहा, किन्तु अन्हिलवाड़े के राज्यमन्त्रियों ने उसे इस कारण स्वीकार नहीं किया क्योंकि वह एक विदेशीय (मालव) वंश का राजकुमार था। अपने न्याय अधिकारों की इस अवहेलना से क्षुब्ध होकर उसने चौहानराज आनक अर्थात् अर्णोराज से सहायता माँगी, और इसी हेतु स्वयं जाकर उसकी सेवा में नियुक्त हो गया[३]। अतः इस विषय में कोई सन्देह नहीं रहता कि चाहड वस्तुतः एक राजकुमार एवं क्षत्रियपुत्र था, कोई वणिकपुत्र अथवा साधारण हस्तिपाल नहीं।

किन्तु चतुर्विंशति प्रबन्ध का यह कथन भी ठीक नहीं जँचता कि यह व्यक्ति मालवराज का पुत्र अथवा कोई भी मालवराजकुमार था। मालवे में उस काल में परमारवंश का राज्य था और सोलङ्कियों एवं परमारों में कोई वंश सम्बन्ध न था। एक परमारवंशी मालवराजकुमार का अन्हिलवाड़े के सोलङ्कियों के सिंहासन पर कोई अधिकार नहीं हो सकता था।

एक यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि संभवतः वह मालव राजकुमार जगदेव परमार हो जिसका अन्हिलवाड़े से सम्बन्ध तथा कुछ काल वहाँ निवास भी रहा था। वह सिद्धराज के राज्यारंभ काल में अन्हिलवाड़े आया था। वह निश्चय ही एक ऐतिहासिक व्यक्ति जैसा कि

१ कुमारपाल के साथ चौहान राज का युद्ध–प्रब० चि०, संपादित जि० वि०, अध्याय १३२
२ वही, मन्त्री चाहड की उदारता, पृ० ६४, अंश १६६
३ जि० वि०–चतुर्विंशति प्रबंध, पृ० ५२, अंश १५१

'जैनद' शिलालेख से सिद्ध है[1] । राजपूत चारण संवत् ११५१ (सन् १०६४ ई०) के लगभग उसके सिद्धराज के दरबार में आने तथा वहाँ रहने का उल्लेख करते हैं। किन्तु साथ ही साथ यह भी कहते हैं कि जब उसे स्वयं अपनी जन्मभूमि (मालवा) के विरुद्ध सिद्धराज के इरादों का पता चला तो वह मालवा वापस चला गया[2] । 'कीर्तिकौमुदी' नामक ग्रन्थ के द्वितीय सर्ग में यह उल्लेख है कि सिद्धराज के शासनकाल के प्रारंभिक भाग में उक्त जगदेव अन्हिलवाड़े का नगर रक्षक (शहर कोतवाल) था, जैसा कि भीम द्वितीय के समय में प्रतापमल्ल था[3] । जगदेव की वीरता और सावधानी ने राजधानी को बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित रक्खा था। किन्तु भीम द्वितीय के शासन के प्रारंभकाल में कोई वैसा शक्तिशाली एवं योग्य नगर रक्षक न होने से सामन्तों और प्रान्तीय शासकों ने राज्य को टुकड़े टुकड़े करके परस्पर में बाँट लिया था[4] । इस उदाहरण से भी यह स्पष्ट है कि जगदेव परमार सिद्धराज के राज्यकाल के प्रारंभ में ही अन्हिलवाड़े आया था और राजधानी का नगर रक्षक रहा था। थोड़े ही समय के उपरान्त उसका वापस मालवे चला जाना भी सिद्ध है। ऐसी स्थिति में इस घटना के लगभग पचास वर्ष पश्चात् सिद्धराज की मृत्यु के उपरान्त उक्त मालव राजकुमार का अन्हिलवाड़े में होना और फिर कुमारपाल से प्रतिद्वन्दता करना असंभव है। मालवे के समकालीन इतिहास में अन्यत्र भी चाहड का कोई चिन्ह नहीं मिलता। उसे कहीं और ही खोजना होगा।

चौहानों के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो पता चलता है कि इस समय चौहानवंशी राजपूत अजमेर अथवा सपादलक्ष में राज्य करते थे और अनाक अपरनाम अर्णोराज उनका राजा था। सिद्धराज के साथ इस चौहान राज का भीषण युद्ध हुआ था जिसमें चौहान पराजित हो गये थे। अर्णोराज संभवतया बन्दी हो गया था और फिर मुक्त भी कर दिया गया था। इतना ही नहीं सिद्धराज ने उसकी वीरता से मुग्ध होकर अपनी एकमात्र कन्या का विवाह भी उसके साथ कर दिया था। इस तथ्य की पुष्टि कीर्त्ति कौमुदी के उस श्लोक से भी होती है जिसमें कहा गया है कि "अर्णोराज अर्थात् सागर की पुत्री (लक्ष्मी) से विष्णु भगवान ने विवाह किया था, किन्तु यहाँ विष्णु तुल्य महाराज सिद्धराज ने स्वयं अपनी ही कन्या अर्णोराज को प्रदान कर दी, विष्णु और सिद्धराज, इन दोनों में मात्र यही अन्तर है[5] ।" बम्बई गज़ेटियर के सम्पादकों ने इस कथन की सत्यता में अविश्वास प्रकट किया है, किन्तु बादको उपलब्ध 'पृथ्वीराज विजय काव्य' नामक ग्रन्थ से उक्त घटना का और अधिक समर्थन हो जाता है। इस ग्रन्थ में तो वह भी

१ वार्षिक रिपोर्ट, हैदराबाद, आर्क० सर्वे, १६२७-२८, पृ० २३०-२३।

२ रासमाला, भा० १, पृ० ११७-१४६

३ कीर्त्ति कौमुदी, सर्ग २, श्लोक० ६८-६६

४ वही श्लो० ६१

५ कीर्त्ति कौमुदी, सर्ग २, श्लो० २८

लिखा है कि सिद्धराज की इस कन्या का नाम काञ्चन देवी था, यद्यपि मूल ग्रन्थ की उपलब्ध प्रति में यह नाम ठीक से पढ़ने में नहीं आता, किन्तु उसकी टीका में स्पष्ट कथन है कि "गुर्जरेन्द्र जय सिंह ने उसे (अर्थात् अर्णोराज को) अपनी पुत्री काञ्चनदेवी विवाह दी जिससे सोमेश्वर उत्पन्न हुआ'[1] । इससे स्पष्टतया प्रमाणित हो जाता है कि प्रसिद्ध दिल्लीश्वर पृथ्वीराज चौहान का पिता सोमेश्वर गुजरात के सोलङ्की नरेश जयसिंह सिद्धराज का दौहित्र था । इसी ग्रन्थ में यह भी कथन है कि उसके जन्म के समय ज्योतिषियों ने यह भविष्यद्वाणी की थी कि यह बालक बड़ा होकर महान कार्यों को सिद्धि करेगा[2] । अतएव इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं कि पुत्रविहीन सिद्धराज ने अपने घर ही, जहाँ कि उसके इस दौहित्र सोमेश्वर का जन्म हुआ था, उसका पालन पोषण किया । यह भी स्वाभाविक ही था कि सिद्धराज उसे अपने राज्य का उत्तराधिकारी बनाना चाहता था । मन्त्रियों के विरोध और त्रिभुवन पाल कुमारपाल, आदि की दुरभिसंधियों को लक्ष्य करके उसने सोमेश्वर के लिये पाटन का सिंहासन सुरक्षित कर देने के उद्देश्य से उसे प्रकाश्यतः अपना दत्तकपुत्र बना लिया और उत्तराधिकारी घोषित कर दिया ।

पूर्वोक्त जैन प्रबंध ग्रन्थों से पता चलता है कि कुमारपाल को अन्हिलवाड़े का सिंहासन प्राप्त करने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था, मुख्यतः वह अपने बहनोई मोधरक्ष के प्रान्तीय शासक कण्हदेव की सहायता से ही राज्य प्राप्त कर सका था[3] । कुमारपाल सोमेश्वर की ओर से भी बहुत सावधान रहा और उसे अपना दर्बार छोड़कर कहीं नहीं जाने दिया[4] । इसके लिये उसने उसे अपने दर्बार में ही एक मन्त्री पद देकर अपने निकट ही रखने का प्रबंध किया । कुमारपाल को भय था कि कहीं वह अपने पिता अनाक से जाकर न मिल जायँ । चौहान राज प्रारंभ से ही गुर्जरराज्य का प्रायः एक शत्रु और कुमारपाल का प्रबल प्रतिद्वन्द्वी रहा था । मृत महाराज का जामाता होने का कारण सिंहासन का वह भी दावेदार था और उसका पुत्र सोमेश्वर तो सिद्धराज द्वारा पालित-पोषित होने, गोद ले लिये जाने और उत्तराधिकारी घोषित कर दिये जाने का कारण न्याय्य एवं एकमात्र प्रबल दावेदार था ही । किन्तु कुमारपाल की इस सब सावधानी के बावजूद सोमेश्वर अवसर मिलते ही अन्ततः पलायन कर ही गया और अपने पिता चौहान राजा से जा मिला ।

कुमारपाल और अर्णोराज के बीच होनेवाले इस युद्ध का जो कारण उक्त जैन लेखकों ने दिया है वह ठीक नहीं है । उनके अनुसार इस युद्ध का कारण अर्णोराज द्वारा कुमारपाल की

१ पृथ्वीराज विजय महाकाव्य, सर्ग ६, टीका श्लो० ३३

२ वही श्लो० ३४

३ प्रब० चिन्तामणि, पृ० ७६, अंश १७७

४ पृथ्वी० म० का०, सर्ग ७, श्लो० ११

बहिन देवलदेवी का जो कि उसके साथ विवाही थी, अपमान किया जाता था[1] । किन्तु पृथ्वीराज महाकाव्य के अनुसार आनक की जो दो रानियाँ थीं उनमें से एक तो मारवाड़ नरेश की पुत्री सुधवा थी और दूसरी सिद्धराज की कन्या कांचन देवी थी[2] । अतः कुमारपाल की बहिन देवल देवी के साथ उसका विवाह होने की बात कुछ ठीक नहीं लगती। या तो यह देवलदेवी चौहानराज की एक तीसरी रानी थी और उसके भाई (कुमारपाल) के द्वारा अपने पुत्र सोमेश्वर का न्याय अधिकार अपहरण किये जाने के कारण अर्णोराज ने देवल देवी का अपमान किया हो और यह कारण पाकर कुमारपाल ने उसके विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया हो। अथवा क्योंकि सिद्धराज की पुत्री काञ्चन देवी भी कुटुम्ब के रिश्ते से कुमारपाल की बहिन ही लगती थी, इन उत्तरवर्ती लेखकों ने उस कुमारपाल की बहिन देवलदेवी के साथ एकीकरण कर दिया। यह भी संभव है कि काञ्चन देवी का ही अपर नाम देवल देवी हो।

इन दोनों राजाओं के बीच दो बार युद्ध हुआ। पहिले में अर्णोराज ने गुजरात पर चढ़ाई की किन्तु वह वहाँ से खदेड़ दिया गया[3] । दूसरी बार कुमारपाल ने अजमेर पर चढ़ाई की और अर्णोराज को बुरी तरह पराजित किया। इस पर उसने कुमारपाल के साथ सन्धि कर ली, साथ ही उसे अपनी पुत्री जाल्हना का कुमारपाल के साथ विवाह करना पड़ा[4] । किन्तु अन्यत्र कई आधारों में उसकी स्त्री का नाम भोपला देवी मिलता है और यह भी कि उसके एक ही रानी थी तथा वह कट्टर एकपत्नी व्रत का पालक था। श्री बनर्जी का अनुमान है कि जाल्हना का ही संभव है दूसरा नाम भोपला देवी हो। किन्तु यह बात ठीक नहीं प्रतीत होती। प्रथम तो, सिद्धराज के जीवन में ही उक्त नरेश की कुदृष्टि अपने ऊपर होने के कारण जब कुमारपाल प्राण बचा कर गुजरात से भागा था तो वह अपनी स्त्री को अपने बहनोई कण्हदेव तथा बहिन प्रमिला के आश्रय में छोड़ गया था। उसकी यही प्रथम पत्नी थी और उसीका नाम भोपला देवी होना चाहिये। दूसरे राज्यप्राप्ति के समय कुमारपाल की आयु लगभग पचास वर्ष की थी, वह अधेड़ हो चुका था और अनाक के साथ उसका यह दूसरा युद्ध उस समय के कुछ वर्ष बाद ही हुआ था। इतनी अवस्था तक उसके अविवाहित रहने का कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। अतः संभव यही है कि सिंहासन प्राप्ति के कुछ समय पूर्व अथवा उपरान्त ही उसकी प्रथम पत्नी भोपला देवी की मृत्यु हो गई हो और तब उसने चौहान राजकुमारी जाल्हना के साथ विवाह कर लिया हो, इससे यह कथन भी असिद्ध नहीं होता कि उसके एक ही रानी थी और वह एक पत्नीव्रत का पालक था। स्वयं उसके गुरु हेमचन्द्र का कथन (जाल्हना विवाह

---

१ चतुर्विंशति प्रबन्ध पृ० १०३, कुमारपाल चरित, सर्ग ४, श्लो० १४०-१७३

२ पृथ्वी० म० का०, सर्ग ६, श्लो० ३१ तथा सर्ग ७ श्लो० १६

३ द्वयाश्रय काव्य, सर्ग १६, श्लो० १३

४ प्राकृत द्वयाश्रय, सर्ग ६, गाथा ४२-७०

सम्बन्धी) असत्य नहीं हो सकता।

प्रथम चौहान गुर्जर युद्ध अन्हिलवाड़े के सिंहासन पर सोमेश्वर का अधिकार सिद्ध करने के लिये ही अर्णोराज द्वारा गुजरात पर आक्रमण के रूप में हुआ प्रतीत होता है। यह भी संभव है कि उसी अवसर पर सोमेश्वर कुमारपाल के दर्बार से भागकर और उसका पक्ष त्यागकर अपने पिता अनाक से जा मिला हो। जैनलेखकों के अनुसार आबू के विक्रमसिंह, नाडौल के चौहान राज केल्हन तथा कतिपय अन्य सामन्त सर्दारों को चाहड ने अपने पक्ष में कर लिया था और ये सब अनाक से जा मिले थे। संभवतया गुर्जरराज के ही इन सामन्तों ने इस युद्ध में कुमारपाल का विरोध इस उद्देश्य से किया हो कि वे चाहड को अपने न्याय्य अधिकार की प्राप्ति में सहायता करना अपना धर्म समझते थे; क्योंकि स्वयं मृत महाराज सिद्धराज ने ही उसे अपना दत्तक पुत्र बनाकर अपने राज्य का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था।

जैसा कि ऊपर कथन किया जा चुका है, चाहड हस्ति संचालन में अत्यन्त दक्ष था, और पृथ्वीराज विजय महाकाव्य में भी सोमेश्वर की एक ऐसी योग्यता का उल्लेख आया है। उसमें कथन है कि एक प्रसंग पर सोमेश्वर अपने हाथी पर से कूदकर शत्रु के हाथी पर जा चढ़ा था और उसे उसने अपने अस्त्र से मार गिराया था। ठीक उसी प्रकार जैसे कि हनुमान जी एक पर्वत पर से छलांग मारकर दूसरे पर्वत पर कूद जाते थे[1]। श्री बनर्जी का कहना है कि इस हाथी को इतिहासकार कर्णनरेश मल्लिकार्जुन का हाथी बतलाते हैं अतः इस युद्ध में सोमेश्वर कुमारपाल की ओर से लड़ा प्रतीत होता है। किन्तु यह उनका भ्रम है उक्त युद्ध में गुर्जरसैन्य का प्रधान संचालक मंत्रीराज उदयन का पुत्र प्रचंड जैन वीर बाहड अपरनाम वाग्भट था। अतः जैन लेखकों ने उक्त युद्ध में जिस वीर का पराक्रम वर्णन किया है वह बाहड था, चाहड नहीं[2]। यह हो सकता है कि चाहड ने भी उस युद्ध में भाग लिया हो। इसमें यह बाधा है कि जब कि चाहड कुमारपाल का प्रतिद्वन्द्वी और विरोधी था तब वह उसकी ओर से कैसे लड़ा? हो सकता है कि क्योंकि चौहान गुर्जर युद्ध समाप्त हो चुके थे और दोनों राज्यों की शत्रुता अब संधि एवं विवाह संबंध के कारण मैत्री में परिणत हो चुकी थी अतएव सोमेश्वर फिर अन्हिलवाड़े वापस चला आया हो। अजमेर में उस समय उसके तीन बड़े भाई और विद्यमान थे अतः चौहान राज्य का उत्तराधिकारी होने की उसकी कोई आशा या संभावना ही नहीं थी।

श्री बनर्जी ने एक और भूल की प्रतीत होती है। उन्होंने हेमचन्द्रकृत संस्कृत द्वयाश्रय काव्य में जो कि सिद्धराज के समय रचा गया था, वर्णित घटनाओं को कुमारपाल से सम्बद्ध कर दिया जबकि उनका लक्ष्य सिद्धराज प्रतीत होता है। प्राकृत द्वयाश्रय अवश्य ही कुमारपाल के राज्यकाल

१ पृथ्वी० म० का०, सर्ग ७, श्लो० १५
२ हमारा० पूर्व लेख-जैन सम्राट् कुमारपाल

की रचना है और उसमें वर्णित घटनाएँ कुमारपाल से ही संबंधित हैं। तथापि जहां तक चाहड के उल्लेखों का सम्बन्ध है, दोनों ही ग्रन्थ प्रमाणिक एवं उपादेय हैं।

कम से कम इतना तो स्पष्ट है कि चाहड के जो वर्णन जैन इतिहास ग्रन्थों में मिलते हैं उनमें तथा पृथ्वीराज महाकाव्य में लिखित सोमेश्वर के वर्णनों में अद्भुत सादृश्य है। दोनोंका अभिन्नत्व सिद्ध करनेवाली कई सुदृढ़ कड़ियां भी मिल जाती हैं, जिनका कि प्रस्तुत विवेचन में यथास्थान उल्लेख हुआ है। चौहान अर्णोराज का सिद्धराज व कुमारपाल के साथ संधिविग्रह, विवाह सम्बन्ध, सोमेश्वर का अपने नाना सिद्धराज के घर लालन-पालन, राज्य के लिये चाहड को तब कुमार कहना, सिंहासन पर उसका अधिकार एवं दावा होना, कुमारपाल से प्रतिद्वन्द्वता एवं शत्रुता, दोनों का ही हस्तिविद्या में सुदक्ष तथा वीर पराक्रमी योद्धा होना, चौहान गुर्जर युद्ध में चाहड का अनाक से जा मिलना आदि बातें इन दोनों व्यक्तियों का अभिन्नत्व सिद्ध करती हैं।

अब यह समस्या रह जाती है कि प्रबंध लेखकों ने उसे चाहड नाम से ही क्यों लिखा, किसी स्थल पर भी सोमेश्वर नाम का प्रयोग क्यों नहीं किया? इसका समाधान इस प्रकार है। कि चौहान का रूपान्तर 'चाहमान' होता है जिसका संक्षेप 'चाह' है, इसमें 'ड' प्रत्यय लगाकर 'चाहड' नाम बन गया ठीक उसी प्रकार जैसे कि चपोत्कट का संक्षिप्त रूप 'चाप' हो जाता है। तथा जिस प्रकार अनेक रानियाँ अपने पितृकुल के नाम पर ही पुकारी जाती थीं यथा चावड़ा रानी, वाघटे रानी, उसी प्रकार अपने नाना मामा के घर खेलते और भानजे भी अपने पितृवंश के अनुसार ही पुकारे जाते थे यथा परमारकुमार, गोहिल कुमार, जेठवा कुमार आदि। अतः इसमें क्या आश्चर्य कि सोमेश्वर भी पाटन में अपने नाना सिद्धराज के घर अपने पितृकुल चौहानवंश के अनुसार 'चाहडकुमार' कहलाया जाता रहा और उसके असल नाम सोमेश्वर का जो संभवतया उसके पिता द्वारा रक्खा गया होगा, गुजरात के इतिहास लेखकों ने कोई उल्लेख नहीं किया। इसी प्रकार पृथ्वीराज विजय महाकाव्य के लेखक द्वारा चाहड नाम का प्रयोग भी असंगत होता।

अस्तु यह बात प्रायः निःसन्दिग्ध रूपमें सिद्ध हो जाती है कि अन्हिलपुर पट्टन के सोलङ्कीनरेश सिद्धराज जयसिंह का दत्तकपुत्र और गुर्जर सम्राट् कुमारपाल का प्रबल प्रतिद्वन्द्वी चाहड कुमार जो उसके साथ द्रोह करके उसके शत्रु पक्ष से जा मिला था, इतिहास प्रसिद्ध दिल्ली के पृथ्वीराज चौहान का पिता तथा सपादलक्ष (अजमेर) के चौहान राज अर्णोराज का पुत्र स्वयं गुर्जरनरेश सिद्धराज जयसिंह का दौहित्र अर्थात् सोलङ्की राजकुमारी काञ्चनदेवी की एकमात्र सन्तान सोमेश्वर ही था।

साहित्य-समीक्षा

भारतीय ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित ग्रन्थ

सर्वार्थसिद्धि (हिन्दी अनुवाद सहित):—संपादकः श्री पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री; मूल्यः बारह रुपये।

आरम्भ में सम्पादक की विस्तृत विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना है, जिसमें ग्रन्थ और ग्रन्थकर्त्ता के सम्बन्ध में सभी दृष्टियों से ऊहा-पोह किया गया है। प्रस्तावना-लेखक ने बड़ी छान-बीन के साथ तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रपाठ की सिद्धि की है। प्रसंगरूप से इस प्रस्तावना में अनेक विचारणीय बातें आई हैं। सर्वार्थसिद्धि में आये हुए अन्य शास्त्रों के उद्धरण स्थलों की विवेचना भी तुलनात्मक रूप से की गई है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि प्रस्तावना बहुत ही उपयोगी है। इसमें अनेक ज्ञातव्य बातों का समावेश है। दो-एक स्थल विवादपूर्ण भी हैं। उदाहरणार्थ वर्तमान तिलोयपण्णत्ति के रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वान् लेखक ने श्री मुख्तार सा० की मान्यता का खण्डन करते हुए उसे पुरातन तिलोयपण्णत्ति से भिन्न माना है। परन्तु प्रस्तुत तिलोयपण्णत्ति में गणित की सहस्रों बातें ऐसी हैं, जिनकी मान्यता सुदूर प्राचीन काल में प्रचलित थी। गच्छ, चय आदि के आनयन की प्रक्रिया बहुत प्राचीन है। इसी प्रकार वृत्त और आयत आदि के गणित प्रकरण भी पर्याप्त प्राचीन हैं। अतएव तिलोयपण्णत्ति के रचनाकाल को केवल लोक-रचना के आधार पर ही निर्णीत नहीं किया जा सकता। सभी दृष्टियों से ऊहा-पोह करने के उपरान्त ही इसका रचनाकाल निर्धारित किया जा सकता है।

ग्रन्थ के मूलपाठ को शुद्ध रूप में रखने का प्रयास प्रशंसनीय है। अनुवाद कतिपय स्थलों पर भावानुसारी है। यों तो विद्वान् अनुवादक ने पंक्ति-अर्थ को स्पष्ट करने का पूरा प्रयास किया है, तथा पंक्ति-अर्थ स्पष्ट है भी; किन्तु फिर भी अनुवाद शब्दशः न होकर भावानुवाद ही है। अनुवाद की भाषा सरल और स्पष्ट है। सम्पादक शास्त्रीजी और प्रकाशक ज्ञानपीठ साधुवादार्ह हैं, जिनकी कृपा से गम्भीर गुरुतर ग्रन्थ भी स्वाध्याय के लिए उपलब्ध हैं। ज्ञानपीठ का प्राचीन जैन साहित्योद्धार का यह कार्य नितांत श्लाघनीय है। यह ग्रन्थ स्वाध्याय प्रेमियों के लिए उपयोगी है। छपाई-सफाई, गेट-अप आदि बहुत अच्छे हैं।

कालिदास का भारत (द्वितीय भाग)—लेखकः श्री भगवतशरण उपाध्याय; मूल्यः चार रुपये।

उपाध्याय जी ने कालिदास कालीन भारत का विवेचन दो भागों में किया है। प्रथम भाग में कालिदास के आधार पर जनपद, राज्यसत्ता, सामन्त, अमात्य, राज्यकार्यागार और अधिकारी वर्ग का विवेचन करते हुए समाज का ढाँचा एवं वैवाहिक रीति-रिवाजों का विवेचन किया गया है। यह प्रथम भाग भी प्राचीन काल की भारत की सभ्यता एवं संस्कृति को अवगत करने के लिए उपयोगी है।

प्रस्तुत भाग में कालिदास कालीन ललित कलाओं की विवेचना की गयी है। विद्वान् लेखक ने ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर ही कलाओं के उत्कर्ष और अपकर्ष पर प्रकाश डाला है। कालिदास के साहित्य के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि उनके समय में कविता, नाटक, संगीत तथा नृत्य का पूर्ण विकास और प्रचार था। विवाह और वसन्तागम के अवसर पर प्राचीन काल में अभिनय का आयोजन किया जाता था। प्रेक्षागृह और रंगमंचों की पूरी व्यवस्था थी। संगीत और नृत्य की उन्नति भी कालिदास के समय में अधिक थी। इनके अतिरिक्त चित्रकला, भास्कर्यकला, तक्षणकला और स्थापत्यकला का वर्णन भी किया गया है। कालिदास के समय में राजा-महाराजा कला के आश्रय दाता थे, राजमहलों में कला पलती थी, अतः उस समय सभी प्रकार की ललित कलाओं की उन्नति थी। इस पुस्तक के पंचम खण्ड में धन और समृद्धि, षष्ठ खण्ड में शिक्षा और साहित्य एवं सप्तम खण्ड में धर्म और दर्शन की विवेचना की गयी है। वर्णन शैली सरल, स्पष्ट एवं ऐतिहासिक है। लेखक ने अपने कथन की पुष्टि में ऐतिहासिक प्रमाण कम ही उद्धृत किये हैं। केवल अर्थशास्त्र के साथ ही तुलना की है।

कालिदास के ग्रन्थों में वर्णित भारत को जानने के लिए पुस्तक बड़ी उपयोगी है। उनके द्वारा निरूपित राजनीति, अर्थनीति एवं साहित्यकला-कौशल आदि को इस पुस्तक द्वारा सहज में जाना जा सकता है। हम लेखक को साधुवाद देते हैं, जिसने इस प्रकार की उपयोगी रचना हिन्दी साहित्य को दी।

धूप के धान—लेखक: श्री गिरिजाकुमार माथुर; मूल्य: तीन रुपये।

प्रस्तुत कविता संग्रह के आदि में कवि का 'निवेदनम्' शीर्षक है, जिसमें नवीन कविता की समस्याओं और समाधानों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। इस संग्रह की कविताओं को रुमानी गीतात्मकता, यथार्थ और रुमानी का समन्वय एव मानववादी बहिर्मुख भावधारा इन तीन मुख्य भागों में विभक्त किया जा सकता है। तीनों भागों की कविताओं में काव्यत्व है। भाव, भाषा और काव्य सौष्ठव की दृष्टि से कविताएँ अच्छी हैं। चंदरिमा, सावन की रात, हेमंती पूनो, पूरब की किरन, तीन ऋतु-चित्र प्रभृति कविताएँ वर्णनात्मक हैं, पर हृदय को छूनेवाले तत्त्वों की कमी नहीं है। मिट्टी के सितारे शीर्षक की निम्न पंक्तियाँ जीवन में हल-चल उत्पन्न कर देती हैं:—

है दीप एक, पर मोल सूर्य से भी भारी
है व्यक्ति एक वर्तिका, दीप धरती सारी
देखो न दुखी हो व्यक्ति, उठे इंसानी लौ
वनखण्ड जलाती सिर्फ एक ही चिनगारी

हे झंझा पथ, पद आहत, दीपक मद्धिम है
संघर्ष रात काली, मंजिल पर रिमझिम है
लेकिन पुकारता आ पहुँचा युग इंसानी
दो कदम रह गया स्वर्ग, चढ़ाई अंतिम है

कविताएँ जीवन में ज्योति जलानेवाली हैं। पाठकों के हृदय तार झंकृत हुए बिना न रहेंगे। संग्रह अच्छा है, छपाई-सफाई अच्छी है।

ध्वनि और संगीत:—लेखक : श्री प्रो० ललितकिशोर सिंह एम० एस सी०; मूल्य: चार रुपये।

ध्वनि और संगीत शास्त्र पर इस प्रकार की अन्य प्रामाणिक कृति हिन्दी में अब तक प्रकाशित नहीं हुई है। आरम्भ में कंपन और आवृत्ति का वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन किया गया है। लेखक ने विषय को रुचिकर बनाने के लिये चित्र भी दिये हैं। कंपन किस प्रकार होता है तथा यह ध्वनि कंपन हमारे कानों तक किस प्रकार पहुँचता है, इसका भी विवेचन किया गया है। ध्वनियों की वक्रता, तरंग, वेग, तार-तम्यता, तीव्रता, अनुनाद, स्वर-ग्राम, स्वर-संवाद एवं स्वर-संघात पर वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि अंग्रेजी भाषा में इस प्रकार की रचनाओं की कमी नहीं, पर हिन्दी में यह पहली ही कृति है, जिसमें विज्ञान-सम्मत विश्लेषण किया गया है। प्राचीन स्वर-संग्राम, मध्यकालीन स्वर-संग्राम और आधुनिक स्वर-संग्राम का विश्लेषण सोदाहरण किया गया है। नाद, ध्वनि, रव का विवेचन भी मनोहारी है। संगीत शास्त्र के स्वर, उनके उतार चढ़ाव तथा ताल-लय आदि पर प्रकाश डाला गया है। ध्वनियों के उत्पत्ति-स्थान, उत्पत्ति का क्रम एवं उनके रूप-सौन्दर्य का निरूपण भी महत्वपूर्ण है। शास्त्रीय दृष्टि से यह रचना अत्युत्तम है, लेखक ने हिन्दी को यह अपनी अनुपम देन दी है। इस प्रकार की श्रेष्ठ रचनाओं से ही हिन्दी साहित्य का मस्तक गौरवान्वित हो सकता है। जिज्ञासुओं को इस रचना से लाभ उठाना चाहिए।

—नेमिचन्द्र शास्त्री

पहला कहानीकार—ले० श्री रावी; प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड रोड, काशी; मूल्य ढाई रुपया।

लेखक के अनुसार—'किसके लिये'? 'पत्नियों का द्वीप', 'उपजाऊ पत्थर' और 'पाप का पुण्य' के बाद यह 'पहला कहानीकार' मेरी लम्बी कहानियों का पाँचवाँ संग्रह है। पुनः इस संग्रह के सम्बन्ध में लेखक की अपनी सम्मति—'दूसरे संग्रहों की अपेक्षा, मेरी इस नव-उपार्जित 'लघु कथा' की शैली और रूप का आभास अधिक स्पष्ट मात्रा में झलक आया है, —भी इस संग्रह के सम्बन्ध में एक स्वतंत्र धारणा है और लेखक के शिल्प-विधान के क्रमिक विकास को समझने-समझाने में सहायक है।

आजका नवोदित कथाकार कहां है ? क्या है ? किस ओर है—यह सामयिक प्रश्न अपना जोर पकड़ रहा है। आज के कथाकार की आख्यान-मूकता का यह स्वाभाविक हठवाद है कि वह अपनी अभिव्यक्ति के क्षणिक नुकीलेपन, पेंचदार शैली के आकस्मिक प्रयोगों के द्वारा पाठक को अभिभूत कर लेना चाहता है। थोड़ी देर तक पाठक की सहानुभूति उनकी अभिव्यक्ति के साथ टिक पाती है पर अन्ततः वह गुदगुदी अपना समग्र प्रभाव बिखेर देती है। समूची कहानी को पढ़ने के उपरान्त हाथ लगती है एक झुंझलाहट, चरित्रों और भावों की एक दुरुह अस्पष्टता निश्चय ही यह कथा-साहित्य पर आधुनिक प्रयोगात्मता का प्रक्षेपण है। कहानी जन-मानस की स्थायी निधि है—वह जीवन के अधिक निकट है और कहानी के शिल्प-विधान की वह प्रगति जीवन पर अपने प्रभाव की अन्विति कर पायगी या नहीं यह संदेहास्पद है। शिल्प-विधान की सूक्ष्मताओं और नवीनताओं से कहानी समृद्ध हो जाय यह कहाँ तक कुछ स्वीकार्य हो सकता है; जबकि वस्तु के नाम पर हमें कुछ भी नहीं प्राप्त हो। कहानी की वर्तमान प्रगति के प्रति यह निराशाजनक दृष्टिकोण नहीं—बल्कि वस्तुस्थिति का यथार्थ निरूपण है। नई अभिव्यंजना का स्वागत है विकास और स्थापत्य दोनों दृष्टियों से—पर उसकी प्रभावशून्यता का मार्जन हो वस्तु और जीवन-मूल्यों के प्रति एक समरूप एकान्तिक आग्रह रखकर।

निश्चय ही 'पहला कहानीकार, में इस निराशावादिता में एक संतोष और आस्था के दर्शन होते हैं। हम यों कह सकते हैं—इसका सब कुछ नूतन है—कही हुई वस्तु भी, कहने का ढंग भी। पर यह कथन सबको मान्य नहीं हो सकता। 'रावी' आज की परिष्कृत रुचि के साथ पैठ नहीं पाते, भले ही वह अपनी कहानियों की वर्णनगत सरलता और कथावस्तु के नये उपादानों के संग्रह के द्वारा, जो अपने चुनाव में मौलिक है और चित्रण में आदर्श, पाठक से समझौता कर लें। इसको हम रावी की मौलिक सफलता कहें या उनकी अप्रसन्न असफलता। निश्चय ही 'मौलिक सफलता' और यहाँ ऊपर के वाक्यों की दूसरी मान्यताएँ खंडित हो जाती हैं। कोई भी गंभीर चिन्तक इस बात को इस संग्रह में माप सकता है और ऐसा द्वन्द्व उठना स्वाभाविक हो सकता है। रावी के सम्बन्ध में यह असमंजस उनकी अनुपम सूझ और उनके अन्दर एक अपने प्रति पूर्ण आस्थावान कथाकार के पनपने का सूचक है।

'पहला कहानीकार' की सभी कहानियाँ अपने प्रभाव में सरल और वर्णन में व्यावहारिक है। कहानियों का प्रारंभ एक शांत, सुचिन्ति ढंग से होता है और अंत तक जाते-जाते पाठक की चेतना का कथाकार की चेतना के साथ पूर्ण सादृश्य हो जाता है। अधिकांश कथानक प्राचीन जीवन और विचारों से सम्बद्ध हैं। 'पहला कहानीकार' इन्द्र, ब्रह्मा, बृहस्पति तक को अपने कथानक में चित्रित करता है। एक नवीन-क्रम-भंगी के द्वारा सिद्ध किया गया है कि "कल्पना उसका कार्योपकरण है और कहानीकार उसका जातिवाचक नाम है। पहला कहानीकार ब्रह्मा का

सर्व प्रथम सह-निर्माता है।" इस प्रकार अधिकांश कहानियाँ एक न एक मान्यता की स्थापना करती सी दिखाती हैं। "कैश बुक के पन्ने" जैसी कहानियाँ वह और लिखें। इस कहानी में मानव जीवन बचपन से लेकर बुढ़ापे तक मन का क्रमिक विकास, अनुभूतियों का प्रस्फुटन और उनकी तज्जन्य प्रतिक्रियाओं का सुन्दर विवेचन है। संक्षेप में सभी कहानियों की अनुभूति नई है और आदर्श के प्रति एक गहरा आग्रह है। आदर्श चित्रण राही की इन कहानियों की प्रमुख विशेषता है जो आज की कहानियों में नहीं मिलती। आदर्श-चित्रण की प्रणाली नई है। कहानियों का वातावरण अपना है।

कहानियों की शैली लघु है। पर शैली की यह लघुता आजकी अन्य कहानियों से भिन्न और मौलिक है। छोटी कहानियों में बड़ी बात कही गई है। हम राही के इस विकास से आशावान हैं। ऐसी कहानियाँ वे लिखें, जरुरत है।

छपाई, गेटअप आदि सुरुचिपूर्ण हैं।

—श्रीराम तिवारी बी० ए० (ऑनर्स)

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XX JUNE, 1954. No I

Edited by

Prof. A. N. Upadhya, M. A., D. Litt.
Prof. Jyoti Prasad Jain, M. A., LL. B.
Sri, Kamata Prasad Jain, M. R. A. S., D. L.
Pt. K. Bhujbali Shastri, Vidyabhushan.
Pt. Nemi Chandra Shastri, Jyotisacharya

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH BIHAR, INDIA.

Annual Inland Rs. 3. Single Copy Rs. 1/8

CONTENTS



Yoga-Nārayaṇa image of Jodhpur Museum

The
JAINA ANTIQUARY

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"
[अकलंकदेव]

Vol. XX No I | ARRAH (INDIA) | June 1954.

" INFLUENCE OF JAINISM ON A UNIQUE IMAGE OF YOGA-NĀRĀYAṆA FROM RĀJAPUTĀNĀ "

By
R. C. Agrawala, M. A., Superintendent
Archaeology & Museums, Jodhpur (India).

Indian scholars have published a lot of material pertaining to the stone images of *Yoga-Nārāyaṇa* so far discovered in different parts of India.[1] In such sculptures, Viṣṇu (a prominent deity of the Hindu pantheon) is to be seen sitting with his lower hands in a meditating posture[2] while the upper two hands carry his usual weapons[3] (*āyudhas*).

The Sardar Museum at Jodhpur[4] (Rājpūtānā) contains a black stone image (brought from Ḍiḍawānā[5] Jodhpur division) depicting

1. Cf T. G Rao, *Elements of Hindu Iconography*, Madras, I (i) pp. 85ff ; J. N. Banerjee, *Journal of the Indian Society of Oriental Arts*, Calcutta, XIII, pp. 89-95; C. Śivaramamūrti, *Ancient India* (*Bulletin of the Archaeological Survey in India*), New Delhi, VI p. 4 plate XII A,B.

2. Also called as *vaddhapadmāsana* (or *Yogāsana*) *mudrā*.

3. They usually include the mace, the conch, the lotus and the wheel.

4. The writer of this paper now happens to be the Superintendent of this Museum.

5. Situated in *tahsīl* Diḍawānā of District Nāgour.

the *Yoga-Nārāyaṇa* device in a unique way.[6] This sculpture belongs to the early mediaeval period[7], somewhere towards the middle of ninth century A. D. It measure about 18 inches in height and 13 inches in breadth and shows happy signs of perfect preservation.

In the sculpture, under study, four handed Viṣṇu has the palm of his lower two hands placed one over the other (between the soles of feet) in a traditional manner. They have covered the naval portion of the deity altogether. Underneath the legs of Viṣṇu hangs the garland which rests on the upturned lotus throne. Just below this lotus-throne, two persons (facing each other) are looking at the deity with their hands folded To the right and left of these devotees have been carved the *siṃhavyālas*; and just above them the *makaravyālas*, the *aśva-vyālas* and the *gaja-vyālas* in a descending order.

Viṣṇu himself wears the tiara (*kirīṭa mukuṭa*) on his head, sacred thread on the body and some ornaments round the neck, ankles, arms, ears etc. There is also a *śrīvatsa* mark in the middle of the chest. Behind the head of the deity appears a hallow encircled by 13 hoods of a snake. On both the sides of the deity appear the flying *gandharvas*, very keen to garland the meditating deity seated below.

The most remarkable feature of the above image is the *presence of the garland in both the upper hands of Viṣṇu*. The weapons[8], usually held by Viṣṇu, are not to be seen anywhere in this sculpture That is the reason why the above image of Jodhpur Museum stands unrivalled in the realm of ancient Indian art Most of the details of this image are somewhat akin to those presented by D. 37 image (of *Yoga-Nārāyaṇa*) preserved in the Archaeological Museum at Mathurā.[9] But the garland upheld in the upper hands is conspicuous

6. Cf. My paper in the *Journal of the Museums Association of India*, Bombay, 1953, IX, pp. 104-5, plate XXII, figure 46 facing p. 104.

7. Dr H. Goetz (during a personal talk at the Oriental Conference held at Ahmedabad in November 1953) too agrees with this view.

8. As a matter of fact we even expected any of these weapons either below the lotus throne or in the hands of the persons seated below

9. This sculpture has been illustrated by Dr. V. S. Agrawala, *Handbook of the Sculptures in the Curzon Museum of Archaeology Muttra*, 1939, Allahabad, Plate XXII, figure 45, *ibid*, pp. 56, 60.

by its absence even in the sculpture of the Mathurā Museum. Numerous *Yoga-Nārāyaṇa* images have been recovered from various parts of Rājpūtānā too but none of them stands in comparison with the one from Ḍiḍawānā (as discussed above).

It now remains to be searched under what literary initiative did the sculptor of Rājaputānā fashion this unique image altogether in an untraditional manner ?

It is also essential here to scrtunize the contents of an epigraph (dated 1161 A. D.) from Nāḍol (Jodhpur Division). This inscription[10] refers to a harmonious relationship as existed between the members of the Jaina community and the followers of the Brahmanic faith. This is evident from the fact that Viṣṇu, Brahmā and Śiva[11] have all been called as *Jinas* ie. adherers of Jaina philosophy. There is no wonder then that the members of the local Jaina and Brahmanic communities got the above image of Viṣṇu fashioned in such a manner as to suit the taste of all and to serve the purpose of being worshipped by the non-Vaiṣṇavas too. That may account for the utter absence of the weapons of Viṣṇu in the above image. The image thus might have become an object of common worship for any devotee who believed in the efficacy of meditation and idol worship Nay, it could even prove worth adoration at the hands of the staunch followers of Śiva, Buddha etc. But the new device appears to have been invented under the influence of Jainism alone which was quite popular in Rājasthān in the mediaeval period. Perhaps the Vaiṣṇavas did not even hesitate in departing from the traditional mode of carving the *Yoga-Nārāyaṇa* images. It is to be searched further whether any literary text allows the carving of this type of images in altogether a unique way, as has been put forth by the above sculpture of the Jodhpur Museum

10. *Epigraphia Indica*, IX, pp. 67-8.

11. Cf. *Progress Report of Archaeological Survey* (*Western Circle*), Poona, 1905, p. 55 referring to the following statement :—"On the dedicatory blocks of many Śaiva temples in Rājapūtānā, Śiva is figured like a *Jina*. This is an interesting feature of Brahmanical iconography which requires to be carefully and thoroughly studied."

"The Museum at Indore contains an interesting image (of Yogeśwara Śiva) which looks like that of Riṣabhadeva; Cf. *The Jain Antiquary, Arrah*, XVIII (ii), pp. 1-5."

SOME TALES OF THE BṚHATKATHĀKOŚA, THEIR ORIGINALS AND PARALLELS

By
Sri Kalipada Mitra, M.A., LL.B.

Hariṣeṇa's *Bṛhatkathākośa* has been edited by Dr. A. N. Upadhye in Singhi Jain Granthamālā, Bombay. Dr. Upadhye thinks that Hariṣeṇa finished the work in A. D. 931-32. In the introduction (p. 90) of his edition he observes: "Hariṣeṇa's treasury contains the biggest number of tales ...it is the earliest in time....and lastly the correspondence of its stories with the gāthās of the Bhagavatī Ārādhanā is more extensive and perfect and thorough in sequence. It is really unfortuate that no Ārādhanā-Kośa earlier than that of Hariṣeṇa has come to light, so for the present there is no evidence to assess his indebtedness to his predecessors." I am selecting just a few tales from the *Bṛhatkathākośa* by way of examining his opinion regarding Hariṣeṇa's indebtedness.

I. ŚREṆIKA-KATHĀNAKAM (No. 55.)

There are some items in this tale that can be traced to the *Nandīsūtra*, an ancient Jaina canonical text, and even these relevant items of the *Nandīsūtra* itself can be traced to the *Nāyādhammakahāo.*[1]

1. I am using the following abbreviations for works consulted :

B-K—Bṛhatkathākośa of Hariṣeṇa.

F.S.P —Folklore of the Santal Parganas by Bompas.

F.T.K.—Folk Tales of Kashmir by the Rev. J. Hinton Knowles (London, Trubner Co., Ludgate, 1888)

Jāt —Jātaka

Nāyā—Nāyādhammakahāo or the Jñātadharmakathāngaṃ. Āgamodaya-samiti Edition)

NSC—Nandīsūtra Commentary by Malayagiri

RTP—Romantic Tales of the Panjāb

ŚK—Śreṇika-kathānakam

T. P. Tales of the Panjab by Steel

TT—Tibetan Tales by Schiefner and Ralston with introduction by Mrs Rhys Davids, Broadway Translation, 1928 Prof Schiefner "translated them from *Kāh-gyur*, all the legends and fables of which are merely Tibetan versions of Sanskrit writings introduced into the country in the 12th and 13th centuries." The tales in Sanskrit writings were mostly derived from Pāli-Buddhistic literature, especially the Jātakas

I have also found in some items of *Ś-K* striking parallels in tales Indian, Arabian, Tibetan and European.

MOTIF OF QUASI-IMPOSSIBLE TASK IN Ś-K.

Prince Abhayakumāra comes to the village Nandagrāma and solves for the villagers perplexing riddles (in the manner of Rohaka in *NSC* and Mahosadha in Jāt no. 546) in which are couched royal orders which apparently seem incapable of being executed. The King becomes angry and orders him to come to him in the following wise :

Mā divā mā rajanyāṃ ca mā pathā mā bhuvā khalah I
Yāne nāyaṃ sudusṭātmā turṇametu madantikaṃ II

i.e "Let the wicked one come to my presence immediately, but not by day nor by night, not by road nor by earth, nor by any other vehicle; unless he does so, I will kill him, and the villagers of Nandagrāma"

Tato'bhayakumāro'pi sandhyākāle mahāmati I
Gaddhikā lambikārūḍho jagāma Śreṇikāntikaṃ II

"Then the wise Prince Abhayakumāra came to the presence of King Śreṇika in the evening riding on a ram (or goat) in the middle space between the wheels of a cart."

Here the Sankritised form *gaddhikā* stands for Prakrit *gaḍḍiā*, a cart, and *gaḍḍariyā*, a goat (or ram).

The above incident has been fully related by Malayagiri in his commentary on the *Nandīsūtra*, his expression corresponding to *gaddhikā lambikārūḍho* being "*gantricakrasya madhyabhūmibhāgena ūraṇamārūḍho*" (p. 147a—Āgamodaya ed. Bombay, 1924) meaning "riding a ram or goat in the middle space between the wheels of a cart."

The following version appears in the *NSC* in all embellishment :

Then the Raja summoned Rohaka in this wise: "Let the boy who has executed all my orders by his wisdom come to me, but he must not come in white or black fortnight, by day or night, in shade or in the sun, neither by air nor on foot, neither by the usual path nor unusual, neither having bathed nor not having bathed." When Rohaka heard the order he bathed his neck, and occupying the middle space between the wheels of a bullock cart rode a ram, held

a sieve as an umbrella, and came to the king in the evening at the conjunction of *amāvasyā* (new moon) and *pratipat* (the first lunar day.)

Earlier Rohaka executed the following order of the king: "Cook pāyasa (milk-rice) without the agency of fire" Rohaka gave this advice: "Pound the rice finely with water, heat well cowdung cake, straw etc. in the rays of the sun, and on the mass so heated place the dish containing milk and the pounded rice for time enough to cook into *paramānna*." This corresponds to Test no. 14 in Jāt no. 546 —"The boiled rice.":—"The people of the East Market Town must send us some boiled rice cooked under eight conditions, and these are—without rice, without water, without a pot, without an oven without fire, without firewood, and without being sent along a road, either by man or woman etc." This incident of the Jāt tale reappears in a developed version in TT (pp. 138-39) in the following guise: "The King orders Purna to supply some rice which had not been crushed with a pestle and yet was not uncrushed, and which had been cooked neither in the house nor out of the house, neither with fire, nor yet without fire, sending it neither along the road, nor yet away from the road, without its being shone upon by the daylight, but yet not in the shade, not together with a woman, but also not with a man, by one not riding, but also not on foot." Mahauṣadha caused the grains to be shelled by nails of women, put into a pot cooked in the sun on the threshold, and the pot covered over with a thin cloth and fastened to the end of a stick was carried by a hermaphrodite who wore shoe on one foot only and walked with one foot on the road, and the other by the road."

[We have in the Hindu mythology the conferring of an apparent-immortality-boon (e.g.) on Hiraṇyakaśipu father of Prahlāda, that he will not be killed by day or night, on earth or not on earth, by man or animal, by any weapon etc and yet his death was compassed by Narasiṃha, the Man-Lion avatāra of Viṣṇu, who burst out of a crystal pillar in the evening, and placing him on the thigh, plucked out his entrails with nails etc.]

Incidentally I have to observe here how an author in his Sanskrit version of a tale in Prakrit gives a Sanskrit complexion to a Deśī or Prakrit word (an instance of back formation); e.g. in this case *gaḍḍī* (cart, *gaḍḍī*, *gāṛī*) has been sanskritised into *gaddhikā* which in turn

may be taken by an unsophisticated person to be the respectable form for *gadhā* or donkey! And in all probability Hariṣeṇaś *gaddhikā* may have inspired the suggestion of a similar situation in an Arabian tale from Fez, named *Carpenter's Daughter,* where (Test no. 1) the Sultan says: "You must come to me at the same time mounted and on foot, and weeping and laughing at the same time." The solution provided was: "Get a little donkey, such a one as can walk between your legs without your sitting on him. And for the second order, apply onion to your eyes and weep."

The tale is included in the *Tales of Fez* (published in the *Eastern Love Series,* Vol. no. 4) from the Arabic by E Powys Mathers. I quote the following lines from the Introductory Note: Of the ten Tales of Fez the first nine are selected and translated from *Contes Fasis,* an admirable volume in which M. E Dermenghen, a young anthropologist and writer of considerable talent and Mohamed El Fasi have made (taking them from the lips of the latter's grandmother) a collection of simple fairy stories quite peculiar to the city of Fez. Their book is the only one which has been written out of this material. The tradition of these tales is an entirely amateur one, and is said to be dying out, they are told in the household at evening, nearly always by women. and though ostensibaly addressed to the children of the house, make a strong appeal to all adults."

Notwithstanding what has been said about the peculiarity of these tales and their tradition, I have found their parallels in Indian tales and I strongly believe that they migrated from India.

In the afore-mentioned *Carpenter's Daughter* the girl shows remarkable intelligence in solving riddles and deciding issues and so pleases the Sultan that he marries her. She answers to her proto-type, Amarā (ther iddle-unlocking maiden), whom Bodhisattva Mahauṣadha marries (Mahā ummagga Jat. no. 546.)

It may seem rather incongruous to introduce here the laughing-and-weeping motif[2] and make it nestle in a single sentence with the task-motif, and the fix is got over by applying onion to the eyes to force tears! And the naivete of the remedy appears when we con-

---

2. A stock motif-Cf. Jat. I, 52; the *Four Princes* pp. 434-35 in *FTK*; RTP (p. 161); *TP* (pp. 243 ff) etc.

sider its probable origin in Jat. no. 546 where Amarā explains why she laughs and weeps: Sā Mahāsattaṃ mahāsampattiyaṃ ṭhitam na sañjāni, oloketvā ca pana hasi ceva rodi ca. So ubhinnam pi kāraṇaṃ pucchi. Atha naṃ sā evam āha: "Sāmi, aham hasamānā tava sampattim oloketvā ...aho puññānaṃ phalam nāma'ti hasim, rodamānā pana 'idāni parassa rakkhita-gopita vatthumhi aparajjhitvā Nirayaṃ gamissatīti tayi kāruññena rodin'ti.

But this is not to be wondered at. Such an ancient tale as the Jātaka must have gone in course of time through a varied deciduous process and one item of the tale in a strange permutation was at a later time transported from India to Fez by some trader—of Fez or India.

MOTIF-INTELLIGENCE-TEST IN BRIDE CHOOSING.

To test the intelligenc of a girl with a view to find out whether she would make a suitable partner in life is a familiar motif. The *modus operandi* is to converse with her in an enigmatic or paradoxical way, or propound riddles to her and see whether she understands the enigma or the riddle and returns the right answer. The earliest instance of this device I have come across is to be found in the said Jātaka when Mahosadha goes out, finds the beautiful and auspicious-mark-bearing Amarā, the daughter of a poor *śreṣṭhi*, who rightly understands the sign language and otherwise passes inteligence tests, and ultimately marries her.

We have seen how conundrums were tackled by Rohaka and his congener Abhayakumāra in Jain versions, as well as by Mahosadha in Jātaka and its derivative in TT (Mahauṣadha and Viśākhā) and that brides pass intelligence test e.g. Amarā and the Fez girl. Now here is a Lithuanian tale, a near though thin parallel of the Tibetan tale: "A gentleman promises to marry a village maiden if she can fulfil certain conditions: If you come to me neither clothed nor bare, nor riding nor driving, nor walking, not along the road, not beside the road, nor on the footpath in summer and likewise in winter and then I will marry you."

The Sultan in the Fez tale sets two other tests to the Carpenter's daughter which undoubtedly prove their Indian origin.

Test no. 2. The Sultan ordered a robe to be made out of a block of marble, The Carpenter's daughter gave the advice: "Request

the Sultan to send some threads of sand to sew the robe with, 'for sample." This is obviously suggested by Test no. 15 of Jat 546 where we find Mahosadha advises the villagers to request the King to send as sample some old ropes of sand. In *TT* Purna is advised by Mahauṣadha to request the King to send as sample a rope of sand, similarly in *NSC*.

Test no. 3. One day the Sultan had to judge between two men who were disputing over a newborn foal The one owned a gelding, the other a mare, and both animals dwelt in the same stable with each of the men looking after them in alternate days. "My mare was full", said the plaintiff, "and on the day she was due to bring forth, it was my comrade's turn to look after the stable. When I entered in the evening I saw the newborn foal under the gelding and not under my mare. O Commander of the Faithful, does it not nevertheless belong to me in spite of the perfidious substitution ?" The Sultan gave the judgment: "The foal belongs to the man under whose beast it was found, you may retire." The aggrieved suitor was advised by the Carpenter's daughter to complain that fishes ate up the young shoots of grain he sowed in a field. When the Sultan said, 'Do fishes eat grass?' he replied: "But do geldings bring forth ?" Of this tale we find many parallels in Indian folk lore. The exact parallel occurs in *FTS* story of *Changed Calf.* (no. XII). I have thoroughly discussed the "impossibilities" motif in *JBORS* (Vol. XII, pp. 561 ff) where I have cited Test no. 13 (Jat. 546), the Orissan folk tale *Bitua Nana*, Ho (*Dūkua*), Swynnerton's *Indian Nights Entertainments* (the traveller and the oil man), Stumme's *Tunische Marchen*, Grimm's *Die Kluge Baurentochter*, Kaden's *Unter den olivenbaumen* etc.

In *Ś-K* we find that Abhayamati, the intelligent daughter of Somaśarmā, elucidates some unintelligible questions that Śreṇika put to her father whereupon Śreṇika is impressed by her intelligence and marries her.

Śreṇika proposes to Somaśarma :

Māṃ skandhena vaha tvaṃ bho tvāṃ vā pathi vahāmyaham ।
Anena ca vidhānena mārgo gamyo bhaved dvija ॥

[Carry me on your shoulder, or shall I carry you, on the road ? In this wise the road will be easily travelled, O Brāhmaṇa."]

Somaśarmā takes Śreṇika to be a *gahillaka* (i. e. one possessed by

demons) and talking incoherently, Abhayamatī explains that Sreṇika means :

Vipra me brūhi cittastham śobhanaṃ hi kathānakam ।
Ahaṃ vā te gadāmīti sukhena pathi gamyate ॥

[Tell me, O Brāhmaṇa, some pleasant story that may be in your mind, or shall I tell you one such so that we may have a pleasurable journey ?]

This motif is found in other Indian tales, e.g. in *FTK*, *FSP* (The Bridegroom who spoke in riddles, no. LXXXIX) etc., also in an Arabian tale mentioned below.

A. Will you carry me or shall I carry you ?

(a) *FTK* has: "Don't you think it would be pleasanter if you and I sometimes gave one another a lift ?"

(a 1) *FSP* has: Kora sets out to find his wife. He travels with an old man and talks to him, "Let us take in turns to carry each other, we shall neither of us get tired and shall do the journey more comfortably."

B. In *ŚK* :

Pathi kṣetraṃ vilokyāyaṃ Kumāro vadati sphuṭam ।
Kṣetrapālaka kiṃ kṣetraṃ bhakṣitaṃ bhakṣayiṣyate ॥

[On the way, the Prince sees a cornfield and speaks out: "Will the owner of the field eat the eaten field ?]

The girl explains :

Adhunā kṣetravākya-ya nigadāmi tatvārthakaṃ ॥
Yadi bhaktaṃ samādāya parakīyaṃ hi yujyate ।
Tato bhakṣitamevedaṃ kṣetraṃ janaka mūlataḥ ॥

[Abhayamatī says: "Now I will unfold the true import of the question regarding the field, 'If he has already taken the rice and tills the land which thus belongs to another, then, O father, the field has already been eaten at the root.']

FTK has: The meaning is—'If he has been a debtor, the produce is as good as eaten to him, i. e. it would have to go to his creditor.'

In the *TT* story of the *Dumb Cripple* (which I strongly believe to be the Tibetan version of the Muga-pakkha-jātaka no. 538) the Prince remarks: "If this heap of grains were not continually devoured at its base it would become great" and explains: "The tillers of the

soil, after they have borrowed corn and have used it are obliged to give a large heap of corn; therefore they consume it at the base."

The Arabian tale referred to occurs in the *Ninety Short Tales of Love and Women from the Arabic* being the Eighth volume of Eastern Love Series (English version by E. Powys Mathers, 1928): Tale no. 74—*A Suitable Couple*, wherein Al-Sharki tells the following :

Among the most subtle and intelligent Arabs of his time was a man named Shann "By Allah," he said, "I will wander until I have found my equal for a wife." As he was on his journey, he met a man and asked him where he was going. The other replied that he was going to such and such a place, naming a village to which Shann himself was making. So the two travelled together, and as they went, Shann said, "Will you carry me, or shall I carry you?" "You are a fool", the other replied, "I am mounted and so are you, how then can I carry you or you me?" Shann fell silent and they went on until they saw a harvest ripe for the reapers Then said Shann : "Do you think this harvest has been eaten or not eaten?" "Fool", answered the other, "you see a harvest ripe for the reapers, how then could it be already eaten?" Shann remained silent until they were at the entrance of the village and met a funeral procession. Then he asked, "Do you think the corpse is dead or not dead?" Shann's host had a daughter named Tabakah "O father", said the girl, "this is no fool. When he asked whether he should carry you or you him, he meant, would you tell him a story to shorten the way or should he tell you one? Regarding harvest he meant to ask whether or not the owner had already sold it and eaten the price of it. Regarding funeral whether or not the dead man had left a posterity to keep his name alive." Shann took the girl into his family. When folks saw them they rose to say, 'A Tabakah for a Shann', the expression passed into a proverb —Al-Mafaddal, kitab-ul-Fakhir.

Regarding the third question about the funeral, the *FTK* and *RTP* have a slight variation in that a question is asked by the hero when entering a city whether it is a cemetery or not being as silent as the grave. I have not found any Indian parallel, Jain or Buddhist; but in the Tibetan tale *Dumb Cripple* occurs the enigma : The Prince saw four men carrying a corpse and said : "Is the corpse that of a dead man or of a living man? (p. 249)", and explained : "The corpse

of him who has committed a crime is the corpse of one who is dead, but the corpse of him who has accomplished a good action is the corpse of one who is alive."

It is evident that both the Arabian and Tibetan tales have been derived from a common Indian original which will come to light on further investigation. I have traced some other Arabian tales in the Eastern Love series to their Indian originals.

I am citing from *SK* some other examples of intelligence test.

(a) The King orders the villagers to bring a well (baṭa-kūpa) to him.

Vaṭakūpo bhavadgrāme laghumṛṣṭa jalastarām I
Vidyate śrutamasmābhistamānayata matpurā ||Sl. 116||

The villagers were advised to return the answer:

Asmābhi sarvathā prokta vaṭakūpo nareśvara I
Yāhi tvaṃ svāminamasmākaṃ samīpaṃ na ca yāti sah ||Sl. 123||
Nandagrāmeṇa sarveṇa tathoktamapi na gacchati I
Tālam datvā tadā so'yaṃ Nandagrāmād vahiṣkṛtah ||124||
Vaśīkaraṇamadhye tu samaste vasudhā tale I
bhavanti yoṣitah puṃsāṃ vaśīkaranamuttamam ||125||
Evaṃ so vaṭakupo'pi bhūpa kūpikayā vinā I
Ānetum mattahastīva tvatsamīpaṃ na śakyate ||132||

So they asked the King to send as a decoy a svacchamṛṣṭajala-pūrṇā lalitā varakūpikā (a charming she-well) to seduce the Vaṭakūpa to come to the King. Hariṣeṇa has given an amorous touch to improve on the original The *NSC* has this:

A few days later the King sent the following order: "In your village exists a well full of sweet water, send it soon to me." Rohaka advised the following reply to be sent: "This well, sir, is a village well (i. e. rustic). Villagers are naturally timid and have no faith in any one but their own kindred; so kindly send some city well, so that believing in him he may come with him."

Compare with it Test no. 16 in Jat 546—'The Tank':

The following counterquip was devised. Some were asked to say: "Sire, inasmuch as your majesty has ordered the people of the East Market Town to send you a tank, we brought a great tank to suit your taste, but she being used to a life in the forest, no sooner saw the town with its walls, moats and watch towers than she took fright

and broke the rope and off into the forest. Give us then the old tank, we will yoke them together and bring the other back."

(b) The King (Śreṇika) orders the village to be placed to the west of the vaṭa-kūpa; and the order was executed thus:

Tatah paścimadigbhāge nṛpavākyena vegataḥ ।
sthāpito vaṭakūpasya Nandagrāmo dvijerayaṃ ॥153॥

The *NSC* has this: Then again after the lapse of a few days the King sent another order: "The forest lying to the east of the village must be brought to its west." Here again following the advice of Rohaka the village moved to the east of the forest which was consequently placed towards its west.

The Jātaka Test no. 17 answers to the above. In the *TT* there is a curious mixture of tank and park with the above mentioned characteristics. Here Purṇa was ordered to supply a park with kitchen gardens, fruit trees and tanks. Mahauṣadha requests the King to send hither one of the parks belonging to the palace as no one among the mountains knows anything about a park of that kind.

There are some other items in the *ŚK* regarding the birth of Abhayakumāra, his naming, his quest of his father, further test of intelligence etc which have remarkable similarity to *NSC*. and *Nāyā*.

Now under the heading of Khuḍḍaga (ring), the fourth tale in the *autpattikī buddhi* series of tales in *NSC* we get the following (in summary):

Śreṇika, son of Prasenajit, King of Rājagṛha. not getting sufficient consideration at the hands of his father, becomes dejected and leaves the country in disguise. By and by he comes to the city of Bennataṭa, and sits in the shop of a śreṣṭhi of slender means. The latter having chanced to make a rich bargain attributes his good fortune to Śreṇika, brings him to his house as a guest (pāhūna) and ultimately gives his daughter Nandā in marriage to him. After a few days Nandā conceives. Meanwhile Prasenajit perceiving his end to be fast approaching sends officers to Śreṇika bidding him return immediately. Thereupon at the time of leaving Nandā Śreṇika gives her a tablet on which he inscribes the following message: We are cow-herds (employing a word having the double entendre of King, gopāla or such) having residence at Rājagṛha possesing white walls (paṇḍara-kuḍḍā); if you have need of us, come." [In *ŚK* we have :

Bhūyo bhāryādvayaṃ prāha Śreṇikah prītimānasah ।
Anyonya premasambaddhaṃ tanmukhāmbhoja vikṣaṇam ॥sl. 102॥
Yadi kasyāpi me kāryam pure Rājagṛhe pare ।
Pāṇḍurādikuṭiṃ dṛṣṭvā sa samāgacchatu drutaṃ ॥103॥]

Now a great being falling from heaven (Devaloka) enters the womb of Nandā Hence she experiences a peculiar craving (*dohada*), viz. that of mounting an elephant, scattering riches among all, and giving them *abhaya* (assurance of fearlessness). Her father fulfils her desire. The child is delivered and in proper time he is named Abhaya, after his mother's *dohada*. This also is what we find in *Nāyā*. The boy grew up and one day asked his mother about his father She told him every thing and gave him the *abhijñāna* (inscribd tablet), from which he divined that his father was the King of Rājagṛha. He set out for Rājagṛha with his mother in the company of a caravan of merchants in quest of his father,[3] came to the outskirts of the city and recognised the white palace (*ŚK* has : śuklādikuṭikām prāpya tatpītā etc.)

Revolving within himself what he should contrive to see the King he walked on and saw a crowd of people round a dry well. He was told that the person who standing on the margin of the well would be able to lift the King's ring lying inside the well with his own hands would be rewarded. Abhaya undertook the task, and taking a careful look at the ring inside, threw some raw cowdung at it which thereby got stuck in, and when the cowdung dried up, he filled the dry well with water (from some other well), and when the dry cowdung cake with the ring embedded in it floated up to the surface of the well (where he stood on its margin), he took it

3. The story of Abhayakumāra is differently told in the *TT*. (VI Prince Jīvaka, pp. 88 ff) It is related there that Bimbisāra, King of Rājagṛha, went to Vaisāli, consorted with the famous courtesan Āmrapāli, as a result of which she conceived. Bimbisāra gave her a robe and a ring saying : "But if it be a son, put on him this robe, press the seal of this ring on his neck and send him to me. Āmrapāli later sent the boy with merchants directing them to place him at the gate after having stamped the seal of the ring on his neck She asked the boy to climb up to the King's breast. "Should any one say the boy knows no fear, ask whether a son has anything to feat from his father." The King said that the boy was without fear, so he was named Prince Abhaya.

up in his hands, detatched it and gave it to the King who recognised him for his son The same incident is found in *Nāyā* Harişeṇa however makes Abhayakumāra *gaddhikā lambik āṇūḍho* to approach Śreṇika, though substantial agreement is otherwise found.

There is another episode related in the *ŚK* (ślokas 138-149) narrating how the wise Abhayakumāra solved the problem of finding the weight of an elephant. He caused the elephant to be placed on a boat in the water (of a tank) by many men, and marked well that the boat (with the load) had sunk to a certain level; the elephant was then taken down and the boat was filled with stones till it sank to that selfsame level. Then the stones were brought down to the earth and were severally weighed; the separate weights were then totalled and yielded so much pala, which indicated the weight of the elephant.

> Nāvaṃ hastipramāṇena grāvabhih paripūryya |
> Anuttāryya tatah kṣipraṃ sakalamapi bhūtale ||148||
> Tulayā tolayitvemān palabhārapramā ṇikam | etc.

This exactly corresponds to the title *Gaya* in the *NSC*.

Let us take another tale from the *BK* :

2. Śrībhūtipurohita-kathānakam (no. 78)

A merchant named Sumitra, hearing the reputation of Śrībhuti as an honest person who kept deposits of valuable gems, jewels etc entrusted to him (maṇiratnāni divyāni bahumūlyāni), went to him and deposited with him some of his jewels on the eve of his departure to Ratnadvīpa for trade. On his return he went to Śrībhūti and demanded the deposit to be returned, but Śrībhūti said : "Piśācena gṛhītah kiṃ yena māṃ tāni yācase?" Sumitra got distracted, climbed up a tāmarind tree (tintinī vṛkṣa) near the room of Queen Rāmadattā and kept up the cry :

> Aho narendra cānyāyas'atpure vartate'dhunā |
> Śrībhūtinā gṛhītāni pañcaratnāni sma dhruvaṃ ||sl. 55||

One day when the King and Śrībhūti were playing at dice Rāmadattā cleverly asked Śrībhūti for his *sābhijñānāṃ* (sign of identification), and despatched her own servant Buddhimatī to his Brāhmaṇī (wife). Buddhimatī was instructed by Rāmadattā to pretend that she had been sent by Śrībhūti to get the *pañcaratānni*, and satisfied her by giving an account of the *sābhijñānas*, viz (1) he

ate *ghṛtasaṃyukta pāyasaṃ* that day, (2) his *yajñopavīta* was won by the king, and (3) she produced Śrībhūti's signet-ring. Thereupon the Brāhmaṇī delivered the *pañcaratnāni* to Buddhimatī who brought them to Rāmadattā. The king mixed them up with some of his own jewels and invited Sumitra to identify his own jewels, and when the latter recognised and picked out his own jewels, they were returned to him. Śrībhūti was mounted on an ass and banished the realm.

A very close parallel to this we find in the *Mahāpurāṇa* of Puṣpadanta (Saṃdhi LVII):

There was a King named Siṃhasena in the city of Siṃhapura. His Queen was Rāmadattā. He had two ministers Śrībhūti and Satyaghosha. There was a merchant named Bhadramitra who obtained precious gems in Ratnadvīpa which during his halt at Siṃhapura he deposited with Satyaghosha. After some time Bhadramitra asked for the return of his gems, but Satyaghosha denied all knowledge of the gems even though he was questioned by the King. Bhadramitra then went mad decrying, and climbing up a tree near the King's palace used to cry. Rāmadattā got angry with the minister and planned to play a trick on him She arranged a game of dice with Satyaghosha, in which he lost his signet ring and sacred thread to the queen. She then sent the ring to the treasurer of the minister through her maid and obtained from him the gems of Bhadra mitra. The King got a few of his gems mixed up with those of Bhadramitra to whom they were shown. Bhadramitra picked up only his gems, saying that others were not his. The King was pleased, made them over to him, and punished the minister, treating him as a thief.

Maṃti nirakku ḍhukku avamānahu
Kaṃsathāli svāvāviu chūnahu ı
Sīsi tīsa kharaṭakkaraghāyahiṃ tāḍiu mallahi
Kuṃciyakāyahim' ll

[The tale has a later version in the story of a Brahman being cheated by a dishonest recluse (Cf. the purohita of *ŚK*) of his purse which he kept in deposit with him, but subsequently recovered through the trick of a dancing girl (Story no. 17-narrated by Rai Saheb Kashi Prasad of State Panna in Khaṭola Bundelī of Bundel-

khand in Vol. IX Pt. I–Western Hindi–of Grierson's *Linguistic Survey of India.*]

The date of the composition of Puṣpadanta's works is A. D. 959-969, and that of Hariṣena's *BK*, A. D. 931-932. One may be tempted to say that Puṣpadanta borrowed the tale from Hariṣeṇa, so close are the similarities. But considering the interval between the two sets of dates to be too short, the distance between the localities of residence of the two authors, the difficulty of communication, the want of opportunity for publicity etc. the theory of borrowing seems to be too presumptuous to be hazarded. The most likely explanation of similarities in the tales is that they are drawn upon from a common source. This story appears under the title *Muddiya* (seal) also in *NSC* of Malayagiri :

In a certain city lived a priest who was renowned everywhere for his honesty, viz that he invariably returned in the same condition even after the lapse of a long time whatever was deposited with him in trust (nikkhepa, Skt. nikṣepa, i. e. nyāsa). Knowing this a certain *dramaka* (poor man) deposited with him his things and went to another country. After a long time he returned and demanded back his property. The priest wholly denied it, and asked him, "Who are you ? What is your deposit like ?" The unfortunate beggar thus balked and not getting back his property became vacant-minded On his behalf a minister requested the King to ask the priest to return the things to the *dramaka*. The priest prevaricated. However one day while playing with the priest the King cleverly got the signet ring (bearing name) of the priest in exchange of his, and secretly sent some one with it to the priest's wife to tell her : "The priest has sent me to you; here is his seal as credential; please hand over to me quickly the bag containing one thousand pieces of gold pledged to him by the beggar on a certain day, time and place. The priest's wife, seeing her husband's seal, made over the said bag to him. The *dramaka* identified it from among others with which the King caused it to be mixed up. The King restored it to him and cut out the tongue of the priest.

The date of Malayagiri has been suggested by P. K. Gode to be A. D. 1100-1175 (*J. A.* Vol V. p. 136). Yet I can not confidently declare that Malayagiri borrowed from Puṣpadanta or Hariṣeṇa. The

Prākrit titles of the tales in the verses of the Nandīsūtra barely mentioned were enough for the understanding of the hearers, so well acquainted were they with the tales at the time. Thus the tales were very ancient, were widely prevalent, and were found distributed all over India. In later times the allusion to the tales to the popular audience might have become dim and hazy and needed elucidation by commentators, who were more knowing. The descendants of these tales appear in different parts of India in various guises (most of them retaining the substantial core, abridged or embellished) in which the constituent elements and ingredients of tales and motifs appear in countless permutations and combinations to produce a kaleidoscopic effect. They are Jain or Buddhist according as they appear in the literature concerned, and Sindhi, Kashmiri, Gujrati, Maṛāthi, Oriya, Bengali, Assamese, Deccani, etc. according to territorial, and Santali, Ho, Mikir etc. according to ethnographical distribution.

Concerning the migration of tales from India to foreign countries I am adducing one more tale from the *BK*, viz. Dhanadevādīkathānakam (no. 150).

At Ujjayinī in Avantī viṣaya lived the banker Suhasta; his wife was the gaṇikā (courtesan) Vasantatilakā who gave birth to a twin (Yugalaṃ nara-strī)—a boy and a girl. She exposed both of them, thus :

> Evaṃ vicintya tāṃ kanyām raktakambalabhūṣitām ।
> Nagarī dakṣiṇāśāyāṃ mumoca gaṇikā sakā ॥ Sl 10 ॥
> Sutaṃ taṃ jātamātraṃ sā raktakambalaveṣṭitam ।
> Nagaryām uttarāśāyāṃ tatyāja karuṇojjhitā ॥ 11 ॥

Suketu, a merchant from Prayāga, chanced to find the girl and gave her to his wife who named her Kamalā. Another merchant from Sāketa named Subhadra picked up the boy, who was named Dhanadeva. When both of them grew up it so chanced that Dhana deva married Kamalā at Ujjayinī and brought her to Sāketa. Once Dhanadeva went to Ujjayinī and consorted with his mother Vasantatilakā, who conceived and gave birth to a boy. Kamalā was apprised of the situation by a *muni*. She turned *Kṣullikā* (nun), came to the house of Vasantatilakā and

Tadgṛhe dārakaṃ dṛṣṭvā rudantaṃ paruṣasvanam |
Paṭhantī Kamalā ślokaṃ cakāraiṣā'sya śāntatāṃ ||
Putro'si me śiśo nūnaṃ bhrātṛvyo'si sahodarah |
Tvaṃ devaro'si me vatsa maccittānanda dāyaka ||
Yaste pitā sa me kānto bāla prāṇāti ballabhah |
Mā kranda putra mā kranda Kamaleti jagau śiśuṃ ||

The tale has a close parallel to the story of courtesan Kuberasenā in Hemacandra's *Pariśiṣṭaparvan* (canto II slokas 224-314—see introduction and footnote by Jacobi). Both of these tales had an earlier parallel in a story of the sixth Bhava of Haribhadra's[4] *Samarāniccakahā*.

For a parallel see the tale of Utpalavarṇā in *TT*, which is itself derived from the *Therīgāthā* commy And it has a parallel to a tale of Ancient Israel.[5]

The Tibetan tale clearly owes its origin to Buddhist source in Pāli and Sanskritic literature. How did it get into the Israel country? Many old Buddhist religious texts reached Khotān, and neighbouring countries, for which see e. g. Khotanese Aparimitāyuḥ Sūtra in the *Manuscript Remains of Buddhist Literature in Eastern Turkestan* edited by A. F. Rudolf Hoernle But probably in later times the tales might have migrated as indicated below.

In an elaborate note given in Appendix I to his "*Ocean of Story*" Vol VIII Mr. N. M. Penzer says about the *Swan-Maiden* motif that "we at once find this in several Persian collections, whence it soon reached Arabia, whence it branched north wards to Turkey and Russia, and westwards to Tunis, Algeria and Morocco, and across the Sahara to the West-African coast, as well as Zanzibar, Zululand and Madagascar. This line of migration is one that we should expect not only because of the early trade relations between East Africa,

4. P. K, Gode thinks the date of Haribhadra to be about A. D. 750. Dr. A. N. Upādhye also places him in A D 8th century.

The traditional date of the death of Haribhadra is Samvat 585 and Vīra year 1055 corresponding to A D 528 Prof. Leumann took it to be G. E., ie. A. D 904, which in my opinion is wrong. Hemachandra's date is A. D. 1089-1172.

5. See my article *Some Tales of Ancient Israel, their Originals and Parallels* in IHQ Vol. XIX (Sept. and Dec., 1943) containing *B Various relations between a woman and her son*, pp. 348-349.

Arabia and India, but also and more especially because of the Mahommedan invasion of India.........starting in the northerly direction we find our motif firmly established in Tibet, among the Tartars, Kalmucks and Mongolians, as well as among such tribes of Northern Siberia as the Samoyeds, Yakuts and Chukchis, who dwell on the Bering strait. A more interesting feature is that at this point the motif crosses the Bering Strait into North America and so on to Greenland.........Setting out eastward we find the motif occuring in stories from Burma, Indo-China, China, Japan and also the Philippines. If we travel in the south-easterly direction we will find it in Sumatra, the Mentawei Islands, Java, Borneo, Celebes, the Moluccas, New Guinea, Micronesia, Melanesia, Polynesia, Australia and New Zealand." Mr. Penzer has given an elaborate list of the published contes, legends, märchen etc. of all these countries with the names of authors. Speaking of the lines of migration which radiate from India he observes : " ....To a large extent they tell us the history of India itself. They tell us of the gradual expansion of Hinduism and Buddhism in the East and South-East, while in the north they exhibit the results of the invasion of Islam. That the great highways both of land and sea would be followed in any migration is natural enough ... ..." If the *Swan Maiden* motif has travelled along the lines of migration radiating from India as indicated above, other *motifs* and tales could have done likewise.

Speaking about the European parallels to stories in the *Kathākośa* Tawney says in the introduction (pp. XVI-XVII): "It is in my opinion highly probable that the European stories in which the resemblances appear were borrowed from India. Stories actually travelled through Persia to Europe........ But it may reasonably be asked how these Jain stories came to be carried to far distant countries in view of the fact that Jainism has been almost entirely limited to India. The true explanation probably is that these stories were carried abroad not by the Jains, but by the Buddhists, for both Jains and Buddhists used the folklore of Eastern India, for the purpose of religious edification ... ..."

Regarding migration of tales from India I have already expressed my opinion on pages 232-233 of my article *Some Tales of Ancient Israel* referred to above. Inside or outside India they were *par*

excellence Indian tales whatever might be the channels of dissemination.

It is interesting to note that the author of the *Nāyā* was acquainted with foreigners who were made attendants of Meghakumāra during the ceremony of naming (p. 38) along with other Indian servants of tribal origin :

Cilāiyāhim Vāmanivaḍabhi babbarī bausi joniya palhavinaisiniyācāghoruginilāsiya lausiya damili siṃhali ārabi pulimdi pakkaṇi bahali marumḍi savari pārasīhiṃ nānādesīhiṃ videsaparimamḍiyāhīṃ .... where we recognise at least the inhabitants of Barbaradeśa (Barbary ?) and Arabia, and Yonas (Greeks), Pahlavas (Parthians), Pārasīkas (Persians) Drāvīdas, Siṃhalese, Pulindas, Śabaras, Muruṇḍas, Kirātas, etc. And this suggests some sort of communication.

Regarding the question how far Hariṣeṇa was indebted to his predecessors, we have to wait till some work of some author, of nearly the same size as his, is discovered which may confidently be said to be his immediate inspirer. He has utilised the stories in the Jaina canonical texts such as the Nāyā, Nandīsūtra, etc. and some other familiar prevalent legends, but for that reason he cannot be called a borrower in proper sense.

SYADVĀDA—AN EPISTEMOLOGICAL SOLUTION OF WORLD-TENSION.

By

Prof Ram Jee Singh M. A.

Continued from Page 32, Volume XIX. No. 2.

Syadvada and Nayavada :—

Broadly, knowledge according to the Jaina is of two kinds—Pramāṇa and Naya; knowledge of a thing in itself and knowledge of a thing in its relation.[1] A Naya is a standpoint from which we make a statement about a thing.[2] A thing conceived from one particular point of view is the object of Naya or one sided knowledge.[3] In Saptbhangi Naya, where we find pluralistic doctrine of the Jaina Dialectics, Muni Jin Vijoya says that the doctrine points to the relativity of knowledge concerning all the objects of the world.[4] Champat Rai Jain describes Naya as a Path or way which implies in conection with philosophy, the method of accurate thinking, hence he calls Naya as the "Science of thought"[5] In Nyaya Karnika's introduction Mohan Lall Desai holds that Nyaya Vidya or Philosophy of Standpoints is an essential department of knowledge by itself, and bears the same relation to philosophy as logic does to thought or grammer to language or speech.[6] Nathmal Tatia calls Naya-ways of approach and observation.[7] Broadly Nyayas are divided

---

1 Umāswāti—Tattvarthdhigamsutra—प्रमाणनयैरधिगमः - ६।१

2 Radhakrishnan—History of Indian Philosophy—Vol I. P 298

3(a) Nyāyāvatār—Eng. Tr. S.C. Vidya Bhusan—Slok—29

(b) न्यायदीपिका-Page 125 प्रमाणागृहीतार्थैक देशग्राही प्रमातुरभिप्राय विशेषः—

(c) लघीय स्त्रय-४२ नयोज्ञातुरभिप्रायः ।

(d) स्याद्वादमंजरी-श्लोक २८

(e) परीक्षामुखम्-स्याद्वादप्रविभक्तार्थे, विशेषव्यंजकोनयः—XIX

(f) आप्तमीमांसा—१०६

4 The Saptvangi Naya—Kannomal Jain-Introduction.

5 Nayaya—The Science of Thought. C. R. Jain-Ch. I.

6 Nyaya Karnika—Eng Tr. Mohan Lall

7 Nathmal Tatia—Article in Proceedings of Indian Philosophical Congress Mysore. 1952.

into Noumenal and Phenomenal, each further divided into ten and six sub-classes respectively.[1] Accordiug to more populer scheme, the Nayas are seven, placed under two broad classes of Arthanaya and Sabdnaya, as they refer to object and meaning[2] So these seven Nayas may be in short called the heptagonic forms of our outological enquiry[3] or one-sided method of comprehension of seven kinds."[4] In fact there may be as many kinds of Nyaya as there are modes of speech.[5]

Full knowledge of all characters even of a particle of dust cannot be claimed by anyone of us, because of our limitation and bias for a particular angle of vision.[6] Truth is relative to our standpoint. We cannot affirm or deny anything absolutely of any object owing to the endless complexity of things. Being is not of a persistent unalterable nature. Every statement of a thing is necessarily one sided and incomplete.[7] A thing may be true or untrue or partake of both while being neither.[8] The ordinary human being cannot rise above the limitations of his senses; so his apprehension of reality is partial and valid only from a particular point of view. Thus Nayavada is an unique instrument of analysis.[9]

Seven Nayas and their Fallacies:—

Naigam Nayas or non-distinguished regards object as possessing both the general and the specific properties, because no one can live

---

1(a) Nahar & Ghosh—An Epitome of Jainism Ch III Jaina Logic of Nyaya

(b) एव नयोद्विविधो द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेयति । जेन दर्शन ४२ ।

(c) द्रव्यार्थिकनयः पर्यायार्थिकनयश्चेति । न्यायदीपिका १२५ ।

(d) नयोद्विविधः-सर्वार्थसिद्धि १-६

(e) द्रव्य पर्यायगोचरै–तत्त्वार्थ श्लोक पृ०-२६२

2 Radha Krishnan—Hist. of Indian Philosophy. Vol I—299

3 Epitome of Jainism Ch: III

4 Nyāyāvatār—Sl. 29

5 Syādvād Manjari—जवइआ वचणपहा तावइआ चेवहुति नयवाचो

6 Nath Mal Tatia—Nayas etc. Page 192

7 Encyclopedia Britanica—Vol 12 Page 867 14th. Ed.

8 Encvclo. of Religion & Ethics—Vol I Page 262 Ed. by Hoerunle

9 A. N. Upadhye-Silver Jubliee Vol I Jainism (Article) Page 134

without the other;[1] all objects possess two kinds of properties Samanya and Visesha.[2] So this way of pantascopic observation[3] criticises the one sided and wrong view of Nyaya-Vaishesika realism according to which Samanya and Vishesha have seperate existences from the object. Thus there is the synthesis of long drawn conflict between the universal and the particular.[4] Hence Nyaya-vaishesika is accused of an abstractionist outlook technically called the Fallacy Naigamāvāsa. (नैगमाभास).[5]

Nextly, Sangraha Naya (संग्रहनय) remedies the extremism of universal and particular. In fact there can be no universal apart from the particular and vise versa.[6] For example, not a single nimb or mango or any other tree can be conceived apart from vegetableness, so finger cannot be considered apart from hands.[7] So Adwatins and Sankhyas,[8] Plato and Kant etc are accused of the Fallacy of Sangrahāvās[9] or who recognise universal alone as real.

An extremist assertion is likely to be met with a diametrically opposite view of analytic and particularistic approach where we will meet the charvākas to whom object possess only the specific properties which is non-existent like donkey's horn. So this practical and particularistic view is to meet with the fallacy of wrong selection of species called Vyavhārāvāsa (व्यवहाराभास), where one eats vege-

---

१(क) नय कर्णिकाः—श्लोक ५ नैगमोमन्यते वस्तु तदेतदुभयात्मकम् । निर्विशेष न सामान्यं विशेषोऽपि तद्विना ।

(ख) न+एक+गम=Not +one+aspect.

२ अर्थाः सर्वेऽपि सामान्य विशेषाउभयात्मकाः—नय कर्णिका श्लोक २

3 Nath Mal Tatia—Ibid

४(क) नय कर्णिका–Sloke 10

(ख) जैन दर्शनसार–Page 42

(ग) परीक्षा मुखम् ch. iv. Sl. 1 सामान्य विशेषात्मा तदर्थो विषयः

5 Naya Karnika—Introduction

६ संग्रही मन्यते वस्तु सामान्यात्मकमेवहि
सामान्य व्यतिरिक्तोऽस्ति न विशेषः खपुष्पवत् Sl. 6 नय कर्णिका ।

७ विना वनस्पति कोऽपि वृक्षाद्विर्न दृश्यते etc–Sloke 7

८ न्यायावतार–Sl. 8 विशेषात्मकमेवार्थं व्यवहारश्च मन्यते विशेषभिन्नं सामान्यम सत्खरविषाणवत् ॥

9 Naya Karnika—Introduction by Mohan Lall D. Desai

table without being it of any kind, mango [1] etc.

The particularistic approach sometimes forgets the past or the future aspect of a thing and confines only to the present, straightaway refering to the natural thing.[2] To them past is defunct and the future is unborn.[3] The reality is momentary being, a great flux. These are Buddhist and the Heraclitus, who must be charged with the fallacy of straight and direct glimpse, devoid of temporal determinations or कालिकनिक्षेप.[4] This fallacy is called ऋजुसूत्राभास.

But as the real is expressed and characterised by a word who must also examine the meanings of word. So comes Sabda Naya or verbal standpoint. Each name has it own meaning[5] and different words or (Synonyms)[6] may also refer to the same object. So the relation between terms and meaning is relative one, and when we take them to be absolute we commit the fallacy of Sabdāvāsa,[7] which we find among the nominalist and the grammarians.[8]

So Sambhirudh Naya or Etymological aspect distinguish terms according to their roots.[9] With the difference of the words expressing the same object the significance of the object also differs as ghat (घट) is, which makes noise like ghat, ghat (घट घट) and so on.[10] So the identification of reality with the root of the word by which it is denoted is the fallacy of Sambhinrudhāvāsa,[11] again committed by grammarians.[12]

---

१ नयकर्णिका–Sl. 9. वनस्पतिगृहाणेति प्रोक्ते गृहणातिकोऽपि किम्–६

२ नयकर्णिका–Sl. 11, 12, ऋजुसूत्रनयो वस्तुनातीतं नाप्य नागतम्–११
अतीते मानागतेन परकीयेन वस्तुना–१२

३ Nath Mal Tatia—Page 195.

४ नयकर्णिका–Sl. 12.; न्यायदीपिका–परोक्ष प्रकाश page–85

५ Radhakrishan—H. I. P. Vol —I.

६ नयकर्णिका–अर्थ शब्दनयोऽनेकैः पर्यायैरेकमेवच
मन्यते कुंभकलशघटाघेकार्थ वाचका Sl. 14.

७ नयकर्णिका–Introduction.

८ न्यायावतार–Sl. 19. Explanations—अनेकान्तात्मकं वस्तुगोचर २६

9 Radhakrishnan—H I. P. 300 Vol. I

१० नयकर्णिका—Sl. 15. ब्रूते समभिरुढोऽर्थं भिन्न पर्यायभेदतः
भिन्नार्थाः कुत्र कलशघटाघटपटादिवत्–१५

११ नयकर्णिका—Introduction

12 Nyāyāvatār—Slok—29

The grammarians reach the climax when they identify reality with such like[1] or specialised form of sixth kind[2] for it argues that if a thing is really recognised, even when it do not fulfil its function, then why can cloth be not called a yarn ?[3] If we go against it, we commit the fallacy of Evambhutāvāsa.

Doctrine of Saptbhangi :—

Now the Jainas claim to embody all these seven aspects in their philosophy,[4] hence treat it like a judge over all systems of philosophy which are seperately one-sided. So this is the doctrine of liberal pluralism as contrasted with dogmatic monism. To a realist pot exist as it is, independent of the mind, to an idealist. pot has no existence in the world outside. To a nominalist the pot is a sign in the outward world which calls up it image in the mind, to a Buddhist pot is nothing but a continuous stream of changes. So also to Bergson it is a great flux. Perceptionist regard the pot only as a bundle of qualities without any substratum containing them. But to a Spencerian Positivist pot is a vivid idea the causes of which are unknowable. However to the Vedantins pot is a figment of illusion, a thing of nescience. All these philosophers look at the pot more or less from one dominating point of view, while neglecting the other.[5] The Jain logicians welcome all the light that comes from different ways of approach and integrates them in one whole in which all these finite traits can co-subsist.[6] All philosophical disputes

---

१ नयकर्णिका—Slok-17. एक पर्यायाभिधेयमपि वस्तु च मन्यते
कार्यं स्वकीयं कुर्वाणमेवं भूतनयो ध्रुवम् १७

2 Radhakrishna—H. I. P. Vol. I Page 300.

३ नयकर्णिका—Slok-18
यदि कार्यमकुर्वाणोऽपीष्यते तत्तया सचेत्
तदा पटेऽपि न घट व्यपदेशः किमिष्यते–१८

४ नयकर्णिका—सर्वे नया अपि विरोध भृतो मिथस्ते
सम्भ्रम साधुसमयं भगवान भजन्ते ।
भूपा इव प्रति महाभुवि सार्वभौम
पादाम्बुजं प्रधान्युक्ति पराजिता प्राक्–२२

5 Saptbhangi Naya—Kannomal Jain.

6 Nath Mal Tatia—198.

arise out of a confusion of standpoints.[1] Even in practical life we find that a man is father in relation to a particular boy, in relation to another boy he is not father, in relation to both the boys taken together he is the father and is not the father, and since both the ideas cannot be conveyed in words at the same time, he may be called indescribable.[2] Considering all these standpoints, a marvellous mechanism of Syādvāda or Saptbhangi has been worked out which is an unique organon of knowledge to grasp the manifoldness of reality. When the reality is dynamic and truth is manifold, our task of knowing the truth becomes difficult for there is nothing certain on account of endless complexities of things,[3] and hence the expression af truth must be equally difficult if not more, for the words fail to describe the different characters of a thing at the same time[4] So the speaker does describe one character which is prominent than the other characters in that object. Therefore, we have no right to make any absolute judgment. Every proposition gives us only a perhaps, a may be or a Syat[5] Absolute affirmation or negation of any object is therefore unreasonable All propositions are only hypothetically true. Hence unlike ordinary logic Syādvāda recognizes conditional predication, which is expressed by the prefix Syat. Logic of Syādvāda differs from ordinary logic in the fact that instead of two kinds of judgment as affirmative and negative it recognises as many as seven forms of Judgment. So Syādvāda is also called Saptbhangi.[6]

Syadvada–as a Doctrine of Seven Forms of Judgment :—

So far prefix Syat is concerned, we must use, because any substance is unity-in-diversity, so if we insist on absolute predication without condition, the only course open is to dismiss either the

1. Radhakrishnan—H. I P. Vol. I—302.
2. Hira Lall Jain—Jainism, its History, Philosophy and Religion. From Ramkrishna Centenary Volume I.
3. Radhakrishnan—H. I. P. 302.
4. Kailash Chandra Sidhānta Shāstri – Saptbhangi and Syādvād Premi Abhinandan Granth Page 324.
5. Radhakrishnan—H. I. P. Vol. I – Page 302.
6. सप्तभिः प्रकारैं वंचनविन्यासः सप्तभंगीति गीयते-स्याद्वादमंजरी Page 278

diversity or the identity as a mere mataphysical fiction.[1] So Anekāntvāda teaches that every single statement may have a partial truth,[2] hence even lord Mahavira, the Omnisient took recourse to a Syat[3] before every sermonic sentence, so much so the scriptural knowledge of the Jainas has been called as Syādvāda by Samantvadra.[4] Even Dr. Hermon Jacobi calls Syādvāda a Synonym of Jainism.[5]

Now, the seven forms of Saptbhangi Syādvāda are predicative judgment regarding the same object according to the point of view of speech. As different aspect of reality can be considered from four different perspectives (Nikshep or Nyas) such as name, representation, privation and present condition[6], similarly seven modes of speech can be considered from four different points of view of its own matter, time, place and nature as well as from other point of view.[7]

Now a thing exists[8] as itself under certain circumstances from the point of its own material, place, time and nature. This table exist as made of wood in this hall at the present moment with such and such shape and size, but this does not exist as made of gold, at another place or at another time of a different shape So the table exist some how i.e. not always, everywhere, in every shape. Hence let us say somehow the table exists or simply स्यादऽस्ति । Similarly, somehow the table does not exist, when considered from its other point of view. So existence and non-existence are to be asserted accordingly as the element of one or the other is in predominance. Things are considered in relation to their importance and not.[9] Hence Syād Nāsti.

---

1 Appaswami Chakravarti—Ram Krishna Centenary Vol. I.
2 Do. Do. Do.
३ स्याद्वाद और सप्तभंगी–लेखक–कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री–प्रेमी अभिनंदन ग्रन्थ ३३८
४ आप्तमीमांसा—स्याद्वादकेवलज्ञाने वस्तुतत्वप्रकाशने—
5 H. Jacobi—Ency, Religion and Ethics Vol 7 Page 465.
६ नाम स्थापनाद्रव्य भावस्तन्न्यासः—१-५–तत्वार्थ सूत्र
७ स्वद्रव्य, स्वकाल, स्वक्षेत्र, स्वरूप—परद्रव्य, परकाल, परक्षेत्र, पररूप
8 Radhakrishnan Vol. I Page 302.
9 Umaswati—अर्पितानर्पितासिद्धेः—

But when can the table exist as well as not exist? Yes the table can exist for me in certain form, place etc, and does not exist in other form, place etc. So we may say that the table somehow exists and not exists. स्याद् अस्तिच नास्तिच.

But what will we say when we are asked what is the real colour of this table always? The only honest reply would be that the table cannot be described under conditions of the question.[1] Hence Syād Avyaktam. This seems to be something puzzling yet profound. Shankar in his Braham Sutra 2-2-33[2] charges the Jainas of contradiction. If reality is indiscribable it cannot be expressed To call something indescribable and again indulging in its verbal description are contradictory things. Some how Sankar forget that it is not called simply "indescribable" but "somehow indescribable" which means that the thing is not indescribable absolutely but only hypothetically Therefore Dr. Ganga Nath Jha[3] charges Shankar for not going through the Jaina text. Fani Bhusan Adhikari also for the same, charged Shankar of injustice while presiding over the annual function of Syādvāda Mahāvidyālaya.[4] This fourth character of indescribability point out that it is impossible to describe a thing without making any particular standpoint.[5] Again, philosophical wisdom does not always lie in straight forward affirmative or negative answers. Some times the nature of things are such that they render any description impossible.

The other three of the Saptvangi are found by combining one by one each of the first three standpoints with the fourth, such as Syat Asti ch Avayaktam; Syat Nasti ch Avayaktam and Syat Asti Nasti ch Avayaktam. So from Scienitific standpoint of combination, no other form is possible.[6]

---

1. D. M. Dutta—Indian Philosophy Page 95.
2. Brahma Suttra—2-2-3.
   नचेवां पदार्थानामवक्तव्यत्वं संभवति अव्यक्तव्यश्चेन्नोचेरन् ।
   उच्यन्ते चावक्तव्याश्चेति विप्रति विद्धम्—ब्र० सू० २-२-३३
3. Dr. G N Jha—' Jain Dharm" by Kailash Chandra Jain Page 74
4. Fani Bhusan—Ex. Hd. of Dept. of Philosophy of B. H. U. Page 74 (Ibid).
5. D. M Datta—Page 96 Indian Philosophy.
6. Nahar and Ghosh—Epitome of Jainism Ch. VII, VIII.

Naya is the analytic and the Saptbhangi is the synthetic method of studying ontological problems.[1] So the defect of Nayavāda is supplemented of the method of Saptbhangi, a better organon of knowledge.[2] Samantvadra, the first exponent of Syādvāda[3] has characterised Sānkhya, Mādhyamika, Vaisesika Baudha as representing first four forms of judgment and Aklank[4] has completed by characterising Shankar, Baudha and Yoga as representing the last three. This doctrine insists on the co-relation of affirmation and negation. All judgments are double-edged in their character. All things are existent as well as non-existent.[5] Here three predicates make seven propositions.[6]

Examination of Criticisms against Syadvada :—

(1) *Fallacy of contradiction* – Application of existence and non-existence to the same thing is contradiction.

Reply :—Here existence and non-existence are asserted not from one standpoint. Calling a thing both table and bench is contradiction but when we ascribe to the table from the view point of it matter and non-existence to it from the view point of it changing frame, it is not contradiction.

(2) *Fallacy of Vaidhikaran*—There ought to be two receptacles for we assume existence and non-existence in the same thing.

Reply :—Tree is only one receptacle though it contains both the qualities of stability and mobility.

(3) *Fallacy of Anavasthā* :—Statement after statement is made without observing any established rule regarding the finality of things.

Reply :—Things having innumerable characteristics need innumerable predication, hence no fallacy of infinite regress.

(4) *Fallacy of Confusion* संकर :—Many confusing things are said of the same object.

1. Nahar and Ghosh—Epitome of Jainism Ch VII, VIII.
२ आप्तमीमांसा कारिका–६-२०
३ अष्टसहस्री—पृ० १३८·१४२
4. Radhakrishnan H. I. P. Vol. I—304.
5. Jacobi—Ency of Religion and Ethics Vol. 7-465.
६ नैकस्मिन्नसंभवात्—२-५-३३ ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य ।

Reply :—What we say of it are actual.

(5) *Fallacy of Vaitikar* (Intermingling of Qualities) we maintain both existent and non-existent in regard to a thing.

Reply : —Existence is predicated from material standpoint, non-existence from phenomenal standpoint.

(6) *Fallacy of Doubt* :—Cannot arise because we are definite from particular standpoint.

Where there is doubt, lack of understanding (Artha patti) cannot arise, hence no negationism (Abhāva) and no fraudism (chal), which also go contrary to its extreme realism.

Vyās and Shankarāchārya have also brought in their heavy artilleries to damage one or the other angles of this fortification and force an entrance into the same. Their charges are of contradictionism,[1] indeterminism[2], doubt[3], uncertainty[4], ridiculous.—Self contradiction, abandoning original position in describing the Avayaktaṁ[6] which are all treated above and elsewhere[7] in this paper.

Besides, contemporary thinkers confuse the pragmatic[8] and pluralistic but realistic attitude of Syādvāda with the same pragmatic and pluralistic but idealistic views of Messers William James, Schiller, Dewey etc. One should remember that even Jaina metaphysics accept Vedic realism and even in the Upanisads[9] we have pluralistic trends. In the Upanisads also we have the glimpses of how the reality reveals itself in different ways at different stages of know-

1. नैक स्मिन्न संभवात—२-५ ३३. Brahma Suttra—Sankar-Bhasya.
2. Knowledge would be of indeterminate character as doubt or diffidence.
3. The knowledge,—the knowabilities, the knowing subject all being indeterminate in themselves, Syādvād cannot be a source of valid knowledge.
4. Heaven and freedom both are uncertain
5. Ridiculous Self-contradiction.
6. Epitome of Jainism ch. IX Shankar and Syādvāda.
7. Sir Asutosh Com. vol. III. Art on Jainism.
8. D. M. Datta—Page 97 (Indian Philosophy).

९ (a) माडूक्योपनिषद्—४-२३-अस्तिनादित्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वायुनः
चलस्थिरो भयामवैशवृणोध्येव वालिशः—४-३३

(b) एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति—Ri. Veda. I-Mandal.

(c) स्वं भक्तियोग परिभावित—श्रीमद्भागवत् ।

(d) यज्ञह् विष्णो —शतपथ ब्राह्मण

ledge.[1] However Syādvāda is probably due to the Jainas[2] and so it cannot be traced to the Vedas and Upanisads though the Jainas believe that their fundamental creed can be traced back even before the Veda.[3]

Then another case of confusion is in comparing[4] Syadvada with the subjectivistic relativism of the Sophist, with the objective Relativism or Relative Absolutism[5] like White-head, Bodin However there is no similarity with Eiestien's relativity except in the most general attitude. To some extent we may find its parallel in old Pyrrohoneanism in the west. The Upanisadic Neti, Neti, the Adwait doctrine of the world as Anirvācya, the yoga doctrine of Pradhāna as Nihsatt-vāka-nirasat-Nihsadsat and the Sunyavadin's doctrine of the self or the ultimate reality as Catuskotivinirmukta may also be profitably compared. Even on deeper study, we may find something in Kant's thing-in-itself and modern Existentialism including Kirkegaard in this connection. But Pyrroh's prefixing every judgment with a "may be" must not be thought identical with Jaina Syat, for Pyrrohoneanism relapses into agnosticism or Scepticism, there is no room for Scepticism whatsover in Jaina theory of Syādvād.

Syadvād does not lead to Scepticism. Scepticism means in the minimum, absence of assertion, where as Syādvadins always *assert*, though what they assert are alternatives. Disjuctive judgment is still judgment, ie. assertion. Many logicians believe that what a disjuctive assert is only the common character of the alternatives, the play with the alternatives being either intellectal experimentation or hesitation as a function of ignorance. Some Hegelians interpret it in terms of identity in-difference. Syādvad on the other hand just insists that there need be no element of identity, abstract or concrete. There is no reason why one blind man should reject the vision of another. Hence each vision is alternatively valid. So either there is no self complete Reality or any such Reality is wholly infinite, a mere demand that refuses to be actualised. The only Scepticism

1. Radhakrishnan—H. I. P. Vol. I Page 299.
2. Kalidas Bhattacharya—His letter to me.
3. Sir Asutosh Com. volume III. Article of Dr. P. C. Bagchi.
4. D. M Datta—Indian Philosophy.
5. K. Bhattacharya—His letter to me.

that there is concerning the so called self-complete Reality. So where as a Sceptic is Sceptical about any character of Reality, Syādvād is quite definitely assertive in so far asti, nasti etc are concerned. Yet he is more Sceptical than any Sceptic in the world so far as the difiniteness of the ultimate Reality is concerned. He would go even beyond avaktarya (adwaitin so far the world is concerned and Sunga·vadin so far ultimate reality is concerned—Kalidas Bhattacharya's letter to me). So at best Syādvāda is a form of Relative Absolutism, or objectiver elativism* but never Scepticism.

So Syādvāda stands against all mental absolutism. We can substantiate this relativistic standpoint on the Cosmo-micro-physical ground supported by Einstienian Doctrine of Relativity[1] and Maxwell's equation of electromagnetism which go fundamentally against the notion of absolute truth. When we say, we *know* this, I am saying more than is strictly correct, because all we know is what happens when the waves reach our bodies [2]

Similarly, researches in Psychology of thinking[3], Perception of self and conception of self in child Psychology[4] and Psychoanlytical studies in Freudian Narcissism or Adlerian Power factor[5] support relativism. The psychological researches into the nature of emotions was substantiated by the writing of Dostoevski, Kirkegaard, Neitzche, Freud, Jung and others who tried to reveal the force of conscious and subsconscious feelings on the function of character and life. James uttered a definite activistic voluntaristic note in his Radical Empiricism. Graham wallas showed how political aspect were dictated by emotional attachment to Party Shibboleths [6] Mc Dougall attacked the transcendent dextalism of the German idealestic rationalism as well as the sociological hedonism and the epicurean rationlism of the

* D. M. Datta—Indian Philosophy.

1. Encyclopaedia Britanica—Vol—19 Page—89. Article on "Relativity" by Sir James Hopwood Jeans. Article on Philosophical Consequences of Relativity by B. Russell.

2. B. Russell—Outlines of Philosophy—Ch. on Relativity, 137.

3 (1) Psychology of Thought—Two vols. Brand Shard.
(2) Creative Thinking—Warthi mer.
(3) Psychology of thinking—Dunlop; Humphry.

4. Pia get—Work on Child Psychology.

5 Dr Mohsin—Oral discussion on this subject on 27-12-53,

6. Dr. V. P. Verma—Rationalism, 19-20.

classical economist and the Benthamite liberals Thus relativism in Psychology is a truism.[7]

Again from socio-cultural standpoint, the doctrine of Syādvāda is justified for no smooth functioning of society is possible without mutual accomodation and adjustment which presupposes catholicism in thought, and sense of tolerance. In ethics and morality, we know how far relativism is dominating.

In Logic the Doctrine of the Universe of Discourse has a great justification for Syādvāda. Universe of Discourse is sometimes limited to a small portion of the actual universe of things and is sometimes co-extensive with that Universe.[1] "The particular aspect or portion of the total system of reality refered to in any judgment may be convinently spoken as the Universe of Discouse.[2] Hence Carveth Read says that supposition (or Universe of Discourse) controls the interpretation of everyword.[3] Logic of Relatives[4] too recognises the truth of Syādvād when it discusses all relations embodied in propositions.

So Syādvāda holds a position of liberal pluralism as contrasted with dogmatic merism.[5] Much of the confusion either of Buddhism or Vedantism is due to the false exaggeration of the relative principles of[6] becoming and being into absolute truths. Same is the case with Parmenidian being and Heraclitan flux. It seems that Syādvāda doctrine has been given to the world after carefully shifting out the truths of a vanity of Philosophical doctrines. It does not originate as some seem to think from a vague indefinite and doubtful mental attitude in regard to things. It gives a practically definite knowledge. Syādvād is never a doctrine of doubt.[7] Manysidedness of the Jaina is the true secret of it irreputable perfection. Nayavada is the touch stone of the dogmatic pronouncement of all one-sided scriptures.[8] It

7. Dr. Mohsin—Oral Discussion on 27-12-53.
1. Boole—Laws of thought Page—166.
2. Keynes—Formal Logic—75-76.
3. Carveth Read—Logic—
4. A. C. Mitra—Deductive Logic Page—198-200.
5. Kannomal—"The Saptbhangi."
6. Radhakrishnan—H. I. P.
7. Prof A. S. Dhurwa—Syadvad Maryar
8. नयकर्णिका—Mohan Lall D. Desai. Introduction.

is the method of knowing a thing synthetically. Thus the Philosophy of Anekāntvāda is neither self-contradictory nor vague or indefinite, on the contrary it represent a very sensible view of things in a systematised form. By means of it the seemingly warring ideas and beliefs of different faiths can very well be accomodated and reconciled to each other and then so many clashes would be avoided.

Syadvada And World Tension :—

Peace is something which the world eagerly wants but which it does not know to secure[1] Peace needs a new civilisation a new culture a new philosophy, where there is no narrowness and no partiality. Huxley is correct to a great extent when he says that war exist because people wish it to exist.[2] We cannot check violence by remaining violent. But non-violence must preceed non-violence in thought. And here Syādvāda give us help to practice non-violence in thought. Prof. R. Prasad also holds that Syādvād is an extension of Ahimsā in epistemology.[3] Unless we resolve our differences, we are bound to face tension. Analysing the ultimate causes of world tension, we had come to the conclusion that it is ultimately our divergent and conflicting idologies that come in the way. Politico-socio-economic ideas are interrelated and all of them have definite ideological standpoint. The world is the store-house of great chaos in thought. All the confusion of thought which is prevailing in the world is the outcome of inexhaustive research and the acceptance of a part for the whole. All most all our disputes only betray the pig headedness of the blind men[4] who spoke differently about an elephant. The outstanding personalities (like Aurobindo, Raman Maharshi etc) spoke to us, in a world over organised by ideological fanaticism, that truth is not exclusive or sectarian. In fact, the spirit of India is a foe to every kind of fanaticism and intellectual narrowness.[5] Huxley askes us to persuade people that every idol however noble it may seem, is ultimately a Moloch that

1. E Ashirvalham—Is Peace Possible ? Journ. Pol. Sc.
2. Aldous Huxley—"Ends of Means" Page—94.
3. Prof R Prasad—Oral discussion.
4. नयकर्णिका—Introduction by Mohan Lall D. Desai.
5. Radhakrishnan—Presidential Address to the Silver Jubilee Session of Indian Philosophical Congress held at Calcutta.

devours it worshippers. In other words, it is fatal to treat the relative and the home made as though it were the Absolute.[1]

Dr. Schillip also observes that humanity is tottering to day on the brink of the principle of self-annihilation for lack of understanding.[2] It is at the levels of human relationships that we reach the acme of misunderstanding.[3] Prof. Tatia also holds that only intellectual clarity will resolve all conflict and rivalary.[4] All dogmatism owes it genesis to this partiality of outlook and fondness for a line of thinking to which a person has accustomed himself.[5] In his message to the Silver Jubilee Session of Indian Philosophical Congress, C. P. Ramaswamy also observes that "work and sacrifice (for peace) can only he on the lines of an abandonment of the so called imperialism and aggresiveness in thought[6], because peace demands a revolutionary desire, a new simplicity, a new asceticism [7] Blavatsky thinks that when the one party or another thinks himself the sole possessor of absolute truth, it becomes only natural that he should think his neighbours absolutely in the clutches of Error or the Devil.[8] These are obvious psychological roots of tensions[9] proved by recent Psychological researches.[10] To day one man or one country fight with the other because their views vary. Views are bound to differ, because we are guided by different condition, thought, modes and attitudes. Hence it is wrong to think oneself right and rest others wrong.[11] Here we find that Syadvad represents the highest form of catholicism

---

1. Aldous Huxley—In his message to the Silver Jubilee Session of Indian Philosophical Congress
2. Paul Arthur Schillip—On Human Uunderstanding-Silver Jubilee vol. II.
3. Ibid.
4. Nath Mal Tatia - Naya ways of Observation ? Approach—198.
5. Ibid.
6. C. P. Ramswamy Ayer—Silver Jubilee vol. II Message.
7. Radhakrishna—Quoted by Ramasury—Ibid.
8. H. P. Blavatsky—The Secret Doctrine
9. Alva Mydral—Gandhian Seminar.
10. (1) Tension Affecting International Understanding—by Klinberg
    (2) Tensions that cause war—Can tril
    (3) Democray in a world of Tensions—Make on
    (4) Ends and Means—Huxley, (war).
11. Nemichandra Shastri "विश्वशांति और जैन धर्म" ।

coupled wonderfully with extreme conservatism, a most genuine and yet highly dignified compromise, better than which I cannot imagine.[1] Extreme toleration is that all views as possibilities are equally (alternatively) valid, and extreme conservatism, in that from the point of actuality (or existence, as the Existentialist term it) only one of the definite catgories is *mine* I cannot always fly in the air of possibilities (or demands) I must have moorings in some one definite form of actuality.[2]

---

1. Kalidas Bhattacharya,—His letter to me.
2. Do. Do

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में दो बार प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देश के लिये ३) है, जो पेशगी लिया जाता है। १॥) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं। मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो तो इसकी सूचना शीघ्र कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

PRINTED AT SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD.
ARRAH

जैन-सिद्धान्त भास्कर

भाग २१ किरण २

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. XX No II

Published by
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAIN SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH (Bihar)

Annual Inland Rs 3. Single Copy Rs. 1/8

DECEMBER, 1954.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व सम्बन्ध षाण्मासिक पत्र

भाग २१ दिसम्बर १९५४ किरण २

सम्पादक :

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्

प्रोफेसर ज्योति प्रसाद जैन एम. ए., एल. एल. बी.

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल.

श्री पं० के. भुजबली शास्त्री. विद्याभूषण.

पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) एक प्रति का १॥)

विषय-सूची

श्रीजिनाय नमः

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन पुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षण्मासिक पत्र

भाग २१ } दिसम्बर, १९५४। पौष, वीर नि० सं० २४८१ { किरण २

अनहिलपुर पट्टन-गुजरात के सोलङ्की नरेश और जैनधर्म

श्रीयुत प्रो०—ज्योतिप्रसाद जैन एम० ए०, एल-एल० बी०, लखनऊ

इतिहास काल के प्रारंभ से लगा कर मुसलमानों की विजय पर्यन्त जिन विभिन्न भारतीय राज्य-वंशों ने एक के बाद एक गुजरात पर शासन किया, उनमें अनेक दृष्टियों से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अन्हिलवाड़े का सोलङ्की वंश था। इस वंश के शासन काल में उक्त प्रदेश में जैनधर्म की भी महती अभिवृद्धि हुई, और फलस्वरूप उसे भी कलिकाल सर्वज्ञ आदि उपाधियों से विभूषित आचार्य हेमचन्द्र जैसे बहुभाषा विज्ञ, विविध विषय पटु, दिग्गज विद्वान को जन्म देने का और उनकी अमूल्य कृतियों का श्रेय प्राप्त करने का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ। सोलङ्कियों के पूर्वज चावड़ों के प्रथम पुरुष वनराज ने भी शीलगुण सूरि नामक जैनाचार्य के आशीर्वाद से सौभाग्यान्वित होकर ही अन्हिलपुर पट्टन की स्थापना की थी। सोलङ्की लोग बादामी के प्राचीन चालुक्यवंश की एक उत्तरकालीन शाखा से संबन्धित थे। सोलङ्कीवंश का मूल पुरुष मूलराज सोलङ्की था जिसने सन् ९४१ ई० के लगभग वनराज चावड़ा के निर्बल वंशज से गुजरात प्रान्त को छीन कर उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया और अन्हिलपुर पट्टन को ही अपनी राजधानी बनाया। इस वंश में ग्यारह नरेश हुए और उन्होंने १० वीं शताब्दी के मध्य से लेकर १३ वीं शताब्दी के मध्य तक—लगभग तीन सौ वर्ष पर्यन्त गुजरात प्रान्त पर एकछत्र शासन किया।

मूलराज के महत्त्वाकांक्षी उत्तराधिकारी चामुंडराज (सन् ९९७-१०१० ई०) के समय में ही इस राज्य ने एक साम्राज्य का रूप लेना प्रारंभ कर दिया था। तदुपरान्त दुर्लभराज, भीम

प्रथम, कर्ण, जयसिंह और कुमारपाल के राज्यकालों में राज्य की उत्तरोत्तर उन्नति होती गई। विशेष रूप से युद्ध प्रिय न होते हुए भी इन सोलङ्की नरेशों ने अपने साम्राज्य को पर्याप्त विस्तृत एवं शक्तिशाली बना लिया था। एक समय, उसके अन्तर्गत हिन्दुकुश से महाराष्ट्र पर्यन्त अठारह बड़े बड़े प्रान्त थे। कल्याण के महाराज, सौराष्ट्र के राजे, चित्तौड़ के राणा, सपादलक्ष के राओं और मालवा के नरेशों सभी ने अन्हिलवाड़े के सोलङ्की सम्राट् का अधिपत्य स्वीकार कर लिया था और उसके सन्मुख अपने मस्तक झुका दिये थे। इतना ही नहीं, यह राज्य तत्कालीन भारत का सर्वाधिक समृद्ध राज्य था। भीम प्रथम के राज्यकाल में जब सन् १०२६ ई० में सुल्तान महमूद गजनवी ने गुजरात पर आक्रमण किया तो उसने सोमनाथ को तो पूरी तरह लूटा ही था, अन्हिलवाड़े तक भी उसने लूट मार की थी। इस लूट में प्राप्त अपार धन राशि का जो ब्योरा तत्कालीन मुसलमान लेखकों ने दिया है वह आजकल अनेकों को कल्पनातीत मालूम होता है, किन्तु एक अंग्रेज इतिहासकार के शब्दों में—"इन आक्रमणकारियों के इतिहास में वर्णित भारत की इस लूट से प्राप्त विपुल धन राशि कदाचित् अविश्वसनीय समझी जा सकती है, परन्तु यदि अन्हिलवाड़े की व्यापारिक समृद्धि का भली प्रकार अंदाजा लगाया जाय तो इसमें अविश्वास के लिये कोई कारण नहीं रह जाता। उस काल में यह नगर भारतवर्ष में वही स्थान रखता था जो कि युरोप में वेनिस, वह पूर्वी एवं पश्चिमी दोनों गोलार्द्धों में उत्पादित वस्तुओं का प्रमुख केन्द्रीय भाजन था।" अतः इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं कि महमूद के भयङ्कर धक्के से भी यह साम्राज्य शीघ्र ही सम्हल गया। उसके सौ सवा सौ वर्ष के भीतर ही सम्राट् कुमारपाल सोलङ्की तत्कालीन भारतवर्ष के सबसे अधिक समृद्ध एवं धनी साम्राज्य का अधिपति था। उपरोक्त भीम प्रथम के समय में ही श्रीमालवंशी पोरवाड़ विमलशाह जैनी अन्हिलवाड़े का प्रथम नगर सेठ बनाया गया। आबू का विश्वविख्यात कलाधाम श्री आदिनाथ जी का मंदिर इसी विमलशाह ने सन् १०३२ ई० में विपुल द्रव्य व्यय करके निर्माण कराया था। यह मात्र एक धनी बनिया एवं राज्य मंत्री ही नहीं था, वरन् ऐसा प्रचंड सेनानायक भी था कि इसने गुजरात की सेना को सिन्धुनद के नीर में तैरा कर गज़नी की भी सीमा को पददलित किया था।

सोलङ्कीवंश का छठा राजा, उदयवराह कर्ण का पुत्र एवं उत्तराधिकारी, जयसिंह सिद्धराज था। इसने सन् १०९४ से ११४३ ई० तक राज्य किया। यह बड़ा शक्तिशाली, धर्मात्मा एवं एवं दानी नरेश था। वह सब धर्मों के प्रति सहिष्णु था और उनका समान रूप से आदर करता था। वह यदि महादेव का उपासक था तो तीर्थङ्कर महावीर का भी भक्त था। उसने यदि सिद्धपुर में 'रुद्रमाल' नामक विशाल शिवालय बनवाया तो महावीर जिनेन्द्र का भी एक मनोरम जिनालय निर्माण कराया[1]। वह सोमनाथ का उत्साही रक्षक था तो साथ ही शत्रुञ्जय तीर्थ की यात्रा करके

1 हि० वि० को० ७, ५०४

वहां के श्री आदिनाथ जी को भी बारह ग्राम भेंट दिये। वह मन्त्रशास्त्र का भी ज्ञाता था और सिद्ध चक्रवर्ती कहलाता था[१]। उसने अपने नाम का संवत् भी चलाया[२]। राय विहार नामक आदिनाथ का सुन्दर मन्दिर तथा स्वयं गिरनार पर्वत पर नेमिनाथ का मुख्य मन्दिर बनवाने का श्रेय भी इसी परम सहिष्णु गुर्जर नरेश को है। इस प्रतापी नरेश ने बारह वर्ष तक मालवा के परमारों के साथ युद्ध करके उनपर विजय प्राप्त की और वह अवन्तिनाथ कहलाया। उसने बर्बरों का दमन किया और महोबे के चन्देलों को सन्धि करने पर विवश किया। उसकी नीति प्रधानतः आक्रमणात्मक थी और उसके राज्यकाल में गुर्जर साम्राज्य की अभूतपूर्व उन्नति एवं विस्तार हुआ।

सिद्धराज जयसिंह एक महान विजेता, चतुर राजनीतिज्ञ एवं कुशल शासक ही नहीं था, वह एक अत्यन्त धर्म सहिष्णु नरेश, प्रजावत्सल नृपाधिप, ज्ञान और कला का अत्यन्त प्रेमी तथा विद्वानों का भी भारी आश्रयदाता था। मालवराज भोज और उनकी राजधानी उज्जैनी की चतुर्दिक फैली हुई कीर्ति से प्रभावित होकर उसने भी अपनी राजधानी अन्हिलपुरपट्टन को उज्जैनी के समान ही विद्या एवं ज्ञान का अनुपम केन्द्र बनाने का निश्चय किया। सौभाग्य से उसे विद्वद्रत्न आचार्य हेमचन्द्र जैसे महान प्रतिभासम्पन्न जैनगुरु का सुयोग प्राप्त हुआ। इनका मूलनाम चंगदेव था। इनके पिता बन्धुकग्राम निवासी छुन्द नामक एक सद्गृहस्थ थे, और इनकी माता का नाम पद्मिनी था। ये प्रद्युम्नसूरि के प्रशिष्य तथा देवचन्द्रसूरि के शिष्य थे। महाराज सिद्धराज हेमचन्द्राचार्य का अत्यधिक सम्मान करते थे। इन्हें ही उन्होंने अपने आश्रय में होनेवाली साहित्यिक प्रवृत्तियों के नेतृत्व का भार सौंपा। दूर दूर से विविध विषय पटु प्रकाण्ड विद्वानों को आमन्त्रित किया गया। राजधानी में एक विशाल विद्यापीठ की स्थापना हुई और राजा की स्पष्ट प्रार्थना पर लगभग बीस नवीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ निर्माण कराये गये। कक्कल नामक एक कायस्थ जो प्रसिद्ध वैयाकरणी थे, उक्त विषय के आचार्य नियुक्त किये गये। स्वयं आचार्य हेमचन्द्र ने महाराज के नाम पर अपने 'सिद्धहेम व्याकरण' तथा द्व्याश्रयकाव्य की रचना की। आचार्य हेमचन्द्र का शिष्य मण्डल भी विस्तृत था, महाकवि रामचन्द्रसूरि उनके प्रधान शिष्य थे। इन्होंने 'नाट्यदर्पण' नामक महत्त्वपूर्ण नाट्यशास्त्र, नलविलास आदि एकादश संस्कृत नाटक तथा प्रबन्धशतक नामक ग्रन्थों की रचना की। राजा जयसिंह इनका भी बहुत समादर करते थे और उनके कविताचातुर्य से प्रसन्न होकर उन्हें 'कविकटारमल्ल' की उपाधि प्रदान की थी। गुणचन्द्र, महेन्द्रसूरि, देवचन्द्र, उदयचन्द्र, वर्धमानगणि, यशश्चन्द्र, बालचन्द्र आदि हेमचन्द्राचार्य के अन्य शिष्य थे जो प्रायः सभी विद्वान् थे। इनके अतिरिक्त महाराज जयसिंह ने जैनमुनि आनन्दसूरि एवं अमरचन्द्रसूरि नामक दो गुरुभाइयों को क्रमशः व्याघ्र शिशुक एवं

१ ब० प्रा० जै० स्मा० पृ० २०६

२ वही०

'सिंहशिशुक' उपाधियाँ प्रदान करके समादृत किया था। इसी नरेश की राजसभा में श्वेताम्बराचार्य देवसूरि अपरनाम अजितसूरि ने जो कि 'स्याद्वादरत्नाकर' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ के कर्त्ता थे, कर्णाटक निवासी दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र के साथ शास्त्रार्थ किया था। हमारा अनुमान है कि ये कुमुदचन्द्र ही सुप्रसिद्ध 'कल्याणमंदिरस्तोत्र' के रचयिता हैं, जिसका कि गुजरात प्रान्त एवं श्वेताम्बर सम्प्रदाय में उक्त शास्त्रार्थ के समय से ही प्रचलन हुआ। यह हेमचन्द्र युग की ही विशेषता थी कि एक विरोधी की कृति को भी क्योंकि वह उत्कृष्ट थी ससम्मान अपनाने की उदारता दिखलाई गई। स्वयं देवसूरि ने भी अपने ग्रन्थ में अकलङ्कादि दिग्गज दिगम्बराचार्यों का ससम्मान स्मरण एवं प्रशंसा की है। वस्तुतः हेमचन्द्र युग गुजरात के सांस्कृतिक इतिहास का स्वर्णयुग है। इस काल में गुर्जरदेश की सर्वाङ्गीण उन्नति एवं प्रगति हुई, और उसके विशेषकर सांस्कृतिक अंगों पर आचार्य के शान्त एवं प्रतिभापूर्ण व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट है, ज्ञान, निष्पक्ष विचारशीलता, गुणग्राहकता एवं सर्वधर्म समभाव के तेज से जाज्वल्यमान यह दीप्ति सिद्धराज एवं कुमारपाल के राजकालों में भासमान दृष्टिगोचर होती है। एक बार राजा सभा में आचार्य से प्रश्न किया गया कि महाभारत जैसे महान् ग्रन्थ में जैनों का कोई उल्लेख क्यों नहीं मिलता तो उन्होंने तत्काल उत्तर दिया कि "यह सत्य है कि महाभारत तथा अन्य हिन्दू शास्त्रों में जैनधर्म के उल्लेख नहीं मिलते, किन्तु ऐसा मानने का भी कोई कारण नहीं है कि जो कुछ उनमें लिखा है वही मात्र सत्य है और जो कुछ उनमें नहीं लिखा वह कभी हुआ ही नहीं" [1]। इसी एक घटना से हेमचन्द्राचार्य की सूक्ष्म विवेचन शक्ति एवं निष्पक्ष आलोचनात्मक दृष्टिकोण का पता चल जाता है।

जयसिंह के मन्त्री मुंजाल, सान्तु, उदयन तथा आलिग भी कट्टर जैन धर्मानुयायी थे। उदयन जो संभवतः कर्ण के समय से ही राजमन्त्री थे और कुमारपाल के सिंहासनारोहण के कुछ समय बाद तक उसी पद पर अधिष्ठित रहे, मारवाड़ के एक श्रीमाल जातीय जैन वैश्य थे। मन्त्री उदयन ने ही सोरठ के ऊपर धावा बोलकर दुर्द्धर राज खेंगार का राज्य नष्ट किया और सिद्धराज को चक्रवर्ती पद दिलाया था। इन मन्त्री प्रवर ने कर्णावती (अहमदाबाद) में एक विशाल जिनालय तथा ७२ बहुमूल्य देव प्रतिमाएँ निर्माण कराकर प्रतिष्ठित कराई थी।[२] उदयन की मृत्यु सन् ११५० ई० में कुमारपाल के राज्यकाल में हुई थी, किन्तु डा० ब्हूलर को इस तिथि में सन्देह है। इनके पांच पुत्र थे—आहड, छाहड, बाहड, अम्बड और सोल्ला। प्रथम चार राज्य मन्त्री हुए और कुमारपाल के समय में भी रहे, सोल्ला व्यापारी हो गया था।

सिद्धराजा के एक कन्या को छोड़कर और कोई सन्तान नहीं थी। अतः अपने पीछे उत्तरा-

---

1 Dr. Shamasastri - J. B. 1923 pp. 57—60

२ हि० वि० को० ३, ३३६

धिकार के प्रश्न को लेकर होनेवाले गृहयुद्धादि की आशंका से उसका चिन्तित होना स्वाभाविक था। मूल राजवंश में कोई अन्य व्यक्ति भी ऐसा नहीं था जो राज्याधिकारी हो सके। केवल सिद्धराज के पितामह भीमदेव की उपपत्नी से उत्पन्न क्षेमराज का पौत्र तथा हरिपाल का पुत्र त्रिभुवन पाल तथा उसके कुमारपाल आदि तीन पुत्र ही ऐसे व्यक्ति थे जिनका कि राजवंश से कुछ सम्बन्ध था। किन्तु इनके अभिजात कुलोत्पन्न न होने के कारण सिद्धराज नहीं चाहता था कि वे उत्तराधिकारी हों। इन लोगों के षड्यन्त्रों और घातों से भी वह अवगत था; अतः उसने त्रिभुवनपाल को मरवा डाला और स्वयं कुमारपाल की हत्या कराने का भी प्रयत्न किया, किन्तु राजधानी के एक अलिग नामक कुम्हार की सहायता से कुमारपाल की जीवन रक्षा हुई और वह भृगुकच्छ को भाग गया। खंभात के राजा केलंबराज ने भी उसे आश्रय दिया। तदनन्तर पैठन, उज्जैन आदि स्थानों में भटकता हुआ वह नगेन्द्र पट्टन में अपने बहनोई कन्हदेव के पास चला गया। उपरोक्त पलायन काल में उसकी चित्तौड़ में एक दिगम्बर मुनि से भेंट हुई और उनसे उसने उपदेश ग्रहण किया।

इधर सिद्धराज ने उत्तराधिकार के लिये होने वाले द्वन्द को मिटाने के लिये चाहडनामक एक क्षत्रिय पुत्र को गोद ले लिया तथा उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। सिद्धराज के इस दत्तक पुत्र की असलियत रहस्यपूर्ण है, वह कौन था इस सम्बन्ध में बड़े मतभेद हैं।[1] सन् ११४३ ई० में चालुक्य चक्रवर्ती सिद्धराज जयसिंह की मृत्यु हो गई, किन्तु जैसी उसकी इच्छा थी उसका वह दत्तक पुत्र उसका उत्तराधिकारी न बन सका।

१ इस समस्या पर हम आगामी अंक में प्रकाश डालेंगे।

ज्योतिष सम्बन्धी कतिपय अज्ञात जैन ग्रन्थ

[श्रीयुत् अगरचंद नाहटा, बीकानेर]

भारतीय गणित एवं ज्योतिष विश्व के लिये एक अपूर्व देन है। बहुत प्राचीन काल से भारत में इस विज्ञान को बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान दिया गया प्रतीत होता है—मध्यकाल में तो यह विद्या अपनी चरम सीमा तक पहुँच गई थी। ज्योतिष के प्राचीन स्वतंत्र ग्रंथ बहुत कम ही प्राप्त हैं। मध्यकाल में सैकड़ों ग्रंथ रचे गये, उनमें जैन विद्वानों के ज्योतिष सम्बन्धी ग्रंथों में कई तो बड़े ही महत्त्व के हैं। प्राचीन जैन आगमों में प्राचीन ज्योतिष एवं गणित के अनेक उल्लेखनीय सूत्र पाये जाते हैं। जिनसे ढाई हजार वर्ष पूर्व की तिथि पत्र सम्बन्धी मान्यताओं का पता चलता है। वेदांग ज्योतिष को सम्यक् प्रकार से समझने के लिये सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, ज्योतिष करंडक आदि ग्रन्थ बहुत उपयोगी माने जाते हैं।

अंग विद्या सम्बन्धी भारतीय सूक्ष्म ज्ञान का पता प्राचीन प्राकृत भाषा के "अंग विज्जा" नामक ग्रन्थ से बहुत अच्छे रूप में मिलता है। १२ हजार श्लोक प्रमाण का यह बृहद् ग्रन्थ अपने विषय का विश्वभर में अजोड़ है, खेद है अभी तक वह प्रकाशित नहीं हुआ। मुनि पुन्यविजय जी ने प्राचीन ताड़पत्रीय प्रतियों के आधार से इसका सुसंपादन कर लिया है और छपने भी चला गया है अतः शीघ्र ही प्रकाश में आवेगा।

प्राचीन गणित का भी जैन आगमों और षट् खंडागम, क्षेत्र समास आदि ग्रन्थों में जो विवरण मिलता है उससे तत्कालीन गणित प्रणाली का अच्छा परिचय मिल जाता है; वर्णी अभिनंदन ग्रंथ में प्रकाशित डा० अवधेश नारायण सिंह के लेख में जैन ग्रन्थोक्त गणित पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। स्व० कुंवरजी आणंद जी का "जैन गणित विचार" नामक गुजराती ग्रन्थ भी इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है। ज्योतिष सम्बन्धी जैन साहित्य तो बहुत विशाल है। वर्णी अभिनंदन ग्रन्थ में ज्योतिषाचार्य पं० नेमिचंद्र शास्त्री ने जैन ज्योतिष पर एक लेख प्रकाशित किया है जिसमें ग्रन्थों की एक तालिका भी प्रकाशित है। इससे पूर्व मैंने जैन ज्योतिष एवं वैद्यक ग्रन्थों की एक सूची भी 'जैन सिद्धान्त भास्कर" में प्रकाशित की ही थी। ज्योतिष विद्या की ओर जैन विद्वानों का प्रारंभ से ही अच्छा आकर्षण रहा है। फलतः सैकड़ों ग्रन्थ समय समय पर रचे गये और पचासों ऐसे जैनेतर ज्योतिष ग्रन्थ भी जैन ज्ञान भंडारों में मिलते हैं जो अन्यत्र अप्राप्त हैं। श्री नेमिचंद्र जी शास्त्री ने जैन विद्वानों के रचित ३०० मौलिक २८ जैनेतर ग्रन्थों की टीकाओं की नामावली अपने लेख में दी है। वह अपूर्ण ही है उसमें निर्दिष्ट ग्रन्थ उनके सामने न होने से उसमें बहुत सी त्रुटियाँ रह गई हैं। जिनके सम्बन्ध में उक्त लेख प्रकाशित होने के समय से ही प्रकाश डालने की इच्छा थी पर कुछ मूलभ्रान्तियों का जांच करना आवश्यक होने से अभी

तक उस समय के नोटस् अप्रकाशित पड़े रहे। उन मूलभ्रांतियों के सम्बन्ध में विस्तार से फिर कभी विचार किया जायगा। यहाँ संक्षेप में प्रकाश डाला जाता है।

लेख में दिये हुए ग्रन्थों के नम्बर

१ नम्बर ४ अंगविज्जा और गणिविज्जा दोनों का एक साथ में उल्लेख है पर वास्तव में दोनों अलग अलग ग्रन्थ हैं। नं० २२८ भी यही है।

२ नम्बर ७ गणित सूत्र (संस्कृत) का नाम दिया गया है पर वह नाम संदिग्ध लगता है और जैन विद्वान का इस नाम का कोई ग्रन्थ ज्ञात नहीं हुआ।

३ नम्बर २३ ज्योतिष मंडल विचार के रचयिता का नाम विजय कुशल सूरि लिखा है जो वास्तव में विजय कुशल का है और ग्रन्थ का नाम मंडल प्रकरण है।

४ नम्बर १७/१६ दोनों एक ही ग्रंथ है। लीलावती की भाषा राजस्थानी मिश्रित हिन्दी है, अपभ्रंश और संस्कृत नहीं। इसके रचयिता का नाम लालचंद्र का ही दीक्षित नाम लालवर्द्धन था।

५ नम्बर १६ बहुत से ग्रंथों की प्रतियाँ कहाँ पर है? इनका निर्देश न होने से उन ग्रंथों और रचयिताओं का नाम ठीक है या नहीं! निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। नम्बर १६ में गणित शास्त्र, श्रेष्ठीचंद्र का बतलाया गया है वह नाम संदिग्ध लगता है।

६ नम्बर २४ आनंदमुनि का ज्योतिष सारोद्धार ग्रन्थ तो जानने में नहीं आया, गणितसार अवश्य मिलता है। संभवतः उसे ही यहाँ ज्योतिषसारोद्धार लिख दिया है क्योंकि उसका भी रचनाकाल १७३१ है।

७ नम्बर ५० से ५६ वाले जैसलमेर भंडार के ग्रन्थ जैन रचित नहीं प्रतीत होते। इसी प्रकार नम्बर ७८ वाला सामुद्रिक शास्त्र भी जैन रचित नहीं लगता। नं० ३१ नं० ३५ वाले भी जैन नहीं प्रतीत होते।

८ नम्बर ७१ हस्तसंजीवन के रचयिता का नाम छूट गया है जो मेघविजय रचित है। नं० ७३ ज्योतिष प्रकाश हीरविजयसूरि रचित नहीं है, उनके समय में रचा गया है। नं० ३६ भी यही है।

६ नम्बर ६१ के रचयिता जिनवल्लभ हो तो उनका समय १३ वीं का नहीं १२ वीं का है

१० नम्बर ८२ ग्रन्थ का नाम शकुन विचार न होकर शकुन प्रदीप है और रचयिता गोवर्धन दास नहीं जयधर्म है। गोवर्धन दास के लिये इसकी रचना हुई है। दे० मेरे सम्पादित रा० हि० ह० खोज भा० २ पृ० १२३

११ नम्बर ६८ जैन रचित होना कम संभव है। रचयिता का नाम रत्नयातु जैनेतर सा लगता है।

१२ नम्बर ६० और ६६ दोनों एक ही ग्रंथ है जय विजय, देव विजय के शिष्य थे।

१३ नम्बर १२७ लग्नशुद्धि की भाषा संस्कृत नहीं, प्राकृत है।

१४ नम्बर १०८ ज्योतिषशाल नम्बर १२४, ७१, १३२, १३३ से बड़ा १३६, १५१, १६१ २३६ २५४, २६१, चातुर्मासिक कलंक आदि कई ग्रन्थों के नाम संदिग्ध या अशुद्ध प्रतीत होते हैं।

१५ नम्बर ११६ की भाषा संस्कृत नहीं, राजस्थानी हिन्दी है। नम्बर १७७-१७८ १८०-१८१, १५८ वाले भी उसी भाषा के ही हैं, संस्कृत के नहीं।

१६ नम्बर १४७, १५६ दोनों एक ही ग्रन्थ है। ग्रन्थकार का नाम दुर्लभराज है जगदेव उसका पुत्र था। रचना काल १२१६ है।

१७ नम्बर १५२ मानसागरी पद्धति १ हजार श्लोक का बतलाया गया है, पर वह बड़ा है प्रसिद्ध ग्रन्थ है, प्रकाशित हो चुका है।

१८ नम्बर १६४, १६८, १७६, १८५ के ग्रन्थकार के नाम संदिग्ध हैं।

१९ नम्बर १५७ मंगलस्फुरण नहीं, नाम अंगस्फुरण है, भाषा हिन्दी नहीं राजस्थानी है।

२० नम्बर १७१ वृत्ति का नाम 'बेनाल वृत्ति' नहीं बेड़ा वृत्ति होगा। रचयिता "नरच" छपा है नरचन्द्र चाहिए। नम्बर १५६ के रचयिता भी वही हैं नम्बर १६४-१८४ ग्रन्थ का नाम संदिग्ध है।

२१ नम्बर १७५ ग्रन्थकार का नाम यशश्रुत सागर नहीं यशस्वत सागर होना चाहिए। इसी प्रकार नम्बर १८० में ग्रन्थकार का नाम चतु विजय छपा है चतुर विजय चाहिए। यह मुद्रण देना भी संभव है। नम्बर १६४, ६८, ६६ ग्रन्थ साधारण कोटि के हैं।

२२ नम्बर १८९ नरपिंगल नाम चिन्तनीय है।

२३ नम्बर २०६ सारसंग्रह का पूरा नाम ज्योतिष सारसंग्रह लिखना चाहिए। क्योंकि इनका वैद्यक सार संग्रह भी एक ग्रन्थ है। नम्बर २२३ और २०६ एक ही ग्रन्थ है।

२४ नम्बर २१४ के रचयिता का नाम उदयप्रकरणी नहीं, उदयपुत्र है।

२५ नम्बर २२५ सूरि जिनोदय छपा है वहाँ जिनोदय सूरि होना चाहिए।

२६ नम्बर २३१ का रचना काल १८०७ नहीं १६०७ है।

२७ नम्बर १५५, २२६ दोनों एक ही ग्रन्थ हैं रचना काल १८८१ नहीं १८१७ है। मेघमाला ग्रन्थ बहुत वर्ष पूर्व वेंकटेश्वर प्रेस से छप भी चुका है।

२८ नम्बर ४ और २२८ भी एक ही ग्रन्थ है।

२९ नम्बर ११० व २३० और नम्बर १२ और २०० नम्बर १३० और २६३ ये भी एक ही ग्रन्थ के दो बार उल्लेख हैं।

३० नम्बर २४८ का नाम कालशतक नहीं कालमतगी है और इसका विषय ज्योतिष नहीं।

३१ नम्बर २५५ खेलवाडी नाम संदिग्ध है या इसका विषय ज्योतिष नहीं प्रतीत होता।

३२ नम्बर २६५ प्रश्नशतक का पूरा नाम प्रश्नभष्टीशतक है। इसका भी विषय ज्योतिष नहीं है।

३३ नम्बर ३०० ग्रन्थ का नाम सबेगरंगशास्त्र नहीं, सबेगरंगशाला है और ग्रन्थकार का नाम जिनचक नहीं जिनचंद्र है। यह ग्रन्थ भी ज्योतिष का नहीं।

३४ नम्बर २८७, २६७ आदि कई ग्रन्थ जैनों द्वारा रचित नहीं, जैनेतर प्रतीत होते हैं।

३५ नम्बर २६१ उर्द्धकाण्ड या उर्ध्वकाण्ड ग्रन्थ का नाम नहीं अर्घकाण्ड होना चाहिए।

३६ नम्बर २६२ में ग्रन्थ का नाम और नम्बर २६४ में ग्रन्थकार का नाम अशुद्ध लगता है। इसी प्रकार अन्य भी बहुत सी भूल भ्रांतियाँ हैं। सूची के कई ग्रन्थ जैन नहीं कुछ के नाम गलत है, कुछ ग्रन्थकारों के नाम अशुद्ध हैं कइयों का विषय ज्योतिष नहीं अतएव इसका संशोधित किया जाना परम आवश्यक है।

जैनेतर ज्योतिष ग्रन्थों पर जैन टीकाओं के अन्तर्गत दिये गये कुछ नामादि अशुद्ध प्रतीत होते हैं। जैसे—

१ गणित तिलक वृत्ति का समय सं० १२२ अशुद्ध छपा है सं० १३२२ होना चाहिए।

२ गहलाघव वार्तिक का रचना काल सं० १६७८ नहीं १७६० है।

३ जातक पद्धति वृत्ति जिनेश्वरसूरि की ज्ञात नहीं, बालावबोध खुशाल सुन्दर का अवश्य प्राप्त है।

४ नम्बर १७-१८, १९-२१, पहिले आये हुए नम्बर १८० १८१ १६० वाले ही हैं।

५ नम्बर २५ जातक दीपिका के कर्ता हर्षरत्न न होकर जिनरत्न कोष के अनुसार हर्ष विजय है एवं यह ग्रन्थ जैनेतर नहीं, उन्हीं का बनाया हुआ है। सं० २३६ में यही ग्रन्थ है।

६ नम्बर २२ के कर्ता अमर वाणी नहीं अमर है ग्रन्थ नाम भी विवाहपटलबोध नहीं वि० बालावबोध भाषाटीका है, नम्बर ८ के रचयिता का नाम खुशाल सुन्दर है।

अब हम कतिपय अज्ञात ज्योतिष ग्रन्थों का परिचय यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं इनमें से लाभोदय रचित **बलिरामानन्द सार संग्रह** की प्रति त्रुटित अवस्था में मिली है, अतः कहीं इसकी पूरी प्रति प्राप्त हो तो सूचित करने का अनुरोध है।

१ **करणराज**—रुद्र पल्लीयगच्छ के मुनिसुन्दर मुनि ने सं० १६५५ में इस ग्रन्थ की रचना की, जिसकी एक भाग प्रति अनूप संस्कृत लाइब्रेरी बीकानेर में प्राप्त हुई है। पत्र संख्या ७ है प्रति पृष्ठ पंक्ति १५ और प्रति पंक्ति अक्षर ४८ हैं। प्रति रचना के समकालीन लिखी हुई है। आदि अन्त इस प्रकार है—

आदि प्रणम्यां शुमंतं मुदाखेटराजं, तमीश्वांतं निर्नाशनं ध्वस्तदोष म्
गणाधीश्वरं गौतमं दत्तकामं गुरुसम्यगानम्य चाम्यां विशालं ॥ १ ॥

शकशिरोमणिरेष विराजते, अकबरो नृपराज गुणाग्रणी
अजनियस्य सुकीर्तिगिहोज्वला, सुरतिवाड्वभक्ति मरोदयं ॥ २ ॥

तद् राज्यशाक तत्तता गुरुतानुकारि, साध्वंक शब्दरचितं सुगमं सदर्थं
विशमितो द्विजवरस्य रमापतेश्च, ज्योतिर्विदाममलमानस रंजनाय ॥ ३ ॥

नभसि खेचरमेलनयुक्तियुग् रविसमं च विवर्जितं विस्तरं
करणराजमिदं गणितं क्षितौ वितनुते मुनिसुन्दर इष्टभाक् ॥ ४ ॥

नगाब्धिचन्द्रे १४३७ वियुक्त पूर्वं शाको, भवद् भद्रदायी शाकोऽङ्करस्य। गताब्दकलेः षड्वङ्क पंचर्त्तुवेदे ४६५६ विहीनो यमब्द सदा भूतैर्वा। ५।

१ प्रथम अध्याय श्लोक ३०

इति रमापति वाक्य समुद्गते सुरचने मुनि सुन्दरनिर्मिते।
करणराजक नामवनि पूर्वकः खचर मध्य मसाधन को ध्यायः
इति श्री करणराज गणिते मध्यमोध्यायः।

२ श्लोक २७. इति श्री करणराजे गणितशास्त्रे ग्रहस्य स्पष्ट करणो द्वितीयोऽध्याय समाप्तः

३ श्लोक १५, प्रश्न साधक तृतीयो ध्यायः।

४ श्लोक १५, चन्द्रग्रहण साधनश्च चतुर्थो अध्यायः।

५ श्लोक २०, सूर्यग्रहण साधको ध्यायः पंचमः।

६ छूटा हुआ संभव।

७ श्लोक १२, उदयाद्य सप्तमो ध्यायः

८ श्लोक ३४, ग्रहयुद्ध नक्षत्रसमागम नामाष्टमो ध्यायः।

६ श्लोक ६, पाताध्याय नवमो ध्यायः

१० श्लोक ३६, अतः

इति रमापति वाक्य समुद्गते, सुरचनेमुनिसुन्दरनिर्मिते।
करणराज निमिशक नामतो, दशमको ध्याय एव गाभौ सदा।२८।
कुरुक्षेत्रनिवास्यपि। ग्रसथी श्रीपति द्विजः।
मुपात्सर्यांककोत्पत्तिं श्रुत्वा चाल्हादकारिणीं।२६।
गच्छेस्मिन् रुद्रपल्लीये सूरयो जिन सुन्दरा।
बभूवु र्भारती यानां मुख्या ज्ञान गुणोज्वला।३०।
तेषां पादप्रशस्तेस्तु शिष्येणेति गरीयसा।
मुनि सुन्दर नाम्नेदं करणराट् विनिर्मिते ३१

मिते विक्रम भूपस्य पंचेषु नृपवत्सरे।
तिथौ च दीपमालायं स्थाणावीश्वर पुरे वरे ॥१२॥
विद्याविद्यालचंद्रस्य सदैव स्थिति मंडपे।
जीववारे ध्रुवमेतत् करणं पूर्तिमाययौ ॥१३॥
चक्रवर्ति कलौ राज्यं योभूदकबरो नृपः।
तस्या शाकात्समुत्पेदे शास्त्रं करणराजकं ॥१४॥

इति सुप्रसिद्ध नागपुरीय तपागच्छ के हर्षकीर्ति सूरि के लिखि हैं।

२ दीक्षा प्रतिष्ठा शुद्धि—इसे महाकवि समय सुन्दर सं० १६८५ में लूणकरन सर में अपने प्रशिष्य ज्योतिष शास्त्र विचक्षण वाचक जयकीर्ति की सहायता से बनाया। इसकी एक मात्र प्रति खरतरगच्छ के आचार्य शाखा के उपाश्रयस्थ ज्ञानभंडार में उपलब्ध हुई जिसकी प्रतिलिपि हमारे संग्रह में है इस ग्रन्थ के १२ अध्याय हैं।

आदि—गुरुन् गुण गुरुन्नत्वा नानाग्रंथानुसारतः
प्रतिष्ठा दीक्षोर्वक्ष्ये दूषणानि गुणांस्तथा ॥१॥
ग्रह गोचर शुद्धयादि द्वाराणि द्वादश स्फुटम्।
अनुक्रमाद्विलोक्यानि, प्रतिष्ठा दीक्षयोर्दिने ॥२॥

द्वादश द्वाराणि यथा— १ ग्रह गोचर शुद्धि। २ वर्ष शुद्धि। ३ अयन शुद्धि। ४ मास शुद्धि। ५ पक्ष शुद्धि। ६ दिन शुद्धि। ७ वार शुद्धि। ८ नक्षत्र शुद्धि। ९ योग शुद्धि। १० करण शुद्धि। ११ लग्न शुद्धि। १२ ग्रह शुद्धि।

अन्त—दीक्षायां प्रतिष्ठायाश्च दूषण भूषणानि विवाहवद् ग्राह्याणि।
दीक्षा प्रतिष्ठायायां शुद्धिः सानिगदिता हिताय नृणां।
श्री लूणकरण सरसि स्मरशर वसु उडु पति वर्षे ॥१॥
१ ज्योतिष शास्त्र विचक्षण वाचक जयकीर्तिसहायैः।
समयसुंदरोपाध्यायसंदर्भितो ग्रंथ ॥२॥ इति श्री

३ बलिरामानन्द सार संग्रह यह खरतर गच्छ के उपाध्याय भुवनकीर्ति के शिष्य लाभोदय ने बलिराम के नाम से बनाया। इसकी एक मात्र प्रति पुण्य विजय जी के संग्रह से प्राप्त हुई जिसके पत्रांक ७-८ व ११ से २१ तक के कुल १३ पत्र ही मिले; जिनमें ग्रन्थ के छठे से १८ वे अध्याय हैं बीच में सातवां अध्याय प्राप्त नहीं। प्राप्त पत्र पांचवे के अन्तिम १५ वें श्लोक के चार अक्षर के बाद अध्याय समाप्ति सूचक उल्लेख है। और १६ वें के छठे श्लोक के बाद के पत्र नहीं मिलने से ग्रन्थ अधूरा रह जाता है। अध्याय की समाप्ति में ग्रन्थकार व ग्रन्थ का नाम और अध्याय का नाम इस प्रकार है।

इति श्री भुवनकीर्ति उपाध्याय शिष्य पं० लाभोदय विरचितायां श्री बलिरामानंद सार संग्रहे सामान्य मुहूर्तानि अध्याय पंचम।

छठा अध्याय विवाह पटल, विवाह शुद्ध करण

७ सप्तदश मुहूर्त:

८ गई वस्तु प्राप्ति प्रश्न आदि।

६ शकुन विचार

१० स्वप्नअध्याय ११ अंग उपांग स्फुरण १२ सामुद्रिक स्वरोदय। १३ जन्मपत्री। १४ पुरुष जन्मपत्री १५ स्त्री जन्मपत्री। १६ दातण विधि एकादश योग उत्पत्ति। १७ आय जात पर जात बालक योग द्वादश योगोत्पत्ति। १८ अष्टोतरी महावर्ष दशा। १६ वर्ष शुभाशुभ ज्ञान के केवल छः श्लोक तक ही मिले हैं। ग्रन्थ संस्कृत पद्यों में है कहीं कहीं स्पष्टी के लिये गद्य भाषा भी प्रयुक्त है।

यथा लग्न थकी सातमी जायगा जिको ग्रहे होय तेहेन या मित्र कहीजे, अथवा चन्द्रमाहुति सातमी ठामि ते पण या मित्र कहीजे।

पूरी प्रति मिलने पर ही ग्रन्थ के अन्य विषयों आदि का परिचय मिल सकेगा। ग्रन्थकार लाभोदय के रचित बारह मासा सं० १६८३ का हमारे संग्रह में है इनके कयवन्न रास की अपूर्ण प्रति जयपुर भंडार में है।

लाभोदय के गुरु भुवनकीर्ति सुकवि थे। सं० १६६७ से १७६० तक के कई रास आदि आपके उपलब्ध हैं। सं० १७०० में जिनरंग सूरि से रंग विजय शाखा अलग हुई तब से आप खरतर गच्छ के उस शाखा के अनुयायी रहे।

जिनोदय सूरि (विवाह रत्न टब्बा)

आदि—नत्वा देवीसुबोधाय, ग्रहीत्वा ज्योतिषां मतं।

विवाह रत्न संक्षेप सत्कृतोदय सूरिणा

रविक्षेत्रे गते जीवे, जीवक्षेत्रे गतो रविः

दीक्षा मुद्गा पुनश्चापि प्रतिष्ठां नैव कारयेत्।

अंत—होलाष्टकं फाल्गुनमासा श्वेताष्टमीत्यष्ट दिनानि यावत्।

तस्मिन् यात्रा विवाहकाले मांगल्य कृत्यं न बुधे विधेयां पर होलाष्टकं॥

इति श्री विवाह रत्न समाप्तं

टब्बा के अंत में भट्टारक श्री जिन उदय रत्न विरचिते विवाह रत्न संक्षेप परिसमाप्तं। मूल श्लोक १५० सं १८३३ जैसलमेर में लिखित पत्र १३, श्री मोतीचंद खजाञ्ची संग्रहीतम।

इनके अतिरिक्त कुछ ग्रंथों के अन्य ग्रंथों में भी उल्लेख मिलते हैं पर वे प्राप्त नहीं हैं। ऐसे ग्रंथों में दिगम्बर ज्ञानभूषण सूरि का खेट चूला भी एक है, जिसका उल्लेख ज्योति प्रकाश में

इस प्रकार पाया जाता है "अत्र आशांवर पाक्षिका मूलसंघ श्री ज्ञानभूषण सूरीः स्वकृत खेटचूलायां प्राङ तथा च तद् ग्रंथे तेषां स्तुतिः। श्री जैन दृष्टि तिथिपत्रमिह प्रणष्टं स्पष्टी- चकार भगवन् करुणाधूरीणबालावबोधविधिना विनयं प्रपद्य श्री ज्ञानभूषण गणेशमभिष्टुमस्तं ज्ञानभूषण जनादिभूषण विश्वभूषण गणाग्रणी त्रयी चिन्मयी स्व विनयी हिताश्रयीस्ताद् यतो भवति मे विधिर्जयी ॥२॥ इत्यादि मंगलं कृत्वा सारणी सवृत्ति प्रवर्तिता। तस्यां गणयतरां शास्तिविहार कोनाः पनिकृता स्तद गमनांतरालाः। अमुणांतिरदं प्रत्यक्षमेव शोध्यमप्राप्ततो भंग्यतिथि प्रमा स्यात ॥

उपर्युक्त ज्योति प्रकाश का उल्लेख नेमिचंद्र जी की सूची में नम्बर ३६ और ७३ में हुआ है। मैंने दिल्ली के धर्मपुरा के मंदिर से प्रति मंगवा के नकल करा रखी है इसके अनुसार अंतिम प्रशस्ति अपूर्ण है। सात प्रकाश पूर्ण होने के बाद ग्रंथ की समाप्ति की सूचना है पर आगे के श्लोक अधूरे रह जाते हैं। जो प्रशस्ति के पद्य हैं। इस ग्रंथ के प्रारंभ में हीरविजय सूरि से अकबर ने ज्ञान गोष्ठि के प्रसंग से ज्योतिष शास्त्र का उपदेश दिया, कहा गया है पर वास्तव में यह ग्रन्थ किसी अन्य विद्वान ने जिसका नाम विनयमति या चंद्रविजय संभव है उक्त प्रसंग का उल्लेख करते हुए रचा प्रतीत होता है। चंद्र प्रज्ञप्ति० ज्योतिषकरंडक की मलयगिरीटीका आदि का उल्लेख के साथ एक जगह विनयविजय के लोक प्रकाश का भी उल्लेख है। अतः इसकी रचना १७३० के बाद की ही सिद्ध[1] होती है। ज्ञान भूषण का उल्लेख प्रत्येक प्रकाश के अन्त में पाया जाता है और अकबर का भी उल्लेख कई बार हुआ है। प्रनयति कुछ अस्तव्यस्त सी लगती है अतः इसकी अन्य शुद्ध प्रति की आवश्यकता है। प्रकाश की समाप्ति में इस ग्रंथ का नाम "जैन तिथि पत्र साधन" बतलाया गया है। अतः यह ग्रन्थ जैन पंचाग निर्माण से सम्बन्धित होने से अवश्य ही महत्व पूर्ण है। बनारस के हीराचन्द सूरि के संग्रह में भी ऐसे ही ग्रन्थ की दो अपूर्ण प्रतियाँ देखी थीं, पर मिलान किए बिना वे इसी ग्रन्थ की हैं या कोई भिन्न ग्रंथ है? निश्चित नहीं कहा जा सकता।

ग्रंथ के सात प्रकरणों के नाम इस प्रकार हैं (१) तिथि द्वार (२) वार (३) तिथि घटिका (४) नक्षत्र साधन (५) नक्षत्र घटिका (६) छट्ठे प्रकरण का नाम पत्रांक ४४ प्राप्त न होने से स्पष्ट नहीं हुआ (७) वें प्रकरण के अंत में लिखा गया है—"इति चतुर्दश, पंचदश, सप्तदश, रूपैश, चतुर्भिद्वारैः संपूर्णोयं ज्योति प्रकाशः।

[1] द्वितीय प्रकाश में सं० १७२५, १७३०, १७३५, १७४०, १७४५, १७५०, १७५५, के भी उल्लेख हैं। इसके अनुसार स० १७५५ के बाद में यह रचा गया संभव है, मंगलाचरण के श्लोकों में विनय द्वारा रचे जाने की सूचना है पर प्रशस्ति अपूर्ण मिलने से विशेष विवरण ज्ञात न हो सका।

प्रारंभ के कुछ पद्य इस प्रकार हैं:—

प्रणम्य सम्यग्नाभेयं पुरुषोतममीश्वरम् ॥
श्री जैनतिथिपत्रस्य रचनां वच्मि कांचन ॥१॥
गौतमाद्या गणेशाश्च भास्कर प्रमुखा खगाः ॥
ज्योति प्रसादं दधतां जैनशासनसूरयः ॥२॥
श्री हीरविजय सूरेः साम्राज्ये तपगणे विजयमाने ॥
श्री अकबर चक्रपति पातिसाहिर्वभूवे भुवि ॥३॥
प्रवचन कनककषोपल प्रोन्मीलय शील भूषण गणिनः ॥
कर कमल सिद्धिभाजश्चारिया चारहट सूचयः ॥४॥
तेषां कृपानुयोगाच्छिष्यभूजिष्यो विशेष्य विनयमतिः ॥
कुरुते गुरुते ज्योतिज्योतिरिदं पत्र मिह जैनम् ॥५॥

× × ×

ज्ञान गोष्ठ्यां प्रवलायां ज्योतिशास्त्रमुपादिशत् ।

नोट—श्री नाहटा जी का यह संशोधन भी निर्भ्रान्त नहीं है। गणितसूत्र ग्रन्थ दिगम्बर जैन है, इसका नाम जैन सिद्धान्त भवन की हस्तलिखित सूची में है। बिना किसी प्रमाण के किसी भी ग्रन्थ को सन्दिग्ध मान लेना तथा राजस्थानी को हिन्दी नहीं मानना यह एक नयी बात है। नवीन ग्रन्थों की प्रशस्तियाँ भाषा की दृष्टि से अशुद्ध हैं, मूल प्रतियाँ समक्ष न होने से उद्धरणों को जैसे का तैसे छोड़ दिया गया है। पाठक केवल विषय की दृष्टि से इनका अध्ययन करें।

—नेमिचन्द्र शास्त्री

श्री पार्श्वनाथ दि० जैन मन्दिर शिलालेख बिजोलियां

वर्तमान, राजस्थान के (पहिले मेवाड़ प्रान्त के भीवाड़ा जिला में ऊपरमाल नामका परगना है। इस पहाड़ी प्रदेश में भी इस भाग पर प्रकृति की विशेष कृपा है अतएव यह भाग धन धान्य पूर्ण है तथा मेवाड़ के "अन्न भण्डार" नाम से ख्यात है। इस ऊपरमाल के लगभग मध्य में ही प्राचीन 'विन्ध्यवल्ली' और वर्तमान बिजौली बसा है। बिजोली पहुंचने के तीन मुख्य मार्ग हैं—(१) कोटा से बून्दी होते मोटर द्वारा बिजौली ५४ मील दूर है। यह सबसे सुगम मार्ग है। स्वराज्य शासन ने बूंदी से आगे २१ मील तक पक्की सड़क बनवा दी है ७ मील ही कच्चा रास्ता है जिस पर मोटर आदि आराम से जाती है। (२) भीलवाड़ा से माण्डल गढ़ होता आया है। यह ६२ मील लम्बा है। यद्यपि स्वराज्य शासन इधर भी पक्की सड़क बनवा रहा है पर यह मार्ग बहुत ही बीहड़ है। (३) मार्ग नीमच कैण्ट से सिंगोली होकर है। नीमच से सिंगोली तक का ५१ मील का पक्का रास्ता है और मोटरादि आराम से जाते हैं। सिंगोली से बिजोली १४ मील है। यह रास्ता कच्चा ही है और ऊंट अथवा घोड़े की ही सवारी इस पर जा सकती है। बिजौली उदयपुर से उत्तर पूर्व ११२ मील पर पड़ता है।

अपनी समृद्धि के कारण बिजोली पर आक्रमकों की सदैव दृष्टि रही होगी। इसी लिए इसके चारों ओर बहुत ऊँचा विशाल परकोटा खड़ा है। इसके दो ही द्वार हैं जिन्हें बन्द कर देने पर इसमें प्रवेश दुष्कर हो जाता है। इस परकोटे ने शतियों से इस नगरी को सुरक्षित तो अवश्य रखा है पर यह सुरक्षा बड़ी महंगी पड़ी है। किम्वदन्ती यह है कि बिजौली में १०८ विशाल मन्दिर थे तथा उन्हें तोड़कर यह परकोटा बना है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'तोड़कर" तो नहीं पर संभवतः मूर्तिभञ्जकों द्वारा तोड़े गये मन्दिरों के पत्थरों का तथा कुछ मन्दिरों के पूरे भग्नावशेषों को परकोटा में लेकर यह अवश्य बना है। आज भी यत्र तत्र मन्दिरों के पत्थर पड़े हैं और वे बिजौली के उज्ज्वल अतीत की स्मृति पग पग पर दिलाते हैं। दक्षिण द्वार से बाहर निकलने पर बस्तीके ठीक पूर्व की ओर खड़े तीन विशाल मन्दिरों पर दृष्टि ठिठक जाती है। ये तीनों मन्दिर शिवजी के हैं जैसा कि इनके हजारेश्वर, महाकालेश्वर तथा उण्डे-श्लेश्वर नामों से स्पष्ट है। इनके ही पास एक अत्यन्त कलापूर्ण कुण्ड है जो मन्दाकिनी नाम से विख्यात है। ये मन्दिर अब तक पुजारियों के आधीन थे फलतः चिर उपेक्षित रहे और बिना किसी जीर्णोद्धार के अब तक गर्मी वर्षा से जूझते आये हैं। हजारेश्वर के मन्दिर में जाकर अपनी धर्मान्धता के ऊपर रुलाई आती है। इस मन्दिर के मूल देवता एक विशाल-सुन्दर शिवलिंग हैं जिसपर सहस्राधिक छोटे छोटे शिवलिंग खुदे हुए हैं। पर वर्षा से पड़ने वाले केवल जल के कारण इस पर गहरी काई जम गयी है और पानी ने पत्थर को फाड़ दिया है। सौभाग्य की बात इतनी ही है कि इन मन्दिरों को अब पुरातत्त्व विभाग ने अपने आधीन कर लिया है।

इन मन्दिरों की कला खजुराहा की कला की अनुवर्तिनी है। स्थूल अन्तर यही है कि आचूल मूल खुदे होने पर भी इनमें मानव मूर्तियों की अपेक्षा बेल आदि ही अधिक खोदे गये हैं। जबकि खजुराहा में मानव या दैवी मूर्तियों की भरमार है। कलाकार ने 'सर्व धर्म समानत्वं' के आदर्श को ही सामने रखा है जैसा कि इनमें उत्कीर्ण जैन-बौद्ध मूर्तियों की सत्ता से स्पष्ट है। निश्चित ही बिजोली की यात्रा सुगम हो जाने पर पुरातत्त्व वेत्ता यहां विपुल संख्या में जाने लगेंगे और तभी इन मन्दिरादि का कला-संस्कृति तथा इतिहास की दृष्टि से सूक्ष्म अध्ययन हो सकेगा। इन मन्दिरों के पास किसी प्राचीन शिलालेख का न होना खटकता है। संभव है कि किसी अन्य मन्दिर के आस पास रहा हो और मन्दिर के साथ वह भी नष्ट हो गया हो। अथवा इन मन्दिरों से पौन मील की दूरी पर स्थित दि० जैन पार्श्वनाथ मन्दिर के पास प्राप्त तीनों शिलालेख भी इन मन्दिरों के निर्माण-निर्मातादि के द्योतक हों। क्योंकि इस प्रकार भी 'सर्व धर्म समानत्व' भारतीय परम्परा रही है। खजुराहा के समस्त मन्दिरों का निर्माण कराने वाला एक ही व्यक्ति था। मैनाल, माण्डलगढ़ जहाजपुरादि की सूक्ष्म शोध होने के बाद ही इस विषय पर सांगोपांग विवेचन संभव हो सकेगा।

इस लेख का विवेच्य श्री पार्श्वनाथ दि० जैन मन्दिर बस्ती की पूर्व दक्षिण दिशा में लगभग पौन मील दूरी पर स्थित पठार पर है। इस मन्दिर की अवस्था यहां के अन्य मन्दिरों से बहुत अच्छी है। इसके चारों ओर परकोटा है। परकोटे के भीतर बगीचा भी है। बीच में पूर्व मुख मन्दिर है उसके सामने दो मानस्तम्भ हैं और इसके बाद पूर्व की ओर ही एक विशाल सभा मण्डप है। मन्दिर से लगा ही उत्तर की ओर कुण्ड है। तथा इस कुण्ड की उत्तर दिशा में ही महुए के पेड़ के नीचे प्रकृत शिलालेख है।

यह शिलालेख चाहमान चौहान सोमेश्वर के राज्यकाल (वि० १२२६) में श्री दि० जैन पार्श्वनाथ मन्दिर की प्रतिष्ठा तथा दानादि की स्मृति के लिए खुदवाया गया था। शिलालेख[1] निम्न प्रकार है—

१ सिद्धम् ॥ ॐ नमो वीतरागाय ॥ चिद्रूपं सहजोदितं निरवधि ज्ञानैकनिष्ठापितं। नित्योन्मीलितमुल्लसत्सकलं स्यात्कारविस्फारितं (तम्)[।] मुक्तानां परमाद्भुतं शिवमुखानंदास्पदं शाश्व (श्व)तं। नौमि स्तौमि जपामि यामि शरणं तज्ज्योतिरात्मो[दित]तं (तम्) ॥ १ ॥ नास्तं गतः कुग्रहसंग्रहो न। नो तीव्र तेजा

२ ⏑ ⏑ — ⏑ —[वा]:। — — ⏑ — नैव सुदृष्टदेहोऽदुर्भवो रवि स्तात्स मुदेवृषो वः ॥ २ ॥ [स] भूयाच्छ्रीशान्तिः शुभ्रभवभंगोभवभृतां। विभोर्यस्याभाति स्फुरितन-

---

1 श्री पं० अक्षयकीर्ति व्यास द्वारा सम्पादित प्रति के आधार से।

खरोचिः करयुगं (गम्)। विनम्राणाशेषामखिलकृतिनां मंगलमयीं। स्थिरीकर्तुं लक्ष्मीमुपरचितरज्जुव्रजमिव ॥ ३ ॥ नाशा (सा) स्वा (श्वा) सेन येन प्रबलबलभृता पूरितः पांचजन्यः।

३ — — — ◡ — — वरदलमलि [नो पाद] पद्माग्रदेशैः। हस्तांगुष्ठेन शार्ंगं (शार्ङ्गं) घ (ध) नुरतुलव (ब) लं कृष्टमारोप्य विष्णोः। रंगुल्यांदोलितोयं हल भृदवनतिं तस्य नेमेस्तनोमि ॥ ४ ॥ प्रांशुप्राकारकांता त्रिदशपरिवृढव्यूह [क] द्वावकाशां। वाचालां केतुकोटि [क्व] णदनणुमणीकिंकिणीभिः समंतात्। यस्य व्याख्यानभूमीमहह किमिदमित्याकुलाः कौतुकेन प्रेक्षंते प्राणभाजः।

४ [स भु] [वि] विजयतां तीर्थकृत्पार्स्व (श्वं) नाथः ॥५॥ वर्द्धतां वर्द्धमानस्य वर्द्धमानमहोदयः। वर्द्धतां वर्द्धमानस्य वर्द्धमान [मह] दयः ॥६॥ सारदां सारदां स्तौमि सारदानविसारदां (दाम)। भारतीं भारतीं भक्तभुक्तिमुक्तिविशारदां (द म्) ॥७॥ निःप्रत्यूह मुपास्महे जिनपतीनन्यानपि स्वामिनः। श्रीनाभेयपुरस्सरान् परकृतापीयूषपाथोनिधीन्। ये ज्ञया (ज्यो) तिःपरभागभाज—

५ नतया मुक्तात्मतामा [श्रि] ताः श्रीमन्मुक्तिनितंबि (बि) नीस्तनतटे हारश्रियं बि (वि) भ्रति ॥८॥ भव्यानां हृदयाभिरामवसतिः सद्धर्म [श] र्म) विधिः कर्मोन्मूलनसंगतिः सु (शु) भततिः निर्वा (र्वा) ण वी (वो) धोद्धृतिः [।] जीवानामुपकारतारणरतेः श्रेयःश्रियां संसृतिः देयान्मे भवसंभृतिः शिव [म] ति जैने चतुर्विंशं (श) तिः ॥९॥ श्रीचाहमानक्षितिराजवंशः पौर्व्वोऽप्यपूर्वो नि (न) जडावनद्धः। भिन्नो न वां—

६ [गो] [न च] रंघ्रयुक्तो नो निःफलः सारयुतो नतो नो ॥१०॥ लावण्यनिर्म्मलमहोज्व (ज्ज्व) लितांगयष्टिरच्छोच्छलच्छविचयः परिणामचा [रो] [। उर्त्तुं] गपव्वतपयोधरभारभुग्ना शाकंभ [री] जनि जनीव ततोपि विष्णुः ॥११॥ विप्रः श्रीवत्सगोत्रेभूदहिच्छ [त्र] पुरे पुरा। सामंतोनंतसामंतः पूर्णतल्ले (ल्लो) नृपस्ततः ॥१२॥ तस्माच्छ्रीजयराजविग्रहनृपौ श्रीचंद्रगोपेंद्रकौ तस्माद् [ल्लं] भगूवकौ शशि—

७ नृपो गूवाक सच्चंदनौ [।] श्रीमद्वप्पयराज विंध्यनृपती श्रीसिंहराद्विग्र (द्विग्र) हौ ? श्रीमद्दुर्लभगुंदुवाकुपतिनृपाः श्रीवीर्यरामोऽनुजः ॥१३॥ [चामुं ड] वनिपे (पो) र्ति (थ) श्च रायणकवरः श्रीसिंघटो दूसलस्तद्भ्राताथ ततोपि वीसलनृपः श्रीराजदेवीप्रियः [।] पृथ्वीराजनृपोथ तत्तनुभू (भ) वो रासल्लदेवीविभुस्तत्पुत्रो जयदेव इत्यवानिपः सामल्लदेवीपतिः ॥१४॥ हत्वा चच्चिगसिंघलाभिघयसो (शो) राजादिवीरत्रयं।

८ क्षिप्रं क्रूरकृतांतवक्त्रकुहरे श्रीमार्गदुर्द्दा' (द्दा) श्रितं (तम्)। श्रीमत्सो [ल्ल] णदंडनायकवरः संग्रामरंगांगणे जीवंने (वन्ने) व नियंत्रितः करभके येन ◡ — — [चि] त्रात् ॥१०॥ अर्णोराजोस्य सूनुर्द्धृतहृदयहरिः सत्ववांश (वांश्च) ष्टकीमो गांभीर्यौदार्यव (च) र्यः

समभवद् [चि] रालध्व (ल्लब्ध) मध्यो न दीनः। तच्चित्रं जंन (यन्न) जाद्य (ड्य) स्थितिरकृतमहापंकहेतुर्न्न मध्या न श्रीमुक्तो न दोषाकररचितरतिर्न्न द्विजिह्वाश्रितोऽयः ॥१६॥ यद्राज्यं

९ यद्राज्यं कुशवारणं प्रतिकृतं राजांकुशेन स्वयं येनात्रैव नु चित्रमेतत्पुन र्म्मन्यामहे तं प्रति। तच्चित्रं प्रतिभासते सुकृतिना निर्व्वाण नारायण न्यक्काराचरणेन भंगकरणं श्रीदेवराजं प्रति ॥१७॥ कुवलयविकासकर्त्ता विग्रहराजोजनि (नी) [स्तु (ति)] नो चित्र (त्रम्)। तत्तनयस्तच्चित्रं य [त्र] जडक्षीण सकलंकः ॥१८॥ मादानस्वं चक्रे मादानपतेः परस्य मादानः [।] यस्य दधत्करवालः करालतां

१० करतलाकलितः ॥१६॥ कृतांतपथसज्जोभूत्सज्जनोसज्जनो भुवः। वैकुंतं कुंतपालोगा [वत]ो वै कुं [त] पालकः ॥२०॥ जावालिपुरं ज्वाला [पु] रं कृता पल्लिकापि पल्लीव। नड्ड (ड्व) लतुल्यं रोषान्नड्डू (ड्ड) लं येन सौ (शौ) र्येण ॥२१॥ पतोलीं च वलभ्यां च येन विश्रामित यशः। ढिल्लिकाग्रहण श्रांतमाशिकालाभलंभितं (तम् ॥२२॥ तज्ज्येष्ठभ्रातृपुत्रो भूत्पृथ्वीराजः पृथूपमः। तस्मादर्जितहेमांगो हेमपर्व्वतदानतः ॥२३॥ प्रतिधर्म्मरतेना—

११ पि पार्श्वनाथस्वयंभुवे। दत्तं मोराझरीग्रामं भुक्तिमुक्तिश्च हेतुना ॥२४॥ स्वर्णादिदाननिवहैर्दशभिर्म्महद्भिस्तोलानरैर्न्न गरदानचयैश्च विप्राः। येनार्च्चिताश्चतुरभूपतिवस्तपालमाक्रम्य चारुमनसिद्धिकरी गृहीतः ॥२५॥ सोमेश्वरालब्धव (ब्धा) राज्यस्ततः सोमेश्व (श्व) रो नृपः [।] सोमेश्वर (श्व) र नतो यस्माज्जनः सोमेश्व (श्व) रो भवत् ॥२६॥ प्रतापलंकेश (श्व) र इत्यभिख्यां यः प्राप्तवान् प्रौढपृथुप्रतापः [।] यस्याभिमुख्ये वरवैरिमुख्याः केचिन्मृता केचिदभिद्रुताश्च ॥२७॥ येन श्री—

१२ पार्श्वनाथाय रेवातीरे स्वयंभुवे। सा (शा) सने रेवणाग्रामं दत्तं स्वर्गाय कांक्षया ॥२८॥ छ ॥ अथ कारक वंशानुक्रमः ॥ तीर्थे श्रीनेमिनाथस्य राज्ये नारायणस्य च। अंभोधिमथनाद्देव (व) त्रिभिर्व्व (र्व) लशालिभिः ॥२९॥ निर्ग्गताः प्रवरो वंशो दे (दे) ववृन्दैः समाश्रितः। श्रीमालपत्तने स्थाने स्थापितः शतमन्युना ॥३०॥ श्रीमालशैलप्रवरावचूलः प (पू) र्व्वोत्तरः सत्वगुरुः सुवृ (वृ) त्तः। प्राग्वाटवंशोऽस्ति च (व) भूव तस्मिन्मुक्तोपमो वैश्रवणाभिधानः ॥३१॥ तडागपत्तने येन कारितं।

१३ जिनमंदिरं (रम्)। [कीर्त्ति] श्रेणा यश (शा) स्तत्वमत्र स्थिरतां गतां (तम्) ॥३२॥ योऽचीकरच्चंद्रसु (शु) रि (चि) प्रभाणि व्याघ्रेरकादौ जिनमंदिराणि। कीर्त्तिद्रुमारामसमृद्धिहेतोर्विभांति कंदा इव यान्यमंदाः ॥३३॥ कल्लोलमालकलितकीर्त्तिसुधा (धा) समुद्रः ? सद्बु (द्बु) द्धिवं (वं) धुरवधूधु (ध) रणे ध [री (रे) णः] [भू] [त] उपकारकरणप्रगुणांतरात्मा श्रीचच्चुलस्वतनयः [⏑ ⏑ —] पदेऽभूत् ॥३४॥ शुभंकरस्तस्य सुतोजनिष्ट शिष्टैर्म्महिष्ठैः परिकीर्त्यकीर्त्तिः (।) श्रीजासडोभूत तदंगजन्मा यदंगजन्मा खलु पुण्यरासि (शि) ॥ ॥३५॥ मंदिरं वर्द्ध-

१४ मानस्य श्रीनारायणकसंस्थितं (तम्) भाति यत्कारितं स्वीयपुण्यस्कंधमिवोज्व (ज्ज्व) लं (लम्) ॥३६॥ चत्वारश्चतुरा नाराः पुत्राः पात्रं शुभश्रियः। अमुष्यामुष्यधर्म्माणो र्व्वं (च) भूवुर्भाज्जं (र्य्य) योर्द्वयोः ॥३७॥ एकस्यां द्वावजायेतां श्रीमदाम्बटपद्मटौ। अपरस्यां [सु] [तौ जातौ] [श्रीमल्ल] दमटदेसलौ ॥३८॥ पाकाद्यां नरवरे वीरवेश्मकारणपाटवं (वम्) प्रकटितं स्वीयवित्तेन धा (धा) नु (तु) नेव महीतलं (लम्) ॥३९॥ पुत्रौ पवित्रौ गुणरत्नपात्रौ विशुद्धगात्रौ समसी (शी) लसत्त्थौ (त्थौ) [।] च (च) भूवतुर्ल्लंदमटकस्य जैत्रौ मुनीदुरामेंद्वभिद्यो (धो) प्रस (श) स्तौ (स्तौ) ॥४०॥

१५ षट्षं (ट्त्वं) डागमनद्धमौहृदभराः षड्जीवरक्षेश्वराः षट्भे (ड्मे) दें द्रियवस्य (श्य) तापरिकराः षट्कम्मकृ (क्लृ) प्तादराः [।] षट्पं (ट्खं) डावनिकीर्त्तिपालनपराः ष (षा) ट्गु (ड्गु) एयचिताकाः षट्द्ध (ड्द्र) व्यंवु (बु) जभास्करा [:] समभवः षट्दे (ड्दे) शलस्यांगजाः ॥४१॥ श्रेष्टी (ष्टी) दुद्दकनायकः प्रथमकः श्रीमांसलो वीगडिर्द्देवस्पर्शं इतोपि सीयकवरः श्रीराहको नामतः। एते तु क्रमतो जिनक्रम युगांभोजैकभृंगोपमा मान्या राजजनैर्व्वदान्यमतयोः राजंति जंबू (बू) त्सवाः ॥४२॥ हर्म्यं श्रीवर्द्धमानस्याजयमेरोर्व्विभूषण (णम्) [।] कारित यैर्म्महाभागैर्व्वि—

१६ मानमिव नाकिनां (नाम्) ॥४३॥ तेषामंतः श्रियः पात्रं [सीय] कः श्रेष्टि (ष्ठि) भूषणं (णम्)। मंडलकरमहादुर्ग्गभूषणानाथ भूतिना ॥४४॥ यो न्यायांकुरसेचनैकजलदः कीर्त्ति (र्त्तें) र्न्निधानं परं? सौजन्यांवु (बु) जिनीविकासनरविः पापाद्रिभेदे पविः [।] कारुण्यामृतवारिधे- र्व्विलसने राकाश [सं (शां)] का [प] मो नित्यं साधुजनोरकारकरणव्यापारव (व) द्धादरः ॥४५॥ येनाकारि जितारिनेमिभवनं देव-द्रिश्रृंगोद्धुरं चंचत्कांचनचारुदण्डकलसश्रेणिप्रभाभास्वरं (रम्) खेलत्खेचरसुन्दरीश्रमभरं भंजद्द्रव्यजोद्वीजनैर्द्दत्तेष्टापदशैलस (श्रृं) गजिनभृत्प्रोद्दामसद्मश्रियं (यम्) ॥४६॥ श्रीसीयकस्य भार्यें द्वे।

१७ सौ नागश्रीमामटाभिषे (धे)। आद्यायास्तु स्त्र (त्र) यः पुत्रा द्वितीयायाः सुतद्वयं (यम्) ॥४७॥ पंचाचारपरायणात्ममतयः ॥? पंचांगमंत्रोज्व (ज्ज्व) लाः। पंचज्ञानविचारणासुचतुराः? पंचेन्द्रियार्थोज्ज्याः। श्रीमत्पञ्चगुरुप्रणाममनसः पंचाणुशुद्धव्रताः पंचैते तनया गृह [तिवि] नयाः श्रीसीयकश्रेष्ठिनः ॥४८॥ आद्य [:] श्रीनागदेवोभूऽल्लोणाकश्चोज्व (ज्ज्व) लस्तथा। महीधरो देवधरो द्वावेतावन्यमातृजौ ॥४९॥ उज्व (ज्ज्व) लस्यांगजन्मानौ श्रीम [द्] ल्लंभलदमणौ। अभूतां भुवनोद्भासियसो (शो) दुर्ल्लंभलदमणौ ॥५०॥ गांभीर्यं जलधेः स्थिरत्वमचलात्तेज—

१८ स्विता (तां) भास्वतः ॥? सौम्यं चन्द्रमसः सु (शु) चित्वममरश्री (स्रो) तस्विनीतः प (रम्) [।] एकैकं परिगृह्य विस्व (श्व) विदि [तो] यो वेधसा सादरं मन्ये वी (वी) अकृते कृतः सुकृतिना सः लोल्लकश्रेष्टि (ष्ठि) नः ॥५१॥ अथागमन्मं [दिरमे] व कीर्त्तेः श्रीविं [ध्यव] ल्लीं धनधान्यव (ध) ल्लीं (ल्लीम्)। तत्रान्तु [लोचे ह्यभि] [तल्पसुप्तः] कंचिन्नरेधं (शं) पुरतः स्थितं

सः ॥५२॥ उवाच कस्त्वं किमिहाभ्युपेतः कुतः स तं प्राह फणीस्व (श्व) रोहं (हम्) पाताल मूलात्तत्र देशनाय [श्री] पार्श्वनाथः स्वयमेष्यतीह ॥५३॥ प्रातस्तेन समुत्थाय न कं (किं) चन विवेचितं (तम्)। स्वप्नस्यांतर्म्मनोभावा यतो वातादिदूषिताः ॥५४॥ लोला—

१६ क [स्य] प्रियास्तिस्रो (स्रो) व (ब) भूवुर्म्मनसः प्रियाः ॥ (।) ललिता कमलश्रीश्च लक्ष्मी र्ल्लक्ष्मीसताभयः ॥५५॥ ततः स भक्तां ललितां व (ब) भाषे गत्वा प्रियां तस्य निसि (शि) प्रसुप्तां (प्ताम्) [।] शृणुष्व भद्रे धरणोहमेहि श्री [पार्श्वनाथं] [खलु द] र्शयामि ॥५६। तया स चोक्तो [म] ⏑ — ⏑ य [त्व (त्वं] न्न (न) हि] सत्यमेतत्। श्रीपार्श्वना थस्य समुद्धृतिं स प्रासादमर्च्चां च करिष्यतीह ॥५७॥ गत्वा पुनर्ल्लोलिकमेवमूचे भो भक्तशक्तानुगतारिक्त। देवं धने धर्म्मविधौ जिनेष्टौ श्रीरेवतीतीरमिहाप पार्श्वः ॥५८॥ समुद्धरैनं कुर (रु) धर्म्मकार्यं त्वं कारय श्रीजिनचै—

२० त्यगेहं। येन प्रस्यसि श्रीकुलकीर्ति पुत्र पौत्रोत्थ संतानमुखादि वृद्धिं (द्धिम्) ॥५९॥ त [दे] [वद् भी] माख्यं व (त्र) नमिद निवासो जिनततेस्त पते प्रावाणाः (णः) शठकमठ मुक्ता गगनतः। सदा (दा) ग [मः] [शश्वत्त] दुपनयतः कुंडसरित (तो) स्तदत्रैतत् स्थानं ⏑ ⏑ ⏑ [नि] गमं प्राप परमं (मम्) ॥६०॥ अत्रास्त्युत्तममुत्तमादि (द्रि) सिष (शिख) रं साद्धं (धि) ष्ठमंचो-च्छितं।.....तीर्थं श्रीवरलाइकात्र परमं देवैर्निमुक्ताभिधः। मत्पश्नात्र घटेस्व (श्व) रः सुरनतो देवः कुमारेस्व (श्व) रः सौभाग्येस्व (श्व) रदक्षिणेस्व (श्व) रः सुरनतो देवः कुमारेस्व (श्व) रः सौभाग्येस्व (श्व) रदक्षिणेस्व (श्व) रमुरो मार्कंडेस्व (श्व) रौ ॥६१॥ सत्योवरेस्व (श्व) रो देवो ब्रह्ममहेस्व (श्व) रावपि। कुटि—

२१ लेशः कर्क्करेशो यत्रास्ति कपिलेस्व (श्व) रः ॥६२॥ महानालमहाका (लम) रथेस्व (श्व) रसंज्ञकाः। श्रीत्रिपुष्करतां प्राप्ता [: संति] त्रिभुवनार्च्चिताः ॥६३॥ क (की) र्त्तिनाथं (थ) च (श्च) [के] [दारः]......मित्नामिनः [।] संगमीसः (मेशः) पुटीस (श) श्च मुखेस्व (श्व) र [वटे] स्व (श्व) राः [॥६४॥] नित्यप्रमोदितो देवो सिद्धेस्व (श्व) रगया (ये) सु (श्व) राः [।] गंगामेद [श्च] सौमी (मे) शः गंग (ङ्गा) नाथत्रिपुरांतकाः ॥६४(६५)॥ संस्नात्री कोटिलिंगानां यत्रास्ति कुटिला ना (न) दी। स्वर्णजालेस्व (श्व) रो देवः ममं कपिलधारयाः ? ॥६५ (६६)॥ नाल्प-मृत्युर्न्न वा रोगा न दुर्भिक्षमवर्षणं (णम्)। यत्र देवप्रभावेन कलि—

२२ पंकप्रधर्षणं (णम्) ॥६६ (६७)॥ षण्मासे जायते यत्र शिवलिंगं स्वयंभुव (वम्)। तत्र कोटीस्व (श्व) रे तीर्थे का श्लाघा क्रियते मया ॥६७ (६८)॥ इत्येवं ज ⏑ — ⏑ — ⏑ ⏑
— — ⏑ — — ⏑ — — — ⏑ ⏑ — ⏑ — ⏑ ⏑ ⏑ — : ....

कृत्वावतारक्रियां (याम्)। कर्त्ता पार्श्वजिनेस्व (श्व) रोत्र कृपया सोपाद्य वासः पतेः शक्त्यैर्वे (र्व्वे) क्रियिक [:] श्रियस्त्रिभुवनप्राप्ति प्रबोधं प्रभुः ॥६८ (६९)॥ इत्याकर्ण्य वचो विभाव्य

मनसा तस्योरगस्वामिनः स प्रातः प्रतिबु (बु) ध्य पार्स्वं (र्श्वं) मभितः क्षोणीं विदार्य क्षणात्। तीवतत्र विभुं ददर्श सहसा निःप्राकृताकारिणं कुंडाभ्यर्णतं एव धाम दधतं स्वायंभुवं श्रीश्रितं (तम्) ॥६९ (७०) ॥

२३　नाशी (सी) यत्र जिनेंद्रपादनमन नो धर्म्मकर्म्मार्ज्जनं [न] [स्नानं] न विलेपनं न च तपो ध्यानं न दानार्च्चनं (नम्) । ना वा सन्मुनिदर्शनं [न] [⏑⏑——⏑—⏑.— [यत्रैतन्निखिलं बभूव सदनं]—⏑—⏑—[॥७० (७१)]॥ तत्कुंडमध्यादथ निर्ज्जगाम श्रीसीयकस्यागमनेनपद्मा । श्रीक्षेत्रपालस्तदर्धाबि (बि) का च [श्रीज्वा] लिनी श्रीधरणोरगेंद्रः ॥७१ (७२)॥ यदावतारम कार्षीदत्र पार्श्वजिनेश्व (श्व) रः ॥ तदा नागह्रदे यक्षगिरिस्तंवः (बः) प्रपात सः ॥७२ (७३)॥ यक्षोपि दत्तवान् स्वप्नं लक्ष्मणः ब्र (ब्र) ह्मचारिणः। तत्राहमपि यास्यामि यत्र पार्श्वविभुर्म्मम ॥७३ (७४)॥ रेवतीकुंड—

२४　नीरेण या नारी स्नानमाचरेत् [।] सा पुत्रं भर्तृसौभाग्यं [ल] [क्ष्मीं च] [ल] भते स्थिरं (रम्) ॥७४ (७५)॥ ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि [वै] [श्यो वा शूद्र एव वा । रेव] तीस्नानकर्त्ता [यः] स प्राप्नोत्युत्तमां गतीं (तिम्) ॥७५ (७६)॥ ध [नं (न्यं)] धा [न] ध [नं धाम धै] र्यं धौरेयतां धियं (यम्) । धराधिपनिसन्मानं लक्ष्मीं चाप्नोति पुष्कलां (लाम्) ॥७६ (७७)॥ तीर्थाश्चर्यमिदं जनेन विदितं यद्गीयते सांप्रतं कुस्ट (ष्ठ) प्रेतपिशाच्च कुज्वररुजाहीनांग गंडापहं (हम्) । संन्यासं च चकार निर्गतभयं धूकसृगाली द्वयं काकी नाकमवाप देवकलया किं किं न संपद्यते ॥७७ (७८)॥ श्लाघ्यं जन्म कृतं धनं च सफलं नीता प्रसिद्धिं मतिः ।....

२५　सद्धर्मोपि च दर्शितस्तनुरुहस्वप्नोप्पित [:] सत्यता (ताम्) ।⏑⏑⏑--रुद्ध दृष्टिदूषितमनाः सदृट (दृष्टा) ष्टिमार्ग्गो कृतो जै [ने]—⏑⏑—⏑--[सुकृति] ना श्रीलोलकश्रेष्ठिनः ॥७८ (७९)॥ किं मेरोः श्रृंगमेतत् किमुत हिमगिरेः कूटकोटिप्रकांडं किं वा कैलासकूटं किमथ सुरपते स्वर्विमानं विमानं (नम्) [।] इत्थं यत्तक्यते स्म प्रतिदिनममरैम (मं) र्त्यं राजोत्करैर्व्वा मन्ये श्रीलोलकस्य त्रिभुवनभरणादुच्छ्रितं कीर्त्तिपुंजं (जम्) ॥७९ (८०)॥ पवनधुतपत (ता) कापाणितो भव्यमुख्यान् पटुटपहनिनादादाह्वयत्येव जैनः । कलिकलुषमथोच्चैर्दूरमुत्सारयेद्वा त्रिभुवनवि-

२६　[भु] [ला] भान्नृत्यतीवालयोयं (यम्) ॥८० (८१)॥ [काश्चि] [त्तस्था] नकमाचरंति दधते काश्चिच्च गीतोत्सवं का श्चद्वि (द्वि) प्रति तालवं (कं) स (सु) ललितं कुर्व्वंति नृत्यं च काः । काश्चिद्वाद्यमुपानयंति निभृतं ! वीणास्वरं काश्चन यत्रोच्चैर्ध्वजकिंकिणीयुवतयः केषां मुदे नाभवन् ॥८१ (८२) ॥ यः सद्वृत्तयुतः सुदीप्तिकलितस्त्रासादिदोषोज्झि तश्चिंताख्यातपदार्थदानचतुरश्चिंतामणेः सोदरः । सोभूच्छ्री जिनचंद्रसूरिसुगुरूस्तत्पादपंकेरुहे यो भृंगायत एव लोलकवरस्तीर्थं चकारैष सः ॥८२ (८३)॥ रेवत्याः सरितस्तटे तरूवरा यत्राह्वंयते भृशं ॥

२७ शाखाया (वा) हुलतोत्करैर्न्न [रसु] रान्पुंस्कोकिलानां रुतैः। मत्पुष्पोच्चयपत्रसत्फल-चयैरानि [र्म्म] [लै] र्व्वारिभिर्भो भोऽभ्यर्च्चयता भिषेकयत वा श्रीपार्श्वनाथं विभुं (भुम्) ।८३ (८४)॥ यावत्पुष्करतीर्थसैकतकुलं यावच्च गंगाजलं यावत्तारकचंद्रभास्करकरा (रा) यावच्च दिक्कुंजराः। यावच्छ्रीजिनचंद्रशासनमिदं यावन्म [हें] द्रं पदं तावत्तिष्ठ (ष्ठ] तु यः प्रशस्ति-सहितं सहितं जैनं स्थिरं मंदिरं ((रम्) ॥८४ (८५) पूर्व्वतो रेवतीसिन्धुर्देवस्यापि पुरं तथा। दक्षिणस्यां मठस्थानमुदीच्यां कुण्डमुत्तमं (मम्) ॥८५ (८६)। दक्षिणोत्तरतो वाटी नानावृक्षै-रलंकृता। कारितं

२८ लोलिकेनैतत् सप्तायतनसयुतं (तम्) ॥८६ (८७)। श्रीमन्मा (न्मा) [थु] रसि (सं) घेभूद्गुणभद्रश (द्रो) महामुनि [ः] कृता प्रस (श) स्तिरेषा श्व (न) कवि [कं] ठ [वि] भूषणा (णम्) ॥८७ (८८)। नैगमान्वयकायस्थछीतिगस्य च सूनुना। लिखिता केस (श) वेनेदं (यं) मुक्ताफलमिव (वो) ज्व (ज्ज्व) ला। ॥८८ (८९)। हरसिग सूत्रधाराय तत्पुत्रो पाल्हणो भुवि ? तदंगजेना (ना) हडेनापि निर्म्मापित (तं) जिनमंदिरं (रम्) ॥८९ (९०)। नानिगः (ग) पुत्रगोविन्द-पाल्हण सुतदेल्हणौ। उत्कीर्णा प्रस (श) स्तिरेषा च कीर्त्तिस्तंभं (भः) प्रतिष्ठितं (तः)। ९० (९१)। प्रविद्धिमगमद्देवः काले विक्रमभास्वतः। पद्वि (द्वि) स (श) द्वादशशते फाल्गुने कृष्णपक्षके ॥९१ (९२)॥

२९ [तृ] तीयायां तिथौ वारे गुरु (रौ) स्ता (ता) रे च हस्तके। धृतिनामनि योगे च करणे तैतिले तथा ॥९ [२] (९३) [सं] वत् १२२६ फाल्गुन वदि ३ [।] कांवा रेवणाग्रामयांरंतराले गुहिलपुं (पु) त्रा० दाधरमहं धणसी (सि) हाभ्यां दत्त (त्ता) क्षेत्रडोहली १ [।] खंडुवराग्राम-वास्तव्यगौड सोनिगवासुदेवाभ्यां दत्त' (त्ता) डोहलिका १ [।] आंतरीप्रतिगणके रायताग्रामीयम हं (ह) त्तमलीवडिगोपलिभ्यां दत्त (त्ता) क्षेत्रडोहलिका १ [।] वडौवाग्रामवास्तव्यपारिग्रही आल्हणेन दत्त [त्ता] क्षेत्रडोहलिका १ [।] लघुवीभोलीग्रामसं गुहिलपुत्रा० व्याहडमहं [ह] त्तमाहवा—

३० [भ्यां द] त्त (त्ता) क्षे [त्र] डोहलिका १ [।] व (ब) हुभिर्व्वसुदा (धा) भुक्ता राजभिर्भरतादय (दिभिः)। यस्य यस्य [य] दा भूमी तस्य तस्य तदा फलं (लम्) ॥छ॥[२]

---

१ चिन्हाङ्कित पदादि आवश्यक हैं।

२ सर्व प्रथम कविराज श्यामलदास ने इसको सम्पादित करके जर्नल ओफ रोयल एशियाटिक सोसाइटी ओफ बंगाल खण्ड ५५ भा० १ (पृ० १४-१५, २८-३२ तथा ४०-४६) में प्रकाशित किया था। इसके बाद इन्हीं कविराज ने वीरविनोद भा० १ (पृ० ३८३-३८६) में संशोधित रूप प्रकाशित किया था। अब पं० अक्षयकीर्ति व्यास ने डा० एन० पी० चक्रवर्ती की प्रेरणा से एपी ग्राफिआ इण्डिका खण्ड २९ (पृ० ८४-११२) में सुसंशोधितरूप में प्रकाशित किया है।

१ सिद्धम् । ओम् नमो वीतरागाय। चैतन्य स्वरूप, स्वभाव से प्रकट अनन्त ज्ञान की एकनिष्ठा से प्राप्त, सदैव प्रकाशमान, सबसे अधिक विकसित 'स्यात्' पद से सर्वव्यापक अत्यन्त विशद तथा आश्चर्यकर, मोक्ष के सुखका घर तथा नित्य आत्मा से प्रकट कैवल्य रूपी ज्योति को नमस्कार करता हूँ, उसकी स्तुति करता हूँ, उसे जपता हूँ तथा उसकी शरण लेता हूँ ॥ ॥ क्या हमारे बुरे ग्रहों का समूह ग्रस्त नहीं होता है क्या हमारा तीव्र तेज ……………तुम्हारा………

२ ……………………और न जिनका शरीर ही दोष पूर्ण है ऐसे ऋषभ देव हमारे कल्याण के लिए हों ॥२॥ भली सम्पत्ति के धारक संसारी प्राणियों के श्री शान्तिनाथ सहायक हों जिस भगवान के हस्तयुगल के जगमग नखों की कान्ति ऐसी लगती है मानो समस्त विनम्र पुण्यात्मा लोगों को मंगलमयी लक्ष्मी को स्थिर करने के लिए रस्सियों के फंदे ही डाल दिये हों ॥३॥ प्रबल बलवान जिसने नाक की श्वास से पांचजन्य शंख को बजा दिया था ……………………………………।

३ ……………………चरण कमल के अंगूठे से प्रचण्डदल मलिनी। श्रीकृष्णजी के शार्ङ्गधर धनुष को हाथ के अंगूठे से खींचकर चढ़ा दिया था तथा अंगुली से बलदाऊ जी को हिला दिया था उन नेमिनाथ को प्रणाम करता हूँ ॥४॥ ऊँचे परकोटे से सुन्दर, देव-इन्द्रों की भीड़ से भरा, करोड़ों ध्वजाओं पर लटकती बड़ी बड़ी मणियों की घंटियों की ध्वनि से सब तरफ शब्दायमान जिनकी व्याख्यान भूमि (समवशरण) को 'अहह यह क्या है!' ऐसे आश्चर्य के साथ लोगों से

४ देखी जाती है उन तीर्थंकर पार्श्वनाथ की सारे संसार में विजय हो ॥५॥ चौबीसवें तीर्थंकर वर्द्धमान स्वामी की सदैव वृद्धिगत माहात्म्य खूब बढ़े। वर्द्धमान की आकृति के इस जिनालय का विकासोन्मुख उत्सव सदैव बढ़े ॥६॥ सारके सम्पर्क भक्तों तथा सारके खण्डक अभक्तों को त्रैलोक्य के सारभूत ज्ञान दान को देने में पटु भक्तों को भोग तथा मोक्ष की प्राप्ति कराने में सफल कान्ति से सुशोभित भारती की स्तुति करता हूँ।

श्री ऋषभदेवादि अन्य समस्त जिनपतियों की विधिपूर्वक उपासना करता हूँ। दूसरों की दया रूपी जल के ये खजाने हैं, पर ज्योति के उत्कृष्ट पात्र होने के कारण मोक्ष को प्राप्त ये जिन

५ पति मोक्ष लक्ष्मी रूपी स्त्री के स्तनों पर लटकती माला के समान हैं ॥८॥ भव्यजीवों के मनोहर हृदयों में निवासी, सत्य धर्म के मर्म के प्रतिष्ठापक, आठों कर्मों को नष्ट करने वाले साथी, कल्याण की परम्परा, निर्दोष ज्ञान के उत्थापक, प्राणिमात्र के उपकार करने में लीन, कल्याण तथा लक्ष्मी के विस्तार और संसार के नाशक चौबीसों तीर्थंकर मुझे शुद्ध बुद्धि देवें ॥९॥

महाराज श्री चाहमान राजा का प्राचीन वंश लोकोत्तर है। जिसमें न जड़ता आयी है न जिसकी परम्परा टूटी है न जो सहायक हीन है न जिसमें कोई फूट है। यह सब प्रकार से मान्य

६ और समर्थ है ॥१०॥ सौन्दर्य की निर्मल विशाल कान्ति से देदीप्यमान शरीरधारिणी, निर्मल तथा

लहराते शुद्ध दूध के समान वस्त्रों से वेष्ठित, उन्नत पर्वतों के समान रत्नों के भार से झुकी शाकंभरा देवी के वंश में चाहमान के बाद विष्णु (वासुदेव) राजा हुए थे ॥११॥ अहिच्छत्रपुर के श्रीवत्स गोत्र में राजर्षि सामन्त हुए थे। इनके आश्रित अनेक सामन्त राजा थे। इनसे पूर्णतल्ल राजा का जन्म हुआ था ॥१२॥ पूर्णतल्ल के बाद श्री जयराज, विग्रहनृप, चन्द्र, गोपेन्द्रक हुए।
७ इनसे दुर्लभ, गूवक, शशिनृप, गूवाक, चन्दन, वप्पयराज, विन्ध्यनृपति सिंहराट्, विग्रह, दुर्लभ (द्वि०) गुण्डु, वाक्पति और इनके अनुज वीर्यराय हुए थे ॥१३॥ राणकवर श्री चामुण्डराज के बाद श्री सिंघट तथा दूसल हुए जिनके भाई वीसलराज थे। इनकी पत्नी राजदेवी थी राउल्ल देवी के पति पृथ्वीराज वीसलदेव के आत्मज थे। इनके पुत्र महाराज जयदेव थे जिनकी सोमल्ल देवी रानी थी ॥१४॥ श्री मार्ग और दुर्द सहित चच्चिग, सिंघलाभिध तथा
८ यशोराज नामके तीन वीरों को मार कर जिसने क्रूर काल के मुख में फेंक दिया था। संग्राम क्षेत्र में जीवित ही सोल्लण नाम के प्रधान दण्डनायक को आंख दिखा कर ऊँट पर ही कील दिया था। ॥१५॥ इनके पुत्र अर्णोराज थे क्योंकि इनके हृदय में हरि रहते थे, बलयुक्त थे शिष्टता की सीम थे, गम्भीरता और उदारता में सर्वोपरि थे, तुरन्त ही मध्याह्न को प्राप्त हुए थे और नदीन (समुद्र) थे। इस प्रकार समुद्र तुल्य होकर भी इनमें न जड़ (ल) ता थी, और न अनाचार रूपी महा कीचड़ था, न इनका कोई मन्थन कर सकता था, न इनसे श्री निकल गयी थी, न इन्हें दोषवान् (चन्द्रमा) से रति थी और न इनके पास दोगले (सांप) ही रहते थे ॥१६॥

६ जिसने अपने राज्य के द्वारा स्वयमेव कुश (कन्नौज) तथा वारणों (बुलन्द शहर) का तिरस्कार किया था इसे हम उसका आश्चर्यकर कार्य ही मानते हैं। आश्चर्य कर तो यही है कि इस पुण्यात्मा ने निर्वाणनारायण (नरवर्मन) का भी तिरस्कार करके देवराज की प्रगति में योग दिया था।१७। पृथ्वी मण्डल के विकास का कर्ता विग्रह राज इनसे उत्पन्न हुआ इसमें क्या आश्चर्य है। आश्चर्य तो यही है कि अर्णोराज का पुत्र होकर भी वह जड़ शीत और सकलंक (चन्द्रमा के समान) नहीं था।१८। स्वयं परम कान्तिमान् उसके हाथ में पकड़ी गयी तलवार निर्दयता को धारण करती हुई शत्रुओं की कान्ति को समाप्त कर देती थी और इसके प्रताप का विस्तार करती
१० थी। १६। इसके राज्यकाल में असज्जनता के कारण केवल सज्जन नामका राजा ही यम के मार्ग पर गया था तथा कुन्त (जालोर) देश का राजा ही कुन्तधारियों के पालक इनके द्वारा कुन्त (जालोर) हीन किया गया था।२०। कुन्तों की राजधानी जावालिपुर को इसने आग लगा दी थी, पाली को पल्ली (भीलों की बस्ती) कर दिया था तथा क्रोध में आकर नडुल को नडवल के समान कर दिया था।२१। आशिका (हांसी) की विजय से प्रसरित तथा दिल्ली के अधिकार के कारण थके अपने यश को इसने इन नगरों की गली गली तथा छज्जे छज्जे पर विश्राम करने दिया था।२२। विग्रहराज के बड़े भाई के पुत्र पृथ्वीराज (द्वि०) थे। ये पृथु के समान थे। इनके

११ दान से ही सोना इकट्ठा करके हेम पर्वत (कैलाश) सोने का हुआ था ।२३। अत्यन्त धर्मात्मा श्री पृथ्वीराज (द्वि०) ने भुक्ति और मुक्ति के लिए स्वयभूत पार्श्वनाथ जी के मन्दिर को मोराभरी नामका गाँव दिया था ।२४। जिसने स्वर्ण आदि दश प्रकार की महामूल्य वस्तुओं के तुलादान देकर विप्रों का समादर किया था तथा वस्तपाल भूपति पर आक्रमण करके उसका 'मनसिद्धि' हाथी छीन लिया था । २५ । इनके बाद सोमेश्वर राजा हुए थे जिन्हें सोमेश्वरनाथ की भक्ति से राज्य प्राप्त हुआ था अतएव वे सोमेश्वर के भक्त थे तथा इनके राज्य में प्रजा का कल्याण हुआ था ।२६। अपने प्रबल प्रताप के कारण ये 'प्रताप लंकेश्वर' नाम से ख्यात हुए थे ।
१२ इनसे सामना पड़ने पर बड़े से बड़े वैरी या तो भाग जाते या मारे जाते थे । २७ । स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा से सोमेश्वर महाराज ने रेवा तीर पर बसे रेवण ग्राम को स्वयंभूत पार्श्वनाथ के मन्दिर को दान रूप से दिया था । २८ । छ । अथ कारक वंशानुक्रमः—

श्री नेमिनाथ के तीर्थकाल तथा कृष्णजी के राज्य में बलशाली देवों और दैत्यों के द्वारा समुद्रमन्थन किये जाने पर ।२९। देव समूह के लिये भी नमस्करणीय उत्तम वंश निकला था जिसे इन्द्र ने श्रीमाल (भिनमाल) पुर में बसाया था । ।३०। श्रीमाल पर्वत के उन्नत शिखर के समान अनादि तथा अनन्त, सामर्थ्य में महान् सदाचारधारी यह प्रागवाट वंश है । उसमें मुक्त जीव तथा मोती के समान वैश्रवण नामके व्यक्ति हुए थ । ३१। वैश्रवण ने तडागपत्तन में जिनमन्दिर
१३ बनवाया था, जो घूम फिरकर एक स्थान पर स्थिर हुए यश के समान लगता था ।३२। जिसने व्याघ्रेरक (बाघेरा) आदि स्थानों पर चन्द्रमा के समान धवल जिनमन्दिर बनवाये थे । ये मन्दिर कीर्ति रूपी वृक्षों के उद्यान को बढ़ानेवाले निर्दोष तनों के समान सुशोभित हैं ।३३। लहरों से बढ़े समुद्र के समान कीर्तिमान् सन्मति रूपी सुन्दरी वधु को धारण करने में विष्णु, तथा प्राणिमात्र का उपकार करने से विशाल हृदय चच्चुल नामका इनका आत्मज था ।३४। सज्जनों तथा महापुरुषों द्वारा प्रशंसित शुभंकर; चच्चुल के पुत्र थे । इनसे श्री जासुट हुए थे जिनसे श्री
१४ पुण्यराशि उत्पन्न हुए थे । ३५ । जिनके द्वारा बनवाया गया श्री नारायण क्षेत्र पर खड़ा भगवान् वर्द्धमान का मन्दिर आज भी इनके पुण्य वृक्ष के तने के समान सुशोभित हो रहा है । ३६ । इसकी दो पत्नियों से चार पुत्र हुए थे जिनका आचरण शुद्ध था, शुभलक्ष्मी के भाजन थे तथा पितृधर्म के पालक थे । ३७ । एक पत्नी से श्री आम्बट और पद्मट हुए थे तथा दूसरी से लक्ष्मट तथा देसल हुए थे । ३८ । विधाता के द्वारा भूतल के समान इन लोगों ने पार्श्वों के नरवर में अपनी सम्पत्ति से भगवान् महावीर का मन्दिर बनवाने की सामर्थ्य प्रकट की थी । ३९ । गुणरूपी रत्नों से पूर्ण, निर्दोष शरीर, समान स्वभाव तथा बलशाली, भाले तथा संयमी मुनीन्दु तथा रामेन्दु नामके दो पुत्र लक्ष्मट के हुए थे । ४० । षट् खण्ड आगम के
१५ दृढ़ भक्त षट् काय के जीवों के रक्षक, छहों इन्द्रियों के जीतने को कटिबद्ध, षट् कर्मों के पालन में जागरूक, छहों खण्ड भारत में फैली कीर्ति की रक्षा में यत्नशील, षाड्गुण्य की चिन्ता में

लीन, षट् दर्शन रूपी कमलों के लिए सूर्य ऐसे **देसल** के छः पुत्र हुए थे।४१। सेठ **दुद्कनाथ**
इनमें जेठे थे इनसे छोटे **मोसल** विशदि तथा **देवस्पर्श** थे। इनके बाद क्रमशः **सोयक**
और राहक हुए थे। ये जिन चरणरूपी कमलों पर भौंरे थे अपनी दानशीलता के कारण
१६ सैकड़ों राजाओं से समादृत थे तथा जम्बूद्वीप की शोभा थे। ४२। **अजयमेरू** (अजमेर) का
अलंकारभूत श्री **वर्द्धमान मन्दिर** इन्हीं भाग्यशालियों ने बनवाया था। यह मन्दिर स्वर्ग के
विमान सदृश है।। ४३। इनमें से लक्ष्मी के प्रिय तथा सेठों के अग्रणी सीयक ने अपने धन से
मण्डलकर (गढ़) महादुर्ग की सजावट करायी थी। ४४। यह न्याय रूपी पौधे के सींचने में
मेघ था, कीर्ति का सबसे बड़ा कोष था, सज्जनता रूपी कमलिनी के विकास के लिए सूर्य था, पाप
पहाड़ को तोड़ने के लिए वज्र था, करुणामृत के समुद्र के पूर लिए पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान
था तथा प्रतिदिन साधजनों की सेवा आदर के साथ करता था। ४५ : जिसने कर्मरिपुजेता
भगवान् **नेमिनाथ** का सुमेरू के समान उन्नत, जगमगाते सोने के सुन्दर दण्डों तथा कलश
की कतार की कान्ति से सुन्दर, ध्वजारूपी विजनों से क्रीड़ारत खेचरों की स्त्रियों की थकान को
हरनेवाला तथा **अष्टापद** शैल के शिखर पर बने विशाल जिनमन्दिर की शोभा का धारक
१७ मन्दिर बनवाया था। ४६। श्री **सीयक की नागश्री और मामटा** नामकी दो रानियां थीं।
पहिली से तीन और दूसरी से दो पुत्र हुए थे। ४७। श्री सीयक के पाँचों पुत्रों का मन पंचाचार
के पालन में लीन था, पंचाङ्ग मन्त्र पाठी थे, पाँचों ज्ञानों की चर्चा में दक्ष थे, पाँचों इन्द्रियों के
विषयों के विजेता थे, पंच परमेष्ठी की वन्दना करते थे, पंचाणुव्रतों का निरतिचार पालन करते
थे, तथा शिष्टाचार के पालक थे। ४८। बड़े श्री **नागदेव** थे इनके बाद **लोलाक** तथा उज्जल
थे। दूसरी पत्नी से **महीधर और देवधर** हुए थे। ४९ : उज्ज्वल के आत्मज श्री **दुर्लभ और**
लक्ष्मण थे इनकी अद्भुत पवित्र संसार में व्यापक यश था। ५०।

१८ समुद्र से गम्भीरता पहाड़ से दृढ़ता, सूर्य से तेज, चन्द्रमा से सौम्यता, देवगंगा से उत्कृष्ट
निर्मलता, आदि एक, एक गुण को लेकर मानो विधाता ने पुण्य के बीज के लिए ही विश्वविख्यात
सेठ **लोल्लक** को रूचिपूर्वक बनाया था।५१। एक बार यह धन धान्य की बेल तथा कीर्ति के
मन्दिर स्वरूप **विन्ध्यवल्ली** (बिजोलों) आया था। वहां शय्या पर सोते हुए इसने किसी श्रेष्ठ
पुरूष को अपने सामने खड़ा देखा।५२। लोल्लक ने उससे पूछा तुम कौन हो, क्यों यहां आये
हो, कहां से आये हो। उसने लोल्लक से कहा था-मैं **फणीश्वर** हूं, पाताल मूल से तुम्हें उपदेश
देने के लिए आया हूँ कि श्री पार्श्वनाथ स्वयं यहां आयेंगे।५३। प्रातः उसने उठकर
स्वप्न के रहस्य पर थोड़ा भी विचार नहीं किया क्योंकि वे वातादि विकार से होते हैं।५४
१९ **लोलाक की ललिता, कमलश्री** तथा लक्ष्मी नाम की तीन प्रिय पत्नियां थीं वे उसे प्राणप्यारी
थीं और लक्ष्मी की सगी बहिनें थीं।५५। इसके बाद उसने (स्वप्न-पुरूष ने) रात को सोयी लोलक

की भक्त पत्नी ललिता से कहा था–भद्रे सुनो। मैं धरणेन्द्र हूँ। यहीं पर पार्श्वनाथ के दर्शन कराता हूँ ।५६। ललिता से कहा गया था·········जो तुमने कहा है वह उचित नहीं है वह (मेरा पति) श्री पार्श्वनाथ को निकालेगा, मन्दिर बनायेगा तथा पूजा करेगा ।५७। पुनः लोलक के पास जाकर धरण ने कहा था–देव, द्रव्य, धर्म कार्य तथा जिनपूजा के हे लोकोत्तर भक्त? धनी तथा श्रद्धालु? श्री पार्श्वनाथ यहां रेवती तीर पर आ गये हैं ।५८। इनको तुम निकालो, धर्म
२० का अर्जन करो, जिनालय बनवाओ जिससे लक्ष्मी, वंश, यश, पुत्र पौत्र विशाल संतान सुख आदि की वृद्धि होगी ।५९। यही वह भीम नामक वन है वहां जिन राज का वास है, यहीं वे शिलाएं हैं जिन्हें कमठ शठ ने आकाश से फेंका था, सर्वदा वर्द्धमान यही वह उद्यान, कुण्ड तथा सरिता हैं तथा यहां वह स्थान है जहां (वे) परम सिद्धि को प्राप्त हुए थे। ।६०। यहीं पर उत्तमाद्रि का समतल मंच के समान उन्नत शिखर है। यहीं वरलाहक तीर्थ तथा श्रेष्ठ अतिमुक्त नामके देव हैं। सत्य घटेश्वर, देवों से पूजित देव कुमारेश्वर, सौभाग्येश्वर, दक्षिणेश्वर, अमुर मार्कण्डेश्वर तथा रिच्छेश्वर ।६१। मत्योंवरेश्वर, देव ब्रह्मेश्वर भी, कुटिलेश, कर्करेश, कपिलेश्वर जहां
२१ हैं ।६२। महानाल, महाकाल, भग्येश्वर नाम के तीनों लोकों से पूज्य तथा त्रिपुष्कर प्राप्त देवता हैं ।६३। कीर्तिनाथ, केदार·········सि स्वामी, संगमेश, पूटेश मुन्नेश्वर, वटेश्वर ।६४। देव नित्य प्रमोदित, सिद्धेश्वर, गयेश्वर, गंगाभेद, सोमेशः गंगानाथ तथा त्रिपुरान्तक भी यहीं हैं ।६५। कोटि लिंगों का स्नान कराने वाली कुटिला नदी जहां है तथा कपिलधारा के साथ स्वर्ण जालेश्वर देव हैं ।६६। भगवान के प्रताप से न अपमृत्यु होती है न रोग होता है, न दुर्भिक्ष होता
२२ है, न सूखा पड़ता है और कलि के पाप का विनाश होता है ।६७। यहां कोटीश्वर तीर्थ थे। छह माह में स्वयंभूत शिवलिंग होता है उसकी मैं क्या प्रशंसा करूं ।६८। इस प्रकार से ज·········
·······················वैक्रियिक शक्ति धारक धरण। अवतार क्रिया को करके बोला कि तीनों लोकों के प्राणियों को ज्ञान देने वाले वे पार्श्वनाथ जिनेश्वर अब यहां वास करेंगे ६९। धरणेन्द्र के इन वचनों को सुनकर तथा प्रातः जग कर मनसे इनका विचार करके ज्यों ही मिट्टी को खोदता है त्यों ही कुण्ड के पास अकृत्रिमस्वयंभूत भामण्डल युक्त अत्यन्त शोभनीय पार्श्व प्रभु
२३ को सहसा देखता है ।७०। जहां पहिले जिनेन्द्र चरण नुति न थी, न धर्म कर्म का, न स्नान, विलेपन, तप, ध्यान तथा पूजा थे। न सच्चे मुनियों के दर्शन थे न·········जो यहां इस सबका घर ···········।७१। श्री लोलक के आने पर उस कुण्ड के बीच से पद्मा, क्षेत्रपाल, अम्बिका ज्वालामालिनी तथा सर्पाधिराज धरण निकले थे ।७२। जब यहां पार्श्व प्रभु ने अवतार किया था। उसी समय नाग हृद में वह ख्यात यक्षगिरि का स्तम्भ गिरा था ।७३। ब्रह्मचारी लक्ष्मण को यक्ष ने भी स्वप्न दिया था कि मैं भी वहां जाऊंगा जहां मेरे प्रभु पार्श्वनाथ हैं ।७४।

२४ रेवतीकुण्ड के पानी से जो स्त्री स्नान करती है वह पति के सुख पुत्र तथा स्थिर लक्ष्मी को

प्राप्त करती है ॥७५॥ ब्राह्मण क्षत्रिय अथवा वैश्य अथवा शूद्र भी जो रेवती कुण्ड में स्नान
करता है वह उत्तम गति को जाता है ॥७६॥ धन, धान्य, जमीन, प्रताप, धैर्य, प्रमुखता, बुद्धि,
राजसम्मान तथा विशाल लक्ष्मी को पाता है ॥७७॥ इस तीर्थ के सर्व विश्रुत चमत्कार को अब
कहता हूँ कुष्ट, प्रेत, पिशाच, कुज्वरादि रोग, अंगहीनता तथा विषाक्त गण्डादि दूर हो जाते हैं।
निर्भय होकर उल्लू तथा शृगाली युगल ने सन्याम किया था, काको स्वर्ग चली गयी देवदृष्टि से
क्या क्या नहीं होता है ॥७८॥ पुण्यात्मा श्री लोलक सेठ ने अपना जन्म धन्य किया, धन सफल
किया, विवेक को प्रसिद्ध किया, सच्चे धर्म का प्रचार किया तथा अपना सपना सच्चा किया ... ...
२५ मिथ्या दृष्टि से दूषित लोगों को सम्यक दर्शन के जैन मार्ग पर लगाया ...... ॥७९॥ क्या
यह मेरु का शिखर है, अथवा इन्द्र का अलौकिक विमान है अथवा यह श्री लोलक की तीनों
लोकों में व्याप्त कीर्त्ति का समूह है ॥८०॥ इस प्रकार से प्रतिदिन देवों, तथा नरपतियों के द्वारा
उस मन्दिर को देखकर तर्क किया जाता है। यह जैन मन्दिर पवन से चंचल पताका रूपी हाथ
से तथा सुन्दर पटह आदि बाजों के शब्द से भव्यों को बुलाता है। अथवा तीनों लोकों के
स्वामी के प्राप्त हो जाने से कलिकाल के ताप को दूर भगाता है इसलिए यह जिनालय नाचता सा
२६ है ॥८१॥ कोई आसन लगाये हैं, कोई स्तुति गान करती हैं, कोई बढ़िया ताल देती हुई सुन्दर
नृत्य करती हैं, कोई बाजे उठा लाती है, कोई वीणा बजाती हैं, ऐसी वेश घुँघरू धारिणी
युवतियां किसे मुदित नहीं करती हैं ॥८२॥

जो सदाचरण भूषित, तेज से व्याप्त, भयादि दोषों से रहित, मन से सोची वस्तुओं के देने में
कुशल अतएव चिन्तामणि के सहोदर हैं वे श्री जिनचन्द्र सूरि गुरु हुए थे। जिनके चरण
कमलों में भौंरें के समान सेठ लोलक ने इस तीर्थ को किया था ॥८३॥ रेवती नदी के तट पर
स्थिर श्रेष्ठ वृक्ष शाखा रूपी भुजाओं लतारूपी अंगुलियों तथा कोकिलों की ध्वनि से देवों और
२७ मनुष्यों को पुकारते हैं कि हमारे अत्यन्त निर्मल फूल, पत्ते तथा फल राशि एवं पानी से भगवान्
पार्श्वनाथ का अभिषेक करो पूजन करो ॥८४॥ जब तक सैकतयुक्त पुष्कर तीर्थ है, गंगा
जल है, तारे, चन्द्र तथा सूर्य हैं, दग्गज हैं, श्री जिनचन्द्र का शासन है तथा महेन्द्र का पद
है तब तक स्वर्गीय एवं ख्यात यह पुष्ट जिन मन्दिर रहे ॥८५॥ पूर्व में रेवती सिन्धु तथा
देवपुर हैं, दक्षिण में मठस्थान है, उत्तर में उत्तम कुण्ड है ॥८६॥ दक्षिणोत्तर में नाना वृक्षों
२८ से भूषित वाटिका है। सब आयतन युक्त इसे लोलकने बनवाया था ॥८७॥

माथुर संघ में गुणभद्र नाम के महामुनि हुए थे उन्होंने कवियों के कण्ठों का हार इस प्रशस्ति
को बनाया था ॥८८॥ नैगम (निगम) कायस्थ क्षीतिग के पुत्र केशव ने मोतियों के समान स्पष्ट
इसे लिखा था ॥८९॥ सूत्रधार हरसिग के पुत्र पाल्हण थे, इनके पुत्र आहड ने यह मन्दिर
बनाया था ॥९०॥ नानिग के पुत्र गोविन्द तथा पाल्हण के पुत्र देल्हण ने इस प्रशस्ति को खोदा

था ॥९१॥ विक्रम सम्वत् छब्बीस सहित बारहसौ के फाल्गुन कृष्ण पक्ष में यह देवालय प्रतिष्ठित २६ हुआ था ॥९२॥ तिथि तृतीया, वार गुरुवार, हस्तक नक्षत्र, धृति योग तथा तैतिल करण था ॥९३॥ संवत् १२२६ फाल्गुन वदि ३।

कांवा (कामा) तथा रेवत (रंगोजपुरा) के बीच में स्थित क्षेत्र डोहली को गुहिलपुत्र रावल दाधर मं० धणसिंह ने दिया था। खंडुवर (खाडीपुर) ग्रामवासी सोनि तथा वासुदेव गोडने डोहलिका दी थी। वांतरी (उपरवाल) परगना के रायना, ग्राम के महतो लोवंडि पोपलि ने क्षेत्र डोहलिका दी। वडौर (वडोवा) ग्रामवासी पारिग्रही आल्हण ने क्षेत्र डोहलिका दी। लघुवीझोली (छोटी बिजोली) ग्राम के गुहिलपुत्र रावल व्याहड महतो माहव ने क्षेत्र डोहलिका दी। भरत आदि अनेक राजाओं ने पृथ्वी का भोग किया है। जब जिस जिसकी भूमि थी तब उसे उसे दान का फल मिला है।[1]

---

१ विवेचनादि अगले अंक में।

— संपादक : श्री प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला एम. ए. साहित्याचार्य

कन्नड़-साहित्य में जैनसाहित्यकारों का स्थान

[ले०—श्री अरणाराव, सेडवाल]

प्रस्ताविक—

कन्नड साहित्य की सार्वभौमिक चेतना का दिग्दर्शन उसके प्राचीन साहित्य में तरंगित साहित्यिक मूल्यांकनों से आवेष्टित विचारधाराओं की समृद्ध राशि के उपभोग में ही होता है। इसका प्राचीन साहित्य चिरनवीन-सा दीखता है। इसके प्राचीन साहित्य में गंभीर चिन्तन, समुन्नत हार्दिक प्रसार की झलक मिलती है, साहित्यिक मनीषियों की अथक साधना का जाग्रत् रूप मिलता है। इस साहित्य की व्यापकता की परिधि की रेखाएँ कावेरी से गोदावरी के सुरम्य अंचल को समेटती थीं। कन्नड प्रदेश की धरती जैसे कन्नड साहित्य की धड़कनों से स्पन्दित थी, इसमें उगने वाले पौधों में भावनाओं के फूल खिलते थे, जिसे देखकर कन्नड प्रदेश का प्रत्येक चेहरा झूम उठता था, आत्मा डोलने लगती थी, मन गा उठता था। धरती और साहित्य के अपूर्व सामञ्जस्य की यह विकास रेखा सामाजिक चेतना को कितना बाँधती होगी, यह युग की साहित्यिक मान्यताएँ ही निर्धारित कर सकेंगी। कन्नड स्वाभाविक काव्य प्रयोग में प्रवीण लोगों का देश था,[1] धरती के कण-कण में काव्य के उच्छ्वासों का मन्द संगीत उमड़ता था। अतः जिस साहित्य का प्राचीन इतिवृत्त इतना गौरवमय हो, जिसका स्वर्णिम अतीत विकास की चेतना में अंगड़ाइयाँ ले रहा हो, उसका वर्तमान स्वरूप किसी साहित्य की उपादेयता को सशक्त बनाने के लिए मान्य और पूज्य है। जैन साहित्य, तीन महाकवियों और अनेक कवियों की काव्य रस धारा से तीन सौ वर्षों तक परिप्लावित हो कन्नड साहित्य की भाव-भूमि पर फूला-फला, उसकी छाया में साँस ली। यहाँ की मेदिनी वीर रस की सबल प्रेरणा से ओज और शौर्य की धारिका रही है। कन्नड साहित्य में क्षात्र युग कहलाने वाला सारा काल वीर रस से परिलुप्त है। गंग राष्ट्रकूट पल्लव, चालुक्यों में वीर रस की कविता धारा से साम्राज्याधिपत्य की भावना का सादर उद्रेक हुआ। इस तरह प्राचीन कन्नड साहित्य से युग की सामाजिक चेतना अनुप्राणित रही।

पूर्व-पीठिका—

कन्नड साहित्य का आरम्भकाल अति प्राचीन है। जैसा कि जैन कवियों का अनुमान है, इस साहित्य की उत्पत्ति प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी के मुख से हुई। इसका लिपि निर्धारण उसीने किया। यह प्राचीनतर कन्नड साहित्य के प्रारम्भ काल की अपेक्षा उसके बारे

---

1 "कुरितोदवेयुं काव्य प्रयोग परिणत मतिगळ्"

में हमारे अज्ञान से ज्यादा सम्बन्ध रखता है। अतः उस अज्ञात अपरिमित साहित्य की खोज में न भटक कर ज्ञात परिमित साहित्य पर ही दृष्टि का प्रक्षेप रखना युक्ति संगत है।

६ वीं सदी में राष्ट्रकूट राजा नृपतुंग के कन्नड़ साहित्य मंदिर के वास्तुरचना क्रम से जैन साहित्य का उद्गम होता है। थोड़े ही दिनों में कवि-चक्रवर्ती पंप ने कन्नड़ साहित्य के ऐसे भव्य मन्दिर का निर्माण किया मानो साहित्य के वास्तुरचना क्रम के समझाने का मूर्त स्वरूप ही हो। महाकवि पंप के काव्य रम्य, मनोहर और सुन्दर कलाकृति ही नहीं बल्कि कन्नड़ साहित्य के तेज के प्रतीक हैं। निश्चय ही ऐसी कलाकृतियाँ शान्तप्रद, स्निग्ध, पवित्र और उदात्त वातावरण की अलौकिक देन हैं।

कन्नड़ ग्रान्थिक साहित्य के मिलने के पहले कन्नड़-साहित्य क्षेत्र कितना विस्तृत था, उसकी रूप-रेखा क्या थी, इस सम्बन्ध में विशद-विचार एकत्रित करने पर ही आगे के लिए विषय-विवेचन पर थोड़ा प्रकाश पड़ेगा।

'कविराज मार्ग' पुराने कन्नड़ साहित्य के बारे में प्रामाणिक कथन करता है। उसमें नृपतुंग ने किसी हलगन्नड़ (पुरानी कन्नड़) रामायण के कतिपय पद्यों का उदाहरण दिया है। इसके अतिरिक्त वह कहता है कि "मैं तिरुळ गन्नड़ में (परिष्कृत कन्नड़) लिख रहा हूँ"। इससे यह स्पष्टतः उल्लेख मिलता है कि उसके पहले भी कन्नड़ साहित्य का अस्तित्व वर्तमान था जो हलगन्नड़ (पुराना कन्नड़) कहलाता था। पुष्ट प्रमाण की प्रतीति उसके काव्यगत लक्षणों के ज्ञान से भी होती है। इन प्राचीन काव्यों का उल्लेख करते हुए वह कहता है कि ये देशीय काव्य के लक्षण हैं:—

"चिताणमुम् बेदंडेयुमेंदींगडिन नेगल्तेय कव्वदोल्"

अतः उसके द्वारा प्रस्तुत यह हलगन्नड़ काव्य प्रकार का मार्मिक विवेचन है। इतना ही नहीं उसने अपने श्री विजय कवीश्वर पण्डित, चन्द्र, लोकपाल[1] आदि कवियों का ज्ञातव्य उल्लेख भी किया है। गद्य लेखकों में उसके द्वारा लिखित निम्न नाम हैं—विमलोदय, नागार्जुन, जयबन्धु, दुर्विनीत[2] आदि। अतः इससे कन्नड़ साहित्य के पूर्व अस्तित्व का पूर्ण पता चलता है और कवियों और गद्य लेखकों की प्रामाणिकता का योगदान तो इसमें है ही। कवि पम्प ने अपने पूर्वकालीन कवियों का उल्लेख करते हुए कहा है:—

१ पग्म श्री विनय विजयकवीश्वर पंडित चंद्र, लोकपाला दिगळ।
निरतिशय वस्तु विस्तर। विरचनेलक्ष्यं तदाद्य काव्यककंदु।

२ विमळोघ नागार्जुन। समेत जयबंधु दुर्विनाता दिगळी।
क्रमदोळ् तेग लिय गद्या। श्रयपदु गुरुता प्रतीतियँते टकोंडर। (कविराज मार्ग)

श्रीमत् समन्तभद्र। स्वामिगल जगत् प्रसिद्ध परिमेष्ठी"
स्वामिगल पूज्यपाद। स्वामिगल पदंगर्लागे शाश्वत पदम् ।"

अर्थात्—समन्तभद्र, कवि परिमेष्ठी और पूज्यपाद का स्मरण किया है इन तीनों में समन्तभद्र ने मूडबकइलगी गाँव में तपस्या की थी। पूज्यपाद का जन्म स्थान कर्नाटक का कोल्लागालपुर और इनका ननिहाल "मुदिगुंडपैंचग्राम" में था। हमारे इस कथन की पुष्टि देवचन्द्र के 'राजावलि कथा' से भी होती है। कवि परिमेष्ठी संस्कृत और प्राकृत ग्रंथों के कन्नड़ टीकाकार हैं।

दुर्गसिंह (ई० सं० ११४५) ने श्री विजयर कवि मार्ग का उल्लेख करते हुए कन्नड़ साहित्य की समृद्धता की ओर संकेत किया है।

पूज्यपाद ने "जैनेन्द्र व्याकरण" में बताया है—"मैंने छः प्रसिद्ध व्याकरणकर्त्ताओं के मार्ग का अनुसरण किया है." उन छः व्यक्तियों में समन्तभद्र का भी नाम है। पंचम अध्याय में "झयो हः" इत्यादि सूत्र चतुष्टय को "समन्तभद्राचार्य मतेन भवति—तथा च उदाहृतम्" ऐसा लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि समन्तभद्र का एक व्याकरण भी है। अकलंक भट्ट ने शाब्दिक न्यायकारों का वचन कहकर "यदाह भगवान् परमागमसूत्रकारोऽपि सद्द्रव्य लक्षणमिति" लिखा है। इससे भी स्पष्ट मालूम होता है कि समन्तभद्र का परमागम सूत्र संस्कृत में होगा। इसीको विजयन ने 'कविमार्ग' को 'कविराज मार्ग' में बढ़ाकर नृपतुंग ने परम सरस्वती तीर्थावतार' नाम दिया होगा। यदि हमारे इस तर्क की पुष्टि किन्हीं अन्य प्रमाणों से हो सके तो हम यह कह सकते हैं कि समन्तभद्र का कोई कन्नड़ व्याकरण भी रहा होगा।

हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि संस्कृत के प्रसिद्ध जैन ग्रंथ आदिपुराण और उत्तर पुराण जिन्हें सम्मिलित रूप में महापुराण कहा जाता है कन्नड़ कवि परिमेष्ठी के एक गद्य ग्रंथ के आधार पर लिखे गये हैं। स्वयं जिनसेनाचार्य ने अपने आदिपुराण में कहा है:—

स पूज्यः कविभिर्लोके कवीनां परमेश्वरः।
वागर्थसंग्रहं कृत्स्नं पुराणं यः समग्रहीत्॥

हमारा यह कथन निर्मूल नहीं है बल्कि इसकी पुष्टि उभयभाषाचक्रवर्ती कवि हस्तिमल्ल के विक्रान्त कौरवीय नाटक की प्रशस्ति से भी होती है। कवि ने लिखा है:—

तच्छिष्य प्रवरो जातो जिनसेनः मुनीश्वरः।
यद्वाङ्मयम् पुरोरासीत् पुराणं प्रथमं भुवि॥

इस पद्य से जिनसेन का पुराण जैन संस्कृत साहित्य में सर्वप्रथम मालूम होता है। हमारा ख्याल है कि आठवीं सदी के पूर्व त्रिषष्टिशलाका पुरुषों का चरित्र जैनों द्वारा संस्कृत में नहीं लिखा गया था। इसीलिए हस्तिमल्ल ने इसे प्रथम महापुराण कहा है।

चामुण्डराय ने (सन् ९७८) कवि परिमेष्ठी की स्तुति करते हुए बताया कि इन्होंने त्रिषष्टि-

शलाका पुरुषों का चरित्र कन्नड़ में लिखा है। अतः हमारे उपर्युक्त कथन की सम्यक् सिद्धि हो जाती है कि संस्कृत साहित्य में जिनसेन का महापुराण ही प्रथम महापुराण है।

चरितपुराण दो लो दने । वरेदर बरेदिक्कीदर त्रिषष्टिशलाका ॥
पुरुषर पुराणनं कवि । परमेशरन्ते जसके नोंतरु मोल रे ॥

चामुण्डराय ने कवि परमेश्वर के जिस चरित्र पुराण के बारे में लिखा है वह पद्यकाव्य होगा। उसीको उसका प्रधान काव्य समझकर नृपतुंग ने इन्हें कन्नड़ पद्यकार माना है।

कविराजमार्ग में उल्लिखित विमल अभ्युदय जयबन्धु के अतिरिक्त नागार्जुन, दुर्विनीत, वर्द्धनदेव आदि कवि भी प्रसिद्ध कन्नड़ साहित्यकार हैं। नागार्जुन ने पूज्यपाद चरित्र, दुर्विनीत ने (४७८ ई० सं०) किरातार्जुनीय की कन्नड़ टीका और वर्द्धनदेव ने ९६ हजार श्लोक प्रमाण तत्त्वार्थ महाशास्त्र का कन्नड़ व्याख्यान लिखा है। कई शिलालेख भी कन्नड़ भाषा में उपलब्ध हैं जिनका समय ई० ७ वीं शताब्दी है, उन्हें भी हम कन्नड़ के खण्डकाव्य कह सकते हैं। उदाहरणार्थ एक पद्य उद्धृत किया जाता है—

साधुगे साधु माधुर्यंगे माधुर्यम्
आदिप्प कलिगे कलियुग विपरीतम्
माधव नीतन् पेरनल्ल ॥

इस प्रकार आरम्भ से ही कन्नड़ साहित्य में जैन कवियों ने गद्य पद्य में महाकाव्य और खंडकाव्य रचे थे। काव्यों के अतिरिक्त ज्योतिष, गणित, गजशास्त्र, अश्वशास्त्र, आयुर्वेद, छन्दशास्त्र, व्याकरण शास्त्र, कामशास्त्र आदि अनेक शास्त्रों का प्रणयन कन्नड़ भाषा में किया है।

आदि-पंप—

कन्नड़ साहित्य का सर्वश्रेष्ठ कवि पंप हैं। इनका समय ई० सं० ९४१ है। उन्होंने 'आदि पुराण' और 'भारत' ग्रंथों की रचना की है। ये दोनों ग्रंथ चम्पूकाव्य हैं। उन्होंने स्वयं अपने सम्बन्ध में लिखा है—"मेरे विख्यात चिरनूतन, समुद्रवत् गंभीर काव्य मेरे परवर्ती कवियों के लिए प्रमोदप्रद हैं।" पंप के वंशज वैदिक धर्मानुयायी थे। उसके पिता अभिरामदेव राय ने यह कह कर जैन धर्म स्वीकार कर लिया था कि ब्राह्मण जाति के लिए भी कल्याणप्रद जैन धर्म स्वीकार करने योग्य है।

पंप ने आदि पुराण में काव्य के अमृतानन्द के साथ धार्मिक सिद्धान्तों का निरूपण भी किया है। उन्होंने आरम्भ में ही उद्देश्य बतलाते हुए लिखा है:—"नेगलद् आदि पुराण दोलअरिउदु काव्य धर्मम् धर्मकाव्यम्" अर्थात् काव्यधर्म और धर्म दोनों ही इस ग्रंथ से जाने जा सकते हैं। यद्यपि कवि पंप में कल्पनाशक्ति का प्राचुर्य दिखलाई पड़ता है पर तीर्थंकर चरित्र तक ही कथा वस्तु सीमित रह जाने के कारण वे उन्मुक्त रूप से अपनी कल्पना का प्रयोग नहीं कर सके हैं। इसी लिए जहाँ तहाँ नीरस वर्णन भी हैं।

कवि का दूसरा ग्रंथ विक्रमार्जुन विजय अर्थात् 'भारत' है। कवि ने इस ग्रंथ में काव्य तत्त्वों का निर्वाह अच्छी तरह से किया है। कल्पना की उड़ान और मनोरम दृश्यों का चित्रण प्रायः सर्वत्र पाया जाता है। आख्यान में द्रौपदी को केवल अर्जुन की स्त्री ही माना गया है पंच पाण्डवों की नहीं। नारी के नखशिख निरूपण में तो कवि संस्कृत के कवियों से अधिक बढ़ चढ़ कर है। इस ग्रंथ की प्रमुख विशेषता उस सामन्तकाल में भी नारी की महत्ता का प्रदर्शन करना है। कवि ने द्रौपदी को एक अबला पराश्रिता के रूप में ही चित्रित नहीं किया है, बल्कि उसे स्वयं सत्ताशालिनी बतलाया है। वह अर्जुन के लिए जीवन का वरदान है, उसके कार्यों को प्रगति देने वाली दैविक प्रेरणा है और है जीवन की सच्ची संगिनी।

चरित्र चित्रण की दृष्टि से भी पंप के काव्य पूर्णतः सफल हैं।

ओडय्य (ई० स० ११७०)—

उन्होंने "कब्बिगर काव" की रचना की है। भाषा और विषय के क्षेत्र में ये क्रान्तिकारी कवि हैं। उन्होंने अपने काव्य ग्रंथों को केवल धर्म विशेष के प्रचार के लिए नहीं लिखा, प्रत्युत काव्य-रस का आस्वादन लेने के लिए ही काव्य का सृजन किया है। यदि इतिवृत्त, वस्तु व्यापार वर्णन, संवाद और भावाभिव्यंजन की दृष्टि से इनके काव्य का परीक्षण किया जाय तो निश्चय ही इनका काव्य खरा उतरेगा।

नयसेन—

१२ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि नयसेन ने धर्मामृत, समयपरीक्षा और धर्मपरीक्षा ग्रंथों की रचना की है। धर्मामृत इनका श्रावक धर्म का प्रसिद्ध ग्रथ है। इन्होंने धारवाड़ जिले के मूलगुन्दा नामक स्थान को अपने जन्म से सुशोभित किया था। उत्तरवर्ती कवियों ने इन्हें 'सुकविनिकरपिकमाकन्द' 'सुकवि जनमन सरोज राजहंस', और 'वात्सल्यरत्नाकर' आदि विशेषणों से विभूषित किया है। इनके गुरु नरेन्द्र सेन थे। धर्मामृत में कवि ने स्वयं अपने समय के सम्बन्ध में लिखा है:—

> गिरिशिखिवायुमार्गसंख्ययोः लावगगमिन्दी वर्त्तिपुस्तिरे।
> पट्कालयमर्वर्तिय नन्दनवत्सरो मवत्सवं विवशशिरद्, भाद्रपदमास
> लमद् शुक्लपक्ष दल निरूपमप्प हस्तयुतार्कवारदोल् ॥

इससे स्पष्ट है कवि का समय ई० स० ११२५ है।

भाषा शैली की दृष्टि से नयसेन ने संस्कृत-मिश्रित कन्नड़ का प्रयोग किया है। धार्मिकता के बन्धन में रहने के कारण कवि अपनी कल्पनाशक्ति का पूरा उपयोग नहीं कर पाया है।

जन्न—

कन्नड़ साहित्य में जन्न, रन्न, पोन्न इन रत्नत्रय कवियों से कौन अपरिचित है। जन्न ने सं० ११७० से लेकर १२३५ के बीच अनेक ग्रंथों की रचना की है यह होयसल राजाओं का आस्थान कवि था। इसे कवि चक्रवर्ती की उपाधि थी। पंप की तरह जन्न भी शूरवीर और लेखनी का धनी था। उत्तरवर्ती कवियों ने इसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। इसके 'यशोधरा चरित्र' और 'अनन्तनाथपुराण' प्रसिद्ध हैं। इतिवृत्त और कथा के मर्मस्थलों की विशेषता के कारण इनकी रचना चमत्कारपूर्ण है।

पोन्न, रन्न और कर्णार्य कवियों ने भी कन्नड़ साहित्य में विकास के पूर्ण सहयोग प्रदान किया है। चम्पू साहित्य के निर्माता तो जैन कवि ही हैं।

कर्णपार्य—

कर्णपार्य ने 'नेमिनाथ पुराण' (हरिवंश) की रचना की है। इसमें समुद्र, पहाड़, शहर, सूर्योदय, चन्द्रोदय, वनक्रीडा, जलक्रीड़ा, रति, चिन्ता, विवाह, पुत्रोत्पत्ति, युद्ध, जयप्राप्ति, इत्यादि का सविस्तर वर्णन किया है। विप्रलंभ शृंगार के वर्णन में तो कवि ने अद्वितीयता प्रकट की है।

नेमिचन्द्र—

'अर्द्धनेमिपुराण' के रचयिता कवि नेमिचन्द्र भी १३ वीं शताब्दी के कवियों में प्रमुख स्थान रखते हैं। उन्होंने संस्कृत-मिश्रित कन्नड़ में संस्कृत छन्द लेकर अपने काव्य का निर्माण किया है। चम्पक शार्दूल वृत्त में प्रायः समस्त ग्रंथ लिखा गया है। अनुप्रास की छटा तो इतनी अधिक दिखलाई पड़ती है जिससे इनके समकक्ष कन्नड़ का शायद ही कोई कवि आ सकेगा।

गुणवर्म—

इन्होंने पुष्पदन्त पुराण की रचना की है। यह ग्रंथ इतिवृत्तात्मक होते हुए भी मर्मस्पर्शी भावनाओं से अछूता नहीं है। कवि ने अपना भाषा-विषयक पाण्डित्य तो दिखलाया ही है साथ ही साथ वर्णनात्मक शैली द्वारा विषय को भी नवीन रूप से प्रस्तुत किया है।

बन्धुवर्मा और रत्नाकर-वर्णी—

आध्यात्मिक साहित्य के निर्माताओं में उक्त दोनों कवियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कवि रत्नाकर वर्णी ने 'भारतेशवैभव', 'रत्नाकरशतक', 'अपराजितशतक', 'त्रैलोक्येश्वर शतक' आदि ग्रंथों की रचना की है। भरतेशवैभव का माधुर्य तो संस्कृत के गीतगोविन्द से भी बढ़कर के है। यह ग्रन्थ आज कन्नड़ प्रान्त में लोगों का कण्ठहार बना हुआ है। तुलसीदास के रामचरित-मानस के समान इसके भी दो चार पद निरक्षर भट्टाचार्यों को भी याद हैं। संगीत की दृष्टि से इस ग्रंथ का अत्यधिक महत्व है। इस ग्रंथ का रचनाकाल ई० सं० १५५१ है। महाकाव्य और गीत-काव्य का आनन्द इस एक ग्रंथ से ही लिया जा सकता है।

मंगिरस—

संगीत के धुरन्धर आचार्य मंगिरस ने नेमिजिनेशसंगीत काव्य की रचना की है। इस ग्रंथमें कवि ने संगीत की छटा का अद्भुत प्रदर्शन किया है, रागरागिनियाँ उनके चरणों पर लोटती है।

लक्षण-ग्रन्थ—

कन्नड़ जैन कवियों ने लक्ष्य ग्रन्थों के साथ लक्षण ग्रन्थों का भी निर्माण किया है। कन्नड़ साहित्य में उपलब्ध सबसे प्राचीन लक्षण ग्रन्थ 'कविराजमार्ग' ही है। इसमें व्याकरण, छंद, अलंकार, रस आदि सभी का वैज्ञानिक निरूपण है। ऐसा मालूम होता है कि दण्डी के काव्यादर्श का अनुकरण कवि ने किया है। इसके तीन खण्ड हैं—दोषानुवर्णन, शब्दालंकार, और अर्थालंकार। इस ग्रन्थ से पता चलता है कि उस समय कन्नड़ में दो प्रकार की शैलियाँ थीं—उत्तर कन्नड़ शैली और दक्षिण कन्नड़ शैली। अर्थालंकार प्रकरण में ३६ अर्थालंकारों के लक्षण और उदाहरण भेद-प्रभेद सहित लिखे गये हैं। काव्य में शब्ददोष, पदार्थ दोष, वाक्य दोष, वाक्यार्थ दोष आदि का प्रामाणिक वैज्ञानिक विवेचन है। ऐसा मालूम होता है कि कवि ने काव्य के स्वरूप-निर्धारण में रस की अपेक्षा शब्द रचना को अधिक महत्ता दी है।

नागवर्म का (६६० ई० सं०) छन्दोंबुधि' उपलब्ध छंदशास्त्र में सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। यह संस्कृत के पिंगल के छंदशास्त्र के आधार पर लिखा गया है। फिर भी अनुपूर्वी और वृत्त के नामों में पिंगल की अपेक्षा इसमें पर्याप्त अन्तर है। इसमें छः सन्धियाँ हैं—कन्नड़ मात्रिक छंद और संस्कृत छंदों का विवेचन ही प्रधान रूप से किया गया है।

शब्दकोषों में 'रत्नकन्द' (६६३ ई० सं०) सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। यह पुराने कन्नड़ पदों का नवीन अर्थ व्यक्त करता है। द्वितीय नागवर्म (११४५ ई० सं०) ने 'वस्तुकोष' नामक एक कोष-ग्रन्थ और लिखा, जिसमें संस्कृत पदों का अर्थ कन्नड़ पदों में बताया गया है। रीति पर भी नागवर्म ने प्रकाश डाला है। इन्होंने कहा है—"पदरचनातिशया रीतिः" रीति की परिभाषा है और काव्यों में इसका रहना अत्यावश्यक है। काव्य में अलंकार के अभाव में भी रीति के रहने से माधुर्य और सौन्दर्य की नियोजना हो जाती है। इन्हीं नागवर्म का 'काव्यालोकन' कन्नड़ लक्षण ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

कन्नड़ व्याकरण पर भी जैन रचयिताओं ने कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। १२ वीं सदी में नयसेन ने एक महत्त्वपूर्ण व्याकरण ग्रन्थ लिखा है पर आज यह उपलब्ध नहीं है। इस ग्रन्थ का पता नागवर्म के भाषाभूषण के ७२ वें सूत्र 'दीर्घो' नयसेनस्य" से लगता है। नागवर्म ने 'कर्नाटक भाषाभूषण' लिखकर कन्नड़ के व्याकरण को सुव्यवस्थित बना दिया। यद्यपि इस ग्रन्थ के सूत्र और वृत्ति संस्कृत में हैं पर उदाहरणः अपने पूर्ववर्ती कन्नड़ कवियों से चुनकर लिखे गये हैं, इसमें संज्ञा, संधि, विभक्ति, कारक, शब्द-रीति, समास, तद्धित, आख्यात नियम, अन्वय

निरूपण और निपात निरूपण ये दस परिच्छेद हैं। कुल मिलाकर दो सौ अस्सी सूत्र हैं। व्याकरण ग्रन्थों में केशवराज (११५० ई० सं०) का 'शब्दमणिदर्पण' एक महत्वपूर्ण और बड़ा व्याकरण ग्रन्थ है। इसमें कन्दरूप से सूत्र लिखे गये हैं। व्याकरण नियमों के स्पष्टीकरण के लिए उदाहरण प्राचीन कवियों के गद्य-पद्य से दिये गये हैं। इस व्याकरण ग्रन्थ ने कन्नड़ भाषा को सुव्यवस्थित बनाया है।

नवरस पर 'उदयादित्य अलंकार' जिसमें संक्षेप में चन्द्रालोक की शैली पर रस अलंकार का विवेचन किया गया है एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें पाँच प्रकरण हैं और तीसरे रस प्रकरण में रस का सविस्तार निरूपण है। रस पर कवि साल्व का 'रस रत्नाकर' एक सुप्रसिद्ध रस-ग्रन्थ है। कन्नड़ साहित्य में स्वतन्त्र रूप से रस का विवेचन करने में इससे बढ़कर अन्य कोई ग्रन्थ नहीं है। मनोरम उदाहरण और हाव-भाव आदि का सुन्दर विश्लेषण लक्ष्य और लक्षण शास्त्र की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

विविध-विषयक साहित्य--

जैन कवियों ने कन्नड़ साहित्य के जन्मकाल से ही उसके संवर्द्धन में पूर्ण सहयोग दिया है। उन्होंने केवल लक्ष्य, लक्षण ग्रन्थों का ही निर्माण नहीं किया अपितु वैद्यक, विज्ञान, अर्थशास्त्र, ज्योतिष आदि विषयों पर भी पूरा प्रकाश डाल उसका कलेवर विस्तृत किया है। शिवमारदेव ने (८०० ई० सं०) 'शिवमारमत' और 'हस्त्यायुर्वेद' शास्त्र लिखा है। १२ वीं शताब्दी में देवेन्द्र मुनि ने बालग्रह चिकित्सा तथा अन्य भी कई आचार्यों की प्रामाणिक कृतियाँ इस विषय पर उपलब्ध हैं।

चन्द्रराज ने (१०७६ ई० सं०) में 'मदन तिलक' कामशास्त्र का ग्रन्थ लिखा है। यह कन्नड़ साहित्य का इस विषय का सबसे आदि ग्रन्थ है। जन्न ने (१२०६) में 'स्मरतंत्र' की रचना काम विषय पर की है।

ज्योतिष विषय पर श्रीधर का जातकतिलक' (ई० सं० १०४६) प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह बेलवल देश के नरगुन्द का रहनेवाला था। ज्योतिष विषय पर भी कन्नड़ में यह आदि ग्रन्थ माना जाता है। जातकतिलक के पश्चात् चामुण्डराय का 'लोकोपकारक' ग्रन्थ सामुद्रिक शास्त्र की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जाता है।

सूपशास्त्र (पाकशास्त्र) नाम का जयबन्धु नन्दन का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस विषय पर अन्य जैन लेखकों की रचनाएँ उपलब्ध नहीं है।

गणित विषय पर कविराजादित्य के (११२० ई० सं०) व्यवहारगणित, क्षेत्रगणित, व्यवहाररत्न, क्षेत्ररत्न, लीलावती, चित्रहसुगे और जैनगणित सूत्र, प्रसिद्ध गणित ग्रन्थ है। व्यवहारगणित गद्यपद्यात्मक है। सूत्र पद्य में और उदाहरण गद्य में लिखे गये हैं।

उपसंहार—

अतः उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जैन साहित्यकारों ने कन्नड़ साहित्य की महती सेवा की है। कन्नड़ साहित्य की बहुमुखी अन्तश्चेतना को जैनसाहित्यकारों ने दिशा प्रदान की है, इसमें तो सन्देह कतई नहीं। क्या काव्य, क्या ज्योतिष, क्या गणित सभी क्षेत्र को इन्होंने अभिवृद्ध कर कन्नड़ साहित्य को उपयोगी और वैज्ञानिक आभरण सज्जा से आच्छन्न कर दिया है। सांस्कृतिक और आध्यात्मिक निर्घोष के साथ जैन साहित्यकारों ने कन्नड़ साहित्य में नवीन विचारों, अनुमानों का चयन किया है। कन्नड़ साहित्य की सफलता और प्रसारिता के सारे उज्ज्वल रूपों का श्रेय जैन-साहित्यकारों को है।

महावीर संवत्

[ले० —श्री नेमिचन्द्र शास्त्री]

[यह वार्ता ता० १५ नवम्बर को आकाशवाणी पटना से प्रसारित की गई थी। इसमें बताया गया है कि गौतम बुद्ध की मृत्यु भगवान् महावीर के निर्वाण लाभ के १४ वर्ष पहले हुई थी]

—संपादक

आज महावीर संवत् के २४८२ वें वर्ष का दूसरा दिन है। भगवान् महावीर ने विहार की पवित्र भूमि पावा नगरी में कार्त्तिक कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि के समाप्त होते अमावास्या के उषाकाल में निर्वाण प्राप्त किया था। प्राचीन जैनग्रन्थ तिलोयपण्णत्ति में बताया गया है—

कत्तिय किण्हे चोद्दसपच्चूसे सादिणामणक्खत्ते।
पावाए णयरीए एक्को वीरेसरो सिद्धो॥

अर्थात्—कार्त्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के अन्तिम प्रहर में जबकि अमावास्या का आरम्भ हो चुका था, स्वाति नक्षत्र के रहते ब्राह्मवेला में श्रीवीरप्रभु ने निर्वाणलाभ लिया।

भगवान् के निर्वाणोत्सव में सम्मिलित होने वाले उनके भक्त और शिष्यों ने उनकी स्मृति सदैव बनाये रखने के लिए तथा संसार के मोह, ममत्व, राग, द्वेष से छुटकारा प्राप्त कर आत्मकल्याण की प्रेरणा देनेवाले निर्वाण की स्मृति सदैव सम्मुख रखने के लिए वीर निर्वाण संवत् आरम्भ किया, इसी का दूसरा नाम महावीर संवत् भी है। इस संवत् के प्रचलन के मूल में धार्मिक भावना सन्निहित है, इसी से यह संवत् धार्मिक माना जाता है, और समस्त जैन संसार में तभी से आज तक इस संवत् का प्रचार चला आरहा है। प्रत्येक लौकिक या धार्मिक अनुष्ठान के आरम्भ में पढ़े जाने वाले संकल्प में इसी महावीराब्द का प्रयोग होता है। प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों, दानपत्रों, ताम्रपत्रों एवं शिलालेखों में इस संवत् का प्रयोग हुआ है। आज भी मुद्रित होनेवाली पुस्तकों में महावीराब्द ही अंकित रहता है।

यह संवत् गतवर्ष प्रणाली पर आश्रित है अर्थात् गतवर्ष ही इसमें वर्तमान वर्ष माना जाता है। उदाहरणार्थ आज वीर निर्वाण संवत् के २४८२ वर्ष समाप्त हो चुके हैं, अतः इस वर्ष आगामी दीपावली के पूर्व तक २४८२ ही महावीराब्द माना जायगा। इस संवत्सर प्रणाली से जैन विद्वान् प्राचीन भारत में स्वतन्त्र रूप से पञ्चांगों का निर्माण करते थे, जिनका वर्षमान कार्त्तिक कृष्णा अमावास्या से कार्त्तिक कृष्णा चतुर्दशी तक होता था। इस प्रक्रिया के आधार पर पञ्चांग रचने के लिए जैनों में कई करणग्रन्थ आज भी विद्यमान हैं। गुजरात के पार्श्वनाथ जैन पञ्चांग इसी पद्धति पर अभी भी प्रकाशित हो रहा है। उत्तर भारत में भी 'जैन तिथि दर्पण' महावीर संवत् से ही निर्मित होते हैं। इनका प्रकाशन प्रधानतः इन्दौर और सूरत के होता है। प्रत्येक जैन अपने

धार्मिक पर्व और व्रतों को इन्हीं तिथि-दर्पणों के आधार पर सम्पन्न करता है। अतः महावीर संवत् का व्यवहार जैनों में केवल लेखन कार्य तक ही सीमित नहीं है, बल्कि जीवन के सभी संस्कार और अनुष्ठानों में इसका प्रयोग होता है।

अब तक मैंने आपसे केवल इस संवत् की मान्यता के सम्बन्ध में ही बातें कीं, पर इसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में चर्चा कर लेना भी अप्रासंगिक न होगा। प्राचीन जैन ग्रन्थों में बताया गया है कि वीर निर्वाण के ६०५ वर्ष ५ मास बीतने पर शक राजा हुआ।

णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवीरसेसु।
पणमासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा॥

अर्थात्—शक संवत् में ६०५ वर्ष ५ महीना जोड़ देने पर महावीर निर्वाण संवत् हो जाता है।

डा० हर्मन याकोबी ने कल्पसूत्र की प्रस्तावना में प्रचलित वीर निर्वाण संवत् में से ६० वर्ष कम करके महावीर निर्वाण ई० पूर्व ४६७ माना है। इनकी इस मान्यता का खंडन स्वर्गीय श्री० डा० के० पी० जायसवाल ने 'बिहार रिसर्च सोसाइटी' पत्रिका में प्रकाशित एक निबन्ध में किया है। श्री जायसवाल जी ने अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर महावीर निर्वाण ५४५ बी० सी० माना है, जो जैन परम्परा में प्रचलित संवत्सर प्रणाली से ठीक मिलता है।

महावीर संवत् की विशेष चर्चा करने के लिए महावीर के समकालीन व्यक्तियों की चर्चा करना भी आवश्यक है। अब आप मेरे साथ आइये और उस काल के प्रमुख व्यक्तियों के सत्ता समय का अवलोकन कीजिये। भगवान् महावीर के समकालीन ऐतिहासिक व्यक्तियों में बिम्बसार, कोणिक, जिसे अजातशत्रु भी कहा जाता है, महात्मा बुद्ध और मंखलि गोशालक विशेष उल्लेखनीय हैं। बौद्ध साहित्य में राजा बिम्बसार को भगवान् बुद्ध का समकालीन माना गया है, बुद्ध के उपदेश से ही बिम्बसार बुद्ध धर्मानुयायी हुआ था तथा बुद्ध की वृद्धावस्था में बिम्बसार को मारकर उसका पुत्र अजातशत्रु मगध का राजा हुआ। यह पितृहत्या से सन्तप्त होकर बुद्ध की शरण में गया और उनका उपदेश सुनकर बौद्धधर्मानुयायी बन गया। इसके राज्याभिषेक के ८ वर्ष के पश्चात् बुद्ध का निर्वाण हुआ।

जैन ग्रन्थों में बिम्बसार का नाम श्रेणिक बताया गया है। जैन ग्रन्थकार लिखते हैं कि श्रेणिक का पहले नन्दा नामक श्रेष्ठि पुत्री से पाणिग्रहण हुआ था और उस रानी के अभयकुमार नामक पुत्र भी उत्पन्न हुआ। जिस समय राजकुमार अभय अपने पिता श्रेणिक के प्रधान मन्त्री के पद पर आसीन था, उस समय राजा श्रेणिक ने अपने लिए वैशाली के राजा चेटक से उनकी पुत्री की कामना की, पर चेटक ने उसकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की, जिससे श्रेणिक उदास होकर रहने लगा। मन्त्री अभय ने राजा को धैर्य बधाया और स्वयं उस कार्य को करने का संकल्प किया। व्यापारी के वेष में वह वैशाली पहुंचा और चेटक की सबसे छोटी कुमारी चेलना का अपहरण कर श्रेणिक से

उसका विवाह करा दिया। चेलना ने अपने पति को बौद्ध धर्म से विरत कर जैन बनाने के लिए अनेक उपाय किये और अन्त में एक दिन उसने श्रेणिक को जैन बना ही दिया। पति-पत्नी दोनों भगवान् महावीर की शरण में गये तथा श्रेणिक ने भगवान् की समवशरण सभा के प्रधान श्रोता का पद प्राप्त किया। श्रेणिक रिश्ते में महावीर के मौसा भी थे। श्रेणिक अर्थात् बिम्बसार सम्बन्धी इस उल्लेख से प्रकट होता है कि भगवान् महावीर को सर्वज्ञता ४२ वर्ष की अवस्था में प्राप्त हुई थी तथा इसी अवस्था में श्रेणिक उनके प्रधान श्रोता बने थे। भगवान् महावीर का उपदेश ३० वर्षों तक हुआ, परन्तु श्रेणिक अन्त तक उनके उपदेश के श्रोता नहीं मिलते हैं, इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रेणिक का देहावसान भगवान महावीर के निर्वाण लाभ के पूर्व हुआ था। बौद्ध ग्रन्थ 'दीघ निकाय' में एक स्थान पर आया है कि एक मन्त्री वैदेही पुत्र मगधपति राजा अजातशत्रु से बोला—"महाराज ये निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र आगये, ये संघ और गण के स्वामी हैं, गण के आचार्य और प्रख्यात कीर्तिमान तीर्थंकर हैं, सज्जन मान्य और बहुत लोगों के श्रद्धास्पद होने के उपरान्त ये चिरदीक्षित और अवस्था में अधेड़ हैं।"

इस उद्धरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि अजातशत्रु के राज्य के प्रथम वर्ष में ही भगवान् महावीर का आगमन मान लिया जाय तो उस समय बुद्ध की अवस्था ७२ वर्ष की ठहरती है क्योंकि अजातशत्रु के राज्यत्व काल के ८ वें वर्ष में वे ८० वर्ष की अवस्था में निर्वाण को प्राप्त हुए थे। इस प्रसंग में महावीर को अर्धवय कहा गया है, अतः इससे स्पष्ट है कि महावीर की अवस्था उस समय ५० वर्ष की रही होगी। दीघ निकाय के उल्लेखानुसार भगवान् महावीर का निर्वाण अजातशत्रु के राज्यत्वकाल के २२ वें वर्ष में हुआ; क्योंकि इनकी सम्पूर्ण आयु ७२ वर्ष की थी। इस हिसाब से बुद्ध के निर्वाण के लगभग १४ वर्ष पीछे महावीर का निर्वाण हुआ होगा।

जैन ग्रन्थों में अजातशत्रु के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है कि श्रेणिक की मृत्यु के पश्चात् अजातशत्रु और उसके भाई हल्ल एवं विहल्ल का आपस में सेचनक नामक हाथी के स्वामित्व के सम्बन्ध में झगड़ा हुआ। तब हल्ल और विहल्ल हाथी को लेकर अपने नाना चेटक के पास चले गये। अजातशत्रु ने अपने भाइयों के साथ हाथी वापस भेज देने के लिए अपने नाना चेटक के पास दूत द्वारा सन्देश भेजा, पर वैशालीपति ने मगधराज की प्रार्थना स्वीकार नहीं की। परिणाम स्वरूप अजातशत्रु ने चेटक पर धावा बोल दिया और घमासान युद्ध कर वैशाली को बरबाद कर दिया। इस युद्ध का वर्णन जैन ग्रन्थों में 'महाशिला कंटक' के नाम से प्रसिद्ध है।

डा० विंसेन्ट स्मिथ ने पासादिक सुत्त के एक उल्लेख से महात्मा बुद्ध की जीवित दशा में महावीर का निर्वाण होना स्वीकार किया है, परन्तु इस सम्बन्ध में भगवती सूत्र से एक नया प्रकाश मिलता है। बताया गया है कि मंखलिगोशालक ने महावीर के ऊपर तेज लेश्या का प्रयोग किया था, जिससे जनता ने भ्रमवश उन्हें अस्वस्थ समझा और उनके दर्शन के लिए लोग गये। जब

जनता मेडियग्राम के निकट पहुँची तो वालुकाकच्छ के पास तपश्चरण करते हुए महावीर के शिष्य सिंहमुनि का ध्यान टूट गया और प्रभु महावीर की अनिष्ट की आशंका से वह रो उठा, जिससे जनता में महावीर के निर्वाण का असत्य समाचार फैल गया। यही समाचार बुद्ध तक उनके शिष्य आनन्द ने पहुंचाया, इसीका उल्लेख पासाहिक सुत्तंत में है। अतः यह स्पष्ट है कि भगवान महावीर का निर्वाण बुद्ध के निर्वाण से १४ वर्ष पूर्व हुआ और तभी से यह संवत् प्रचलित है।

जैन ग्रन्थों में उल्लखित राजाओं की परम्परा से भी महावीर संवत् पर पूरा प्रकाश पड़ता है। तिलोयपण्णत्ति में बताया गया है।

जक्काले वीरजिणो णिस्सेयस संपयं समावण्णो।
तक्काले अभिसित्तो पालयणामो अवंति सुदो॥

अर्थात्—जब भगवान महावीर का निर्वाण हुआ था, उस समय पालक नामक अवन्तिसुत का राज्याभिषेक हुआ।

पालकवंश के राज्यकाल के साठ वर्ष पूरे होते ही उदयी का मरण हुआ, इसके साथ ही मगध के प्रख्यात शैशु–नागवंश का अन्त हुआ। मगध के राज्य पर नन्द का राज्याभिषेक हुआ और नव पीढ़ी तक नन्द के वंशजों ने कुल १५० वर्षों तक मगध साम्राज्य को भोगा। इस प्रकार महावीर निर्वाण के २१० वर्ष पूरे होते ही चाणिक्य ने अन्तिम नन्द को पदच्युत कर चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध का सम्राट् बनाया। यही चन्द्रगुप्त आचार्य भद्रबाहु के उपदेश से विरक्त होकर दि० जैन मुनि बना था तथा मगध में पड़नेवाले बारह वर्ष के दुष्काल के समय आचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण भारत की ओर गया था। जब दिगम्बर मुनियों का यह संघ कर्णाटक देश में कटवप्र पर्वत के निकट पहुँचा तो संघ के प्रधान आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने अपना मृत्युकाल निकट जानकर समस्त संघ को विशाखाचार्य की अध्यक्षता में दक्षिणस्थ चोलपाण्ड देश की ओर जाने का आदेश दिया। चन्द्रगुप्त मुनि आचार्य की सेवा-शुश्रूषा के लिए उनके पास ही रह गये। गुरु की महासमाधि हो जाने पर भी, वह वहीं पर आत्मसाधना करते रहे। बारह वर्षों के पश्चात् जब विशाखाचार्य अपने शिष्यों सहित वापस लौटे तो चन्द्रगुप्त को वहीं पर गुरुभक्ति में लीन पाया। पश्चात् विशाखाचार्य के साथ चन्द्रगुप्त ने भी दक्षिण भारत का परिभ्रमण किया। कुछ समय पश्चात् चन्द्रगुप्त के पौत्र महाराज अशोक, युवावस्था में, जब तक उसने बौद्ध धर्म धारण नहीं किया था, वह अपने पितामह के तपश्चरण स्थान के दर्शन करने गया और वहीं पर एक विशाल जिन मन्दिर बनवाया, जो चन्द्रगुप्त बसति के नाम से आज भी प्रसिद्ध है। यह घटना महावीर संवत् २६६ अर्थात् २६० बी० सी० की है। अशोक ने चन्द्रगुप्त पर्वत पर चन्द्रगुप्त बस्ती के सामने १५ फीट ७ इंच लम्बे तथा ४ फीट ७ इंच चौड़े

शिलाखंड पर हेलकनकी लिपि में एक शिलालेख खुदवाया, जो आज भी वर्तमान है। इस चन्द्रगुप्त सम्बन्धी वृत्तान्त से स्पष्ट है कि अशोक ने ई० पू० २७४ में राज्यसिंहासन प्राप्त किया था और इसके १४ वर्ष बाद चन्द्रगुप्त वस्ति का शिलालेख अंकित किया है।

जैन ग्रन्थों में पुष्यमित्र को कल्की का अवतार माना गया है। इसने धर्मान्ध बनकर बौद्ध और जैनों पर पर्याप्त अत्याचार किये थे। अतः जैन धर्मानुयायी सम्राट् खारवेल ने दो बार मगध पर आक्रमण किया था। प्रथम बार मथुरा से लौटते हुए तथा द्वितीय बार प्रथम आक्रमण के चार वर्षों के बाद मगध पर आक्रमण किया। द्वितीय बार पुष्यमित्र ने विवश होकर खारवेल से सन्धि की। खारवेल बहुसंख्यक धनरत्न लेकर एवं नन्द द्वारा लाई हुई अपने कुलदेव भगवान् ऋषभदेव की मूर्त्ति लेकर कलिंग वापस लौट गया। इस घटना का समर्थन हाथीगुफावाले शिलालेख से भी होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से मिलान करने पर महावीर संवत् के साथ इसका मेल हो जाता है। अतएव भगवान् महावीर के निर्वाण लाभ करने के दिन से अर्थात् आज से २४८२ वर्ष पूर्व महावीर संवत् प्रचलित हुआ था। आज भी नये संवत्सर के दिन पावापुरी में मेला लगता है एवं धूमधाम से निर्वाणोत्सव मनाया जाता है।

भगवान् महावीर का बोधि-स्थान

[ले०—श्रीयुत् नवीनचन्द्र शास्त्री]

कैवल्य-प्राप्ति का स्थान और समय—

भगवान् महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति वैशाख शुक्ला दशमी को मघा नक्षत्र के विजय मुहूर्त्त में षष्ठोपवास के अनन्तर ऋजुकूला या ऋजुपालिका नदी के वामतट पर जम्भक नामक गाँव के निकट शालवृक्ष के नीचे हुई थी। यह स्थान सामग नामक किसान का खेत था और इसके उत्तर-पूर्व की ओर एक मन्दिर था[1]। तिलोय पएणत्ति में बताया गया है—

वइसाह सुद्ध दहमी माघारि सवम्मि वीरणाहस्स।

रिजूकूल नदीतीरे अवरण्हे केवलं णाणं ॥अ० ४ गा० ७०१

अतः यह निश्चित है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय के आगम ग्रंथों के अनुसार भगवान् महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति ऋजुकूला नदी के किनारे जृम्भिक या जम्भक गाँव के किसी खेत में शालवृक्ष के नीचे हुई थी। इस जम्भक या जृम्भिक गाँव के सम्बन्ध में विद्वानों में अनेक मतभेद हैं।

विभिन्न मान्यताएँ—

श्री बाबू कामताप्रसाद जी ने झरिया को जम्भक गाँव माना है। आपका कहना है कि प्राचीन लाट देश का विजयभूमि प्रान्त वर्तमान विहार के अन्तर्गत छोटानागपुर डिवीजन के मानभूमि और सिंहभूमि में है। स्व० नन्दलाल डे ने भी झरिया को ही जम्भक गाँव माना है। यहाँ की बराकर नदी ही प्राचीन ऋजुकूला है। इस कथन में एक ही बात विचारणीय है। वह है भगवान् की केवलज्ञान प्राप्ति का वज्रभूमि में होना। वर्तमान झरिया में कोयला निकालते समय यहाँ की पृथ्वी से प्रथम बार पत्थर निकलता है, अतः यह भूमि यथार्थ में वज्रभूमि है। आगम साहित्य में भौगोलिक निर्देशानुसार इस गाँव को वज्रभूमि में होना चाहिए। अतः इस स्थान पर भी ऊहापोह होना आवश्यक है।

श्वेताम्बर आगम साहित्य में जृम्भिक गाँव की स्थिति लाट देश में मानी गई है। श्रीमुनि कल्याण विजय जी इस गाँव की स्थिति का निर्णय करते हुए लिखते हैं कि जृम्भिक गाँव की स्थिति पर विद्वानों का मतैक्य नहीं है, कवि-परम्परा के अनुसार सम्मेदशिखर से बारह कोस पर दामोदर नदी के पास जो जंभी गाँव है, वह प्राचीन जृम्भिक गाँव है। कोई सम्मेदशिखर के दक्षिण-पूर्व में लगभग ५० मील पर आसी नदी के पास वाले जमगाम को प्राचीन जृम्भिक गाँव बताते हैं। हमारी मान्यतानुसार जृम्भिक गाँव की स्थिति इन दोनों स्थानों से भिन्न स्थान में होनी चाहिए।

---

१ आचारांग सूत्र जैनसूत्रान्तर्गत १ भाग पृ० २० । ५७

क्योंकि भगवान् के विहारवर्णन से अवगत होता है कि जृम्भिक गाँव चम्पा के निकट ही कहीं होना चाहिए[1]।

डा० स्टीन सा० ने पंजाब प्रान्त के रावलपिण्डी जिले में कांटरा नामक ग्राम के निकट "मूर्ति" नामक पहाड़ी या प्राचीन जीर्ण मन्दिर को देखकर लिखा है कि भगवान् महावीर ने यहीं पर केवल-ज्ञान प्राप्त किया था।

मौलिक विरोध—

श्री बा० कामता प्रसाद द्वारा अनुमानित स्थान झरिया प्राचीन जम्भिक या जृम्भक ग्राम नहीं है। इस स्थान को ऋजुकूला नदी के किनारे होना चाहिए। बराकर नदी ऋजुकूला का अपभ्रंश नहीं हो सकती; और न झरिया में कोई भी ऐसा प्राचीन चिन्ह ही उपलब्ध है, जिससे इसे भगवान् का केवलज्ञान स्थान माना जा सके। श्री बा० कामता प्रसाद को भी इस स्थान के विषय में सन्देह है। उनका यह केवल अनुमान मात्र है।

श्री मुनि कल्याण विजय जी को तो स्वयं ही इस स्थान की अवस्थिति के विषय में सन्देह है। पर इतना उन्हें निश्चय है कि यह चम्पा के आस-पास कहीं है।

डा० स्टीन सा० की मान्यता तो बिल्कुल ही निराधार है। कारण कि भगवान् को केवल-ज्ञान मगध के अन्तर्गत हुआ था। उनको बोधि की प्राप्ति नदी के किनारे हुई थी; पर्वत के ऊपर नहीं। अतः उक्त मत बिल्कुल भ्रामक है।

जम्भिक गांव की स्थिति—

वर्तमान विहार के भूगोल का अध्ययन करने तथा विहार के कतिपय स्थानों का पर्यटन करने पर अवगत होता है कि भगवान का कैवल्य प्राप्ति का स्थान वर्तमान मुङ्गेर से ५० मील दक्षिण की दूरी पर स्थित जमुई गांव है। यह स्थान वर्तमान किवल नदी के किनारे पर है। यही नदी ऋजुकूला अर्थात् ऋष्यकूला का अपभ्रंश। किवल स्टेशन से जमुई गांव १८-१९ मील की दूरी पर अवस्थित है। जमुई से ४ मील उत्तर की ओर क्षत्रियकुण्ड और काकली नामक स्थान है। इन स्थानों की प्राचीनता आज भी प्रसिद्ध है। जमुई के तीन मील दक्षिण एनमेगढ़ नामक एक प्राचीन टीला है। कनिंघम ने इसे इन्द्रद्युम्नपाल का माना है। यहाँ पर खुदाई में मिट्टी की अनेक मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। वर्षाकाल में अधिक पानी बरसने पर यहाँ अपने आप ही अनेक मनोज्ञ मूर्त्तियाँ निकली हैं। लेखक ने भी खण्डित पार्श्वनाथ और श्री आदिनाथ की मूर्त्तियों के दर्शन किये हैं।

जमुई और लिच्छवाड के बीच में महादेव सिमरिया गांव है। यहाँ सरोवर के मध्य एक ३००–४०० वर्ष पुराना मन्दिर है। इस मन्दिर में कुछ प्राचीन जैन प्रतिमाएँ भी हैं। जमुई

१ श्रमण भगवान् महावीर पृ० ३७०

से १५–१६ मील पर लक्खीसराय है। यहाँ एक बड़ा पर्वत श्रेणी है, जिससे प्रतिवर्ष अनेक जैन और बौद्ध प्रतिमाएँ निकलती हैं। जमुई और राजगृह के बीच सिकन्दरा गाँव है तथा सिकन्दरा और लक्खीसराय के मध्य में एक आम्रवन है। कहा जाता है कि इस आम्रवन में भगवान् महावीर ने तपश्चरण किया था। आज भी यहाँ के निकटवर्ती लोग इस वन को पावन मानकर इसके वृक्षों की पूजा करते हैं।

जमुई गाँव की भौगोलिक स्थिति से यह स्पष्ट है कि यह ऋजुकूला, जिसका संस्कृत में ऋष्य-कूला नाम था वर्तमान अपभ्रंश किउल नदी ही है, और इसका तटवर्ती वर्तमान जमुई गाँव ही जृम्भिक ग्राम है। मेरे इस कथन की पुष्टि जमुई गाँव के आस-पास भ्रमण करने, वहाँ प्रचलित किंवदन्तियों के संकलन करने तथा उपलब्ध पुरातत्त्व के दर्शन करने से स्पष्ट हो जाती है। जमुई के दक्षिण लगभग ४–५ मील की दूरी पर एक केवली नामक ग्राम है जो भगवान् महावीर की केवलज्ञान की स्मृति को बनाये रखने के लिए ही प्रसिद्ध हुआ होगा। इस गाँव के समीप बरसाती अंजन नदी बहती है, जिसके किनारे पर बालू अधिक पायी जाती है। सिकन्दराबाद तथा केवाली निवासियों से बातें करने पर वे कहते हैं यही केवाली भगवान् महावीर का केवलज्ञान स्थान है तथा अंजन नदी को ऋजुपालिका या ऋजुवालिका बतलाते हैं। इस केवाली गाँव निवासियों में कुछ ऐसी धारणाएँ भी विद्यमान हैं जिनसे उनका भगवान् महावीर के प्रति श्रद्धा तथा भक्ति-भाव प्रकट होता है। वैशाख शुक्ला दशमी, जो कि भगवान् महावीर की कैवल्यप्राप्ति की तिथि है, इस दिन सामूहिक रूप से उत्सव भी मनाया जाता है। यह प्रथा आज भी अवशेष है। सिकन्दराबाद के निवासी श्री भगवान् दास केसरी ने इस स्थान से अनेक पुरातत्त्वावशेषों का संकलन किया है तथा उनके पास ऐसी अनेक किंवदन्तियों का संग्रह भी है जिनसे जमुई का निकटवर्ती प्रदेश भगवान् का बोधिप्राप्ति स्थान सिद्ध होता है।

जमुई से राजगिरि लगभग ३० मील की दूरी पर है जब कि झरिया से १००, १२५ मील से कम नहीं। यह निश्चित है कि भगवान् महावीर का बोधिस्थान मगध में और साथ ही राजगिरि से ३०–३५ मील ही दूरी पर था। जमुई भी वज्रभूमि है, यहाँ भी पृथ्वी के नीचे पत्थर निकलते हैं। पहाड़ी स्थान भी है। जमीन पथरीली और ऊबड़-खाबड़ है। जैन और बौद्ध दोनों ही का पुरातत्त्व यहाँ उपलब्ध है। यदि खुदाई की जाय तो निश्चय ही यहाँ से अमूल्य वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं। अतः वर्तमान जमुई गाँव का निकटवर्ती वह प्रदेश जहाँ आजकल केवाली ग्राम बसा है भगवान का बोधि स्थान है।

प्रतिमा लेख संग्रह

मध्य प्रदेश (C.P.)—

१ दिगम्बर जैन मन्दिर काकागंज, सागर में निर्लिङ्ग प्रतिमाएँ—

१ शुक्लवर्ण, ऊँचाई १½ फुट पाषाणमय "संवत् १६११ फाल्गुनमासे शुभे शुक्लपक्षे १२ बुधवारे ता (तद्) दिन (ने) प्रतिष्ठितं, लांकमनसींग वकच्छुरैरीयाश्रीमूलसंघे बलात्कार (गणे) कुन्दकुन्द आचार्य आम्नाय (ये)।

२ शुक्लवर्ण, ऊँचाई २½ फुट पाषाणमय "संवत् १६११ फाल्गुनमासे शुभे शुक्ल पक्षे १२ बुधवासरे तादिन प्रतिष्ठितं श्री सवाई सिंघई चिमनलाल जू बैंक बनोवहा श्रीमूलसंघे बलात्कार गंधोतलीगते कुन्दकुन्दाचार्य्य आम्नाय मुकाम सागर काकागंज॥

३ शुक्लवर्ण, १ फुट ऊँचाई, पाषाणमय "संवत् १६१२ के फाल्गुन मासे शुभे शुक्लपक्षे १२ बुधवासरे तादिन प्रतिष्ठितं सागर काकागंज मध्ये सिंघई चिमनलाल प० के वरौस श्रीमूल संघे बलात्कार कुन्दकुन्दाचार्य आमना (म्ना) य।

२ चौधरनबाई का मन्दिर, बड़ाबाजार सागर में—

१ शुक्लवर्ण, १½ फुट ऊँचाई, पाषाणमय, "संवत् १६४० फाल्गुन मासे शुभे शुक्लपक्षे ५ शनिवासरे प्रतिष्ठितं सागर मध्ये श्री मूलसंघे बलात्कार (गणे) रंग सफेद (?) कुन्दकुन्दाचार्य आम्नाय सराफ गिरधारी लाल जवाहिर नित्य संघ तस्य।

२ शुक्लवर्ण, १ फुट ऊँची पाषाण-मूर्त्ति सं० १६३१ ज्येष्ठ शुक्ला १२ गुरुवार श्री मूलसंघे बलात्कार (गणे) कुन्दकुन्दाचार्य आम्नाय।

३ सिंघई बालचन्द्र का मन्दिर, बड़ाबाजार सागर में—

१ पीतवर्ण, १ फुट ऊँची धातु-मूर्त्ति "संवत् १६०१ माघ मासे शुक्लपक्षे १३ गुरुवासरे ता (तद्) दिन श्रीजिनबिंब प्रतिष्ठितं धवन (धवल या पावन) गोलापूरव (र्व) वंश वर्न (?)।

४ बुधूव्या के मन्दिर (बड़ाबाजार सागर में १½ फुट ऊँची ? धातुमूर्त्ति लेख रहित)।

२ शुक्लवर्ण, २ फुट ऊँची, पाषाण-मूर्त्ति "संवत् १६११ के फाल्गुन मासे शुभे शुक्ल पक्षे ता (द्) दिन प्रतिष्ठितं सागर मध्ये पंचान जो स श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वती (गच्छे) कुन्दकुन्दाचार्य आमनाय (आम्नाय)।

३ शुक्लवर्ण, १ फुट ऊँची पाषाण-मूर्त्ति "सं० १६५५ वैशाखमासे शुक्लपक्षे शनिवासरे को प्रतिष्ठितं श्रीमूलसंघे बलात्कार वर्णे (गणे) सरस्वती (गच्छे) श्री कुन्दकुन्दाचार्य आमनाय (आम्नाय)॥"

५ बड़ा मन्दिर बड़ा बाजार सागर में—

१ कृष्ण वर्ण; ऊँचाई १३/४ फुट पाषाण मूर्त्ति "सं० १६१२ माघ शुक्ल पक्षे ६ स (श) नौ श्री मूलसंघे बलात्कार गण सरस्वती श्रीकुन्दकुन्दाचार्य आमनाय (आम्नाय)।

६ घटिया का मन्दिर बड़ा बाजार सागर में—

१ शुक्लवर्ण ऊँचाई १½ फुट पाषाणमय सं० १६५६ लटोरेलाल भरकेलाल संघाती आवलोरी वा० सं० १६५६ —।

२ कृष्णवर्ण ऊँचाई ४ फुट पाषाण मय "श्रीमूलसंघ बलात्कार सरस्वती गच्छ कुन्दकुन्दाचार्य आम्नाय श्रावण कृष्ण त्रयोदशी गुरुवासरे रो (रा) मचन्द्र के पुत्र दुर्गाप्रसाद ने प्रतिष्ठां-करोमि सं० १६०१"

३ पीतवर्ण, ऊँचाई १ फुट धातुमय, (लेख रहित)।

४ कृष्णवर्ण, ऊँचाई २३/४ फुट पाषाणमय (लेख रहित)

७ कठरनी का मन्दिर बड़ा बाजार सागर में—

१ पीतवर्ण ऊँचाई १½ फुट धातुमय "१६०१ माघमासे शुक्लपक्षे त्रयोदशी गुरुवासरे तादिन प्रतिष्ठितं गनेस सराफ लयानस कटरा नित (त्यं) प्रणमन्ति (?)

२ पूर्वोक्त नं० १ की भाँति (" ऐंजन का चिन्ह लगा है)।

३ पीतवर्ण १½ फुट धातुमय "सं० १६११ माघमासे शुक्लपक्षे त्रयोदशी तादिन (तद्दिने) प्रतिष्ठितम्"।

८ बीचका मन्दिर, बड़ा बाजार सागर में—

१ पीत (बादामी) वर्ण, ऊँचाई १½ फुट पाषाणमय, "सं० १६०१ माघमासे शुक्लपक्षे ता (तद्) दिन (ने) प्रतिष्ठितं'

२ बादामी पीतवर्ण ऊँचाई १½ फुट पाषाणमय (लेख रहित)।

३ शुक्लवर्ण, ऊंचाई १½ फुट पाषाण-मय (लेख अस्पष्ट है)।

४ बादामी पीत वर्ण ऊँचाई १ फुट पाषाणमय (लेख नहीं है)।

९ गुजराती मन्दिर कटरा बाजार सागर में—

१ कृष्ण वर्ण, ऊँचाई १३/४ फुट पाषाणमय "सं० १६०१ वैशाख मासे शुक्ल पक्षे रविवासरे प्रतिष्ठितम्।"

१ दिगम्बर जैन नया मन्दिर खुरई जिला सागर (सी० पी०) —

१ शुक्ल वर्ण, ऊंचाई ७ फुट पाषाणमय, सं० १६४६ माघ सुदी १३ खुरई नग्रे (नगरे) कुन्दकुन्दगुरु बलात्कार (गण) सरस्वती गच्छ दिगम्बर परवार जाति मथुरादास मोहनलाल प्रतिष्ठित।

२ शुक्ल वर्ण ऊँचाई २ फुट पाषाणमय सं० १८६१ माघ सुदी ५ मूलसंघ बलात्कार (गण) सरस्वती गच्छ मूलाचार्य कुन्दकुन्द आवनाय (आम्नाय लालचंद बालचंद माथे)।

३ पीतवर्ण, ऊंचाई १ फुट धातुमय 'सं० १८६२ माघ सुदी ५ खुरई नग्रे (गरे) राज अंग्रेज बहादुर मूलसंघ बलात्कार (गण) सरस्वती गच्छ कुन्दकुन्द आवनाय (आम्नाय) सिंघई नंदलाल कालूराम ठाकुरदास लल्ली परमानंद।

४ श्याम वर्ण ऊंचाई ४ फुट पाषाणमय सं० १८६६ माघ शुक्ल ६ मूल संघ बलात्कार (गण) सरस्वती गच्छ कुन्दकुन्द आचार्य आमनाये (?) वैश्य कुल सा ामूर मालगोत (त्र) नग्र (गर) खुरई तस्य वतश्य (?) पुत्र सिंघई रामफ नोले सिंघई नश्य (स्य) पुत्र उद्देत किशनदास हेमराज राजाराम काशीराम पंच भ्राता उद्देत पुत्र दुर्जन किशनदास नन्दलाल कालूराम ठाकुरदास तस्य कालूराम पुत्र रामचन्द्र हेमराज पुत्र परमानन्द और तस्य पुत्र मथरादास राजाराम पुत्र लल्ली घासीराम पुत्र श्यामले तस्य प्यारेलाल बिम्ब प्रतिष्ठा वार सोमवार।

५ शुक्ल वर्ण ऊंचाई १½ फुट पाषाण-मय "सं० १६१८ माघ सुदी ६ मूलसंघ बलात्कार (गण) सरस्वती गच्छ कुन्दकुन्द आचार्य आम (म्ना) नाये प्रतिष्ठा सु (शु) भ स्थान खुरई।

६ शुक्ल वर्ण ऊंचाई ३ फुट पाषाण-मूर्ति 'सं० १८६६ माघ शुक्ल ५ श्री मूलसंघ बलात्कार (गण) सरस्वती गच्छ कुन्दकुन्दाचार्य आमना (म्ना) ये सिंघई नंदलाल ठाकुरदास खुरई मधे (ध्ये) प्रतिष्ठित।

२ पुराना मंदिर खुरई जिला सागर (मध्यप्रदेश) में निर्लिंग प्रतिमाएँ —

१ पीतवर्ण ऊंचाई २ फुट धातुमय, श्रीमूल संघ बलात्कार (गण) सरस्वती गच्छ कुन्दकुन्दाचार्य आमना (म्ना) ये नग्र (नगर) खुरई मधे (मध्ये) सं० १८२१ माघ सुदी ६ शुक्लवर्ण ऊंचाई २ फुट पाषाण-मय संवत् १५४२ वैसाख (शाख) सुदी ३ श्रीमूल संघ बलात्कार (गण) श्रीजिन-चन्द्रदेव श्री सेठ जीवराज।

३ रक्त (मूंगा) वर्ण ऊंचाई २½ फुट पाषाणमय सं० १८६६ माघसुदी (?) सुध (ख) राम के माथे।

४ पार्श्वनाथ—पीतवर्ण ऊंचाई १½ फुट धातुमय सं० १८७१ फागुन सुदी २ श्री मूलसंघे बलात्कार (गणे) सरस्वती गच्छे कुन्दकुन्द आचार्य आमना (म्ना) य श्री जिनसंघ प्रतिपालक वैश्य

पवार बहुरियामूर कौच्छल गोत (त्र) संघादि (धि) पति रूप साहि तत्पुत्र जे (ज्ये) ष्ट (ष्ठ) टेकचंद मंजिष्ट बालचंद लघुपुत्र किसनचन्द श्री पार्श्वदेव प्रतिमा प्रतिष्ठा सहितं करापित ॥

५ श्यामवर्ण ऊंचाई २ फुट पाषाणमय सं० १६४४ माघ शुक्ल (ला) ५ मूल संघे बलात्कारगणे (गणे) सरस्वती गच्छे श्रीकुन्दकुन्दाचार्य आमना (म्ना) य परवार लोटा मूरी वासल्य गोते (त्रे) श्री भूधरलाल इमलया तेवरावारों ने प्रतिमा सुभमंगल ददात् (तु)।

६ शुक्ल वर्ण ऊंचाई २ फुट पाषाणमय सं० १५४२ वैसाष (शाख) सुदी ३ श्रीमूल संघे श्री जैनचन्द्र सेठ जीवराज माथे राज वगैरह सोलापुर।

७ शुक्लवर्ण ऊंचाई ३ फुट पाषाणमय सं० १८९५ फागुन सुदी (तिथिनहीं ?) मूल संघे बलात्कार गणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्य आमना (म्ना) ये श्री अंडेला मूर गोहिल्ल गोत्रे बकुर मुल्ले तस्य पुत्र तृतीय (त्रयः) प्रथम गोरेलाल द्वति (द्विती) य नंदराम तृति (ती) य लालचंद।

८ प्रतिमा नं० ७ की भांति।

९ पीतवर्ण ½ फुट धातुमय सं० १८१८ माघसुदी १३

१० शुक्ल वर्ण ऊंचाई ½ फुट सं० १५४८ पाषाणमय।

११ शुक्ल वर्ण ऊंचाई १½ फुट पाषाणमय सं० १५०० संग्रहकर्त्ता सिंघई गनपत लाल खुरई।

श्रीदिगम्बर जैन मन्दिर बीना-इटवा (सागर) सी० पी० में निर्लिंग प्रतिमाएँ—

१ **पार्श्वनाथ**—शुक्ल वर्ण ऊंचाई २½ फुट पाषाण-मय "श्रीमूल संघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्याम्नाये सं० १६०५ नग्र इटाये (वे) माघ सुदी ५ सोमवार तादिन श्रीजिनबिंब प्रतिष्ठा कारापितः (?) परवार व्याते देगुडिया फुलई तस्य पुत्र हीराचन्द्र।

२ **पार्श्वनाथ**कृष्ण वर्ण ऊंचाई १½ फुट पाषाणमय 'सं० १६०५ मिति माहौ (माघ) सुदी ५ सोमवार तादिन प्रतिष्ठा करी इटाये (वे) के मन्दिर की।

३ **पार्श्वनाथ**—शुक्लवर्ण, ऊँचाई २½ फुट पाषाणमय "सं० १६०५ श्रीमूलसंघे बलात्कार (त्कार) गणे सरस्वती गच्छे कुन्दकुन्दाचार्याम्नाये इटाये नग्रे (गरे) बापू साहब सूबेदार राज्ये वैश्यवर्णे परवार व्याते (?) श्रावककुले रकयामूरे वाहक्लगोत्रे मावनदास तत्पुत्र सबसुख (सर्वसुख ?) वा पुत्र प्यारेलाल तस्य पुत्र हंसराज वा जवाहर वा कालुराम……… गोइलगोत्र तत्पुत्रमाणिकचन्द्र सं० १६०५ (ऊपर भी सं० है) माघ सुदी ५ सोमवार दिन श्रीजिनबिम्ब प्रतिष्ठां कारयेत् (अकारयन्)।

४ **पार्श्वनाथ**—पीतवर्ण ऊँचाई १० इंच पीतलधातुमय "श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्य संताने श्रीधर्मकीर्त्तिस्तस्य पदे श्रीललितकीर्त्ति (:) तस्य पदे श्रीधर्मकीर्त्युपदेशात् ग्र (गृ) हपति ज्ञातौ सर्वेपञ्च—मरोजपुरवासिनः संघपति रूपचन्द्र प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठाप्येदं बिम्बं नित्यं नमंति।

५ **आदिनाथ**—शुक्लवर्ण ऊँचाई २½ फुट पाषाणमय "संवत (त्) १६०५ मिती माघ सुदी ५ सोमवार तादिन प्रतिष्ठा लालचन्द्र देवगढ़े (ढ़ि) या इटाये के मन्दिर की प्राप्त।

६ **पार्श्वनाथ**—पीतवर्ण ऊँचाई १ फुट पीतल (धातु) मय "सं० १६३७ महु (माहु या माघ) शुक्ल पक्ष इटाये मे गहो जावर साहु।

७ **पार्श्वनाथ**—कृष्णवर्ण ऊँचाई ३½ फुट पाषाणमय "सं० १६०५ मिती—माहौ (माघ) सुदी ५ तादिन (तद्दिने) प्रतिष्ठा मेरेलाल मोदी के मत्थे ? की इटाये के मन्दिर की।

८ **सुपार्श्वनाथ**—श्वेतवर्ण ऊँचाई २ फुट पाषाणमय "श्रीमूलसंघे वलात्कार (बलात्कार) गणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्याम्नाये सं० १६०५ नग्र (नगर) इटाव (वा) माघ सुदी ५ सोमवार तादिन (तद्दिने) श्रीजिनबिम्बप्रतिष्ठा कारापितं"।

९ **मुनिसुव्रतनाथ**—कृष्णवर्ण ऊँचाई १० इंच पाषाणमय "श्रीमूलसंघे वलाकार (त्कार) गणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्याम्नाये सं० १६०५ नग्र (नगर) इटावा माघ सुदी ५ तादिन (तद्दिने) प्रतिष्ठा कारापितं।

१० **चन्द्रप्रभ**—शुक्लवर्ण ऊँचाई १० इंच पाषाणमय "इन प्रतिमाजी का—(शिलालेख) बीजक नं० ६ की प्रतिमावत् है।

११ **पार्श्वनाथ**—कृष्णवर्ण ऊंचाई १ फुट पाषाणमय (लेख ऊपर की भांति है)।

श्री दि० जैन मन्दिर सिवनी मध्यप्रदेश—

१ सिंघई स (स्व) रूपचन्द पन्नालाल नायक का मन्दिर—

१ **पार्श्वनाथ**—कृष्ण वर्ण ऊंचाई १६ इंच पाषाणमय "माघ मासे शुक्ल पक्षे ६ सं० १६४६ को प्रतिष्ठा हुई प्रतिष्ठाकारक में नाम दलतीनायक दीपचंद-मंदिर सिवनी—इ० लेख स्पष्ट है।

२ **पार्श्वनाथ**—श्याम वर्ण ऊंचाई १८ इंच (सप्त फणावली) पाषाणमय "संवत १६११ शाके १७६६ माघ सुदी ५ ई० चारुचंद्रभूषण ने कराई (प्रतिष्ठा)।

२ सिंघई परमानंद जी बालाघाट वालों का मन्दिर सिवनी—

१ **सुपार्श्वनाथ**—३-४ इंच ऊँचाई, कृष्णवर्ण पाषाणमय "संवत् १८३१ शाके १७६८ माघ सुदी १५ मुळे संघे को भार्या पुनियाबाई ने प्रतिष्ठा करवाई भट्टारक चारुचन्द्रभूषण।

२ **पार्श्वनाथ**—शुक्ल वर्ण ऊंचाई १½ फुट पाषाणमय "संवत १६४६ माघ सु० ६ प्रतिष्ठा कराई परमानंद बालाघाट।

३ **पार्श्वनाथ**—शुक्ल वर्ण ऊंचाई १½ फुट पाषाणमय "संवत १६४६ माघ सु० ६ प्रतिष्ठा कराई परमानंद बालाघाट।

४ चन्द्रप्रभ—कृष्ण वर्ण ऊंचाई १ फुट पाषाणमय "फागुन सुदी ३ सं० १६२१ कृपाराम सरूपचंद ने प्रतिष्ठा कराई।

३ पंचायती मन्दिर सिवनी में कुल ५ प्रतिमाएं—

१ आदिनाथ—शुक्लवर्ण ऊंचाई १ फुट पाषाणमय "संवत् १६०५ शाके १७७० भट्टारक चारुचन्द्र।

२ सुपार्श्वनाथ—शुक्लवर्ण ऊंचाई १ फुट पाषाणमय "संवत् १६५३ फागुन सुदी ४।

३ पार्श्वनाथ—पीतवर्ण ऊंचाई १ फुट अनुमान धातुमय "संवत १६१० शाके १७७५ माघ सु० २ चारुचन्द्रभूषण ने कराई।

४ चन्द्रप्रभ—कृष्ण वर्ण ऊंचाई ६ इंच पाषाणमय।

५ पार्श्वनाथ—शुक्लवर्ण ऊंचाई २१ इंच पाषाणमय "संवत ११६१ वैशाख सुदी २ (आगे पढ़ने में नहीं आता)।

४ सेठ मिट्ठनलाल जी का मन्दिर सिवनी—

१ पार्श्वनाथ—शुक्लवर्ण ऊंचाई २२ इंच (सप्त फणावली) पाषाणमय "संवत १७६१ वैशा (शा) सुदी ३

५ सघै (सिंघई) कन्हैयालाल रतनचंद का मन्दिर सिवनी—

१ मटमैला वर्ण ऊंचाई १३ इंच प्राचीन पाषाणमय (लेख रहित प्राचीन नाम नहीं) है लोग चौथेकाल की कहते हैं देखने से किसी विशिष्ट स्थान की प्रतीत होती है।

२ चन्द्रप्रभ—शुक्ल वर्ण ऊंचाई १३ इंच पाषाणमय "संवत १७६१ वैसाख सुदी ३ ई०

६ सिंघैन पुनिया बाई के मंदिर (सिवनी) —

१ पुष्पदन्त—शुक्ल वर्ण ऊंचाई १३ इंच पाषाणमय "संवत १६४६ माघ सुदी ६ ई०।

२-३ मुनिसुव्रत—मिटीला वर्ण ऊंचाई १३ इंच प्राचीन पाषाणमय (लेख रहित, विशिष्ट हैं)

४ आदिनाथ—कृष्णवर्ण ऊंचाई १½ फुट पाषाणमय "फागुन सुदी ३ सं० १८२१ मजीराम पवार ने प्रतिष्टा कराई।

५ चन्द्रप्रभ—कृष्णवर्ण १½ फुट ऊंचाई पाषाणमय "वैसाप सु० ३ सं० १७६१·······

६ मुनि सुव्रत—शुक्लवर्ण ऊंचाई १० इंच पाषाणमय "संवत १६४६ माव सु० ६····

७ सिंघई भगवान साव ताराचंद जी का मन्दिर सिवनी —

१ पार्श्वनाथ—पीतवर्ण ऊंचाई १० इंच धातुमय "संवत १६१० शाके १७७५ भगवान साव ताराचंद इ०········।

२ पार्श्वनाथ—शुक्लवर्ण ऊंचाई २० इंच (सप्त फणावली) पाषाणमय "सं० १६१० शाके १७७५ भगवान साव ताराचंद ई० (इ०)··········।

८ सिंघई आलमचन्द सवाई सिं० का मन्दिर सिवनी—

१ सुपार्श्वनाथ—शुक्लवर्ण ऊंचाई ४ फुट पाषाणमय "संवत १६३३ शाके १७६८ माघ सु० ५……… ।

२ पार्श्वनाथ—कृष्णवर्ण ऊंचाई ४½ फुट पाषाणमय "संवत १६३३ शाके १७६८ माघ सु० ५………… ।

३ नेमिनाथ—कृष्णवर्ण ४ फुट पाषाणमय "संवत १६३३ शाके १७६८ माघ सु० ५…" ।

४ चन्द्रप्रभ—शुक्लवर्ण ११ इंच पाषाणमय "संवत १७५२ फाग (ल्गुन) सु० ४ ,, ।

५ सुपार्श्वनाथ—कृष्णवर्ण १३ इंच पाषाण "संवत ११६१-(आगे पढ़ा नहीं जाता) ।

९ सेठ मिठनलाल जी का मन्दिर सिवनी—

१ सुपार्श्वनाथ—शुक्लवर्ण १½ फुट पाषाणमय "संवत १६२१" (नावडी ग्राम से आई है)

२ चन्द्रप्रभ—शुक्लवर्ण २१ इंच पाषाणमय "संवत १६२१ फागुन सुदी ३ (,, ,, ,,)

३ पद्मप्रभ—शुक्लवर्ण १३ इंच पाषाणमय "सं० १६२१ फागुन सुदी ३ (,, ,, ,,)

१० रा० ब० सेठ पूरन साह जी का मन्दिर सिवनी—

१ आदिनाथ—पीतवर्ण ऊंचाई १¾ फुट धातुमय "सं० १६३३ माह सुदी ५" ।

११ सवाई सि० श्रीराम० रंभा साह के मन्दिर सिवनी—

१ चन्द्रप्रभ—शुक्लवर्ण ऊंचाई १ फुट स्फटिकमय "सं १६४७ में प्रतिष्ठा हुई वैसाख सुदी १० को ।

१२ सिवनी का छोटा मन्दिर; जिसमें ५ जगह दर्शन हैं (बीच में चौमुखी प्रतिमा और ४ वेदियाँ हैं) । टेकचन्दजी की वेदी में—३ प्रतिमाएँ हैं—

१ चन्द्रप्रभ—शुक्ल वर्ण ऊँचाई ६ इंच पाषाणमय "फागुन सु० ३ सं० १६२१ माथे सुक्का साव ।

२ कुन्थुनाथ—शुक्लवर्ण १० इंच ऊँचाई पाषाणमय "वैसाख सु ११ सं० १८२८ (शान्तिनाथ) इक्ष्वाकवंसे (शे) सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे कुन्दकुन्दाचार्याम्नाये वसाष सु० ११ सं० १०२८ (ऊपर १८२८ है देखो ?) शुभ सुता सिद्धति इ० हिरन का चिन्ह । (अतएव प्रतिमा शान्तिनाथ की होनी चाहिये) ।

३ नेमिनाथ—शुक्लवर्ण ७ इंच पाषाण "फागुन सुदी ३ सं० १८२८ माथे सुष (खा) साव वेदी गेंद (दा) लालजी की छोटा मन्दिर सिवनी—

१ पार्श्वनाथ—ऊँचाई १ फुट पीतवर्ण धातुमय" फागुन सु ११ (सं०) १६१६ सुखा साव ।

२ पार्श्वनाथ—पीतवर्ण ऊँचाई १ फुट धातुमय" फागुन सु० ११ (सं०) १६१६ सुखासाव

३-४ आदिनाथ—पीतवर्ण ऊँचाई ८ इंच धातुमय" फागुन सु० ११ (सं०) १६१६ सुखासाव

५ चन्द्रप्रभ—शुक्लवर्ण ऊँचाई ११ इंच पाषाण "वैशाख सु० ११ (सं०) १८२८" बाकी इबारत जैसी ऊपर नं० १ (वेदी) की दूसरी प्रतिमा में है।

६ आदिनाथ—शुक्लवर्ण ऊँचाई ११ इंच पाषाण वैसाष सु० ११ (सं०) १८२८ सुखलालजी (" " इस तरह चिन्ह हैं जिससे ऊपर की प्रतिमा की भाँति जानना सूचित होता है)।

तृतीय वेदी रोड़मल खूबचन्द जी छोटा मन्दिर सिवनी—

१ चन्द्रप्रभ—शुक्लवर्ण ऊँचाई ११ इंच पाषाण" वैसाष सु० ११ (सं०) १८२८ सुकासाव

२ मुनिसुव्रत—पीतवर्ण ऊँचाई ७½ इंच पीतलधातु" फागुन सु० ११ (सं०) १६१६ सुकासाव।

३ शीतलनाथ—पीतवर्ण ७½ इंच धातुमय" फागुन सु० ११ संवत १६१६ सुकासाव।

चतुर्थ वेदी थानसिंहजी की छोटी मन्दिर सिवनी—४ प्रतिमाएँ है—

१ पार्श्वनाथ—पीतवर्ण ८½ इंच धातुमय" फाग (गुन) सु० ११ (सं०) १६१६ सुकासाव।

२ पार्श्वनाथ—पीतवर्ण ऊँचाई (?) धातु।

३ पार्श्वनाथ—पीतवर्ण १½ फुट धातु "फागुन सु० ३ (सं०) १०२१ मनसुख साव परवार इ०।

४ पार्श्वनाथ—पीतवर्ण १ फुट धातु" फाग (गुन) सु० ११ सं० १६ (?) सुका साव इ०

वेदी बीच की चतुर्मुखी छोटे मन्दिर सिवनी में—१३ प्रतिमाएँ—

१ नेमिनाथ—शुक्लवर्ण ऊँचाई १ फुट पाषाणमय "फाग (गुन) सुदी ३ (सं०) १८२१ बलात्कारगणे इ०"।

२ पुष्पदन्त—पीतवर्ण ऊँचाई ७ इंच धातुमय "फागुन सु० ११ सं० १६१६ सुखासाव"।

३ पार्श्वनाथ—पीतवर्ण ऊँचाई ११ इंच धातुमय "फागुन सु० ११ (सं०) १६१६ सुखा साव"।

४ ५ ६ („) ऐंजन („) का चिन्ह है अर्थात् उपर्युक्त प्रकार जानना।

७ अभिनन्दन—पीतवर्ण ऊँचाई ८ इंच धातुमय "फागुन सु० ११/ १६१६ सुखा साव"

८ आदिनाथ—पीतवर्ण ऊँचाई ८ इंच धातुमय "फागुन सु० ३ (सं) १६२१ सुखासाव"

९ पुष्पदन्त—पीतवर्ण ८ इंच ऊँचाई धातुमय "फाग (गुन) सु० ११ (सं) १६१६ सुखासाव"।

१० पार्श्वनाथ—पीतवर्ण ८ इंच ऊँचाई, धातुमय "फाग (गुन) सु० ११/१६१६ सुखासाव"।

११ पार्श्वनाथ—पीतवर्ण ऊँचाई ८½ इंच धातुमय "फाग (गुन) सु० ११/१६१६ सुखासाव"।

१२ पार्श्वनाथ—पीतवर्ण ऊँचा ८½ इंच धातुमय "फाग (गुन) सु० ११/१६१६ सुखाखाव"

१३ (नाम नहीं)—पीतवर्ण ऊँचाई ६ इंच धातुमय " " "

अमरावती —

१ बड़ा मन्दिर जी भोंहरा अमरावती में दि० जैन प्रतिमाएँ—

१ पार्श्वनाथ—शुक्लवर्ण ऊँचाई ३ फुट पाषाणमय "सव (व) त ११६३ बारष (वर्षे) वसाष (वैशाख) सुद (दी) ३ श्रीमूलसंघ भट्टारष (क) जी जैन भद्रदेव साहा माणकचन्द सघही राजसघ (साघ) संघ (दो हरफ पढ़े नहीं गये संग्रहकर्त्ता से अमरोह" ।

२ अजितनाथ—शुक्ल वर्ण ऊंचाई ३ फुट पाषाणमय "संवत ११६३ बारषे वसाष सुदी ३ श्री मूलसंघ भट्टारष जी श्री जिनचन्द्रदेव साह माणकचंद संघ ही राजा सरमाघ सहर अमरोहा ।"

३ अजितनाथ—शुक्लवर्ण ऊंचाई ३ फुट पाषाणमय "संवत ११६३ बारषे वसाष सुदी ३ श्री मूलसंघ भट्टारष जी श्री जिनचंद्र देव साहा माणकचंद संघी राजा सोसाघ सहर अमरोहा ।"

४ आदिनाथ—शुक्लवर्ण ऊंचाई ३ फुट पाषाणमय "सव (त) ११६३ (६३) बारष वसाष सुद ३ श्री मूलसंघ भट्टारष जी श्री जनचन्द्रदेव साहा जी श्रीमाणकचंद संघही राजा सवसंघ सहर अमरोहा" ।

५ चौबीसी—श्वेतवर्ण ऊंचाई २½ फुट पाषाणमय "संवत ११६३ बारषे बैसा मूल, मध्य में-प सद (सुदी) ३ श्री मूलसंघ भट्टारक जी श्री जिनचन्द्रदेव साहा (पार्श्वनाथ-णकचन्द राजा सव साघ सहर अमरोहा" ।

साहित्य-समीक्षा

खोज की पगडण्डियाँ:—लेखकः मुनि श्री कान्तिसागर; प्रकाशकः भारतीय ज्ञानपीठ काशी; मूल्यः चार रुपये।

कला एवं इतिहास के शोधक श्री मुनि कान्तिसागरजी की यह गवेषणात्मक कृति है। इसके तीन विभाग हैं—ललितकला, लिपि एवं भौगोलिक और यात्रा। प्रथम विभाग में जैन और बौद्धधर्म सम्बन्धी चित्र, संगीत और स्थापत्यकलाओं का विश्लेषण किया गया है। इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि चित्रगत रेखाएँ सुस्पष्ट होकर विशेष अर्थ और गम्भीरता का वास्तविक रहस्य उपस्थित कर मानव हृदय को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं। जैन कलाकारों ने सदियों तक कागज के पृष्ठों एवं काष्ठफलकों पर अपनी धर्मगत भावनाओं को मूर्तरूप देने का आयास किया है। यद्यपि ये भावनाएँ धर्मविशेष से सम्बन्ध रखती हैं, फिर भी इनमें मानवता के उद्धारक तत्त्वों की कमी नहीं है; अतः कला को किसी धर्मविशेष के साथ जोड़ने पर भी उसमें अपनी अखण्ड व्यापक भावप्रवणता अनवच्छिन्नरूप से अनुस्यूत रहती है। उपर्युक्त मुनिजी ने कागज एवं काठ के टुकड़ों पर अंकित जैन कला की उन बारीकियों को परखा, समझा और अनुचिन्तन किया, जिन पर मानवता जीवित है। अतएव प्रथम विभाग में चौदहवीं, पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के कई ऐसे चित्रों का विश्लेषण किया है। इन चित्रों में नैतिकता सम्बन्धी उद्भावनाओं के साथ कला सम्बन्धी अनेक उद्भावनाएँ भी हैं। इस विभाग में यदि सभी चित्रों के फोटो भी दिये जाते तो इसकी उपयोगिता बढ़ जाती तथा विश्लेषण में भी कुछ विस्तार की अपेक्षा थी।

द्वितीय विभाग में कतिपय नरेशों के ताम्रपत्रों का संकलन है। मूल लेखों के साथ उनका विश्लेषणात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया है। इन ताम्रपत्रों से संस्कृति और साहित्य के सम्बन्ध में अनेक जानकारी की बातें अवगत होती हैं।

तृतीय विभाग में मुनिजी ने अपनी पैदल यात्रा में जिन प्राचीन सांस्कृतिक स्थानों का अवलोकन किया है, उनका वर्णनात्मक और कहीं-कहीं भावात्मक चित्रण भी किया है। ये स्थान हैं—नालन्दा, पाटलीपुत्र, विन्ध्याचल और मैहर। अपनी प्राकृतिक और सांस्कृतिक सुषमा के लिए इन स्थानों का गौरव महान् है। मुनिजी ने उक्त स्थानों के खण्डहरों, टीलों, गुफाओं एवं पत्थरों के ढूहों में कला के दर्शन किये हैं, यही तो सच्चे जिज्ञासु की पहचान है। उसके देखने की पद्धति साधारण व्यक्ति के देखने की पद्धति से भिन्न होती है।

प्रस्तुत कृति गवेषणात्मक है। पाटलीपुत्र का इतिहास जैनदृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। यदि इस इतिहास में प्राप्त दिगम्बर सामग्री का भी उपयोग किया जाता तो अधिक प्रामाणिकता

आती। पुस्तक अन्वेषकों कलाप्रेमियों एवं पुरातत्त्व के जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी है। छपाई-सफाई, गेट-अप आदि अच्छे हैं।

पुराणसारसंग्रह प्रथम भाग और द्वितीय भाग:—रचयिता आचार्य दामनन्दी; प्रकाशकः भारतीय ज्ञानपीठ काशी; मूल्यः प्रत्येक भाग का दो रुपये।

पुराण सदा से सामान्य एवं विशिष्ट दोनों प्रकार के व्यक्तियों को ज्ञान की सामग्री प्रदान करते आ रहे हैं, अतएव इनके अध्ययन के प्रति दोनों ही प्रकार के व्यक्तियों का झुकाव समान रूप से ही होता है। परिष्कृत मस्तिष्क वाले व्यक्ति भी पुराणों के अध्ययन से तत्त्वज्ञान और आचार की अनेक सूक्ष्म बातों से परिचित हो जाते हैं तथा पौराणिक आदर्श महानुभावों के उदात्त चरित्र का अनुकरण कर प्रत्येक व्यक्ति अपने को महान् बना सकता है। अतएव सभी धर्मों में पौराणिक साहित्य की प्रचुरता है। जैन आम्नाय में त्रेसठ शलाका—महत्तम चरित्र के धारी व्यक्तियों के जीवनों को आदर्श माना गया है; अतः चौबीस तीर्थंकरों के आदर्श जीवन को अंकित करनेवाले चौबीस पुराणों के अतिरिक्त, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण और नौ बलभद्रों के आदर्श जीवनों को अभिव्यक्त करनेवाले भी पुराण हैं। चौबीस तीर्थंकरों में से ऋषभदेव, चन्द्रप्रभ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर ऐसे तीर्थंकर हैं, जिनका जीवन सार्वजनीन रहा है। जैनेतर लेखकों ने भी इन जैन तीर्थंकरों का उल्लेख किया है तथा सार्वजनिक सेवा की दृष्टि से भी इनका जीवन अधिक उपयोगी माना गया है। अतएव आचार्य रामनन्दी ने उक्त छः तीर्थंकरों के जीवनादर्श को साररूप में अंकित करने की चेष्टा की है।

प्रथम भाग में ऋषभदेव, चन्द्रप्रभु और शान्तिनाथ इन तीन तथा द्वितीय भाग में नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर इन तीन तीर्थंकरों का उदात्त चरित्र अंकित किया गया है। इन दोनों भागों का अनुवाद श्री डा० गुलाबचन्द्रजी एम० ए०, व्याकरणाचार्य, पी-एच० डी० ने किया है। अनुवादक ने भावों की अक्षुण्णता का निर्वाह किया है तथा पौराणिक रस प्रवाह में किसी भी प्रकार की कमी नहीं आने दी है। स्वाध्याय प्रेमियों को इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से लाभ उठाना चाहिए। जो बड़े-बड़े पुराणों का स्वाध्याय करने में अधिक समय नहीं लगा सकते हैं, वे भी इस पुराणसारसंग्रह के स्वाध्याय से थोड़े ही समय में उक्त छः तीर्थंकरों के चरित्र से परिचित हो सकते हैं। पुस्तक अच्छी है, छपाई-गेट-अप आदि भी उत्तम हैं। अनुवाद की भाषा सरल और प्रवाह पूर्ण है।

धर्मशर्माभ्युदय (धर्मनाथ चरित):—सम्पादकः श्री पन्नालालजी साहित्याचार्य; प्रकाशकः भारतीय ज्ञानपीठ काशी; मूल्यः तीन रुपये।

यह एक सरस संस्कृत काव्य है। इसका हिन्दी अनुवाद साहित्याचार्यजी ने किया है। आरम्भ में प्रस्तावना है, जिसमें काव्य का स्वरूप, निर्माण के उपकरण, रसनिष्पत्ति आदि पर

सामान्यतया प्रकाश डाला गया है। पुराण के रूप में भी धर्मनाथ स्वामी के चरित्र को जाना जा सकता है। इसमें राजनीति, अर्थनीति एवं धर्मनीति का भी अच्छा निरूपण है। अनुवाद बहुत ही सुन्दर हुआ है। भावों की प्रचुरता और प्रवाहमयी भाषा इसकी विशेषता है। अध्यापक और विद्यार्थियों के लिए भी उपयोगी है।

रेडियो नाट्य शिल्पः—लेखकः श्री प्रो० सिद्धनाथ कुमार एम० ए०; प्रकाशकः भारतीय ज्ञानपीठ काशी; मूल्यः २ा।) रुपये।

'रेडियो नाट्य-शिल्प' लेखक के वर्षों के अनुभव और अध्ययन के आधार पर लिखी गई, रेडियो से प्रसारित होने वाले नाटकों के स्वरूप-विधान, कलागत विशेषताओं, उसकी सीमाओं और संभावनाओं पर प्रकाश डालने वाली पुस्तक है। पुस्तक के नाम में एक चौंका देनेवाला आकर्षण है, हिन्दी में रेडियो नाटक पर लिखी जाने वाली पुस्तकों की परम्परा में यह प्रथम श्रेय है। हिन्दी की बढ़ती हुई प्रगति का आकलन करने पर इस पुस्तक का महत्व द्रष्टव्य है।

रेडियो आज के तथाकथित जीवन का प्रमुख और अपरिहार्य अंग है। हिन्दी की समृद्धि और प्रचार में रेडियो का योग कहा नहीं जा सकता। रेडियो से आये दिन हिन्दी के नाटक प्रसारित होते रहते हैं पर हम उनको केवल सुन मात्र लेते हैं। रेडियो नाटक पर विषय और विधान की दृष्टि से विचार की प्रतीति हो रही थी और यह पुस्तक अच्छे समय पर आकर उस पर कुछ कह गई। इसके कहने में अध्ययन और अनुभव की सच्चाई है, विषय को समझने और समझाने की क्षमता है और इसलिये पुस्तक अभिनन्दनीय और प्रयास स्तुत्य है। हिन्दी में पुस्तक का समादर होगा, ऐसा मैं मानता हूँ। लेखक की सरल और जन सामान्य भाषा के प्रयोग से उसकी प्रौढ़ता और प्रभविष्णुता के प्रति हमारा एक विश्वास जगता है। पर इतना कुछ कह देना ही 'बहुत कुछ' नहीं होगा।

'रेडियो-नाटक' किसी लेख या पुस्तकीय ज्ञान के आधार पर लिखा जानेवाला, विषय नहीं, व्यवहारिक ज्ञान की सफाई है। यह हिन्दी में एक नया प्रयोग है और अभी यह प्रयोग की अवस्थाओं से ही गुजर रहा है। किसी सीमा तक इसमें हमने प्रौढ़ता प्राप्त कर ली है—ऐसा हम नहीं कह सकते। इस परिस्थिति में ऐसे विषय का प्रतिपादन एक व्यापक दृष्टिकोण चाहता है और साथ ही एक अपरिपक्व वस्तु को परिपक्व करने का निश्चय भी। ऐसे विषय को निश्चित सीमाओं, शीर्षकों के भीतर कह देना, उस परिस्थिति में जब कि 'टेकनीक' नई है, एक संकीर्णता है। स्वयं 'रेडियो नाट्य' नामकरण और अन्यत्र भी हमें लेखक में स्वतंत्र और भारतीय धारणाओं को न पाकर एक भटकने की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। 'रेडियो नाटक' के लिये क्या हिन्दी में पहले से कुछ भी उपादान उपलब्ध नहीं? क्या सबों का विदेशी उद्गम ही खोजना होगा?

पुस्तक में इसीलिये हम लेखक से अधिक इसके विषय से प्रभावित होते हैं, उसके व्यापक और अनुभव सम्पन्न अध्ययन से प्रभावित होते हैं, उसके दृष्टिकोण से कम। इसे हम लेखक की सफलता कहें या असफलता? लेखक अपना क्या दे पाया है यह हमें कहीं नहीं मिला; कहाँ से और कैसे दे पाया यही हमारे अध्ययन का केन्द्र हो जाता है।

विषय के प्रतिपादन में वैधानिकता और सरलता है। वास्तव में लेखक रेडियो नाटक का एक विस्तृत और सारगर्भित अध्ययन तो देता ही है और साथ आगे के अध्ययन (Further study) की सामग्री भी। विषय का प्रतिपादन वैज्ञानिक और सीधा है। दुरूहता कहीं नहीं है। कुछ कहने के लिये मत संग्रह करने की प्रवृत्ति अधिक है, आलोचना की कम। अपने और दूसरों के उदाहरण नहीं रहते तो पुस्तक अपूर्ण ही समझी जाती। उदाहरण काफी सटीक और नाटक की रूप रेखाओं को व्यक्त करनेवाले हैं। लेखक का यह पूर्वाग्रह कि मंजे नाटककार ही इसमें 'रेडियो-नाटक' लिखने की प्रेरणा पाने और लिखने के अधिकारी हैं। अपने अविश्वास को व्यक्त करना है। यह पुस्तक 'रेडियो-नाटक' लिखनेवाले नये नाटककारों को निश्चित रूप से जन्म दे सकती है, प्रवृत्ति तो जगा ही सकती है। लेखक की इस कृति से संतोष और एक आस्था है। गेट-अप सुरुचिपूर्ण है।

नेमिचन्द्र शास्त्री,

शरत् के नारी पात्रः—लेखकः श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी; प्रकाशकः भारतीय ज्ञानपीठ काशी।

उपन्यासकार शरत् की आलोचना का प्रमुख केन्द्र उनके नारी पात्रों की विविधता और जीवन की प्रत्येक दशाओं में नारी चरित्रों की निर्मलता, स्पष्टता और साथ ही उनकी न्यूनता और कलुषता भी है। शरत् नारी-जीवन के व्यवस्थापक के रूप में विश्व-साहित्य में अमर हैं।

प्रस्तुत पुस्तक 'शरत् के नारी पात्र' शरत् के समस्त नारी पात्रों पर विधिवत और वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करती है। चरित्र-चित्रण की भारतीय पद्धति, चरित्रों में भारतीय आशाकांक्षाओं का विकास, नारी-जीवन की शाश्वत और रूढ़िग्रस्त समस्याओं पर प्रकाश—ये कुछ शरत् की ऐसी विशेषताएँ और व्यापकताएं हैं जिनके कारण शरत् बंगला के ही न होकर समस्त इतर भारतीय साहित्य की निधि हो गए हैं। और इसीलिये हिन्दी कथा साहित्य पर भी उनका प्रभाव स्पष्ट है न जाने कितने हिन्दी के उपन्यासकारों को शरत् की कला ने बहुत दूर तक प्रभावित और विकसित किया है। शरत् इसीलिये हिन्दी की आलोचना के विषय हैं और इस प्रकार लेखक का उपर्युक्त प्रयास हमें संकीर्णताओं और पक्षपातों से ऊपर उठाकर सम्यक स्वच्छन्द आलोचना की एक व्यापक चेतना-भूमि में ले जाता है। शायद यही कारण है शरत् के नारी पात्रों का अध्ययन व्याख्यात्मक और विश्लेषणात्मक ढंग से हो पाया है। हिन्दी को इससे बल प्राप्त होगा।

नारी-पात्रों को जुटाने और उनकी प्रकृत विशेषताओं और न्यूनताओं को पढ़ने में लेखक का परिश्रम स्पष्ट है। सम्पूर्ण अध्ययन काल में लेखक की एक ही विचार धारा रही है—नारी पात्रों का स्वतंत्र विश्लेषण। किसी एक पात्र का दूसरे से समझौता नहीं है और इसीलिये अलग अलग पुस्तकों को लेकर उनके नारी पात्रों को परखा गया है। इससे पुस्तक में वैज्ञानिक आलोचना को पूरा-पूरा प्रश्रय और स्वतंत्र धारणाओं की स्थापना का अवकाश मिला है। शरत् के नारी पात्रों का चरित्र-चित्रण अपने आप में स्पष्ट है और पुनः लेखक भी उनका चरित्र चित्रण करने लग जाता है। इसलिये दृष्टि अत्र-तत्र आलोचना और अध्ययन से हटकर चरित्र-चित्रण की ओर चली गई है। किसी एक पात्र को जानने के बाद उसका चरित्र क्या है पाया और कैसा दिया—यह नहीं पता चलता। अध्ययन क्रम में शरत् की कला और नारी सम्बन्धी उनकी साधारण विचार-भूमिका का भी उद्घाटन होता चलता है जिससे पुस्तक विशेष महत्त्व की हो जाती है। शरत् साहित्य का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियों के लिये ये सब बातें परीक्षोपयोगी भी हो सकती हैं।

जैसा कि पता चलता है लेखक का प्रवेश अभी हिन्दी समीक्षा में नया है। निश्चय ही इनके नयापन में एक प्रौढ़ दृष्टि और जागरूक शैली है। लेखक की प्रतिभा में आकर्षण और गहराई है। वह साफ साफ लिखना जानता है, कहीं विषमता के दर्शन नहीं होते। लेखक कितनी प्रतिष्ठा पाने का अधिकारी है यह अभी आगे की उसकी समीक्षा कृतियाँ निश्चित करेंगी।

शरत् के नारी पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन नहीं होने से—टकराने से जो बिजली निकलती है, तो प्रकाश और निखार आती है, उसके दर्शन नहीं हो पाते। नारी पात्रों की तुलना विश्व के किसी भी श्रेष्ठ उपन्यासकार के नारी-पात्रों से हो सकती थी। पर ऐसा क्या समझकर नहीं किया गया है—यह हमें नहीं पता चला। अध्ययन इसीलिये सीमित और अपने विषय और प्रतिपादन पर ही केन्द्रित हुआ सा लगता है। लेखक की कला पर हमारा विश्वास है, उसके व्यापक अध्ययन पर नहीं।

छपाई और गेट-अप में यह पुस्तक भी ज्ञानपीठ की विशिष्ट परम्परा का अपवाद नहीं।

श्रीराम तिवारी बी. ए. (हिन्दी ऑनर्स)

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XX DECEMBER, 1954. No II

Edited by

Prof. A. N. Upadhya, M. A., D. Litt.
Prof. Jyoti Prasad Jain, M. A., LL. B.
Sri, Kamata Prasad Jain, M. R. A. S., D. L.
Pt. K. Bhujbali Shastri, Vidyabhushan.
Pt. Nemi Chandra Shastri, Jyotisacharya

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH BIHAR, INDIA.

Annual Inland Rs. 3. Single Copy Rs. 1/8

CONTENTS

Om

THE JAINA ANTIQUARY

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "

[अकलंकदेव]

Vol. XX
No. II

ARRAH (INDIA)

DECEMBER
1954

PŪJYAPĀDA OF THE CHĀLUKYAN RECORDS.

By
Prof. Jyoti Prasad Jain, M. A., LL. B

(*Continued from Vol. XIX No. I, p. 20.*)

Besides the above mentioned differences, we have another piece of evidence which clearly proves that this Pūjyapāda of the Chalukyan records was a celebrity quite distinct and different from Devanandi Pūjyapāda.

Swami Virasena in his monumental work, the Dhavala commentary (completed in 780 A. D.,[1] of the Saṭa-Khaṇḍāgama Sidhānta, a branch of the Digambara canon, quoting an older authority in one place states 'So says Pūjyapāda in Sāra-Sangraha" (सारसंग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादैः)[2]; and in another place quoting from another older work which he calls by the name of Tatwārtha-Bhāsya, he says that "Pūjyapāda Bhattaraka has said so" (पूज्यपादभट्टारकैरप्यभाणि).[3]

With regard to the first of these allusions, Prof. Hira Lal, in his introduction to the Dhavala, thinks that the Pūjyapāda alluded to is Devanandi Pujyapada and that the quotation is probably from some

1 See my articles—Anekant-VII, 11-12 pp 207-214 and Jaina Antiquary —XV, ii, and XII, i.

2. Sata-Khandagama—Dhavala Tika (Amraoti), p. 700.

3. *Ibid*, Pt. I, vol. I, Introduction pp 60-61.

work of the name of Sāra-Sangraha written by him, which, however, does not now exist.[4] Devanandi's Sarvārtha-Siddhi is a Bhāṣya or commentary, probably the first and the earliest one, on the Tatwāthadhigama-Sutra of Umā-swāmin; but the second of the above two quotations is no where to be found in it. It has been, however, traced to the Tatwārtha-Rājavārtika of Aklaṅka Deva, which is another Tatwārtha-bhāṣya and is admittedly later than the Sarvārthasiddhi of Devanaṇdi. Hence Prof. Hira Lal too does not seem to have any doubt as to the latter reference pointing to Aklaṅka and his Tatwartha Rajavartika [5]

The editors of the Jayadhavala, a commentary on the Kaṣāya-Pāhuḍa, another brănch of the Digambara canon, which had been begun by Virsena whom death prevented from completing it and which was completed later on by his disciple Jinasena in 837 A D., are of opinion that both these allusions by Virsena point to Aklaṅka and not to Devanandi.[6]

The quotation from Sārasangraha deals with Nyaya or logic, and Devanandi is known to have written neither any 'Sarasangraha' nor any other work expressly on the subject of Nyaya, whereas practically all the works and writings of Aklaṅka deal with Nyaya. He was, in fact, the founder of the Jaina school of logic, and it appears from the nature of the quotation that it may have belonged to his Pramāṇa-sāra-sangraha which is definitely known to have existed[7]. About the other quotation, there is no doubt as to its being from the Tatwartharajavartika of Aklaṃka, and Virasena has quoted from the same work in several places as well and always under the name of Tatwarthabhasya. Moreover, he has quoted the portions in question evidently as personal views of the author. Virasena who had the unique reputation of being the greatest master and reader of all the availa ble literature in his times could not have committed the

4 *Ibid*. Pt J. K. Mukhtar (Introd. to Samadhi tantra) also holds the same view

5. *Ibid*.

6. Jayadhavala, vol. I, Introd p. 34 (Benares ed.)

7. Anantavirya (8th century A D.) is known to have written a commentary on this work, and he also mentions this work in his Sidhavinisehaya—Tika, a commentary on another work of Aklamka. Recently a Ms. of the work is also said to have been discovered, but it is not yet published.

mistake of identifying Aklamka with Devanandi. He is so authentic, scrupulous, precise and exact in all his statements, and he quotes numerous authorities. that for him tohave made such a confusion of identities seems highly improbable Virsena nowhere mentions Devanandi by the term Pūjyapāda nor does he mention Aklamka by his origin al name. The epithet, Bhattaraka has also been never used for Devanandi whereas Aklamka has often been given this title, though purely out of respect and not because he was a regular Bhattaraka like those of later times. In fact, the word Bhaṭṭa was a part of his name.[8] Therefore, there remains no doubt that the Pujyapada of Virasena is Aklaṃka, the first Jaina celebirity of that name, whose full name was Bhatta-Aklamka-Deva, who was a master logician and was the author of Tatwartharajavartika, Aṣṭa-Śati, Laghiyastrya, Nyāyavinischaya, Sidhavinischaya, Pramāṇa-sarasangraha etc. and that by the Tatwartha Bhasya Virasena meant the Tatwatharajavartika and by Sarasangraha the Pramana or Pramāna-Sarasangraha of that author. Moreover, it is obvious by the manner in which Virsena mentions Aklaṃka, that is, using merely his respectful surname and not his original name, that the memory of Aklamka was yet fresh in the age of Virsena (circa 720-790 A. D.) and that not a very long time had elopsed since his death.

We have seen that this Aklaṃka belonged to the Dēvagaṇa. He was rather the first great known Guru of that Sangha which began to be mentioned soon after him. As a matter of fact, although the original division into the four Sanghas or gaṇas—the Nandi, Deva, Siṃha and Sena, of the Mula Digambara Sangha had taken place in the first century A. D. at a conference held under the chairmanship of Acharya Arhadbali[9], the Jaina Gurus prior to Aklaṃka's times very rarely used with their names the names of their respective Sangha, gaṇa etc. But from his times onwards this became a general practice. This is why certain writers and inscriptions of the later mediaeval times even asserted that the division into the four Sangras took place in Aklamka's times, and which assertion has

8. See my paper 'King Himasitala of the Aklamka Tradition.'

9. J. S. B., I, 4, p. 74—Pattavali of Nandi Samgha.

considerably confused and misled some modern scholars.[10]

There is also enough evidence to show that Aklamka was also a great grammarian, atleast he was highly proficient in that branch of learning as well. Atharvanācarya, the author of the Telegu grammar, Tri-liṅga-śabdānuśāsana mentions in his Vikrata-viveka (13th century A. D) the name of Aklaṃka in between Pūjyapāda and Hemachandra as a great Jaina grammarian of old.[11] The author of Karṇāṭaka-sabdanusana who was Aklaṃka's own namesake and was a famous Bhaṭṭāraka of Haduvalli in South Canara in the 16th century A. D, was in the words of Dr. Keilhorn 'evidently a profound grammarian.' He also mentions Aklaṃka I as an ancient authority on grammar and quotes a verse from some work of his on that subject.[12] As early as 783 A. D., Jinasena Punnāṭa-sanghi in his Harivaṃśa Purāṇa alludes to some 'Dēva of Dēva-saṃgha who was the master of the works of famous grammarians like Indra, Chandra, Jainēndra etc.'[13] By Jainendra is evidently meant Pūjyapāda Dēvanandi, the author of the Jainendra Vyākarana. It is, therefore, quite clear that the 'Deva' alluded to in the Harivaṃśa belonged to the Devasamgha, was highly proficient in grammar and was a person quite different from and later than Devanandi Pūjyapāda. Now Deva is another such term which has been equally applied both to Devanandi and Aklaṃka by different later writers, and which is yet another source of confusion between their identities. Aklaṃka's own commentator, Anantavīrya (8th century A. D.) in his Siddha-viniśchaya vivaraṇa alludes to Aklaṃka simply by the term Deva. He was probably Aklaṃka's first important commentator as he is alluded to both by Vadirāja and Prabhāchandra both of whom belonged to the 11th century A D. and are well known commentators of Aklamka's works And since his another early and equally important commentator, Vidyānandi (775-825 A. D.)[14] neither alludes to nor is alluded to by Anantavirya, both of them

---

10. Cf. Dr. B. A. Saltore—Med. Jainism p. 235.
11. J. G., Sep. Oct. 1923, pp. 217-232.
12. *Ibid.*
13. Harivamsa, Sarga I, verse 31.
14. Cf. My article on that author in Anekant, X, no. 7-8, pp. 274-288

seem to have been more or less contemporaries. This is the same Anantavirya who also wrote a commentary on Aklamka's Pramāṇa-sārasangraha. No wonder that Jinasena I who also lived just at that time (i. e. 783 A. D.) mentioned Aklaṃka merely by the respectful term Deva and that his Deva of Devasaṃgha is none else but Bhaṭṭa-Aklankadeva. Vadirāja in his Nyāyavinischayavivaraṇa and his Pārśwa-charita also mentions Aklamka by the name of Deva only, and in the latter allusion he also refers to Aklamka's great proficiency in the science of grammar.

That Aklaṃka was a Mahārāṣṭrian is supported by the oldest traditions relating to him. The earliest available version of the Kathākoṣa tradition is found in the 'Ārādhanā-sata kathā prabandha' of Prabhāchaṇdra (980-1065 A. D) who is also a well-known commentator of Aklaṃka. And there is reason to believe that the basis of this work was another and older Kathākoṣa. According to this work of Prabhachandra, Aklaṃka was a native of Mahārāṣṭra.[15] He was in fact, as we have already seen, a resident of Alkatakanagar, modern Altem, in the Chalukyan Territory.[16] According to Aklaṃka's own statement his father was some prince of the name of Laghuhavva[17] who might have been a chieftain of Pulkesin II. Devachandra (1838 A D), no doubt, in his Rajavalikathe associates Aklaṃka with Kanchi and the Tamil country or Southern Canara. But his statement is quite erroneous and is a result of confusing Aklaṃka I with his above-mentioned namesake of the 16th century, the Bhattaraka of Haduvalli in South Canara. In the case of Aklaṃka, Devachandra has made a confusion of several different and even unconnected traditions.

From the beginning of the 6th to the middle of the 8th century A. D., the Western Chalukyas of Vātāpi (Bādāmi) ruled over Mahārāṣṭra. They were superseded by the Rāṣṭrakūṭas of Mānyakhēṭa who held their sway over this territory till about the end of the 10th century A D Virasena's headquarters were at Vāṭanagar near Nasik and the older Chalukyan centres, Badami, Ajanta, Aihole,

15. Brahma Nemidatta in his Kathakosa also says the same thing.
16. J. A., XII p. 19-21.
17. Tatwartharajavartika, Ch. I, last verse—'लघु हव्व नृपति वर तनयः'

Altem etc. were situated in the same country and nor far from that place. Hence if Aklamka's own disciples referred to above in the above mentioned Chalukyan records, and who were more or less contemporaries of Vīrsena, called him by the respectful term Pujyapada, it should not be strange for Virsena to follow the same practice. Similarly, if his near and remote disciples and commentators could remember him by another such term, namely Devendra Bhattaraka or simply Deva, the author of the Harivaṃśa did nothing strange in doing the samething It is quite natural that in his native country where his fame and name were still quite fresh, he was often called and remembered by merely such titles of respect. Although in Aklaṃka's case, unlike Devanandi, the title Pūjyapāda indicates no yogic or mystic significance or tradition, nor was the title Deva an abbreviation of the original name.

As to the date of this Pujyapada Bhatta-Aklamka Deva, we know that—

(1) He is mentioned by Virsena in his Dhavala (780 A. D.) and by Jinasena I in his Harivamsa (783 A. D.)

(2) His earliest known commentators and admirers, Anantvīrya and Vidyanandi belonged to the 8th century A D.

(3) Dhananjaya in his Nāmamālā from which Virsena quotes a verse, mentions Pūjyapāda (Devanandi) and Aklaṃka as quite two distinct persons.[18]

(4) Vimalachandra alias Parvādimalla was the disciple of Puṣpasena Muni who was a junior colleague of Aklamka. This Vimalachandra was a great disputant and is known to have visited the court of Raṣtrakūṭa Kṛṣna I Śatrubhayankara (756-772 A. D.)[19] He is also mentioned by Vidyanandi (775-825 A. D.) and seems to be the same person as Vadibhasimha, the author of Kshatrachudamani etc.

(5) The Chalukyan records show that Aklamka's desciples and grand disciples were living between 680 to 733 A. D.

(6) Haribhadrasuri (700-770 A D.), an eminent Swetambara guru and author of Mewar side, exhibits Aklaṃka's influence and

18. प्रमाणमकलङ्कस्य etc.

19. E. C. II, 67, pp 27-28, also Med. J. p. 36. It is quite probable that the Satrubhayankara alluded to might have been a predecessor of Kriśna I.

even describes the latters views by the name of 'Aklaṃka Nyāya'. His contemporary, Sidhasena-guṇi in his own commentāry of the Tattwarthabhāṣya, which is also the first Swetambara commentary on the Tatwarthadhigama-Sutra of Umāswāmin, mentions the Siddhi-vinisehaya, an important and still available work of Aklaṃka.

(7) Jinadasagani-Mahattara wrote his churnis on the Niśītha Sutra and the Nandi Sutra. The Churni on the latter was written in Saka 598 (i. e A. D. 676), and from this work the above mentioned Haribhadra has also largely quoted. In his Nisitha Churni this Jinadas mentions Aklamka's Siddhaviniśchaya and praises it as a 'Prabhavaka-sastra.'

(8) A comparative study of the works of Bharthari (590-650 A. D), Kumarila Bhatta and Dharmakirti (600-660 A.D.) with those of Aklaṃka clearly shows that all these great logicians of different schools must have been more or less contemporaries. From this Pt Kailash Chand Sastri concludes that Aklaṃka must have lived between 620 680 A. D.[20]

(9) Dr. D. C Sirkar places Aklaṃka in Saka 600 or A D. 678, while Prof. Srikantha Sastri places him in 645 A. D.[21]

(10) A very old Jaina tradition gives the date of Aklaṃka's famous dispute with the Budhists as Vik S. 700 or A. D. 643.

(11) Tradition associates Aklaṃka with a king named Himaśitala in whose court that famous dispute was held, and another king styled as Sāhasatunga to whom, in full court, Aklaṃka gave an account of his achievements and of the above mentioned victory. We have elsewhere discounted the theories hitherto held by practically all the scholars with regard to the identities of these two monarchs and have established that the said Himasitala was none else but the king of Kalinga and Kosala at the time of Hiuen Tsang's visit to that country in 640 A. D , and that the Sāhastunga in question was the Western Chalukyan emperor Vikramaditya I (642-680 A D.), the son and successor of Pulkesin II.

From the above facts it is. therefore, quite clear that Pujyapada Bhatta-Aklamka-deva certainly lived about the middle of the 7th

20. Nyaya Kumud Chandra, Pt. I, Introd.

21. Annals BORI. XII, 3, p. 255.

century A. D., that his date cannot be taken beyond 775 A. D. He must have been a well reputed scholar and atleast in his middle age at the time of that dispute in 643 A. D. considering the number and voluminousness of his works and his activities as a great disputant as well as organiser of his order of disciples, he must have attained an age of atleast 75. His date may, therefore, tentatively be fixed as 600 675 A. D.

VIDYANANDA.

By

Dr. S. Srikantha Sastri, M.A., D. Litt.

In my article on "Vidyānanda and Śaṃkara Mata" in the Annals, B. O. R. I. XII, 1937, p. 253, I had pointed out that the Mallishena Prasásti at Śravaṇa Beḷagola mentions one Pātrakesari, the author of a work on Trilakṣaṇa, as the disciple of Vajranandi, the author of Nava Stotra. The praśasti after mentioning Bhadrabāhu and Candragupta, gives the parampara thus: Kuṇḍakunda, Samantabhadra, Simhanandi, Vakragrīva who lectured on the word "atha" for six months; Vajranandi of Nava Stotra; then Patrakesari.

महिमा स पात्रकेसरिगुरोः परं भवति यय भक्त्यासीत् ।
पद्मावतीसहायाम्त्रिलक्षणकदर्थनं कर्तुम् ॥

(*Sources of Karṇāṭaka History*, I. p. 190)

Then follow the names of Sumati of Saptaka, Kumāra Sena, Cintāmaṇi, Cūḍāmaṇi, Śrīvardha Deva praised by Daṇḍin (660 A.D.), Maheśvara muni, Akalanka and Puṣpasena. This Puṣpasena was the contemporary of Śri Vikrama, probably the Ganga King, whose date has been recently fixed definitely by me as 608 A. D. to C. 679 A. D. (The Gangas of Talakāḍ, *Journal of the Mythic Society*, XLIV, p. 117-137.)

श्रीपुष्पसेन मुनिरेव वदं महिम्नो देवस्य यस्य समभून्सभवान् सधर्मा ।
श्रीविक्रमस्य भवनं ननु पद्ममेव पुष्पेपुमित्रमिह यस्य सहस्रधामा ॥

Puṣpasena was the sadharma of Deva (Akalanka) This reference incidentally throws light on the date of Akalanka.

विक्रमार्क शकाब्दीये शतसप्तप्रमा जुषि ।
कालेऽकलंक यतिनो बौद्धैर्वदो महानभून् ॥

Paṇḍita Mahendra Kumāra Śāstri in the Preface to *Nyāya Kumuda Candra*, takes it as Śaka 700 and assigns Akalanka to 720-780 A. D. But his phrase "विक्रमार्क शकाब्दका शकसंवत्" is misleading. A more natural interpretation as Vikrama Samvat 700 (A. D. 642) has been suggested by me elsewhere and this agrees with the date of Ganga Śrī Vikrama, whose contemporaries were Akalanka and Puṣpa sena. As regards the reference to the date of Vīrasena's Dhavaḷā Ṭīkā, I have discussed the date in the article on Bhūvalaya

(*A. R. Krishṇa Śāstri Memorial Volume*, in Kannaḍa). The Mallisheṇa Praśasti after Akalanka and Puṣpasena, praises Vimala candra.

> विमलचन्द्र गुरोर्गुरुप्रशमिताखिल वादिमदं पदम् ।
> यदि यथावद् वैष्णवपन्डितै ननु तदान्ववदिष्यत वाविभोः ॥
> पत्रं शत्रुभयंकरोरु भवनद्वारे सदा संचरन् ।
> नानाराजकरीन्द्रवृन्द तुरगव्राताकुले स्थापितं ।
> शैवान् पाशुपतान् तथागतसुतान् कापालिकान् कापिलान् ।
> उद्दिश्योद्धत चेतसा विमलचन्द्राशाम्बरेणादरात् ॥

I had pointed out that the first Pātrakesari is nearly seven generations earlier than Vimala candra whom I had assigned to C. 720 A. D. soon after Akalanka. One Vimala candra is mentioned in the Devara halli grant of Śrīpurusha (E. C. IV. p. 233). Vimala candra was the disciple of Kīrtinandi, the disciple of Kumāranandin, who was the pupil of Candranandin of the Pulikala branch of Eragittur Gaccha, Nandi Sangha, at Śrīpura. This Vimala candra received a grant from Śrīpurusha in Ś. 698 (776 A D.). Vidyānanda in Patra parīksha (p. 3) quotes Kumāranandin. In the Paṭṭāvaḷi of the Balātkāra gaṇa of the Nandi Sangha, Kumāranandi is mentioned after Vajranandi and Tārkika Maheśvara and before Lokendu and Prabhācandra, (*Sources* Vol. I. p. 212.)

Can Vidyānanda or Vidyānandin be identified with Vimalacandra? Pātrakesari was a title and if the Mallisheṇa Praśasti can be trusted, the first Pātrakesari was specially associated with Trilakṣaṇa Hetuvāda. So also in the Ārādhana Kathākośa of Prabhācandra and Brahmanemidatta (16th century), it is said that a Brāhmaṇa of Ahichatra in Magadha had doubts about Syādvāda, which were dispelled by the goddess Padmāvati thus :

> अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।
> नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र न तत्र त्रयेण किम् ॥

(*Kathākośa.* st. 18-55)

This was the reply to the Pakṣa, Sapakṣa and Vipakṣa syllogism of Dharmakīrti (C. 600 A. D) Śāntarakṣita (C. 705-760 A. D) and his pupil Kamalaśīla refer to this in Tattva Saṁgraha (Kārika 1364 p. 405) and try to refute Vidyānanda. Vidyānanda has the same verse in Tattvārtha Śloka Vārtika (p. 203. st 278). It is therefore clear that Vidyānanda cannot be earlier than the Buddhist logicians

Dinnāga and Dharmakīrti (C. 600 A. D.) and not later than Sāntarakṣita (C. 750 A. D.)

Vidyānanda refers to Mānyakheta in his Tattvārtha Śloka Vārtika (IV, Sutra 13, p. 376, v. 13.)

उर्ध्वा धो भ्रमणं सर्वज्योतिषां ध्रुवतारका: ।
मुक्त्वा भूगोलकादेवं प्राहु र्भू भ्रमवादिन: ॥

....किं पुनः भूगोळमध्यम् ? उज्जयनीति चेत्नततो गंगासिन्ध्वादीनाम् प्रभवः समुपलभ्यते । .... स्वसिद्धान्तपरित्यागश्च उज्जयिनी मध्यवादिनाम् । ....शक्यंहिवक्तुं लंकाभूमेरीदृशीशक्ति येना मध्याह्ने ऽल्प छाया, मान्यखेटादुत्तर भूमेस्तु तादृशी यतस्ता ऽधिष्ठित तारतम्य भा छाया....

Mānyakheṭa was not founded in the time of Govinda III as asserted by Fleet. Govinda III sometime before 803 A. D. ordered the lord of Vengi (probably Vijayāditya II) to build the outer walls of the city or clean the royal stables according to another interpretation. Mānyapura named after the founder of the dynasty Mānānka, was the capital of several Rāṣtrakūṭa families from about the sixth century. Several places were named Manyapura. Dantidurga (754 A D.) who brought the imperial family, of the Rāṣṭrakūṭas to prominance must have made his ancestral city Mānya Kheṭa the capital and Govinda III extended it further.

Vidyānanda refers to Maṇḍana by name in Aṣṭasāhasrī and also alludes to Maṇḍana's works Bhāvanā Viveka and Vidhiviveka, Maṇḍana in his Brahma Siddhi has clearly criticised Śankarācārya's view of gṛhasthāśrama. Vidyānanda seems to distinguish between Maṇḍana and Surēśvara and quotes Sureśvaraś Bṛhadāraṇya Vārtika separately. Sāntarakṣita (C. 705-750) having referred to all these as recognised authorities in their respective darśanas, we are compelled to assign Śankara to about 620 A. D. and not to 788-820 A.D. as I have pointed out elsewhere (*Sources*, Vol. I). Vimalacandra on the other hand should have lived in the last days of Śrīpuruṣa (Devarahaḷḷi plates, 776 A. D.) and in the time of Saigoṭṭa Śivamāra II, his brother Vijayāditya and Vijayāditya's son Satyavākya Rāca malla (I). Sri Kamta Prasad Jain, Mahendra Kumara Sastri, Darbari Lal Koṭhiya have pointed out that Āpta Parīkṣhā, Pramāṇa parīkshā, Yuktyanuśāsanāḷamkāra refer to Satyavākya and Vijaya (Rācamalla I and his father Vijayāditya). These works along with Satyaśāsana Parīkṣā may be the later works of Vimalacandra. Śri Darbarilal

Koṭhiya also refers to Śrīpura Pārśvanātha Stotra, on the god of Śrīpura. Vimalacandra according to the Devarahalli plates, belonged to the Erigittur gaccha of Nandi Sangha at Śrīpura, In the praśasti of Tattvārtha Śloka vārtika, a reference to *"Śiva sudhā dhārāvadhāna prabhuh....sanmārgah"* is supposed to indicate Śiva-Mārga or Śiva Māra Saigoṭṭa, the elder son of Śripuruṣa, According to the Humcha inscription Saigoṭṭa Śivamāra was the author of a work called Śivamāra mata and a Gajāṣṭaka in Kannada, Śiva māra's son Yuvarāja Mārasimha issued the Ālur plates in Ś. 721, Śrāvaṇa Paurṇima, Monday, Dhaniṣṭha nakṣatra, Lunar celipse (July 8th. Monday, 799 A. D.) in his own third year. Probably in 796 A D. Sivamāra had crowned his son Mārasimha as Yuvarāja. In this Ālur grant (*M A. R* 1928. p. 80) we are told that Śivamāra II was proficient in the works of Phaṇisuta (Pāṇini), Hastinīvaktrōdbhava (Pālakāpya), Turangāgama, Gajadanta kalpāgama, Sāmatantra, Pramāṇa Śāstra, Nāṭaka etc. and composed Setu bandha for the delight of scholars. He was also like Makaradhvaja (Manmatha) and his guru was Makaradhvaja (*makaradhvaja guru caraṇa saroja vinamana pavitrottamāngah*). At Muḍagunḍūr Śivamāra defeated the army of the Vallabha (Rāṣṭrakūṭa emperor) which included Rāṣṭrakūṭa, Cāḷukya and Haihaya heroes, He dispersed the cavalry of Dhora (Dhruva Nirupama). Śivamāra was placed on the throne by the kings Rāṣṭrakūṭa Govinda rāya and Pallava Nandivarma. He had the titles Mahārājādhirāja, Parmeśvara, His son Yuvarāja Māra simha Loka triṇetra Mānasena was in Mānyapura (Manne) and granted the village Koṭṭambi in Mānya viṣaya in Ś. 721 (799 A. D)

Dhruva Nirupama (775-793 A. D.) had imprisoned Sivamāra, When Govinda III come to the throne in 793 A. D. he had released Śivamāra and sent him to the Ganga country The last date for Nandivarma Pallava, who along with Govinda, restored Śivamāra, being 798-9 A. D. (a year before the Alur grant), we may assume that Śivamāra's return to the Ganga territory was about three years before the Alur grant, i e. about 796 A. D. Śivamāra's accession took place in about 788-9 A. D. (the last date for Śrīpuruṣa). Between 789 and 793 A. D. (the last date for Dhruva) he revolted and was imprisoned until he was released by Govinda in 796 A. D. During this period and also later when Govinda again defeated and imprisoned

him, his younger brother Vijayāditya looked after the Ganga kingdom, like Bharata in Rāma's absence. (Gaṭṭavāḍipura and Kūḍalur grants). The Islampur grant of Vijayāditya (*E. I.* XII. p. 48) has been declared to be spurious by Sten Konow. But his name occurs in the Asandi inscription (E. C. VI. Kd 145). Vijayāditya had the title Raṇa Vikrama. According to the Keregode Rangapura plates of Rājamalla II (Sources Vol. I.) Vijayāditya recovered the kingdom which had been lost by Śivamāra, His son Rāchamalla Satyavākya (I) opposed Bankēśa, the general of Amoghavarṣa. (*Yasmin Bankeśa lēśam bhuvana guru bharam Satyavākyē dadhāti.ē*-Keregoḍē Rangapura plates. If Vidyānanda is made the contemporary of Saigoṭṭa Śivamāra II, Vijayāditya and Satyavākya Rāchamalla (I) he must have lived from at least 780 A. D to about 850 A. D. He would thus be the contemporary of Vīrasena, Jayasena I of Harivanśa, Jayasena II of Ādipurāṇa and other great scholars of the time of Amoghavarṣa Nṛpatunga. The recently discovered work of Kumudendu called Bhūvalaya was also expounded in the court of Amoghavarṣa. Kumudendu mentions Vīrasena and Jinasena as his gurus, and has clearly followed the Dhavaḷā Ṭika and Ādipurāṇa. Kumudendu mentions also Goṭṭiga (Saigoṭṭa Śivamāra) and describes the glory of Kuvaḷala (Kolar), Kaḷ bappu (Śravana Beḷagoḷa) and Nandi (in Kolar District). Kumudēndu is supposed to have been a native of the village "Yelava-(ḷḷi)" near Nandi.

> Bhārata dēśadamogha varṣana rājya sārasvata vembanga ।
> Tānalli Mānyakhēṭada dore jinabhakta tānu Amoghavarṣānka ॥
> (*Siri Bhūvalaya* 8, 126, 9, 146).
> Mahadādi Gāngeya pūjya । Mahiya Gangarasara gaṇita ।
> Mahiya Kaḷvappu Kovaḷalā । Mahavira Talakāce Ganga ।
> (Siri Bhūvalaya, 8. 66-72).

Regarding Vīrasen's date, the verses "Aṭṭhattīsamhi" etc, have different readings in the Amraoti and Nirnayasāgar editions of the Dhavaḷa Ṭikā, Śri Hiralal equates the date with Śālivāhana Śaka 738 (October 8th, 816 A. D.) though Vikrama Rāya is clearly mentioned. Sri J. P. Jaina (*Jaina Antiquary.* Vol XV. January 1949) takes it as Vikrama Samvat 838 (780 A. D. Kārtika Śuddha 13, Monday, 8th October ?) but as I have shown elsewhere (A. R. Krishṇa Śāstri Volume), the positions of the planets mentioned by Vīrasena do not

exactly tally with either of these two dates, though the later date 816 A. D. seems to be more probable, Jinasena's Jayadhavaḷa was completed as we know, in 837 A. D (*Sources*. Vol. I.)

Vidyānanda as far as we can see from his works is not aware of the Dhavaḷā Ṭikā of Virasena or of Jinasena I or II. He makes no reference to Amoghavarsa but only to Mānyakheṭa, Vidyānanda appears to have been an immediate disciple of Akaḷamka. Thus ignoring for the present the doubtful references to "Śiva", "Vijaya" and "Satyavākya" (which may also refer to Śivamāra I, though evidence regarding the titles is not yet forth coming), we can assign Vidyānanda to about 720 A. D. Jina sena II in Ādipurāna mentions Pātrakesari along with Bhaṭṭākalanka and Śrīpāla and before Vīrasena.

भट्टाकलंक श्रीपाल पात्रकेसरिणां गुणाः
विदुषां हृदयारूढी हारयन्तेऽतिनिर्मलाः ॥ (*Mahāpurāṇa* I. 53).

[In the recently published parts of Bhūvalaya, I find that all the verses of Pātrakesari Stotra have been included, beginning with *Jinendra! guṇa samstutip*. But I also discovered a verse from Guṇabhadra's Uttara Purāṇa (yasva prāṃśu). Ugrāditya's Kalyāṇa Kāraka and from Samayabhūṣaṇá of Indranandin. Therefore the date of Bhūvalaya and of Kumudendu will probably have to be brought down from Amoghavarṣá down to about 930 A.D., if not later. Further study of Bhūvalaya may throw light on the date of Patrakesari Stotra—S.S.S.]

"SOME EARLY JAINA INSCRIPTIONS FROM JODHPUR DIVISION."

By

R. C. Agrawala, M. A.

Superintendent, Archaeology & Museums, Jodhpur.

It is proposed to present here a short account of some early Jaina images[1] and epigraphs found in the states of Jodhpur and Sirohī. These antiquities pertain to the 7, 8 and 9th centuries A. D.

It was towards the middle of the year 1953 A. D. that some Jaina sculptures, perhaps belonging to the 15th century of the Christian Era were discovered at Toṅka[2], situated in the existing State of Rājasthāna.[3]

The bronzes of the pre-mediaeval and early mediaeval periods have been discovered from various parts of Gujrat and Saurāṣṭra[4] while some bronzes of the early mediaeval period have also been procured from the Jodhpur division of Rājasthāna.

(i) Gāngāṇī or Gaṅghānī is a small village about 8 *kos* or 20 miles to the north of Jodhpur. Here exists a Jain temple (near a tank) which enshrines an ancient Jain metal image of *Risabhadeva*, the first of the Jain *tīrthaṅkaras*. On the back of this image is to be

1. The problem has already been discussed in some Hindi journals, books etc This paper is based mainly on the researches of Muni Kalyāṇa Vijayaji and Pūrṇa Chand Nāhad.

2. Information communicated by Dr. S. P. Srivastava, Jaipur.

3. It was in the Barlī stone epigraph (now kept in the Rājputānā Museum at Ajmer) of about the 3rd or 4th century B. C., that the scholars liked to seek some reference to the 84th year of the *Nirvāṇa* of Mahāvīra :—'''विरय'''भागवत'''थ चतुरसित व (स) etc., as cited by P. C Nāhada, *The Jaina Lekha Saṅgraha*, I, Calcutta, p. 97.

But Dr D. C. Sircar (*J. Behar Research Society*, Patna, XL, pt. I, 1954, pp. 8ff) has tried to prove the utter absence of the era in that inscription. Cf. *ibid*, XXXVII, pts I-II. For the antiquity of worship of images in Jainism (200 B. C. —200 A. D.) consult Dr. P. Banerjee's paper, *ibid*, XXXVI, parts I—II, 1950, pp. 57—65.

4. Cf. U. P. Shah (A Unique Image of Jīvantaswāmī), *Journal of the Oriental Institute, Baroda*, I, no. 1, 1951, pp. 72—9; Muni Kāntisāgar, *Khaṇḍaharon-kā-Vaibhava* (Hindi), 1953, Banaras, pp 27 ff.

found an inscription (of 5 lines) of *saṃvat* 937 (=880 A. D.). It runs[5] thus:—

1. ॐ ॥ नवसु शतेष्वब्दानां सप्तत्(त्रिं)शदधिकेश्ववतीतेषु । श्रीवच्छलांगलीभ्यां
2. परमभक्त्या ॥ नाभयेजिनस्यैषा ॥ प्रतिमाऽषाढार्द्धमासनिष्पन्ना श्रीम—
3. त्तारेणकलिता । मोक्षार्थं कारिता ताभ्यां ज्येष्ठार्यपदं प्राप्तौ द्वावपि
4. जिनधर्मवच्छलौ ख्यातौ । उद्योतनसूरेस्तौ । शिष्यौ—श्रीवच्छबलदेवौ ॥
5. सं० ९ ३७ आषाढार्द्धे ।

The date here has been noted in numerals as well as in words. The image was installed with a view to attain *mokṣa*. Reference to Udyotanasūri is also interesting here. The *Paṭṭāvalī* informs us that he died in *saṃvat* 994 and from the above it appears that he had attained the status of an *ācārya* by this time (ie. by *saṃvat* 937).[6]

(ii) It was in 1921 A. D that Muni Kalyāṇa[7] Vijayaji happened to bring to light some 8th century A. D Jaina bronzes lying uncared in the temple of Mahāvīraswāmī at Piṇḍawāḍā (Sīrohī State), about 3 *kos* from Vasantagarh in the same area These 8 bronzes have been classified by him under the following heads:—

(i) · Three stray sculptures which are quite rough indeed. They are about 9 inches in height and are now kept in the niches of the *Kapilā-maaṇḍpa.*

(ii) Three *Tritīrthīs*[8], each measuring about 15 inches in height, are somewhat in a state of better preservation. They are all uninscribed and do not bear any sign of cloth or nudity. But two of these are in the *kāyotsarga mudrā*. Their facial features and the garment, clearly visible below the hip, seem to refer to the antiquity of the images.

(iii) Two individual *kāyotsarga* images have been kept in the *gūḍhamaaṇḍpa* of the above temple. Both of them measure more

---

5. P. C. Nāhaḍ, *Jaina Lekha Saṅgraha*, II, Calcutta, no. 1709, p. 169; Munikāntisāgara, *Op cit*, pp. 33-4
6. Nāhaḍ, *Op. cit.*, p. 164, f. n 4.
7. They have been discussed by him in the *Nāgarī Pracāriṇī Patrikā*, Banaras, Hindi, XVIII, pp. 221-31. They are all hollow from within.
8. *Ibid*, pp. 224-5.

than 4 feet in height because of the metallic *pādapīṭhas* below. One of these bear an epigraph (of 5 lines) which refers to the date as *saṃvat* 744 (=687 A. D.) The Inscription[9] runs thus : –

1. ॐ नीरागत्वादिभावेन सर्व्वज्ञत्व विभावकं। ज्ञात्वा भगवतां रूपं, जिनानामेव पावनं ॥ द्रो—ययक
2. यशोदेव देव······भि रिदं जैनं—कारितं युग्ममुत्तमं ॥
3. भवशतपरंपरार्जित—गुरुकर्म्मरसो (जो)······त ······वरदर्शनाय शुद्धसज्जन॥ चरणलाभाय ॥
4. संवत् ७४४
5. साक्षात्पितामहेनेव, विश्वरूपविधायिना। शिल्पिना शिवनागेन कृतमेतज्जिनद्वयम्

This inscription on the image of Ādinātha is very interesting for it refers to the :—

(a) Importance of the images.

(b) Names of the householders who got the pair of images prepared. It is regretted that only one name of these is to be read ie. Yaśodeva.

(c) Prayer for the merits to be acquired as a result of the *mūrti-darśana* (शुद्धसज्जनचरणलाभाय etc.).

(d) Sculptor Śivanāga has been stated as an expert in preparing the images of various shapes, as Lord Brahmā creates so many images in the shape of the living human-beings.

It is equally interesting to note an early[10] stone inscription in the above temple of Piṇḍawāḍā. This epigraph bears sufficiently a close similarity with the one on the bronze and referred to above. The inscription runs thus :—

1. नीराग गन्धादिभावेन सर्वज्ञान विनायकं। ज्ञात्वा भगवतां जापं जिनानामिव पावनम्।
2 द्राण्येयक यशोदेव देव ..रिदंजैन कारितं युग्ममुत्तमम् ॥
3. भयशतपरम्पराजित गुरुकर्मराजो...कारापितां परदर्शनाय शुद्धं सञ्ज्ञानचरण लाभाय। संवत् ८ (७?) ४४
4. ओं साक्षात्पितामहेनव विश्वरूपविधायिना। शिल्पिना गोपगार्गेन कृतमेतज्जिनद्वयम् ॥

---

9. *Ibid*, pp. 228-30; *Bhāratīya Vidyā*, Bombay, Hindi and Gujrāti, Section,I (ii), 1940, p. 191; Muni Kāntisāgar, *Op. cit.* pp. 32-3; Cf. *Śrī Jaina Satya Prakāśa*, VII (1-3), p. 217.

10 P. C. Nāhad, *Op. cit.*, II p. 170, no. 1722.

This epigraph also refers to the carving of two Jaina images.

The date here may be read as 744 V. S. The name of the Śilpi (sculptor) here is different from that of the above bronze of V.S. 741.

The Ghaṭiyālā inscription of V. S. 918 (861 A. D.) also refers to the construction of a temple in honour of *Jinadeva* (P. C. Nahad, op. cit., I, 1918, p. 261) तेन श्री कक्कुकेन जिनस्य देवस्य दुरित निर्दलनम् । कारितमचलमिदं भवनं भक्त्या शुभं जनकम् (verse 22). The *Prākrit* text runs thus :—तेण सिरि कक्कुएणं जिणस्य देवस्स दुरिअ णिद्दलणं । कारविअं अचलमिम भवणं भत्तीए सुहजणयं ॥

It is also very interesting to note the following observations and statements of Sri Agar Chand Nāhaṭā as referred to his paper in the *Anekānta*, Hindi, Delhi, X (7-8), Jan-Feb., 1950 pp. 272-3 :—

(i) There is an inscribed Jain image of V. S. 944 in the temple of Śanti Nāth at Pālī.

(ii) A Jain image, belonging to the Gupta period, stands installed in the main temple of Mahāvīra at Śrīmāla, modern Bhīnmāl.

(iii) A hoard of about 1050 Jain bronzes from Sirohī includes a few of the Gupta period too (Cf Agar Chand Nāhaṭā, *Rājasthānī*, (Hindī), Calcutta, III (i) 1939, pp. 105 ff; H. Goetz, *Art and Architecture of the Bikaner State*, 1950, Oxford, p. 90).

The early Jain bronzes of Piṇḍawāḍā have also been discussed by Sarabhai M. Nawab (*Jain Tīrthas in India* and *their Architecture*, Ahmedabad, pp. 26-7, plates XII-XIII, figures 28, 29, 30; Cf. G. H. Ojha, *Sirohī Rājya kā Itihāsa*, Hindi Ajmer, 1911, pp 31-2; K. J. Khandalwala, *The Marg*, (IV) no 1, p. 63; U. P. Shah *J. of Indian Museumes*, VIII pp. 55-6. Dr. Shah (*ibid*) also states that "a Saraswatī from the same Vasantagadh hoard, datable to *circa* 7th century A. D., a female chowri-bearer along with a few other bronzes from Akoṭā, Valā and Vasantagadh are discussed by me in the first number of *the Prince of Wales Museum Bulletin*", Bombay.

This is in brief a review of some early inscriptions from the *former* states of Jodhpur and Sirohī Future discoveries are badly awaited to say something more on this subject.[11]

---

11. This is the *Skt* text of the original which is in the Prākṛita language. Cf. also *JRAS*, London, 1895, p. 516 for the text of this inscription.

SOME TALES FROM THE NANDĪSŪTRA AND THEIR PARALLELS

By

Sri Kalipada Mitra, M. A., LL. B.,
"Mitralay", Babuganja, P.O. Hooghly (West Bengal.)

Four kinds of knowledge, viz. (1) *upapattiā* (autpattikī, intuitive), (2) *veṇaïā* (vainayikī, i. e. derived from attendance on *guru*), (3) *kammayā* (karmajā), and (4) *pariṇāmiā* (pariṇāmikā, from close observation for a long time) are grouped under *aśruta niśritaṃ* included in *ābhinibohiyaṇāṇaṃ* in the Nandisūtra. Tales with Prākrit titles are referred to as illustrations, and they are detailed in the commentary of Malayagiri. Some of the *autpattikī* tales showing the intelligence of Rohaka bear so striking a similarity to those in the *Mahāummagga-jātaka* (No. 546) showing the intelligence of Osadhakumāra that they are like twins. In the *paccuppannavatthu* of the jātaka mention is made of perfection of knowledge.

I am citing some tales from the *Nandīsūtra* under *autpattikī* heading.

(1) Rohaka, son of a Naṭa named Bharata, goes with his father to Ujjayinī and on the sands of the river Siprā draws a perfect sketch of the city with walls, turrets, battlements etc. together with the King's residence (*rājakulam*). The King wants to appoint a minister and having an eye on the boy desires to test his intelligence. So he sends an order to the village: "Outside your village stands a huge rock, without uprooting it, make a covering for a hall (maṇḍapa) worthy of a king. ;Rohaka advises them: "Dig at the bottom of the rock, fix in proper position the pillars, decorate the walls after besmearing them with suitable plaster composition." All this answers to Mahosadha's (a boy of seven years) skill in planning, painting and architecture displayed in tunnel-making and his being chosen as a minister.

(2) The Rājā sent a ram to the village ordering its return after a fortnight with the same weight, neither more nor less. Rohaka advises: "Keep a wolf near the ram, and give him fodder which will

keep him strong and yet not fat." There is a parallel in *TT*[1] (no. VIII, Mahauṣadha and Viśākha, p. 175) where the King asks the ministers to feed and water a sheep so that it should become strong without twaxing fat. Mahauṣadha, while he placed delicate food before the sheep, set up in front of it an wooden wolf. Though the Tibetan tale is derived from Jat no 546, yet this particular incident is not found in Fausboll's edition of the Jātakas. Undoubtedly it formed part of Buddhistic folklore which got into the Tibetan *Kāh-gyur*, though escaping the Jātakas. It occurs in tales ascribed to Birbal, courtier of Akbar. See also p. 233 of my article *TAI* in IHQ Vol. XIX.

(3) The King's order to send rope of sand. The parallel occurs in a Fez Tale, Jat. and *TT*[2] dealt with by me in *TBK*.

(4) The Raja sent an elephant diseased and worn out, ordering that no one of the village should report that the animal was dead, yet shoud give news of its daily condition. At night the elephant died and on Rohak's advice the village sent the report to the King. "To day the elephant does neither sit down nor rise, neither does he take in or give out his breath, nor makes a movement like one living." The Raja said, "What then, sirrah, is the elephant dead ?" They replied: "Your lordship says so, not we." There is a parallel in Birbal's story entitled बादशाह का तोता where the keeper of the parrot says: "तोता मरा नहीं, उसने समाधि ले ली है। न कुछ खाया ही, न पंख ही डुलाता है" etc. This is an example of skilful arrangement of words.

For (5) "Bring a well", (6) "Bring the forest to the west of the village", (7) "Cook rice without fire", (8) *Khuḷḷaga* (ring) and (9) *Gaya* see my *TBK*.

(10) *Rukkha* (tree)—Some travellers wanted to get mangoes from a tree but were hindered by monkeys. They threw stones at the monkeys who threw the mangoes at them. This is a common folklore item. Cp. no. 38.

(11) *Paḍo* (cloth)—A man wearing a dress woven of cotton thread, and another wearing a dress of woollen thread went to bathe simultaneously (in a tank). The latter took the former's cloth and went away. The case coming to the royal court, the judges caused

1. *TT*—Abbreviation for *Tibetan Tales* by Schiefner and Rlaston.

2. See for details my article *Some Tales of Bṛhat Kathā-Kośa* (abbreviated *TBK*) in J. A. Vol. XX No I.

the hair of each to be combed, whereby the owner and the thief were found out. It is a variation of two incidents in Jat. (no. 546). viz. "the necklace of thread (*Ganṭhi*)" and "the cotton thread."

(12) *Saraḍa* (Saraṭa, a chameleon)—A man while voiding (passing stools) sat inadvertently over a burrow. A chameleon while entering it touched his anus with its tail. The man feared that it entered his belly, and began to feel weak. The physician rightly diagnosed it to be a case of nervous abnormality and promised to cure him for a hundred rupees. He gave him a catharitic, and made him excrete on a pot in which he had previously put a chameleon (unobserved by the patient) dyed in lacdye, and showed it to him in the midst of his faeces. The man's fear was removed and he was cured. This appears in Hemavijayagaṇi's *Kathā ratnākara* (*KR*).

(12) *Kāya* (crow)—A *Khullaka* being asked how many crows lived in the city of Bennātaṭa replied: Sixtythousand, if less, by reason of some having gone abroad (*pavāsiā*), why, many more have come as gusets (pāhuṇā)." Cf. the close parallel in Birbal's story in "Akbar aur Birbal" (A B. no. 101): Birbal in answer to Akbar's question, "How many crows are in Delhi?" said forthwith: "10,700. This is last year's census; the figure is approximate, for if some crows have left the city to attend invitations elsewhere, others have come as guests; if some have died, others are born. The emperor may verify." Cf. Bengali tale of Gopāla Bhanr *re* number of stars in the sky; he gave an astronomical figure and challenged verification.

(13) *Uccāra* (excrement)—A man of the *dhik* tribe with his young charming (but passionate and inconstant) wife was on his journey, when he met a roguish traveller who managed to seduce the woman and claimed her to be his wife. The case having come to court, the judges asked the claimants separately what they and the woman had eaten the previous day, gave the woman a purgative, and on examination of the stool found it to contain sesame which the husband said they had eaten. The rogue was punished.

Cf. Jāt. no. 246, *Goḷa-Kāla* (the Black ball) for the seduction of a man's wife named Dīghatālā by a rogue named Dīghapiṭṭhi when the woman was going with her husband to her parents. The woman

consented to live with the rogue. The rogue was detected for he could not correctly tell the name of his wife nor those of her parents. Read with this Test no. 2 in Jat. 546, viz. *Goṇo*, the Cattle, where the story is this: A man was bringing from another village some cattle, and was proceeding home. Being tired he slept, when a thief ran away with them. The dispute came to Mahosadha who asked each what food and drink he had given to the cattle. The thief said: "Rice gruel, sesame flour and kidney beans." The owner said: "Grass." On administering powdered panic seeds to the cattle, they forthwith vomitted only grass. Thus the thief was detected. His hands and feet were cut off.

Cf. the *TT* (Mahaushadha and Viśākha, pp. 134 36): The rogue seduced away the wife of a Brahman on their way to another country, and claimed her. The Brahman began to lament. The dispute came to Mahauṣadha. The woman falsely averred that the rogue was her husband. Mahauṣadha asked the rogue and the Brahman what they had eaten at their father-in-law's house. He gave them an emetic. The Brahman vomitted what he said he had eaten, but the rogue who was a liar failed.

Similarly in *TT* (no. 39) the guilt of two dogs having gnawed and eaten up the King's horse-gear was found out by making them vomit broken fragments of leather by making them swallow a hairpellet.

Cf. the following anecdote narrated in an article entitled *East Bengal in 1728-29* (by Sir Jadunath Sarkar) in *Bengal, Past and Present*, 1950, p. 6 :

MIR JUMLA'S STRICT JUSTICE (1660-62)

When Mir Jumla Alamgiri was in residence at Khizrpur in Dacca, one of his servants called into his house a woman curd-seller and took from her a quantity of curd without payment and ate it with his meal. The owner immediately afterwards lodged a complaint before the Nawab, whose practice it was to sit on the bastion facing the river and permit all plaintiffs, high and low alike, who wore no arms, to come to him without hindrance and say their say. The governor summoned the accused, who denied the charge. He was given an emetic and the curd came out of him with the vomitted

food. The Nawab ordered the offender's belly to be slashed and exposed his body on the field of Khizrpur as a warning to others.

(14) *Magga* (Road)—A man with his wife was proceeding on a vehicle to another village. During the journey at a certain place the wife alighted to answer a necessary call. When she had gone a little distance, a *vyantarī* (female demon) of the place became enamoured of the beautiful man, and having assumed the form of his wife came and got up on the vehicle. When the wife came back, the *vyantarī* said to the man: 'Doubtless she is a *vyantarī*, she has taken my form and desires you, drive on." The wife raised a hue and cry till they reached the village. The man got confused and was undecided. Then the judges placed him at a distance and told the two females: "The man is certainly the husband of hers who amongst you can touch him first with her hand, and not the other's." The *vyantarī* instantly extended her hand from distance and touched him first. The judges found out that she was a *vyantarī*.

Cf. the story of how Tīrthaṅkara Vimalanātha, when in the womb of his mother, endowed her with clearness (*vimalatā*) of intellect to decide a case like this. "She knew the long reach that only witches have, told the husband to stand a long distance off, and challenged the wives to prove their chastity by touching him. The human wife could not reach so far, the demon did". See Stevenson's *Heart of Jainism*, p. 55, and Hemachandra (*Abhidhānacintāmaṇi*): "Yadvā-garbhasthe māturmatistanuśca vimalā jātā etc. vimalah." The Vyantarī in this case resided in a temple where the Brahman couple rested during the night.

(15) *Itthi* (woman)—Mūladeva and Puṇḍarīka were travelling together. A man and his beautiful wife were proceeding along the same road. Puṇḍarīka seeing her from distance desired her and asked Mūladeva to get her for him. Mūladeva consented. Both of them, unobserved, sped far away. Mūladeva after hiding Puṇḍarīka in a certain grove came up the road, and then when the man and his wife came along, he said to him: "Noble sir, my wife is awaiting delivery in the grove, kindly therefore send your wife to her for a while." She then went to the grove, stayed there for a moment, and returning said, laughing pleasantly, to Mūladeva: "A son is born to you." The tale reappears in Hemavijayagaṇi's *K R*; also in

Vidyāpati's *Puruṣaparīkṣā* ('Test of Man'—see Tawney's edn.) as the tale of Mūladeva and Śaśilekhā. Mūladeva is notorious for his roguery in Indian folk literature. (Cf. Haribhadra's *Dhūrtyākhyāna.*)

(16) *Pai,* (Pati, husband)—Two brothers had one wife (between them), people marvelled that she was equally attached to both. The minister however differed and asserted that she must be showing preference for one of the two The King asked how it could be ascertained The minister took steps to prove his assertion. He sent an order to the wife to send both her husbands to two different villages, one to the east, the other to the west; they were to return the same day She sent the husband she liked less to the east so that he faced the sun equally on his outward and inward journey. Another test was applied. She was requested simultaneously by each one of her husbands, in different villages to attend on him on account of indisposition She went to her dear husband, as "He always feels unwell and remains diseased; therefore I will go to him."

(17) *Putta* (son)—and (18) *Atthasattha* (Arthaśāstra, politics) —For parallels see my article entitled "*Some Tales of Ancient Israel, their Originals and Parallels* (Abbreviation *TAI.* See *IHQ* Vol. XIX, 1943, under the heading "Solomon's Judgment" (pp. 344-46.)

(19) *Madhusittham* (honey-wax)—The wife of a weaver indulged in free love. One day when she was in coition with another man in a *jāli,* she found that over it honey-wax was being formed by bees. On the second day as her husband was preparing to purchase wax she checked him saying: "Don't purchase, I will show you honey-wax" and she led him to the *jāli,* but not finding the wax, she placed herself in the same position in which she was with her paramour to show how the wax was formed. The man rightly guessed that his wife was unchaste. A variant of the tale occurs in the story of Mallikā in *Jāt, Dhammapada-aṭṭhakathā,* an Arabian tale, and a Hindi Kahānī (*tiriyā kathā,* tale regarding the guile of woman). Cf. story no. LVII - The woman and the Pear Tree in *Il Nouvellino* for Jat. story of Mallikā.

(20) *Muddiya* (seal)—See my article *B-K* in JA. for parallels. There are two other stories of deposit (21 and 22) and substitution of counterfiet coins by keeping the seal of the bag above intact while extracting them by making a hole at the bottom (*Aṅka* and *Nāṇam*).

The third story (23, *Bhikṣu*) is about the recovery of a thousand gold pieces deposited by a man with a *Bhikṣu* by the stratagem of some gamblers who came to the *Bhikṣu* proposing to deposit with him some gold bars, when the man (as previously arranged) appeared and demanded the return of his deposit. The Bhikṣu owing to his greed for the new gold bars pretended honesty and restored to the man his deposit,

(24) *Ceḍaganihāṇa* (Hiding the boy)—Two friends jointly buried some hidden treasure in a place. The deceitful man proposed to take it out the next day when the stars should be auspicious, but clandestinely came by night took it out and substituted charcoal for it. When both came next day, the cheat beat his breast and started crying: "Alack, how fortune has happened us, we were given the glimpse of treasure and shown charcoal." The other had no doubt of his friend's dishonesty, but gave no indication of it; on the other hand, he feigned resignation to fate. Then he caused a lifelike earthen image of the cheat to be made and trained two monkeys to sit on the lap, hands, head and other parts of the image by placing food there, till they contracted the habit. Then on a *parva* (ceremony) day he invited the two sons of the cheat to his house, fed them well and lodged them in great comfort elsewhere. When the cheat came to get back his sons, he said sorrowfully: "My friend, your sons have become monkeys" and then released the monkeys who (not knowing the distinction between the image and its original) came chattering and sat on his lap, head and so forth. He said; "These are your sons, see how they are showing affection for you." The cheat exclaimed: "Do men, all of a sudden, turn monkeys?" Came the sharp retort: "Yes; owing to your unfavourable *Karma*; take for example, does gold turn charcoal? and yet owing to our untoward *Karma*, it has come about." The cheat realising that he was found out gave him his share, and the other restored his sons to him. This is a very familiar feature of folklore. Cf. the story of *Dharmabuddhi* and *Pāpabuddhi*, similar tales in *Śukasaptati*, *the Kuṭavāṇija-jātaka* etc and the impossibility motif.

(25) *Sikkhā* (*Śikṣā* here in archery —A man skilled in archery came to a certain place and obtained rich presents by teaching the sons of a wealthy man, who however wanted to recover them by

killing him. The archer somehow knew the design, and asked his relatives residing in a village on the bank of a river to pick up some cowdung cakes which on a particular night he would throw into the river. He then mixed his property with cowdung, made balls of the mixture and dried them in the sun. Then on a *tithi-parva* he told his pupils: "It is our custom on this day to bathe, utter *mantras* and throw cowdung cakes into the river; you also throw them." They did so, and the balls which floated down were collected by his relatives. After a few days he took leave of his disciples and their relatives, taking nothing with him excepting the cloth he wore. Cf. the *Khuḍḍaga* tale for cowdung cake device.

(26) *Icchā ya maha*—There was a certain woman who after her husband's death could not recover from his debtors either principal or interest. She asked her husband's friend to recover the amount. He agreed on condition of receiving some share of it. She said: "Give me what you like." The man recovered the entire money, but gave her only a little. She declined to take it. So the case came to the Court. Then the judges caused the entire money to be brought, divided it into two portions and asked the man: "What portion do you wish to take?" He said: "The greater portion." Then the judges decided the case literally: "As she said—'*Yadicchasi tanmahyaṃ dadyāh*' i.e —'give me that which you desire'; you desire the greater portion, therefore it is hers, and the other portion is yours."

Compare the following:

(a) Jāt no. 546—No. 26: Queen Talatā, the mother of King Brahmadatta, was very wise and was counted the eleventh sage of Pañcāla. Here is the story of her wisdom. A man set out to cross a river, holding a bundle of husked rice, meal of boiled rice wrapt in a leaf, and a thousand rupees. In mid river he could get no further and called out: "...I will give whichever of these I like, if any one will take me across." A strong man pulled him across. He asked for his due and was told: "You may have the husked rice or the boiled rice." But he demanded the money. The judges of the court and even the King decided against him. The Queen decided thus. She asked the man to put down on the ground the three things in order and said to the man: "Now then, take which you

like." He took up the money. As he began to go away she asked him: "So you like the money?" "Yes." "And did you, or did you not say to the man that you would give the man which you liked?" "Yes, I did say so" "Then you must give him the money." He gave it weeping and wailing.

(b) Story no. 92 named *Kañjūs kā dravya* in *Akbar aur Bīrbal*: A miser lived in a hut of rush. One day the hut took fire. The miser who wanted to save his wooden chest containing gems cried for help. A goldsmith offered to rescue the chest saying: 'Yadi mai javāharātomko bāhar nikāl lāyā to āpne manmānī tumko de kar bākī khud le luṅgā.' He rescued the chest, took the gems and gave the wooden chest to the miser, who wanted half but was refused. Birbal decided the case. The goldsmith narrated the condition': 'jo javāharāt vālī sanduk ko nikāl lāvegā vah jo pasand kare dusre ko de deve bākī āpne leve." Bīrbal asked him what his *pasand* was. "Javāharāt". Bīrbal said, "Give the gems to the miser and you take the ches."

(c) A similar Bengali tale.

(d) Tale no. X (pp. 63-64) in *Il Nouvellino* translated from Italian by Edward Storer (G. Routledge & Sons Ltd., New York) from *Cento Novelle Antiche* (end of 13th and beginning of 14th century):

A townsman of the Bari went on pilgrimage, and left 300 byzantines to a friend on these conditions: "If I return within a certain time, you shall return me the money, keeping back what you will". On return he demanded his byzantines back. The friend gave him 10 byzantines, keeping 290 for himself. A law-suit ensued. The slave of the Bari was the judge and heard both sides. He formulated the argument and to him who held the money he said: "Give back the 290 byzantines to the pilgrim, and the pilgrim must give you back the ten you handed to him. For the pact was so; what you want you will give to me. Therefore the 290 which you want, give them to him and the ten which you do not want take them." According to Malaspina, the slave was an idiot, or almost one, unlettered and unread, but of great natural talent, wit and wisdom.

These cases were decided on verbal trick. Cf. story under *Paṇiya*—"If I eat all your cucumbers, what you would give me?"

to which the reply was: "A *modaka* that would not pass through the gate." A rogue bit with his teeth a little of all the cucumbers and said he had *eaten* all of them and demanded such a big *modaka* (ball of sweet) as would not pass through the gate. He was met by the trick: A ball of sweet was placed on the *indrakīlaka*, and the man said "Go, go *modaka*, through the *pratolīdvāra*", but it would not, evidently.

(27) *Sayasahasseti* (one hundred thousand)—A *parivrājaka* had a big silver bowl (*khoraya*) worth the amount. He remembered whatever he heard once, and threw out the challenge that he would give the bowl to him who would make him hear anything he had not heard before. This seemed to be a hard task, for whatever he heard once he could repeat. A *siddhaputra* met him and uttered this verse:

Tujjha piyā maha piuṇo dhārei aṇuṇagaṃ sayasahassam ।
Jai suyapuvvaṃ dijjau aha na suyam khorayaṃ desu ॥
i.e. Your father owes my father no less than a hundred thousand, If you have heard it before, then give it to me; if you have not heard it, then give me your *khoraya*. Thus was vanquished the *parivrājaka*. The story reappears in Hemavijaya's *KR*.

Here end the tales of *autpattikī buddhi*.

Then begin the *Vainayikī* tales.

(28) *Nimitta* (signs)—A *Siddhaputra* had two disciples who studied under him the *nimitta śāstra* (the science of signs or prognostics). One showed great reverence and modesty to his *guru*, had his doubts resolved by constantly resorting to his feet, and scrutinised the import of the *śāstras*, thus his intelligence attained excellence. The other was devoid of all this quality. Once on a journey the two disciples saw on the road a few great footprints, which the dull one took to be those of a male elephant. The discerning one corrected him and said: "These are the foot-prints of a she elephant, she is moreover blind of the left eye, a queen has mounted her and she has her husband living, she is in an advanced stage of pregnancy and will deliver today or tomorrow, and will be brought to bed of a son. The discerning student's reading of the case proved true. He was also correct in his findings regarding the questions of an old

woman about her son. He gave reasons: (i) close observation of the footprints revealed them to be those of a female elephant, (ii) creepers on the right side of the road were torn, etc.

This has a close parallel in *TT* (*Prince Jīvaka*, no. VI, p. 96) where the signs are rightly interpreted, viz. "footprints of a female elephant, she is blind of the right eye, about to bring forth the young today; a woman was riding her, she too was blind of the right eye and will bear a son today." Cf. *KR*.

Cf. the story of a camel (in an Arabian tale) which every school-boy knows or at least knew

(29-35) Some of the tales under (i) *Atthasattha*, (ii) *Dahikuṇḍaga*, (iii) *lepe* (*lekhe*, i. e., lipi, script) and (iv) *gaṇie* have parallels in *Āvaśyaka* commy., Hemacandra's *Pariśiṣṭaparvan* etc. Under (v) *Kūva* we have an example of water-finding. Characteristics of (vi) horse, and (vii) ass (which led by instinct discovered where water was to be found in the forest) are given.

(36) *Gaṇṭhi*–The King of a foreign country sent to the Muruṇḍa King of Pāṭaliputra three curious things, viz (i) *Mūḍhaṃ sūtram*–the skein of thread without clue, (ii) *Samā yaṣṭi*, and (iii) a box whose door could not be sighted as it was covered over with lac-wax.

Re (i)—Ācārya Pādalipta solved the problem by throwing the ball of thread in hot water, coming in contact with which the covering was melted and the end of the thread was revealed.

For (ii) see my *TAI* under 3. Solomon's Wisdom (pp 347-48) to which add one more Tibetan Tale (VII. *Viśākhā*, p. 120).

Solution of (iii)—When the box was thrown into hot water, all lac wax melted, and the door was discovered. Then at the request of the King to make a curious thing with which to present the foreign King Pādaliptasūri removed a portion of a gourd, filled the cavity with gems, put back the cover, and caused it to be sewn up in such a way that nobody could find it out, and invited the officers of the foreign King to take out the gems from it without breaking it [For Muraṇḍa King and Pādaliptasūri see Prabhāvakacarita (V.S. 1334)–*Pādaliptaprabandha Samyaktvasaptati* (of Haribhadra), M.A.R. 1923, and Jhaveri's edn. of Navāṇakalikā quoted in Shah's *Jainism in North India*.]

(37) *Agae* (curative medicine)—This shows the effect of a very strong poison, a little of which being inserted in the pore of a hair of the tail of an elephant made it gangrenous, and its antidote which cured the tail and the elephant.

(38) *Rahiye gaṇiyā*—In the story of Sthūlabhadra two incidents are mentioned: (1) plucking of a bunch of mangoes by a traveller (*rathika*), and (2) the dancing of a courtesan on the mustard heap, (examples of the familiar motif of hard task).

(39) *Siye*—The sons of a King rescued their teacher from being killed by their greedy father by indirectly signifying that all were disgusted with him except them, by giving him a cloth which though dry was called wet. putting grass on the doorway and by not doing *pradakshiṇa* to him.

(40) *Nivvadaeṇam*—The intelligence of constables who detected the death of the paramour of the wife of a merchant by closely examining the corpse, and finding his nails being recently paired examined barbers one of whom gave the clue.

(41) *Goṇeghoḍagapaḍaṇaṃ ca rukkhāo*—See my *TAI* (pp. 231-32 and parallels, 225 ff) Cf. also this tale: A mason while repairing a roof fell upon a passerby and killed him. The latter's son accused the mason of murder. The judge asked the accuser to fall from the roof on the mason and kill him.

Here end the tales of *Vainayikī buddhi.*

Some instances of karmajā buddhi :

(42) *Heraṇṇie*—(i e *hairaṇyikasya karmajā buddhi*–goldsmiths' intelligence derived from his trade)—A goldsmith (or silversmith) who has attained excellence in his own science can even in darkness properly assess the value of a coin by a touch of the hand.

(43) *Karisaga*—story of the *karmajā buddhi* of a burglar (who cut a lotus-shaped hole in the house of a merchant) and a plowman (who could let fall all the *mudga* pulses face downwards) as illustration of the attainment of excellence in an act repeatedly done.

(44-53)—Then the stories of a (1) weaver, (2) carpenter who makes wooden spoon, (3) jeweller, (4) ghee-seller, (5) jumper, (6) sewer, (7) carpenter (*vaḍḍhai*, who makes chariots etc), (8) maker of cakes, (9) potter, and (10) painter (*citrakāra*) regarding skill in his respective trade. Here end tales of *k*. b.

Some instances of *Pariṇāmikā buddhi*:

(54) *Abhaya*–The *p. b.* of Abhayakumāra whereby he obtained from Caṇḍa Pradyota four *varas* (boons), bound him and led him through the city.

(55) *Seṭṭhi*—story of Kāṣṭha Śreṣṭhī (a famous Śreṣṭhī of Rājagṛha, see Malayagiri's *ṭīkā* on *Āvasyaka*) who had turned a *parivrājaka* and met an accusation of blame by a ludicrous imprecation.

(56) *Kumāre*—How a prince who was fond of sweetmeat ultimetely came to reflect on the impurity of the body and attained, in *antarmuhūrta*, *kevalajñāna*.

(57) *Devī*—A certain woman named Puṣpavatī after having observed *pravrajyā* died and was reborn as a goddess. Then in a dream she showed to her daughter Puṣpaculā heaven and hell with a view to awaken in her true knowledge and warn her of her sinful conduct. Such tales can be found in Tawney's *Kathākoṣa* etc.

(58) *Uditodaya*—King of Purimatālapur. His queen Śrīkāntā was desired by Dharmarūci, King of Banaras, who with his army beseiged Udītodaya who undertook the *Vaiśravaṇa* vow and summoned his own men to repel him (Cf. *Āvaśyaka-ṭīkā* of Malayagiri, *AVM*).

(59) *Sāhu ya Nandisena*—Monk Nandisena, son of King Śreṇika, in order to fix his wavering disciple in his vow, caused the latter to see his own *antahpuram* containing charming damsels of celestial beauty which he had abandoned. (Cf. how Buddha taught Nanda). Nandisena joined the order of Mahāvīra Cf. *Anuttarovavāiya-dasāo*, *Āva*, p. 682, 685.

(60) *Dhanadatta*—(*sārthavāha*), and Cilāya or Cilātiputra, his servant, who killed his daughter. See *Nāyā*, 1.1., 1.18 and *AVM*.

(61) *Sāvago*–A *śrāvaka* who had to take the vow of abandoning carnal passion for another man's wife had once seen the female friend of his wife and was deeply attracted to her. His wife thought: "If he dies in this condition, he will be born in hell or as an animal. I have to get him out of this predicament." Then having disguised herself as her female friend she came in darkening twilight to her husband and consorted with him. His amorous striving ceased and he sorely lamented the breach of his vow. His wife told him then

the whole story of her deception. He then made *prāyaścitta* (*P.b.* of śrāvikā Cf. *ĀVM.*)

(62) *Amacce*—The *amātya* who was the father of Varadhanuh caused a *surunga* (tunnel) to be dug for the purpose of effecting the egress of Prince Brahmadatta. (Cf. the *Mahā-ummagga Jat.* where we find Mahosadha caused the little and great tunnels to be made in the capital of King Culaṇī Brahmadatta with a view to protect his master the Vedeha King.)

(63) *Khamae* (forbearance)—story of a *Kṣapaka* (mendicant) who though slighted patiently bore the indignities without anger.

(64) *Amaccaputta*—Varadhanuh showed his wisdom to Prince Brahmadatta by indicating the true nature of "long back" (*dīrgha-pṛṣṭha*).

(65) *Cāṇakke*—While he was the minister of Candragupta Cāṇakya showed his wisdom *re* noble horses.

(66) *Thūlabhadda*—When King Nanda killed the father of Sthūlabhadrasvāmī, he offered the post of minister to him which he declined and under took *pravrajyā*, (See *Kalpasūtra-Subodhikā-ṭīkā*, *Āvaśyakasūtra*, pp 435 36; Hemacandra's *Pariśiṣṭaparvan* vv 3 82).

(67) *Nāsikasundarinam* etc.–In the city of Nāsikya lived Nanda, his wife was Sundarī. His brother, a monk, brought Nanda to the top of Mount Meru and showed him twin gods (Cf. 59; and the *Saundarānanda Kāvya*)

(68) *Vaire* (Vajra)—Though a child Vajrasvāmī did not so much care for his mother as for the *Saṃgha.*

(69) *Calaṇāhaṇa* Certain young men exhorted the King to keep about him only young men and not old men with wrinkles and grey hairs. The King in order to test them said: "What sentence should I give one who strikes me with feet on the head." "He should be cut to pieces of the measure of sesame." He asked the old men who deliberated: "Who else other than his dear queen should think of hitting the King?" and answered so. The King was pleased and kept old men near him. This is a variation of the Mahosadha story where the answer is "the little son of the King."

(70) *Āmaṇḍe* (artificial *āmalaka* fruit)–A certain person identified it by observing its hardness as well as its being out of the season. Cf. *Upadeśa*, p. 214.

(71) *Maṇi* —A certain serpent always used to climb a tree and eat the eggs of birds. One day he fell down from the tree and his crest-jewel (*maṇi*) slipped on to the edge of the well (which was underneath the tree). It coloured the water red with its glow; but when the water was taken out of the well it resumed its natural colour. An old man discovered the secret after close observation. Cf. Test no. 19, Jāt. no. 546, where a precious jewel in the crow's nest on a palm tree which stood on the bank of a lake illumined the water. It has parallels in later Indian folklore.

(72) *Sappe* (serpent)–Caṇḍakauśika's thought towards the Lord: "Such is his greatness." Reference is to the *Kalpasūtra* where the serpent Caṇḍakosiya tormented Lord Mahāvīra who awakened him by imparting true knowledge (Cf. *ĀVM*).

(73) *Khaggī* (rhinoceros)—A *śrāvaka* infatuated with the pride of his prime youth died without having done any act of religious merit and was reborn as a rhinoceros. He used to kill men in the forest, but one day felt powerless against some *sādhus*. He remembered his previous birth, abjured food, and dying went to *devāloka*.

(74) *Thubhiṃ le*—In the city of Vaisāli there was a *thūbha* (*stūpa*, mound) known as the shoe of Muni Suvratasvāmī. On the advice of a Jain Muni named Kulavālaka it was excavated. This led to the breach of Vaisālī. See Tawney's *Kathākośa*, *AVM*, *Kumārapāla-pratibodha* etc.

I have found some Tibetan Tales (eg. *Mahauṣādha* and *Viśākha*, pp. 162-64, story no. 48, *The Revengeful Crow*, pp. 356-57) re-appearing in variant form in the above mentioned Italian *Il Nouvellino*. As I have already said, such tales have migrated from India. I have cited the parallels from what I have read casually. A more diligent, intensive and systematic study will be fruitful.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में दो बार प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देश के लिये ३) है, जो पेशगी लिया जाता है। १॥) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं। मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो तो इसकी सूचना शीघ्र कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

PRINTED AT SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD.
ARRAH

जैन-सिद्धान्त भास्कर

भाग २० किरण २

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. XIX No II

Edited by

Prof. A. N. Upadhya, M. A., D. Litt.
Prof. Jyoti Prasad Jain M. A., LL. B
Sri. Kamata Prasad Jain, M.R.A.S., D.L.
Pt. K. Bhujbali Shastri, Vidyabhushan.
Pt. Nemi Chandra Shastri, Jyotishacharya,

Published by
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAIN SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH (Bihar)

Annual Inland Rs. 3. Single Copy Rs. 1/8

DECEMBER, 1953.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग २० | दिसम्बर १९५३ | किरण २

सम्पादक :

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट

प्रोफेसर ज्योति प्रसाद जैन एम. ए., एल. एल. बी.

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल.

श्री पं० के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) | एक प्रति का १॥)

विषय-सूची

श्रीजिनाय नमः

जैन सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षण्मासिक पत्र

भाग २० } दिसम्बर, १९५३ । माघ, वीर नि० सं० २४८० { किरण २

तोरमान विषयक जैन उल्लेख

[श्री एन० सी० मेहता, आई० सी० एस०]

प्रास्ताविक—

विक्रम सं० १९८३ के आषाढ़ महीने के "जैन साहित्य संशोधक" गुजराती त्रैमासिक पत्र में प्रकाशित गुजरात विद्यापीठ के मुनि जिनविजय जी के (रोमांस) प्रमाणाधारित लेख के आधार पर मैं कुछ आवश्यक विवेचन करूँगा। उसके आधार ग्रन्थ "कुवलयमाला" को उद्योतन सूरि उपनाम दाक्षिण्य चिन्ह ने प्राकृत भाषा में मालवाड़ के "जावालीपुर" नगर में चैत्र वदी १४ सं० [illegible] में लिखकर समाप्त किया था। यह नगर पहले गुजरात प्रान्त के अन्तर्गत था।

यह ग्रन्थ चम्पू के समान गद्य पद्यमय है। इसकी प्राकृत में दक्षिण महाराष्ट्र के प्रचलित शब्दों का प्रयोगबाहुल्य एवं दक्षिणस्थित प्रदेशों के वर्णन को देखकर यह प्रतीत होता है कि उद्योतन जी इसी प्रान्त के सुरम्य अंचल के निवासी थे अथवा बहुत दिनों तक यहीं प्रवास किया था। इनके एक गुरु ख्यातिप्राप्त जैन विद्वान् 'हरिभद्र सूरि' थे इन्होंने १४०० से १४४० तक छोटे बड़े ग्रन्थों का निर्माण कर अपनी उज्ज्वल प्रतिभा को प्रदर्शित किया था। इन ग्रन्थों में 'समरादित्य' एक सुविख्यात कथा है जिसमें उन्होंने अपने मित्र के द्वेष के कारण आत्मा के अधः पतन का सफल और मार्मिक चित्रण किया है।

इसी ग्रन्थ के आधार पर उद्योतन ने 'कुवलयमाला' का निर्माण किया। जैनियों का कथा साहित्य अधिकतर दशवीं शताब्दी के उपरान्त का ही उपलब्ध है। ईसा के पश्चात् ऐसे दस ग्रन्थ भी प्राप्य नहीं है जिसको प्रथम सहस्राब्दी में निर्णयात्मक रूप से रक्खा जा सके और जैन कथाओं की प्राचीनता की वैज्ञानिक प्राप्ति हो। इसी उपर्युक्त कारण से उद्योतन सूरि के इस ग्रन्थ की

महत्ता अपनी निराली है। इस अपूर्व ग्रन्थ की केवल दो हस्तलिपियाँ ही प्राप्य हैं जो कुछ आवश्यक विशेषताओं में परस्पर भिन्न हैं। उनमें से एक रविवार फाल्गुन वदी १ संवत् ११३६ को लिखित जैसलमेर' के भंडार में सुरक्षित ताड़पत्र पर अंकित है और दूसरी राज्य पुस्तकालय पूना में प्राप्त प्रायः पन्द्रहवीं शताब्दी की है।

उद्योतन ने अपने इस ग्रन्थ के अन्त में अपने परिवार, गुरु, समय और अन्य परमावश्यक विषयों पर अच्छा प्रकाश डाला है, जो संक्षेप में नीचे उद्धृत है :—

जैन-उल्लेख—

(१) अत्थि पुहई पसिद्धा दोण्णि पहा दोण्णि चेय देसत्ति।
तत्थत्थि पहं णामेण उत्तरावहं बुहजणाइण्णं ॥

(२) सुइद्दिअचारुसोहा विअसिअकमलाणणा विमलदेहा।
तत्थत्थि जलहिदइआ सरिआ अह चंदभाय त्ति ॥

(३) तीरम्मि तीय पयडा पव्वइया णाम रयण सोहिल्ला।
जत्थिट्ठिय ठिए भुत्ता पुहई सिरि तोरराएण ॥

(४) तस्स गुरू हरिउत्तो आयरिओ आसि गुत्तवंसओ।
तीय णयरीय दिण्णो जेण णिवेसो तहिं काले ॥

(५) तस्स विसिस्सो पयडो महाकई देवउत्तणामो त्ति।
.... सिवचन्द गणी य मयहरो त्ति ॥ (?)

(६) सो जिण वन्दणहेउं कहवि भमंतो कमेण संपत्तो।
सिरिभिल्लमालणयरम्मि संठिओ कप्परुक्खोव्व ॥

(७) तस्स खमासमणगुणा णामेणं जक्खयत्तगणिणामो।
सीसो महई महप्पा आसि तिलोए वि पयडजसो ॥

(८) तस्स य बहुया सीसा तवसी रिअवयणलद्धिसंपण्णा।
रम्मो गुज्जरदेसो जहि कओ देव हरएहि ॥

(९) णागो विंदो मम्मड दुग्गो आयरिय अग्गि सम्मोय।
छट्ठो वडेसरो छम्मुहस्स य (व ?) अगासत्त-आसि ॥

(१०) आगास वप्पणयर (य) र जिणालयं तेण णिम्मवियं रम्म।
तस्स मुह दंसणच्चिय अवि पसमइ जो अहव्वो (व्वो) वि ॥

(११) तस्स वि सीसो अण्णो तत्तायरिओ त्ति णाम पयडगुणो।
आसि तवतेयणिज्जिय पावतिमहमोहो (दिणयर व्व) ॥

(१२) (जो दूसम सलिलपवाह वेण ही रन्तगुणसहस्साण) ॥
मीलंगविउलसालो लक्खण रुक्खो व्व निक्कंपो ॥

(१३) सीसेण तस्स एसा हिरिदेवी दिण्णदंसणमणेण ।
रइया कुवलयमाला विलसियदक्खिण्णइन्धेण ॥

(१४) दिण्णजहिच्छियफलओ बहु कित्ती कुसुमरेहि रामोओ ।
आयरियवीरभद्दो अन्यावरो कप्परुक्खोव्व ॥

(१५) सो सिद्धन्तेण गुरू जुत्तिसत्थेहि जस्स हरिभद्दो ।
बहुसत्थगंथवित्थरपत्थारियपयडसव्वत्थो ॥

(१६) आसी तिकम्माभिरओ महादुवारम्मि खत्ति ओपयडो ।
उज्जोअणो त्ति णामं तच्चिअ परिभुंजिरे तइआ ॥

(१७) तस्स वि पुत्तो संपइ णामेण वडेसरो त्ति पयडगुणो ।
तस्सुज्जोअणणामो तणओ अह विरइया तेण ॥

(१८) तुंगमलंघं जिण भवण मणहरं सावयाउलं विसमं ।
जावालिपुर अट्ठावयं व अह अत्थि पुहईए ॥

(१९) तुगं धवलं मणहारिरयणपसरंत धयवडाडोवं ।
उसहजिणंदायतणं करावियं वीरभद्देण ॥

(२०) तत्थट्ठिएणं अह चोद्दसीए चेतस्स कण्हपक्खम्मि ।
णिम्मविआ बोहिकरी भव्वाणं होउ सव्वाण ॥

(२१) परभडभिउडिभंगो पणईयणरोहणी कलाचंदो ।
सिरिवच्छरायणामो णरहत्थी पत्थिवो जइआ ॥

(२२) को किर वच्चइ तीरं जिणवयणमहोअहिस्स दुत्तारं ।
थोअमइणा वि बद्धा एसा हिरिदेवि वयणेण ॥

(२३) जिणवयणाओ ऊणं अहियं व विरुद्धयं व जं बद्धं ।
तं खमसु संठवेज्जसु मिच्छा अह दुक्कडं तस्स ॥

(२४) चंदकुलावयवेणं आयरिय उज्जोअणेण रइया मे ।
सिवसंतिबोहि मोक्खाण साहिया होउ भवियाण ॥

(२५) एयं कहं करेउं ज पुण्णं पावियं मए विउलं ।
साहुकिरिया सचितं भवे भवे होउ मे तेणं ॥

(२६) सगकाले वोलीणे वरिसाण सएहि सत्ते हि गएहिं ।
एगदिणेणूणेहिं रइया अवरण्हवेलाए ॥

(२७) बत्त कइत्तणाहिमाणो ण कव्वगुद्धीए विरइया एसा ।
धम्मकहत्तिणिबद्धा मादोसे काहिई इमीए ॥

इन गाथाओं का शब्दार्थ लिखना व्यर्थ है, अतः भावार्थ दिया जा रहा है ।

(१) पृथ्वी पर दो ही विख्यात देश हैं । उत्तरा पथ विद्वत्भूमि है ।

(२) चन्द्रभागा नदी इसके बीच से प्रवाहित है ।

(३) इसीके तट पर 'पव्वैया' नगर स्थित है जहाँ 'तोराया' निवास करते थे । (पूना प्रति के अनुसार तोरमान नरेश राज राजेश्वर थे) ।

(४) गुप्तवंशज 'हरिगुप्त' उनके गुरु थे और ये भी वहां के निवासी थे ?

(५) इनके शिष्य थे महाकवि 'देवगुप्त' और उनके शिष्य थे 'शिवचन्द्रमणि' ।

(६) वे तीर्थयात्रा करते हुए 'भिन्नमाल' पहुँचे ।

(७) त्रैलोक्य विख्यात यक्षदत्त ज्ञानी इनके प्रमुख शिष्य थे ।

(८) गुर्जर देशको सुशोभित एवं अनेक मन्दिरोंके निर्माण करने वाले उनके अनेक योग्य शिष्य थे

(९) उनमें नाग विन्दा, मम्मद, दुगा, अग्निशर्मा और वेदसार प्रमुख शिष्य थे ।

(१०) 'वेदसार' ने 'आगासवणा' (आकाशवप्रा) में एक सुन्दर जैन मन्दिर बनवाया था ।

(११) इनके शिष्य थे तत्त्वाचार्य ।

(१२) इनके शिष्य थे 'दक्खिन इन्धा' की पदवी से विभूषित कुवलयमाला के ग्रंथकार ।

(१३, १४, १५) जिनका सिद्धान्त शिक्षण हुआ आचार्य वीरभद्रजी के द्वारा तथा युक्तिशास्त्र अनेक ग्रंथों के रचयिता श्री हरिभद्र जी ने पढ़ाया ।

(१६) उस समय महादुवारा के प्रसिद्ध उद्योतन का राज्य था ।

(१७) उनके पुत्र सम्प्रति या वेदसार जी ही प्रस्तुत ग्रंथकार के पिता थे ।

(१८,१९,२०) सुन्दर जिनालयों एवं अनेक श्रावकों से सुशोभित 'जाबालिपुर' के श्रीवीरभद्र द्वारा निर्मापित श्री ऋषभदेव मन्दिर में इन्होंने चैत्र वदी चतुर्दशी को यह ग्रंथ समाप्त किया ।

(२१) श्री वत्सराज राजा थे । (२४) चन्द्रकुलवंशोद्भूत उद्योतनाचार्य इसके लेखक हैं ।

(२६) शाकाब्दके ७०० वर्ष पूर्ण होने के एक दिन पूर्व इन्होंने इस ग्रंथ को अपराह्नमें समाप्त किया

यहाँ तोराराय या तोरमान का उल्लेख विशेष महत्त्वपूर्ण है । यह निश्चय ही वही हूणनरेश तोरमान हैं जिन्होंने गुप्तों की नींव हिला दी थी । जहाँ तक हम को ज्ञात है कि इनके प्रसिद्ध पुत्र मिहिरकुल की राजधानी साकलं या आधुनिक सियालकोट थी, इनकी राजधानी के विषय में कुछ भी पता नहीं था, किन्तु इस ग्रंथ से ज्ञात होता है कि इनकी राजधानी चन्द्रभागा नदी के तट पर पवैय्या नगर में थी ।

सबसे महत्त्वपूर्ण सूचना है तोरमान के गुरु के विषय में । इनके गुरु थे गुप्तवशीय हरिगुप्त । इस लेख से सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि हरिगुप्त जैनमतावलम्बी थे । किन्तु क्या यह संभव है कि,

विकट हूणाधिपति पराजित गुप्त जैन गुरु के समक्ष नतमस्तक होते ? किन्तु यदि हरिगुप्त किसी भिन्न गुप्तवंश के थे तो फिर वंश के उल्लेख की आवश्यकता ही क्या थी ? किन्तु यदि हम इस निष्कर्ष को मान लें कि तोरमान विजित गुप्त वंशीय अनुप्र जैनी के शिष्य थे तब हमको यह भी मानना ही पड़ेगा कि विष्णूपासक गुप्तों के वंश में कम से कम एक व्यक्ति तो ऐसा था ही जिसने कुलपरम्परागत विष्णु की उपासना को भगवान् महावीर के कठिन पथ के समक्ष त्याग दिया था। कुवलयमाला के ग्रंथकार ऊपर उद्धृत किये गये पाँचवें श्लोक में किसी देवगुप्त के विषय में कहते हैं कि वे थे एक विख्यात कवि और हरि गुप्त के शिष्य। पूना की हस्तलिपि इनको बहुकला-कुशल सैद्धान्तिक मानती है। कुवलयमाला की भूमिका में गुप्तराजवंश एक राजर्षि देवगुप्त का वर्णन है जो त्रिपुरुषचरित के रचयिता भी हैं। महाकवि देवगुप्त और राजर्षि देवगुप्त दोनों एक ही व्यक्ति हैं इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता है। अब प्रश्न यह उठता है कि यह राजर्षि थे कौन ? सन् १८८४ में कनिंघम साहब को अहिच्छत्र में एक ताम्रमुद्रा प्राप्त हुई थी। जिस पर "महाराजदेवगुप्तस्य" एक ओर तथा दूसरी ओर अंकित था सुज्ञात जैन चिन्ह पुष्पसहित एक कलश। यह शुभ चिन्ह आज भी जैनों के मध्य प्रचलित है तथा शुभावसरों में निमन्त्रणों में पाया जाता है। गुप्तमुद्राओं पर शासकों की विश्वास परम्परा के अनुसार बैल, घोड़ा, लक्ष्मी या धनुर्धारी योद्धा ही अंकित होता है। कलश और पुष्प देवगुप्त के जैनधर्मावलम्बी होने पर ही प्रयुक्त हुए होंगे। शिलालेख के अनुसार देवगुप्त महाराज का समय पाँचवी शताब्दी का अन्त या छठी शताब्दी का प्रारम्भ निश्चित हुआ है। यह उद्योतन सूरि के तोरराय के समकालीन हरिगुप्त के शिष्य देवगुप्त के समय से मिल जाता है।

यह प्रत्यक्ष है कि इस आदि काल में भी प्राचीन गुजरात की राजधानी भिन्नमाल या श्रीमाल एक प्रसिद्ध जैनतीर्थ थी, जहां देवगुप्त के शिष्य शिवचन्द्र गणी चले गये थे। कुवलयमाला के अनुसार शिवचन्द्र के शिष्य ने अनेक जिनालयों का निर्माण कर गुजरात को शोभायमान कर दिया था—दूसरे शब्दों में दक्षिण में शैवधर्म से मुठभेड़ के पूर्व ही पश्चिम भारत में जैन-धर्म ने बहुत उन्नति की थी। प्राचीन दक्षिणापथ से इस धर्म का वास्तविक उन्मूलन नवीं शताब्दी में हुआ। दसवें श्लोक में आकाशवप्रा का उल्लेख है। यह आधुनिक 'वादनगर' हो सकता है। आकाश-वप्रा का अर्थ होता है वह नगर जिसके चतुर्दिक कोट के स्थान पर आकाश होता है। कुमारपाल के शासनकाल में सं० ११५७ ई० में ही आनन्दपुर के चारों ओर दीवालें बनी थीं।

१८ से २० श्लोकों में उद्योतन जी ने जाबालिपुर का वर्णन किया है जहाँ वे इस ग्रंथ का निर्माण किये थे। यह नगर आज भी जोधपुर राज्य का प्रधान कार्यालय है और 'अन्हिलवाड़पाटण' के चालुक्य राजाओं का एक मुख्य केन्द्र होने के लिए भी प्रसिद्ध है। उद्योतन जी का कथन है वत्सराज' के शासन काल में उन्होंने यह ग्रंथ लिखा था। ये नरहस्ति एवं 'परभटभृकुटिभंजक'

कहे जाते थे और संभवतः वे ही सुविख्यात 'प्रतिहार' राजा हैं जिन्होंने प्राचीन गुजरात से प्रारम्भ कर अपना राज्य कन्नौज तक बढ़ाया। तद्विषयक प्राचीनतम उल्लेख कुवलयमाला से पाँच वर्ष पश्चात् का है और जिनसेनाचार्यकृत हरिवंश पुराण में उपलब्ध है, जिसका समय शकाब्द ७०५ है। शक ७०५ में जब इन्द्रायुध उत्तर में राज्य करते थे।

शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरां
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाय।
पूर्वां श्रीमेदवन्तिभूभृति नृपे वत्सधिराजेऽपरां
सौर्या (रा) णामधिमंडले (लं) जययुते वीरे वराहेऽवति॥

श्री वल्लभ का दक्षिण में, अवन्तिराज का पूर्व में वत्सराज का पश्चिम में और जयवराह का शौर्यदेश में शासन था। वत्सराज के पौत्र मिहिरभोज के समय के शिलालेख से वत्सराज की महत्ता का और भी परिचय प्राप्त होता है। इन्होंने भण्डीनरेशों से राज्य छीन लिया था ऐसा इस लेख में वर्णन है। यह भंडीवंश कन्नौज का वर्मावंश हो सकता है। नागभट्ट के शासनकाल में अरबों के हमलों के कारण भिन्नमाल को त्याग कर पूर्व में ही जाबालिपुर राजधानी बन चुकी थी। मारवाड़ में जाबालिपुर या 'झालर' इस पद पर ६०० वर्ष तक रहा तथा १३११ ई० में अलाउद्दीन खिलजी ने इसको नष्ट भ्रष्ट कर दिया।

कुवलयमाला द्वारा प्राप्त सामग्री का तथ्य —

(१) प्रस्तुत ग्रंथकार उद्योतन सूरि क्षत्रिय थे और उन्होंने प्रतिहारवंशी वत्सराज के शासन काल में इस ग्रंथ की रचना की। इस समय भिन्नमाल के स्थान पर जाबालिपुर ही राजधानी थी।

(२) उद्योतन प्रसिद्ध हरिभद्र के शिष्य थे।

(३) तोरराय या तोरमान उत्तरापथ के शासक थे और इनकी राजधानी चिनाव या चन्द्रभागा तट स्थित पवैय्या नगर में थी।

(४) यह तोरराय निस्सन्देह ऐतिहासिक हूणनरेश तोरमान ही हैं और इन्होंने गुप्तवंशोद्भव (संभवतः शासक गुप्तवंश) हरिगुप्त को अपना गुरु स्वीकार किया।

(५) हरिगुप्त के दूसरे शिष्य थे देवगुप्त। संभवतः ये कन्नौज के हर्ष के भ्राता राज्यवर्द्धन द्वारा पराजित गुप्तनरेश हो सकते हैं। देवगुप्त जी पराजय के पश्चात् साधु हो गये होंगे और संभवतः इन्हीं की मुद्रा सन् १८६४ ई० में कनिंघम साहब को मिली थी।

(६) हरिगुप्त और देवगुप्त दोनों ही जैनमतावलम्बी थे और यद्यपि तोरराय स्वयं जैनी न रहे हों किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनके ऊपर जैन गुरुओं का प्रभाव बहुत पड़ा होगा।

(७) आठवीं शताब्दी में पश्चिम भारत में जैन धर्म का विशेष प्रचार एवं प्रसार था क्योंकि उस समय के पूर्व ही भिन्नमाल को जैन तीर्थों का केन्द्र माना जाता था।

जैन-दर्शन में शब्द की स्थिति

[ले०—श्री नेमिचन्द्र शास्त्री]

प्रस्ताविक—

शब्द और अर्थ क्या से? इनका सम्बन्ध है या नहीं? ये नित्य हैं या अनित्य? यदि नित्य हैं तो इनका क्या स्वरूप है और अनित्य हैं तो क्या? अर्थतत्व का ज्ञान कैसे और क्यों होता है? अर्थ-तत्व का निर्णय किस प्रकार से और किन साधनों से किया जाता है?—आदि प्रश्नों का समाधान वैयाकरणों के अतिरिक्त दार्शनिकों ने भी किया है। शब्द सुदूर प्राचीन काल से ही दार्शनिकों के लिए विचार का विषय रहा हैं। जैन दर्शनकारों ने भी शब्द और अर्थतत्व पर पर्याप्त ऊहा-पोह किया है। प्रमोत्पत्ति का प्रधान साधन शब्द ही है। अतः इसके स्वरूप पर विचार करना दर्शन शास्त्र का एक अनिवार्य अंग है।

स्वरूप—

जैन दर्शन में शब्द को पुद्गल का पर्याय या रूपान्तर माना गया है। इसकी उत्पत्ति स्कन्धों के परस्पर टकराने से होती है। इस लोक में सर्वत्र पुद्गलरूप शब्द वर्गणाएँ, अति सूक्ष्म और अव्याहत रूप से भरी हुई हैं। हम अपने मुंह से ताल्वादि के प्रयत्न द्वारा वायु विशेष का निस्सरण करते हैं, यही वायु पुद्गल-वर्गणाओं से टकराती है, जिससे शब्द की उत्पत्ति हो जाती है। प्रमेय कमल-मार्तण्ड में शब्द के आकाश गुणत्व का निराकरण करते हुए बतलाया गया है कि परमाणुओं के संयोग रूप स्कन्धों—शब्दवर्गणाओं के सर्वत्र, सर्वदा विद्यमान रहने पर भी ये वर्गणाएँ शब्द रूप तभी परिणमन करती हैं, जब अर्थबोध की इच्छा से उत्पन्न प्रयत्न से प्रेरित परस्पर घर्षण होता है। वाद्यध्वनि तथा मेघ आदि की गर्जना भी वर्गणाओं के घर्षण का ही फल है। कुन्दकुन्दस्वामी ने शब्द स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है—

> सद्दोखंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंघादो।
> पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियमा ॥—पञ्चास्तिकाय

शब्द स्कन्ध से उत्पन्न होता है। अनेक परमाणुओं के बन्ध को स्कन्ध कहते हैं। इन स्कन्धों के परस्पर टकराने से शब्द की उत्पत्ति होती है।

अतः यह सिद्ध है कि शब्द पुद्गल की पर्याय है—पुद्गल स्वरूप है और इसकी उत्पत्ति स्कन्धों के परस्पर टकराने से होती है।

जब शब्द पुद्गल की पर्याय है तो यह किस गुण के विकार से उत्पन्न होता है; क्योंकि प्रत्येक पर्याय गुणों की विकृति—परिवर्तन से उत्पन्न होती है। पुद्गल में प्रधान चार गुण होते हैं—रूप, रस, गन्ध और स्पर्श। शब्द स्पर्श गुण के विकार से उत्पन्न होता है। भाषा वर्गणाएँ

जो पुद्गल रूप हैं, उनमें पुद्गल के चारों प्रधान गुणों के रहने पर भी स्पर्श गुण के परिवर्तन से शब्द की उत्पत्ति होती है। यही कारण है कि शब्द कर्ण इन्द्रिय से स्पर्श करने पर ही अर्थबोध का कारण बनता है। आज के विज्ञान ने (Sound) ध्वनि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो प्रक्रिया प्रस्तुत की है, उससे भी उपर्युक्त कथन की सिद्धि होती है। विज्ञान ध्वनि की उत्पत्ति में 'कम्पन' को आवश्यक मानता है। यह कम्पन स्पर्श गुण के परिवर्तन से ही संभव है। जैन दार्शनिकों ने शब्द को गतिमान, स्थितिमान और मूर्तिक माना है। परीक्षण से भी उक्त तीनों गुण शब्द में सिद्ध हैं। अतः शब्द पुद्गल की पर्याय है और स्पर्श गुण के विकार से उत्पन्न होता है तथा इसमें पुद्गल के चारों गुणों में से स्पर्श गुण ही प्रधान रूप से व्यक्तावस्था में पाया जाता है।

नित्यानित्यत्व—

मीमांसक का कहना है कि शब्द को अनित्य मानने से अर्थ की प्रतीति संभव नहीं; किन्तु शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है, अतः शब्द नित्य है। शब्द नित्य न हो तो स्वार्थ का वाचक नहीं हो सकता है। शब्द में वाचकत्व और अर्थ में वाच्यत्व-शक्ति है, अतः शब्द और अर्थ में वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमादि प्रमाणों से सिद्ध है। उदाहरण के लिए यों कह सकते हैं कि हमने किसी व्यक्ति से पानी लाने को कहा। शब्द अनित्य होता तो पानी शब्द कहने के साथ ही नष्ट हो जाता और श्रोता को अर्थ की प्रतीति ही नहीं होती तथा हम प्यासे ही बने रहते और सुननेवाला हमें कभी भी पानी लाकर नहीं देता। पर यह सब होता नहीं है, श्रोता हमारे कहने के साथ ही अर्थ बोध कर लेता है और जिस अर्थ में जिस शब्द का प्रयोग किया जाता है श्रोता उसकी क्रिया को भी सम्पन्न कर देता है। अतएव शब्द नित्य है, अन्यथा अर्थबोध नहीं हो सकता था। अनित्य शब्द से अर्थ की प्रतीति, प्रवृत्ति और प्राप्ति असंभव है।

'यह घट है' इस शब्द की सदृशता इसी प्रकार के विभिन्न देशवर्ती शब्दों में पायी जाती है, अतः यह सदृशता अर्थ का वाचक हो जायगी, नित्यता नहीं—यह आशंका भी निरर्थक है, अतः शब्द सदृशता से अर्थ का वाचक नहीं हो सकता; क्योंकि शब्द में वाचकत्व एकत्व से संभव है, सदृशता से नहीं। न सादृश्य प्रत्यभिज्ञान से अर्थ का निश्चय किया जा सकता है; क्योंकि ऐसा मानने से शब्द-ज्ञान में भ्रान्ति-दोष आयगा। एक शब्द में संकेत होने पर दूसरे शब्द से अर्थ का निश्चय निर्भ्रान्त नहीं हो सकता; अन्यथा गृहीत संकेत गोशब्द में अश्व शब्द से गाय अर्थ का निश्चय भी अभ्रान्त हो जायगा। यदि शब्द के अवयवों के साम्य से शब्द में सदृशता स्वीकार की जाय तो यह भी असंगत होगा; क्योंकि वर्ण निरवयव होते हैं। गत्व से विशिष्ट गादि शब्दों में भी वाचकत्व नहीं बन सकता है; अतः गादि सामान्य का

अभाव है और सामान्य के अभाव के कारण शब्दों में नानात्व भी संभव नहीं। अतएव नित्य शब्द द्वारा ही अर्थबोध हो सकता है।

पतंजलि ने 'ऋलृक' सूत्र की व्याख्या में जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक और यदृच्छा शब्दों का विवेचन करते हुए जाति शब्दों को नित्य; क्रियावाचक शब्दों को अत्यन्त सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष; गुणवाचक शब्दों को अव्यवहार्य और स्वानुभूति-संवेद्य एवं यदृच्छा शब्दों को लोक-व्यवहार का हेतु माना है। यदृच्छा शब्द भौतिक हैं, ये नित्य नहीं; प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं।

कैयट ने इसी सूत्र की व्याख्या में यदृच्छा शब्द के अतिरिक्त अन्य किसी का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया। ये इसे माया, अविद्या और अज्ञान का ही प्रपंच मानते हैं।

नैयायिक और वैशेषिक शब्द को अनित्य मानते हैं। उनका सिद्धान्त है कि उत्पत्ति के तृतीय क्षण में शब्द का ध्वंस हो जाता है; यह आकाश का गुण विशेष है। लौकिक व्यवहार में वर्ण से भिन्न नाद ध्वनि को ही शब्द कहा जाता है।

बौद्ध अपोह–अन्य निवृत्ति रूप शब्दको मानता है तथा इस दर्शनमें शब्दको अनित्य मानागया है

प्रभाकर ने शब्द की दो स्थितियाँ मानी हैं—ध्वनि रूप और वर्ण रूप। दोनों रूप आकाश के गुण हैं। इनमें ध्वन्यात्मक शब्द अनित्य हैं और वर्णात्मक शब्द नित्य।

जैन दर्शन में उपर्युक्त सभी दर्शनों की आलोचना करते हुए शब्द को नित्यानित्यात्मक माना गया है। असल बात यह है कि जैन दर्शन में विचार करने की दो पद्धत्तियाँ हैं—द्रव्यार्थिक नय या द्रव्यदृष्टि और पर्यायार्थिक या पर्यायदृष्टि। किसी भी वस्तु का विचार करते समय उपर्युक्त दोनों दृष्टियों में से जब एक दृष्टि प्रधान रहती है तब दूसरी दृष्टि गौण और दूसरी के प्रधान होने पर पहली गौण हो जाती है। अतः द्रव्यदृष्टि से विचार करने पर शब्द कथञ्चित् नित्य सिद्ध होता है; क्योंकि द्रव्य रूप शब्द वर्गणाएँ सर्वदा विद्यमान रहती हैं और पर्याय दृष्टि की अपेक्षा से शब्द कथञ्चित् अनित्य हैं; क्योंकि व्यक्ति विशेष जिन शब्दों का उच्चारण करता है, वे उसी समय या उसके कुछ समय पश्चात् नष्ट हो जाते हैं। जैन दार्शनिकों ने पर्यायापेक्षा भी शब्द को इतना क्षण-विध्वंसी नहीं माना है, जिससे वह श्रोता के कान तक ही नहीं पहुँच सके और बीच में ही नष्ट हो जाय। एक ही शब्द की स्थिति कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक हो सकती है। यही कारण है कि जैन दार्शनिकों ने शब्द को एकान्त रूप से नित्य या अनित्य मानने वाले पक्षों का तर्क-संगत निराकरण किया है। कुमारिल भट्ट के नित्यपक्ष की आलोचना करते हुए प्रभाचन्द्र ने बतलाया है कि अर्थ के वाचकत्व के लिए शब्द को नित्य मानना अनुपयुक्त है; क्योंकि शब्द के नित्यत्व के बिना अनित्यत्व से भी अर्थ का प्रतिपादन संभव है। जैसे अनित्य धूमादि से सदृशता के कारण पर्वत और रसोई घर में अग्नि का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार गृहीत संकेतवाले अनित्य शब्द से भी सदृशता के कारण अर्थ का प्रतिपादन संभव है। यदि कार्यकारण एवं सदृशता सम्बन्धों को

वस्तुप्रतिपादक न माना जाय और केवल नित्यता को ही प्रधानता दी जाय तो सर्वत्र सभी पदार्थों को नित्यत्वापत्ति हो जायगी। अतएव कुमारिल भट्ट ने जो शब्द को नित्य माना है तथा शब्द की उत्पत्ति न मानकर उसका आविर्भाव एवं तिरोभाव माना है, वह सदोष है। तर्क द्वारा शब्द कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक ही सिद्ध होता है। शब्द की उत्पत्ति होती है, अभिव्यक्ति नहीं।

अर्थ-प्रतिपत्ति—

जैन दार्शनिकों ने अर्थ में वाच्य रूप और शब्दों में वाचक रूप एक स्वाभाविक योग्यता मानी है। इस योग्यता के कारण ही संकेतादि के द्वारा शब्द सत्य अर्थ का ज्ञान कराते हैं। घट शब्द में कम्बुग्रीवादि वाले घड़े को कहने की शक्ति है और उस घड़े में कहे जाने की शक्ति है। जिस व्यक्ति को इस प्रकार का संकेत ग्रहण हो जाता है कि घट शब्द इस प्रकार के घट अर्थ को कहता है, वह व्यक्ति घट शब्द के श्रवण मात्र से ही जलधारण क्रिया को करने वाले घट पदार्थ का बोध प्राप्त कर लेता है। आचार्य माणिक्यनन्दि ने अर्थप्रतिपत्ति का निर्देश करते हुए कहा है—

सहजयोग्यतासंकेतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः—परीक्षामुख

प्रभाचन्द्र ने शब्द और अर्थ के वास्तविक सम्बन्ध की सिद्धि में उपस्थित किये गये तर्कों का का उत्तर देते हुए लिखा है कि यह सत्य है कि अर्थज्ञान के विभिन्न साधनों से अर्थ का ज्ञान समान रूप से स्पष्ट नहीं होता; कोई अधिक स्पष्ट रूप से वस्तु का ज्ञान कराते हैं और कोई नहीं। अग्नि शब्द से उतना अग्नि का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता, जितना कि अग्नि के जलने से उत्पन्न दाह का। साधन के भेद से स्पष्ट या अस्पष्ट ज्ञान होता है, विषय के भेद से नहीं। अतः अस्पष्ट ज्ञान कराने वाले साधन से ज्ञात पदार्थ को असत्य नहीं कह सकते। साधन के भेद से एक ही शब्द विभिन्न दशाओं में विभिन्न अर्थों के प्रकट करने की योग्यता रखता है।

शब्द और अर्थ की इस स्वाभाविक योग्यता पर मीमांसक ने आपत्ति प्रस्तुत की है कि शब्द-अर्थ में यह स्वाभाविकी योग्यता नित्य है या अनित्य? प्रथम पक्ष में अनवस्था दूषण आयेगा और द्वितीय पक्ष में सिद्ध साध्यतापत्ति हो जायगी। इस शंका का समाधान करते हुए बताया गया है कि हस्त, नेत्र, अंगुली संज्ञा सम्बन्ध की तरह शब्द का सम्बन्ध अनित्य होने पर भी अर्थ का बोध कराने में पूर्ण समर्थ हैं। हस्त, संज्ञादि का अपने अर्थ के साथ सम्बन्ध नित्य नहीं है, क्योंकि हस्त संज्ञादि स्वयं अनित्य हैं, अतः इनके आश्रित रहने वाला सम्बन्ध नित्य कैसे हो सकता है। जिस प्रकार दीवाल पर अंकित चित्र दीवाल के रहने पर रहता है और दीवाल के गिर जाने पर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार शब्द के रहने पर स्वाभाविक योग्यता के कारण अर्थ बोध होता है और शब्दाभाव में अर्थबोध नहीं होता। मीमांसक के समस्त आक्षेपों का उत्तर प्रभाचन्द्र ने तर्कपूर्ण दिया है

भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में शब्द और अर्थ की विभिन्न शक्तियों का निरूपण किया है। प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड में शब्द और अर्थ की स्वाभाविक योग्यता का निरूपण करते हुए भर्तृहरि के सिद्धान्त की विस्तृत आलोचना की है।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध--

जैन-दर्शन शब्द के साथ अर्थ का तादात्म्य सम्बन्ध मानता है। यह स्वाभाविक है तथा कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक है। इन दोनों में प्रतिपाद्य प्रतिपादक शक्ति है। जिस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय में ज्ञाप्य ज्ञापक शक्ति है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ में योग्यता के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य-करण आदि सम्बन्ध भाव नहीं है। शब्द और अर्थ में योग्यता का सम्बन्ध होने पर ही संकेत होता है। संकेत द्वारा ही शब्द वस्तु ज्ञान के साधन बनते हैं। इतनी विशेषता है कि यह सम्बन्ध नित्य नहीं है तथा इसकी सिद्धि प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति इन तीनों प्रमाणों द्वारा होती है:—

जैन दार्शनिकों ने नित्यसम्बन्ध, अनित्य सम्बन्ध एवं सम्बन्धाभाव का बड़े जोरदार शब्दों में निराकरण किया है। प्रमेय कमलमार्त्तण्ड में प्रभाचन्द्र ने जो विस्तृत समालोचना की है, उसीके आधार पर थोड़ा सा इस सम्बन्ध में विवेचन कर देना, अप्रासंगिक न होगा।

वैयाकरण अर्थबोध शब्द से न मानकर शब्द को अभिव्यक्त करने वाली सामूहिक ध्वनि विशेष से ही अर्थ बोध मानते हैं, और इसीका नाम उन्होंने स्फोटवाद रखा है। इनका कहना है कि अर्थ में निश्चित वाच्य शक्ति है और उसका वाचक स्फोट है। यदि वर्णों में वाचकत्व शक्ति स्वीकार की जाय तो वर्णों में यह वाचकत्व शक्ति न तो उनके समूहपने से संभव हो सकती है और न पृथक्पने से। पृथक्पने के मार्ग को स्वीकार करने में 'गौः' शब्द में में' ग' वर्ण ही गाय पदार्थ का वाचक हो जायगा। 'औ' और विसर्ग का उच्चारण निष्फल ही होगा। यदि सामूहिक वर्णों को अर्थबोधक माना जायगा तो वर्णों की सामूहिकता ही एक काल में कैसे संभव हो सकेगी? क्योंकि वर्ण अनित्य हैं। उनका उच्चारण क्रमशः होता है तथा इनके उच्चारण स्थान भी निश्चित् हैं और ये एक साथ अपना काम नहीं करते हैं। अतः सामूहिक वर्ण अर्थबोध के हेतु नहीं हो सकते।

अनुग्राह्य और अनुग्राहक सम्बन्ध की अपेक्षा भी वर्णों में वाचकत्व शक्ति सिद्ध नहीं हो सकती; अतः अनुग्राह्य-अनुग्राहक सम्बन्ध मूर्त्त में होता है अर्थात् अनुग्राह्य वस्तु और अनुग्राहक वस्तु दोनो के सद्भाव में यह नियम घटित होता है। इनमें से प्रथम के सद्भाव में और द्वितीय के अभाव में वा द्वितीय के सद्भाव और प्रथम के अभाव में यह नियम किस तरह कार्यकारी हो सकेगा? ग, औ और विसर्ग में 'ग' 'औ' पूर्व वर्ण हैं और विसर्ग पर वर्ण है। इनमें पूर्व वर्ण 'ग' 'औ' पूर्व वर्ण हैं और विसर्ग पर वर्ण है। इनमें पूर्व वर्ण 'ग' 'औ' इन दोनों का पर वर्ण विसर्ग की सद्भाव अवस्था में अभाव है। अतः उपर्युक्त सम्बन्ध वर्णों में नहीं है।

पूर्व वर्ण और अन्त्य वर्ण में जन्य-जनक सम्बन्ध भी नहीं है, जिसके आधार पर पूर्व वर्ण और अन्त्य वर्ण का सम्बन्ध मानकर वर्णों की सामूहिकता एक काल में एक साथ बन सके और उस सामूहिकता की अपेक्षा वर्ण अर्थ के वाचक हो सकें। अन्यथा वर्ण से वर्ण की उत्पत्ति होने लगेगी।

सहकार्य-सहकारी सम्बन्ध की अपेक्षा भी पूर्व वर्ण और अन्त्य वर्णों का सद्भाव एक साथ

एक काल में नहीं माना जा सकता है; यतः विद्यमानों में ही यह सम्बन्ध होता है। अन्त्य वर्ण के समय में पूर्व वर्ण अविद्यमान है, फिर इस सम्बन्ध की कल्पना इनमें कैसे संभव है। जिस प्रकार यह सम्बन्ध वर्णों में संभव नहीं, उसी प्रकार पूर्व वर्ण-ज्ञान और पूर्व वर्णज्ञानोत्पन्न संस्कार में भी नहीं बन सकता है। क्योंकि पूर्व वर्णज्ञानोत्पन्न संस्कार पूर्व वर्ण ज्ञान के विषय की स्मृति में कारण हो सकता है, अन्य में नहीं। वर्णज्ञानोत्पन्न संस्कार से उत्पन्न स्मृतियाँ भी अन्त्यवर्ण की सहायता नहीं कर सकतीं, यतः उनकी उत्पत्ति भी एक साथ संभव नहीं। क्रमशः उत्पन्न स्मृतियों की उत्पत्ति भी असंभव है। यदि सम्पूर्ण संस्कारों से उत्पन्न एक स्मृति अन्त्यवर्ण की सहायता करती है, यह माना जाय तो विरोधी घटपदार्थ अनेक पदार्थों के अनुभव से उत्पन्न संस्कार भी एक स्मृतिजनक हो हो जायँगे। निरपेक्ष वर्ण पदार्थवाचक नहीं हो सकते हैं; क्योंकि पूर्व वर्णों का उच्चारण निरर्थक हो जायगा। अतः किसी भी सम्बन्ध में ऐसी शक्ति नहीं है जिससे गौः आदि शब्दों द्वारा गवादि अर्थों की प्रतीति हो सके। पर, अर्थ की प्रतीति शब्दों द्वारा देखी जाती है; अतः स्फोट नाम की शक्ति ही अर्थबोध का कारण है। स्फोटवादी शब्द को ब्रह्मस्वरूप मानते हैं। यही ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय रूप है। स्फोट को भी नित्य, अखण्ड, अनिर्वचनीय और निर्लेप माना गया है।

जैन दर्शनकारों ने इस स्फोटवाद की विस्तृत समीक्षा करते हुए बताया है कि एक का अभाव अन्य वस्तु के सद्भाव का कारण होता है। यह कारण उपादान हो अथवा निमित्त, पर कार्योत्पत्ति में सहायक अवश्य रहता है। प्रत्येक कार्य उपादान और निमित्त दोनों प्रकार के कारणों से उत्पन्न होता है। बलिष्ठ उपादान भी अकेला तब तक कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता है, जब तक निमित्त सहायता नहीं करता है। शब्द की अन्तिम ध्वनि अर्थ प्रतीति में उपादान कारण है, पर यह उपादान अपने सहकारी पूर्व वर्ण की अपेक्षा करता है। यद्यपि अन्त्य वर्ण के समय में पूर्व वर्ण का सद्भाव नहीं है, फिर भी श्रूयमाण पूर्व वर्ण का अभाव तो अन्त्य वर्ण के समय में विद्यमान है। इस अभाव की सहायता से अन्त्यवर्ण अर्थ प्रतीति में पूर्ण समर्थ है। जैसे आम्रवृक्ष की शाखा पर लगा हुआ आम अपने भार के कारण स्वयं गिरकर अथवा दूसरे किसी कारण से च्युत होने पर वह अपना संयोग पृथ्वी से स्थापित करता है। इस संयोग में उसके पूर्व संयोग का अभाव कारण है; अन्यथा पृथ्वी से उसका संयोग हो ही नहीं सकता। अतएव पूर्व वर्ण-ज्ञान के अभाव से विशिष्ट अथवा पूर्व वर्णज्ञानोत्पन्न संस्कार की सहायता से अन्त्यवर्ण अर्थ की प्रतीति करा देता है।

पूर्व वर्ण विज्ञानोत्पन्न संस्कार प्रवाह से अन्त्यवर्ण की सहायता को प्राप्त करता है। प्रथम वर्ण और उससे उत्पन्न ज्ञान से संस्कार की उत्पत्ति होती है; द्वितीय वर्ण का ज्ञान और उससे प्रथम वर्ण ज्ञानोत्पन्न संस्कार से विशिष्ट संस्कार उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अन्त्य संस्कार तक क्रम चलता रहता है। अतएव इस अन्त्य संस्कार की सहायतासे अन्त्यवर्ण अर्थ की प्रतीति में जनक होता है।

शब्दार्थ की प्राप्ति में सबसे प्रमुख कारण क्षयोपशम रूप शक्ति है, इसी शक्ति के कारण पूर्वा-

पर उत्पन्न वर्णज्ञानोत्पन्न संस्कार स्मृति को उत्पन्न करता है, जिसकी सहायता से अन्त्यवर्ण अर्थ प्रतीति का कारण बनता है। इसी प्रकार वाक्य और पद भी अर्थ प्रतीति में सहायक होते हैं।

जैन दर्शन में कथञ्चित्तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध शब्द और अर्थ का माना गया है, जिससे स्फोट वादी के द्वारा उठायी गयी शंकाओं को यहाँ स्थान ही नहीं। भद्रबाहु स्वामी ने कहा है—

अभिहाणं अभिहेयाउ होइ भिन्नं अभिन्नं च। खुर अग्गिमोयगुच्चारणम्मि जम्हा उवयणसवणाणं ॥१॥
विच्छेदो न वि दाहो न पूरणा तेण भिन्नंतु। जम्हाय मोयगुच्चारणम्मिभतत्थेव पच्चया होइ ॥२॥
न य होइस अन्नत्थे तेण अभिन्नं तदत्थाओ।—न्यायावतार पृ० १३

शब्द—अभिधान अर्थ—अभिधेय से भिन्न और अभिन्न दोनों ही है। चूंकि खुर, अग्नि और मोदक इनका उच्चारण करने से वक्ता के मुंह और श्रोता के कान नष्ट या जल या भर नहीं जाते हैं, इसलिये तो अर्थ से शब्द कथञ्चिद्भिन्न हैं और चूंकि 'मोदक' शब्द से 'मोदक' अर्थ में ही ज्ञान होता है और किसी पदार्थ में नहीं होता, इसलिये अपने अर्थ से शब्द कथञ्चित् भिन्न है।

शब्द के भेद –

शब्द के मूलतः दो भेद हैं—भाषा रूप और अभाषा रूप। भाषा रूप शब्द भी दो प्रकार का है—अक्षररूप और अनक्षररूप। मनुष्यों के व्यवहार में आनेवाली अनेक बोलियाँ अक्षररूप भाषात्मक शब्द है और पशु पक्षियों की टें-टें, मैं-मैं अनक्षर रूप भाषात्मक शब्द हैं। अभाषा रूप शब्द के दो भेद हैं—प्रायोगिक और स्वाभाविक। जो शब्द पुरुष प्रयत्न से उत्पन्न होता है उसे प्रायोगिक और जो बिना पुरुष प्रयत्न के मेघादि की गर्जना से होता है उसे स्वाभाविक कहते हैं। प्रायोगिक के चार भेद हैं—तत, वितत, घन और सुषिर। चमड़े को मढ़कर ढोल, नगारे आदि का जो शब्द होता है, वह तत है। सितार, पियानो और तानपुरा आदि के शब्द को वितत; घण्टा, झालर आदि के शब्द को घन एवं बासुरी, शंख आदि के शब्द को सुषिर कहते हैं।

उपसंहार —

जैन दर्शन में शब्द को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसके बिना प्रमा ही संभव नहीं तथा सर्वज्ञ वचनों की प्रमाणता के अभाव में आगम भी प्रमाण नहीं हो सकेगा। शब्द को जैन दार्शनिकों ने आकाश गुण नहीं माना है, प्रत्युत पौद्गलिक सिद्ध किया है। शब्द की सिद्धि अनेकान्त के द्वारा मानी है। पूज्यपाद ने अपने व्याकरण के आरंभ में—'**सिद्धिरनेकान्तात्**" सूत्र लिखा है, जिसकी वृत्ति लिखते हुए सोमदेव ने बतलाया है—"**सिद्धिः शब्दानां निष्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा भवत्येनकान्तात्, अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानित्यत्वविशेषणविशेष्याद्यात्मकत्वात् दृष्टेष्टप्रमाणा-**विरुद्धत्वात् अर्थात् शब्दों की सिद्धि अनेकान्त के द्वारा ही हो सकती है।

न शब्दः खगुणो बाह्यकरणज्ञान गोचरः। सिद्धो गंधादिवन्नैव सोमूर्तद्रव्यमप्यतः ॥
न स्फोटात्मापि तस्यैव स्वभावस्याप्रतीतितः। शब्दात्मनस्सदा नाना स्वभावस्यावभासनात् ॥
अन्तः प्रकाश रूपस्तु शब्दे स्फोटो परे ध्वनिः। यथार्थं गतिहेतुः स्यात्तथा गंधादितो परः ॥
गन्धरूप रसस्पर्शः स्फोटः किं नोपमन्यते। तत्राक्षेपसमाधानसमत्वात्सर्वथार्थतः ॥

अतः जैन दर्शन ने शब्द को आकाश गुण न मानकर पौद्गलिक माना है तथा शब्द और अर्थ का कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध सिद्ध किया है।

अन्वेषकों के समक्ष

[श्रीयुत् पं० के० भुजबली शास्त्री, मूडबिद्री]

---

(१) आ० भद्रबाहु का संघ कोन्नूरु होकर श्रवणबेलगोल में आया था ? बम्बई प्रांतांतर्गत गोकाक से उत्तर-पूर्व ५ मील दक्षिण की ओर, घटप्रभानदी तट पर कोन्नूरु नामक एक गांव है। शिलालेख में इस गांव का नाम कोंडनूरु बताया है। सुनने में आता है कि प्राचीन काल में कोन्नूरु जैनों का एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। यहां पर रेतीली पहाड़ियों के नीचे बहुतसी पुरानी कोठरियां हैं, जिनमें पाषाण की दीवालें और छतें हैं। दर्शनीय इन प्राचीन स्थानों की तुलना इंग्लैंड के प्राचीन पाषाणनिर्मित कमरों से की जाती है। इसमें संदेह नहीं है कि ये बहुत ही प्राचीन और जैन साधुओं की तपस्या के स्थान हैं।

जैन इतिहास में मौर्यकालीन श्रुतकेवली भद्रबाहु की दक्षिण यात्रा की बात एक उल्लेखनीय महत्त्वपूर्ण घटना समझी जाती है। मेरा अनुमान है कि भद्रबाहु का उक्त संघ कोन्नूरु होकर ही श्रवणबेलगोल में आया था। साथ ही साथ संघ को एक वर्षा योग यहीं पर बिताने का सुअवसर मिला था। अन्यथा कोन्नूरु में एक साथ सैकड़ों मुनिवास बनवाने की जरूरत ही क्यों होती ? इन मुनिवासों को सन् ५२ में मैंने अपनी आंखों से देखा है। इनमें से बहुत से मुनिवास आज भी उत्तम दशा में है। सुना है कि इधर जिस साल कोन्नूरु में श्री आचार्य शांति सागर जी के संघ का चातुर्मास हुआ था, उस साल उपर्युक्त मुनिवासों में से कतिपय मुनिवास उक्त संघ के उपयोग में लिये गये थे। गांव वालों से मालूम हुआ है कि पूर्व में ये गुफाएं संख्या में ७०२ थीं। पर हां, अब इतनी नहीं है। फिर भी सैकड़ों हैं।

(२) आ० पुष्पदंत गिरनार से वनवास किस मार्ग से आये ?

श्रुतावतार सम्बन्धी निम्नलिखित घटना जैन इतिहास में एक उल्लेखाई महत्त्वपूर्ण घटना है। घटना इस प्रकार है—षट्खण्डागम के ज्ञाता श्रुतवत्सल आचार्य धरसेन सौराष्ट्र देश के गिरिनगर (गिरनार) की चन्द्रगुफा में जब तपस्या कर रहे थे, तब उन्हें इस बात की चिंता हुई कि उनके पश्चात् यहां पर पवित्र श्रुतज्ञान का लोप हो जायगा। इसलिये उन्होंने इस सम्बन्ध में महिमा नगरी (प्रायः सतारा जिलांतर्गत महिमानगढ़) के मुनिसम्मेलन को एक पत्र दिया। महिमानगरी में सम्मिलित यति संघ को आचार्य धरसेन जी का पत्र जब मिला, तब उन्होंने श्रुतरक्षा सम्बन्धी उनके अभिप्राय को अवगत कर अपने संघ में से विद्या ग्रहण करने एवं स्मरण रखने में समर्थ

अत्यंत विनयशील, चरित्रवान् और देश कुल-जाति के शुद्ध और समस्त कलाओं में पारंगत दो साधुओं को चुना। ये दोनों साधु धरसेनाचार्य के निकट गिरनार भेज दिये गये। आचार्य धरसेन जी ने उनकी परीक्षा की। परीक्षा में दोनों साधु उत्तीर्ण हुए। बाद धरसेन जी ने क्रम से उन्हें सब सिद्धांत पढ़ा दिया।

यह श्रुताभ्यास अषाढ़ शुक्ला एकादशी को समाप्त हुआ। आषाढ़ शु० एकादशी को ज्यों ही अभ्यास पूरा हुआ त्यों ही वर्षाकाल के बहुत समीप होते हुए भी उन्हें आचार्य धरसेन जी ने उसी दिन अपने पास से बिदा कर दिया। दोनों शिष्यों ने गुरु की बात अनुल्लंघनीय मानकर उसका पालन किया और वहां से चलकर अंकलेश्वर में चातुर्मास किया। धरसेन जी ने उन शिष्यों को तत्काल अपने पास से विदा करने का कारण आचार्य इंद्रनंदी आदि ने लिखा है कि धरसेनाचार्य को ज्ञात हुआ कि उनकी मृत्यु निकट है, इसलिये उन्हें इस कारण दुःख न हो अस्तु, पुष्पदंत अंकलेश्वर से निकल कर जिनपालित को देखने के लिये बनवास (बनवासि) चले आये। यहां पहुंच कर इन्होंने जिनपालित को दीक्षा दी और 'बीसदि सूत्रों' अर्थात् सत्प्ररूपणा के बीस अधिकारों की रचना करके उन्हें पढ़ाया और फिर उन्हें भूतबलि के पास भेज दिया। भूतबलि ने उन्हें अल्पायु जानकर महाकर्म प्रकृति पाहुड़ के विच्छेद के भय से द्रव्य प्रमाण से लेकर आगे की ग्रन्थरचना की। इस प्रकार पुष्पदन्त और भूतबलि दोनों सिद्धान्तग्रन्थ (षट्खण्डागम) के रचयिता और जिनपालित इस रचना के निमित्त कारण हुए।

मेरा अनुमान है कि आचार्य पुष्पदन्त अंकलेश्वर से बनवासि निम्नलिखित मार्ग से लौटे—अंकलेश्वर से सूरत-बम्बई द्वारा पूना; पूना से सतारा (७० मील पर); सतारा से करहाड[1] (३४ मील पर); करहाड से इसलामपुर (१६ मील पर); इसलामपुर से कोल्हापुर[2] (ल० २२ मीलपर); कोल्हापुर से कोंगनोलि[3] (१५ मील पर); कोंगनोलि से पट्टणगुडि (ल० १२ मील पर); पट्टणगुडि से शंखेश्वर (ल० ११ मील पर); शंखेश्वर से बेलगाँव (३२ मील पर); बेलगाँव से नन्दगढ़ (२४ मील पर); नन्दगढ़ से अलनावर (१४ मील पर); अलनावर से हलियाल (७ मील पर); हलियाल से बनवासि (५० मील पर)। उल्लिखित स्थानों में आज भी जैनों की संख्या और आर्थिक स्थिति संतोषप्रद है। एक जमाने में बनवासि जैनों का प्रभुत्व केन्द्र रहा, इस बात को मैं अन्यत्र

१ इसका प्राचीन नाम करहाटक था। यह चालुक्यों की उत्तर राजधानी रही है।

२ इसका प्राचीन नाम करवीर था।

३ इसका प्राचीन नाम कोंगणिपल्लि था।

समर्थन कर चुका हूँ। इसलिये यहाँ पर फिर इस बात को दुहराना मैं नहीं चाहता हूँ।

(३) कुटक कोडगे ?

श्रीमद्भागवत में पाँचवें स्कंन्ध के अध्याय २-६ में भगवान् ऋषभदेव का सुन्दर वर्णन आया है। उसमें लिखा है कि कैवल्यपति भगवान् ऋषभदेव निरन्तर परम आनन्द का अनुभव करते हुए भ्रमण करते करते कोंकवेंक, कुटक आदि कर्णाटक देशों में अपनी इच्छा से पहुँचे। क्या भागवत में वर्णित कुटक वर्तमान कोडगु या कुर्ग नहीं है ? कोंक (कोंकण), वेंक के साथ इसका उल्लेख होने से वर्तमान कोडगु ही भागवत में प्रतिपादित प्राचीन कुटक मालूम होता है।

(४) कोडंकुन्दि आ० कुन्दकुन्द का जन्म स्थान है ?

श्री कुन्दकुन्दाचार्य एक बहुत ही प्रामाणिक एवं प्रतिष्ठित आचार्य हैं। इनका पहला—संभवतः दीक्षाकालीन नाम पद्मनन्दी था। ये ८४ पाहुड ग्रन्थों के रचयिता प्रसिद्ध हैं और इनके विदेह क्षेत्र में श्री सीमन्धर स्वामी के समवशरण में जाकर साक्षात् तीर्थङ्कर मुख से बोध प्राप्त करने की कथा विख्यात है। कुन्दकुन्दाचार्य का समय प्रायः प्रथम शताब्दी और इनका कुन्दकुन्द यह नाम कोंडकुन्दि पुर के अधिवासी होने के कारण माना जाता है। पूर्व में मद्रास प्रान्तान्तर्गत हाल ही में मैसूर में सम्मिलित अनन्तपुर जिला में कोंदकुन्दि नामक गाँव है। दक्षिण के कुछ विद्वानों की राय है कि यही गाँव कुन्दकुन्दाचार्य की जन्मभूमि है। यहाँ पर आज भी अनेक शिलालेख उपलब्ध होते हैं।

(५) धूर्जटि कौन था ?

आचार्य अजितसेन के अलंकार चिन्तामणि, कवि हस्तिमल्ल के विक्रान्त कौरव और शक संवत् १०५० में उत्कीर्ण श्रवणबेलगोल के शिलालेख (नं० ५४ में थोड़े से पाठभेद के साथ) उपलब्ध 'अवटु-तटमटति झटिति स्फुट-पटु वाचाट-धूर्जटेर्जिह्वा। वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति का कथान्येषाम्।' पद्य में प्रतिपादित धूर्जटि एक असामान्य विद्वान् मालूम होते हैं। इसमें संदेह नहीं है कि उस जमाने में धूर्जटि नामवाले विद्वान् भी अवश्य थे। उदाहरण के रूप में कृष्णदेव राय के आस्थान के अष्ट दिग्गजों में धूर्जटि नामवाला भी एक विद्वान् मौजूद था। अब पता लगाना है कि आचार्य समन्तभद्र के समय में धूर्जटि नामवाला विद्वान् कौन था और उसका विशेष परिचय क्या है ?

(६) विजया का काव्य कहाँ पर है ?

राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष नृपतुंग के सेनानायक जैन वीरबंकेय की धर्मपत्नी

विजया बड़ी विदुषी रही। इसने संस्कृत में एक काव्य रचा है। इस काव्य का एक पद्य श्रीमान् वेंकटेश भीमराव आलूर, बी० ए०, एल० एल० बी० ने कर्नाटक गतवैभव नामक अपनी सुन्दर पुस्तक में उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। वह पद्य इस प्रकार है—"सरस्वतीव कर्णाटी विजयांका जयत्यसौ। या वैदर्भगिरांवासः कालीदासादनन्तरम्॥" अब पूरे काव्य को खोजने की जरूरत है। काव्य सुन्दर होगा। इस बातको पूर्वोक्त पद्य ही बतला रहा है। इसमें या वैदर्भगिरांवासः कालीदासादनन्तरम् यह पद्य भाग अवश्य विचारणीय है। कवयित्री पूर्वोक्त पद्य में अपने को सरस्वती की तुल्या घोषित कर रही है। इससे विदित होता है कि विदुषी विजया सामान्य कवयित्री नहीं थी। कवयित्री का पूज्य पति बंकेय भी एक अद्वितीय वीर था। इसका परिचय 'भास्कर' में मैं दे चुका हूँ। यहाँ पर फिर उसे दुहराने की जरूरत नहीं है।

आशा है कि हमारे अन्वेषक विद्वान् उपर्युक्त विषयों पर विशेष प्रकाश डालने का श्रम अवश्य करेंगे।

अपभ्रंश-साहित्य : एक संक्षिप्त परिचय

[श्रीयुत् प्रो० राजकुमार जैन, एम० ए०, साहित्याचार्य]

(गतांक से आगे)

अपभ्रंश के महाकाव्य

अपभ्रंश साहित्य के सर्वाधिक समृद्ध एवं परिष्कृत रूप के दर्शन हमें उसके महाकाव्यों में दृष्टिगोचर होते हैं। अपभ्रंश के दोहा साहित्य एवं नीति-खण्ड-काव्यों की अपेक्षा इनमें अनेक प्रकार की विशेषताएँ पाई जाती हैं। इनकी रचना कडवकों पर आधारित है, जिनमें सामान्यतः पज्झटिका या अलिल्लह छन्द के साथ अन्त में एक घत्ता छन्द रहता है। कहीं-कहीं कडवक के आदि में एक दुवई छन्द भी पाया जाता है। लगभग दस पन्द्रह कडवकों का एक अध्याय होता है। जिसे सन्धि कहा जाता है। सन्धि के प्रारंभ में कहीं-कहीं एक ध्रुवक छन्द का भी सन्निवेश उपलब्ध होता है। विषय एवं भाव-वर्णन के अनुरूप विविध छन्दों के परिवर्तन भी इनकी एक विशेषता है। संस्कृत-महाकाव्यों के समान इनकी रचना भी रस रीति, गुण, अलङ्कार प्रभृति निःशेष काव्यगत विशेषताओं से अलंकृत है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपभ्रंश महाकाव्यों में स्वीकृत उल्लिखित शैली के आधार पर अनेक महाकाव्यों—पुराणों एवं चरितों का सृजन हुआ, जिसका संक्षिप्त परिचय हम यहाँ दे रहे हैं।

अपभ्रंश के उपलब्ध महाकाव्यों में सबसे प्राचीन रचना है—महाकवि स्वयम्भुकृत 'पउमचरिउ तथा 'रिट्ठणेमि चरिउ'।

पउमचरिउ—यह ग्रन्थ १२ हजार श्लोक प्रमाण है और इसमें सब मिलाकर ९० सन्धियाँ हैं—विद्याधर काण्ड में २०, अयोध्याकाण्ड में २२, सुन्दर काण्ड में १४, युद्ध काण्ड में २१ और उत्तर काण्ड में १३। इनमें से ८३ सन्धियों की रचना महाकवि स्वयंभु ने की है और शेष सात सन्धियों की उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभु ने।

स्वयंभुदेव ने अपभ्रंश भाषा के छन्दः[1] शास्त्र एवं व्याकरण शास्त्र[2] की भी रचना की थी। उल्लिखित दो महाकाव्यों के अतिरिक्त पद्धडियाबद्ध पंचमीचरिउ नामक एक अन्य काव्य की भी

१—स्वयंभूच्छन्दस-सम्पादक-एच० डी० वेलणकर (जर्नल आव बाम्बे ब्रांच रायल एशियाटिक सोसायटी, वाल्यूम २, सन् १९३५)।

२—यद्यपि स्वयंभुकृत व्याकरण अद्यावधि उपलब्ध नहीं हो सका है; परन्तु निम्नाङ्कित पद्य से स्पष्ट है कि उन्होंने अपभ्रंश पर एक स्वतन्त्र व्याकरण ग्रन्थ भी अवश्य लिखा होगा:—

"तावच्चिय सच्छंदो भमइ अवब्भंस-मच्च-मायंगो।
जाव ण सयंभु-वायरण-अंकुसो पडइ॥" —(पउमचरिउ, १-४)

इन्होंने रचना की थी[१]। इसके पिता का नाम मारुतदेव तथा माता का नाम पद्मिनी था। मारुतदेव भी कवि थे। स्वयंभु ने अपने छन्दः शास्त्र में 'तहाय माउरदेवस्स' कह कर उनके एक दोहे का उदाहरण स्वरूप उल्लेख किया है[२]। स्वयंभु गृहस्थ थे और 'पउमचरिउ' में उनकी दो पत्नियों के नाम भी पाये जाते हैं। इनमें से एक अइच्चम्बा (आदित्याम्बा) और दूसरी सामिअब्बा थी, जिन्होंने क्रमशः अयोध्या काण्ड तथा विद्याधरकाण्ड लिखाया था। स्वयंभुदेव ने अपनी रचनाओं में अपने वंश, गोत्र, गुरु, सम्प्रदाय आदि का कोई उल्लेख नहीं किया है। परन्तु पुष्पदन्तकृत महापुराण के टिप्पण में उन्हें 'आपुलीसंघीय' बतलाया है[३]। इससे वे यापनीय संघ के अनुयायी प्रतीत होते हैं।

स्वयंभुदेव पहले धनंजय के आश्रित रहते थे और इस समय इन्होंने पउमचरिउ की रचना की और इसके पश्चात् वह धवलइया के आश्रय में रहे और 'रिट्ठणेमि चरिउ' का प्रणयन किया। इसलिए इन्होंने पहले ग्रन्थ में धनञ्जय[४] का और दूसरे में धवलइया[५] का प्रत्येक सन्धि के अन्त में उल्लेख किया है।

स्वयंभुदेव के अनेक पुत्र थे, परन्तु उनमें त्रिभुवन स्वयंभु बहुत सुयोग्य एवं विद्वान् थे। यह महाकवि थे और कविराज चक्रवर्ती इनका विरुद था। पउमचरिउ में लिखा है कि उस त्रिभुवन स्वयंभु के गुणों का वर्णन कौन कर सकता है, जिसने बाल्यावस्था में ही अपने पिता के काव्यभार को उठा लिया[६]। यदि वह न होता तो स्वयंभुदेव के काव्यों का, कुल और कवित्व का समुद्धार कौन करता[७] ? और सब लोग तो अपने पिता के धन का उत्तराधिकार ग्रहण करते हैं; परन्तु त्रिभुवन स्वयंभु ने अपने पिता के सुकवित्व का उत्तराधिकार लिया[८]। उसे छोड़कर स्वयंभु

१—"अइया हुउ छंद चूडामणिस्स तिहुवण-सयंभु लहुतणउ।
तो पद्धडिया कव्व सिरिपंचमी को समारेउ॥" -वही, अन्तिम अंश, ८)।

२—"अद्दहमित्त ममंतेण रअणारचंदेण।
सो सिज्जंत सिज्जइ वि तह मरइ भरंतेण॥"

३—"सयंभु पद्धडीबद्धकर्ता आपलीसंघीयः।" (महापुराण, पृ० सं० ६)।

४—"इय इत्थ पउमचरिए धणंजयासिय-सयंभुएवकए।
जिण-जम्मुप्पत्ति इयं पढमं चिय साहियं पव्वं॥" (पउमचरिउ)।

५—"इय रिट्ठणेमि चरिए धवलइयासिय-सयंभुएवकए।
पढमो समुद्दविजयाहिसेयणामो इमो सग्गो॥" (रिट्ठणेमि चरिउ)।

६—"तिहुयणसयंभु णवरं को गुणो वण्णिउं जए तरइ।
बालेण वि जेण सयंभु-कव्वभारो समुव्वूढो॥" (पउमचरिउ, अन्तिम अंश ३)।

७—तिहुयण सयंभु जइ णहुंतु णंदणो सिरिसयंभुदेवस्स।
कव्वं कुलं कवित्तं तो पच्छा को समुद्धरइ॥ (पउमचरिउ, अन्तिमांश ७)

८—सव्वो वि जणो गेण्हइ णिय ताय-विढत्त-दव्व-संताणं।
तिहुयण-सयंभुणा पुण गहियं णं सुकइत्त-संताणं॥ (वही अन्तिमांश ६)

के समस्त शिष्यों में ऐसा कौन था जो उनके काव्य समुद्र को पार करता[1] ? व्याकरण रूप हैं सुदृढ़ कन्धे जिसके, आगमों के अंगों की उपमा वाले हैं विकट पद जिसके ऐसे त्रिभुवन स्वयंभु रूप धवल (वृषभ) ने जिन तीर्थ का भारवहन किया[2]। इस लेख से व्यञ्जित होता है कि त्रिभुवन भी एक महान् वैय्याकरण एवं आगमादि शास्त्रों के ज्ञाता थे।

यद्यपि स्वयंभुदेव कृत पउमचरिउ, रिट्ठणेमि चरिउ तथा पंचमी चरिउ तीनों ही काव्य रचनाएँ अपने आप में सम्पूर्ण थीं; परन्तु त्रिभुवन स्वयंभु ने स्वयं इस बात का उल्लेख किया है कि उन्होंने इन तीनों रचनाओं को पूर्ण किया। कवि चक्रवर्ती त्रिभुवन स्वयंभु ने जिस ढंग से इन रचनाओं को पूर्ण किया है इनका वह आदर्श साहित्यिक जगत् में सर्वथा निराला है। बाण की अपूर्ण कादम्बरी को उनके पुत्र द्वारा पूर्ण किये जाने की भाँति उन्होंने इनकी पूर्ति नहीं की है; अपितु इन सर्वाङ्गपूर्ण रचनाओं में उन्हें कुछ कमी अनुभूत हुई और उसे उन्होंने नवीन सर्ग-रचना द्वारा पूर्ण किया।

रिट्ठणेमि चरिउ—स्वयंभुदेव का यह दूसरा महाकाव्य है। यह हरिवंश पुराण नाम से प्रसिद्ध है। अठारह हजार श्लोक प्रमाण है और इसमें ११२ सन्धियाँ हैं। इसमें तीन काण्ड हैं—यादव, कुरु और युद्ध। यादव में १३, कुरु में १६ और युद्ध में ६० सन्धियाँ हैं। सन्धियों की यह गणना युद्ध काण्ड के अन्त में दी हुई है और यह भी लिखा है कि प्रत्येक काण्ड की रचना कब हुई और उसमें कितना समय लगा। ६३ से ६६ तक की सन्धियों की रचना भी स्वयंभु देव ने ही की है। इसके आगे का भाग १०० से ११२ तक की सन्धियाँ त्रिभुवन स्वयंभु ने बनाई हैं और अन्तिम सन्धि तक की पुष्पिकाओं में इनका नाम अङ्कित है।

प्रस्तुत रिट्ठणेमि चरिउ की भी उत्थानिका में कवि ने अपने पूर्ववर्ती शास्त्रकारों और कवियों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए लिखा है कि 'मुझे इन्द्र ने व्याकरण, भरत ने रस, व्यास ने विस्तरण, पिंगल ने छन्द, भामह और दण्डी ने अलङ्कार, बाण ने छनछनाता हुआ अक्षराडम्बर, श्री हर्ष ने नैपुण्य एवं चतुर्मुख ने दुवई और ध्रुवकोंसे जड़ा हुआ पद्धडिया छन्द समर्पित किया[3]'।

१—तिहुवणसयंभुमेक्कं मोत्तूण सयंभुकव्व-मयरहरो।
को तरइ गंतुमंतं मज्झे णिस्सेस-सीसाणं ॥ (वही, अन्तिमांश १०)

२—वायरण-दढ-क्खंधो आगम-अंगोपमाण-वियडपओ।
तिहुयण-सयंभु-धवलो जिणतित्थे वहउ कव्वभरं ॥ (वही अन्तिमांश ४)

३—इंदेण समप्पिउ वायरणु, रसु भरहें वासें वित्थरणु।
पिंगलेण छंद-पय-पत्थारु, भम्मह-दंडिणिहिं अलंकारु।
बाणेण समप्पिउ घणघणउ, तं अक्खर-डंबरु अप्पणउ।
सिरिहरिसें णिय णिउणत्तणउ, अवरेहिं मि कइहि कइत्तणउ।
छंडणिय-दुवइ-धुवएहिं जडिय, चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय।
—(रिट्ठणेमि चरिउ की उत्थानिका)

इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि स्वयंभु के मतानुसार चतुर्मुख इस प्रकार के सर्व प्रथम कवि थे, जिन्होंने पद्धड़िया छन्द का ध्रुवक और दुवई के साथ मेल मिलाकर कड़वक रूप से अपभ्रंश-काव्य-रचना करने का श्री गणेश किया।

यद्यपि चतुर्मुख की अब तक कोई काव्य-रचना उपलब्ध नहीं हुई है, परन्तु पउम चरिउ की उत्थानिका एवं अन्तिम प्रशस्ति के पद्यों में अपभ्रंश साहित्य के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में जो महत्त्वपूर्ण संकेत निहित हैं उनसे सूचित होता है कि चतुर्मुख देव ने 'महाभारत' की सम्पूर्ण या खण्ड रूप से रचना की थी, जिसमें 'गोग्रहण कथा' इतनी सुन्दर वर्णित हुई है उसकी बराबरी कोई कवि नहीं कर पाया[1]। एक अन्य पद्य से प्रतीत होता है कि चतुर्मुख ने 'पंचमी चरित' की भी रचना की थी[2]। उसमें चतुर्मुख के शब्द-सौन्दर्य की बड़ी प्रशंसा की गई है। अपभ्रंश-कवि धवल ने भी अपने हरिवंशपुराण में चतुर्मुख की 'हरिपाण्डवानां कथा' का उल्लेख किया है[3]। इसके अतिरिक्त स्वयंभुदेव के 'स्वयंभु छन्द' में चउमुहु के जो पद्य उदाहरण स्वरूप उद्धृत हुए हैं, उनमें से ८३, ८६, ११२ पद्यों से स्पष्ट होता है कि चतुर्मुख देव ने पउम चरिउ की भी अवश्य रचना की होगी। क्योंकि उनमें राम-कथा के प्रसङ्ग हैं[4]।

चतुर्मुख के अतिरिक्त त्रिभुवन स्वयंभु ने दो अन्य अपभ्रंश काव्यकारों का उल्लेख किया है जो स्वयंभु से पूर्व के हैं। इनमें से एक दंती हैं और दूसरे हैं भद्र। इन दोनों कलाकारों की प्रशंसा में लिखा है कि दंती का शब्दार्थ बड़ा मनोहारी होता है और भद्र के 'गोग्रहण' एवं 'मत्स्यवेध'—वर्णन को आज भी कोई कवि नहीं पा सकता[5]। इससे ज्ञात होता है कि भद्र ने किसी महाभारत या हरिवंश की रचना की होगी, जिसके अन्तर्गत 'गोग्रह-कथा' और 'मत्स्यवेध'

१—जलकीलाए सयंभु चउमुहएवं च गोग्गहकहाए।
भद्दं च मच्छवेहे अज्ज वि कइणो ण पावंति॥ (पउमचरिउ, १-४)

२—चउमुह सयंभुएवाण वण्णियत्थं अचक्खमाणेण।
तिहुयणसयंभुरइयं पंचमि-चरियं महच्छरियं॥ (पउमचरिउ, अंतिमांश ४)

३—"हरिपंडुवाण कहा चउमुहवासेहिं भासियं जम्हा।
तह विरयमि लोयपिया जेण ण णासेइ दंसणं पउरं॥
—(हरिवंशपुराण की उत्थानिका)

४—देखिए, जैन साहित्य और इतिहास' (श्री पं० नाथूराम जी प्रेमी) पृ० सं० ३७२ का टिप्पण।

५—चउमुह-मुहम्मि सद्दो दंती भद्दे च मणहरो अत्थो।
विविधा वि सयंभुकव्वे किं कीरइ कइयणो सेसो॥
.... ।
भद्दस्स य गोग्गहणं अज्जवि कइणो ण पावंति॥ (पउम चरिउ १-२, ३)

नामके अध्याय या पर्व होंगे। दुर्भाग्य से चतुर्मुख के साथ दंती और भद्र की भी अद्यावधि कोई रचना प्राप्त नहीं हुई है[१]।

स्वयंभुदेव के पश्चात् अपभ्रंश के महान् कवि पुष्पदन्त की रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। पुष्पदन्त काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम केशव भट्ट और माता का नाम मुग्धा देवी था। उनके माता-पिता पहले शैव थे; फिर जैन हो गये और अन्त में जिन संन्यास लेकर शरीर त्यागा था[२]। इससे प्रतीत होता है महाकवि पुष्पदन्त भी पहले शैव रहे होंगे।

अभिमान मेरु[३], अभिमान चिह्न[४], काव्यरत्नाकर[५], कविकुलतिलक[६], सरस्वती निलय[७], कव्वपिसल्ल[८] (काव्यपिशाच) ये उनकी उपाधियां थीं। अन्तिम चार उपाधियों से प्रतीत होता है कि पुष्पदन्त अप्रतिम कवित्व शक्ति सम्पन्न एवं प्रसन्न प्रतिभाशाली महाकवि थे। प्रथम दो उपाधियों से स्पष्ट है कि वे बड़े ही स्वाभिमानी थे। पुष्पदन्त पहले किसी राजा के आश्रय में रहते थे। वहाँ उन्होंने कुछ काव्य रचना भी की थी; परन्तु इसके पश्चात् राजा द्वारा उपेक्षित एवं अवहेलित होकर वह वहाँ से चलकर क्षीणकाय मान्यखेट आ पहुँचे। वहाँ राष्ट्रकूट नरेश कृष्णराज (तृतीय) के मन्त्री भरत के आश्रम में आये और 'महापुराण' की रचना की। कवि की रचनाओं से प्रतीत होता है कि पुष्पदन्त असाधारण प्रतिभाशाली महाकवि तो थे ही। इसके अतिरिक्त विदग्ध दार्शनिक एवं जैन सिद्धान्त के भी वह प्रकाण्ड पण्डित थे।

---

१ स्वयंभुदेव के विस्तृत परिचय के लिए देखिए—'जैन साहित्य और इतिहास'
(श्री पं० नाथूराम प्रेमी, बम्बई)।

२ "सिवभत्ताइं मि जिणसण्णासें वे वि मयाइं दुरियणिण्णासें।
बंभणाइं कासवरिसगोत्तइं गुरुवयणामियपूरियसोत्तइं ॥
मुद्धाएवी केसवणामइं महुपियराइं होंतु सुहधामइं।
(णायकुमार चरिउ, अन्तिम प्रशस्ति)

३ (क) तं सुणेवि भणइ अहिमाणमेरु। (—महापुराण, १-३-१२)।
(ख) कं यास्यन्त्यभिमानमेरुनिलयं श्री पुष्पदन्तं विना। (महापुराण, संधि ४१)
(ग) णण्णहो मंदिरि णिवसंतुसंतु अहिमाण मेरु गुणगणमहंतु।
(णायकुमार चरिउ, १-२-२)

४ वयसंजुत्तिं उत्तमसत्तिं वियलियसंकि अहिमाणंकि। (जसहरचरिउ, ४-३१-३)

५ भो भो केसवतणरुह णवसररुहमुह कव्व रयणरयणायर। (महापुराण १-४-४)

६ तं णिसुणेवि भरहें वुत्तु ताव, भो भइकुलतिलय विमुक्कगाव। (महापुराण १-८-१)

७ आगइ कइराउ पुप्फयंतु सरसइणिलउ।
देवियहि सरूउ वण्णइ कइयणकुलतिलउ ॥—(जसहर चरिउ, १-८-१५)

८(क) जिणचरणकमलभत्तिल्लएण, ता जंपिउ कव्वपिसल्लएण।—(महापुराण, १-८-८)
(ख) णण्णस्स पत्थणाए कव्वपिसल्लएण पहसियमुहेण।—णायकुमार चरिउ, अन्तिम पद्य)

तिसट्ठिमहापुरिस गुणालंकारु या महापुराणु—पुष्पदन्त की यह एक महान् विशालकाय कलाकृति है। यह आदिपुराण तथा उत्तरपुराण के रूप में दो खण्डों में विभक्त है। इनमें त्रेसठ शलाका-पुरुषों के चरित्र गुम्फित हैं। पहले में भगवान् आदिनाथ का और दूसरे में शेष तेईस तीर्थंकरों का एवं उनके समकालीन महापुरुषों की जीवन गाथाएँ निबद्ध हैं। उत्तरपुराण में पद्मपुराण (रामायण) तथा हरिवंशपुराण[1] (महाभारत) भी संमिलित हैं। आदिपुराण में ८० और उत्तरपुराण में ४२ सन्धियाँ हैं। दोनों का श्लोक परिमाण लगभग बीस हजार है। इसकी रचना में कवि को लगभग छह वर्ष लगे थे।

यह एक महान् रचना है और जैसा कि कवि ने स्वयं कहा है, इसमें सब कुछ है और जो इसमें नहीं है वह कहीं नहीं है[2]। महापुराणु की रचना महामात्य भरत की प्रेरणा और प्रार्थना से की गई, इसलिए कवि ने इसकी प्रत्येक सन्धि के अन्त में 'महाभव्वभरताणुमण्णिए' (महाभव्यभरतानुमानिते) विशेषण दिया है एवं इसकी अधिकांश सन्धियों के प्रारंभ में भरत का विविधमुख गुण-संकीर्तन किया गया है[3]।

णायकुमार चरिउ—पुष्पदन्त की यह दूसरी रचना है। यह एक सुन्दर खण्ड काव्य है। इसमें नौ सन्धियाँ हैं और यह णक्खत्तणामंकिय (नक्षत्रनामाङ्कित) है। इसमें पंचमी के उपवास का फल प्रतिपादन करने वाला नागकुमार का चरित वर्णित है। इसकी रचना बहुत ही प्रौढ़ एवं मनोहारिणी है। मान्यखेट में नन्न के मन्दिर में रहते हुए पुष्पदन्त ने णायकुमार चरिउ की रचना की। प्रारंभ में कहा गया है कि महोदधि के गुणवर्म एवं शोभन नामक दो शिष्यों ने प्रार्थना की कि आप पंचमी-फल की रचना कीजिए, महामात्य नन्न ने भी उसे सुनने की इच्छा प्रकट की तथा नाइल्ल और शीलभट्ट ने भी आग्रह किया।

जसहर चरिउ—पुष्पदन्त की यह तीसरी रचना है। यह भी एक सुन्दर खण्ड काव्य है। इसमें एक पुराण-पुरुष यशोधर का चरित्र निबद्ध किया गया है। इसमें चार सन्धियाँ हैं। यशोधर का कथानक जैन-सम्प्रदाय में बहुत ही प्रिय रहा है और इसे लेकर सोमदेव, वादिराज, वासवसेन, सोमकीर्ति, हरिभद्र, क्षमाकल्याण प्रभृति अनेक काव्यकारों ने प्राकृत-संस्कृत भाषाओं में महत्त्वपूर्ण रचनाएँ की हैं।

---

१ हरिवंशपुराण को जर्मनी के एक विद्वान् 'आल्स डर्फ' ने जर्मन भाषा में सम्पादित करके प्रकाशित किया है।

२ अत्र प्राकृत लक्षणानि सकला नीतिः स्थितिः छन्दसा—
मर्थालङ्कृतयो रसाश्च विविधास्तत्त्वार्थ निर्णीतयः।
किञ्चान्यद्यदिहास्ति जैन चरिते नान्यत्र तद्विद्यते,
द्वावेतौ भरतेशपुष्प दशनौ सिद्धं ययोरीदृशम् ॥

३ इन पद्यों के लिए देखिए 'महापुराण' के प्रथम खण्ड की प्रस्तावना,

यह ग्रन्थ भी भरत के पुत्र और वल्लभ नरेन्द्र के गृह मन्त्री के लिए उन्हीं के महल में रहते हुए लिखा गया था, इसलिए कवि ने इसके लिए प्रत्येक सन्धि के अन्त में विशेषण दिया है[1]। इसकी दूसरी, तीसरी एवं चौथी सन्धि के प्रारंभ में नन्न के गुण-कीर्तन करने वाले तीन संस्कृत पद्य हैं[2]। जसहर चरिउ की कुछ प्राचीन प्रतियों में गन्धर्व कवि के बनाये हुए कतिपय क्षेपक भी उपलब्ध होते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी 'देशी नाममाला' की स्वोपज्ञ वृत्ति में किसी 'अभिमान चिन्ह' नामक ग्रन्थकर्त्ता के सूत्र और स्वविवृति के पद्य उद्धृत किये हैं। यशोधर चरित के एक पद्य[3] से प्रतीत होता है कि 'अहिमाणंकि' (अभिमानाङ्क) या अभिमान चिन्ह भी पुष्पदन्त का उपनाम था। इससे अनुमित होता है कि पुष्पदन्त ने देशी शब्दों का एक कोष ग्रन्थ भी स्वोपज्ञटीका सहित लिखा था जो आचार्य हेमचन्द्र के समक्ष था।

करकंडु चरिउ—अपभ्रंश का एक सुन्दर सरल काव्य है। मुनि कनकामर ने इसकी रचना की है। इसमें करकंडू नरेश का चरित वर्णित किया गया है। यह वही नरेश है जो जैन एवं बौद्ध परम्परा में प्रत्येक बुद्ध के नाम से माने गये हैं। प्रसङ्गानुकूल इसमें धाराशिव की गुफाओं का सुन्दर वर्णन भी अङ्कित हुआ है और शिलाहारवंशी राजाओं के इतिहास के सम्बन्ध में भी इससे कुछ प्रकाश प्राप्त होता है। काव्यकार पहले द्विजवंशी एवं चन्द्रऋषि गोत्रीय थे। पीछे वैराग्योदय से वह दिगम्बर हो गये। उनके गुरु का नाम बुधमंगलदेव था। उन्होंने 'आसाइय' नगरी में काव्य-रचना की थी। कवि के आश्रयदाता जिन विजयपाल, भूपाल और कर्ण के मन्त्री थे। दमोह, बाँदा और जबलपुर जिलों से जो विभिन्न शिलालेख उपलब्ध हुए हैं, उनमें इन राजाओं के नाम पाये जाते हैं। इन लेखों का काल लिखावट के आधार पर ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी अनुमित किया जाता है। संभव है, मुनि कनकामर का भी यही समय रहा हो[4]।

णेमिणाह चरिउ—इसके कर्ता हरिभद्र हैं। अपभ्रंश की यह एक विशिष्ट रचना है और इसकी रचना रड्डा छन्द में हुई है। प्रस्तुत काव्य अपने कला-मानों में उत्कृष्ट एवं कुछ क्लिष्ट है। इसका अभी केवल एक अंश ही प्रकाशित हो सका है, जिसका नाम 'सणकुमार चरिउ'

१ कोडिण्णगोत्तणहदिणयरासु, वल्लहणरिंदघर महयरासु
णण्णहो मंदिरि णिवसंतुसंतु, अहिमाणमेरु कइ पुप्फयंतु॥

२ देखिए, यशोधर चरित (कारंजीसीरिज) पृ० २४, ४७ और ७५।

३ वयणालुत्ति उत्तमसत्ति, वियलियसंकि अहिमाणंकि।
(जसहर चरिउ, पृ० १००, पंक्ति ३)

४ देखिए, करकंडु चरिउ— प्रो० हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित (कारंजा जैन सीरिज ४, सन् १९३४), पूर्ण अंग्रेजी अनुवाद और शब्द कोष सहित।

है और जिसमें ४४३ से लेकर ७८५ तक अर्थात् ३४३ रड्डा छन्द है। कवि के गुरु का नाम चन्द्रसूरि था और उन्होंने अपनी रचना को वि० सं० १२१ ई० में पूर्ण किया था[1]।

कीर्तिलता—इसके रचयिता मैथिल कोकिल विद्यापति हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना मिथिला में हुई है; अतः इसमें तत्कालीन मैथिल अपभ्रंश का एक ऐसा विकसित स्वरूप दृष्टिगोचर होता है जो आधुनिक भाषाओं के स्वरूप के अत्यन्त निकटवर्ती है। छन्दों की दृष्टि से इसमें दोहा एवं रड्डा के अतिरिक्त अन्य छन्दों का भी प्रयोग हुआ है। ग्रन्थ का विभाजन सन्धियों में न होकर पल्लवों में है तथा काव्य वस्तु भी भृंग एवं भृंगी के संवाद द्वारा प्रस्तुत की गयी है। इसमें जौनपुर के नवाब इब्राहीम शाह के समकालीन कीर्ति सिंह के चरित्र का वर्णन है। कथावस्तु भी ऐतिहासिक है, पौराणिक नहीं। इस प्रकार इस रचना की अनेक विशेषताएँ हैं। इसके रचयिता भी जैन एवं बौद्ध न होकर वैदिक संस्कृति के उपासक हैं। विद्यापति ने अपभ्रंश के प्रति तत्कालीन समाज में रूढ़ उपेक्षावृत्ति को दूर करने की दृष्टि से 'कीर्तिलता' की रचना अपभ्रंश में की। अपभ्रंश का माधुर्य तो उन्हें रुचिकर था ही। इसका रचना काल चौदहवीं शताब्दी है[2]।

अपभ्रंश का अप्रकाशित काव्य-साहित्य

अपभ्रंश के कतिपय प्रकाशित महाकाव्यों के अतिरिक्त अधिकांश इस प्रकार का कथा साहित्य है, जिसका परिचय सार्वजनिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुका है; परन्तु जो स्वयं अबतक अपने मूलरूप में प्रकाशित नहीं हुआ है। यहाँ हम ऐसे ही कुछ काव्यों का परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं।

हरिवंश पुराण[3]—इसके रचयिता कविवर धवल हैं। यह कविसूर ब्राह्मण एवं केसुल्ला के पुत्र थे। इन्होंने अम्बसेन गुरु के व्याख्यान के अनुसार चतुर्मुख, व्यास एवं जिनसेन की रचनाओं के आधार पर इस ग्रन्थ की रचना की। सम्पूर्ण ग्रन्थ १२२ सन्धियों में समाप्त हुआ है। इसकी उत्थानिका में कवि ने अपने अनेक पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं का उल्लेख किया है। इसका रचनाकाल लगभग दसवीं शताब्दी है।

पास पुराण—इसके रचनाकार पद्मकीर्ति हैं। प्रस्तुत रचना में भगवान् पार्श्वनाथ का चरित्र वर्णित किया गया है। ग्रन्थ में १८ सन्धियाँ हैं। पद्मकीर्ति ने शक सं० ९९९ में इसकी रचना की थी। उन्होंने अपनी गुरु-परम्परा इस प्रकार दी है :—सेनसंघ, चन्द्रसेन, माधवसेन, जिनसेन एवं पद्मकीर्ति।

---

१ सनत्कुमार चरितम् सम्पादक डा० हर्मन याकोबी जर्मनी, सन् १९२१) जर्मन अनुवाद और भूमिका सहित।

२ कीर्तिलता सम्पादक—श्री बाबूराम सक्सेना (नागरी प्रचारिणी सभा काशी, सं० १९८६)

३ देखिए, प्रो० हीरालाल जैन का 'महाकवि धवल और उनका हरिवंश पुराण' (वीर, ४–२ सन् १९२५)।

जंबूसामि चरियम्—इस चरित-ग्रन्थ के रचयिता महाकवि वीर हैं। इसमें जैनियों के अन्तिम केवली श्री जम्बूस्वामी के जीवन चरित्र का बड़ा सुन्दर गुम्फन हुआ है। महाकवि वीर ने मालवा के धक्काड़ वंशावतरन महासूदन के पुत्र तक्खडु श्रेष्ठी की प्रेरणा से प्रस्तुत चरित की रचना की थी। वीर के पिता गुडखेड देश के निवासी थे और इनका वंश अथवा गोत्र 'लाल बागड़' था। इनके पिता का नाम देवदत्त था। यह महाकवि थे और इन्होंने 'वराङ्गचरित' एवं 'अम्बादेवीरास' ग्रन्थों का प्रणयन किया था; परन्तु दोनों ही रचनाएँ अप्राप्य हैं। वीर की माता का नाम 'सन्तु' अथवा 'सन्तुव' था। इनकी चार स्त्रियाँ थीं और तीन लघु सहोदर भाई। इनका अधिकांश समय राज्यकार्य, धर्म, अर्थ और काम की गोष्ठी में व्यतीत होता था; अतः प्रस्तुत जम्बूस्वामी चरित को सम्पूर्ण करने में इन्हें एक वर्ष का समय लग गया था[१]।

इन्होंने इस चरितग्रन्थ में वादीन्द्रशान्ति[२] कवि जयदेव[३], स्वयंभू[४], पुष्पदन्त और देवदत्त का उल्लेख किया है। इसकी समाप्ति वि० सं० १०७६ वर्ष के व्यतीत होनेपर माघ शुक्ला दशमी के दिन हुई थी[५]।

सुदंसण चरिउ—प्रस्तुत चरित के कर्ता नयनन्दी हैं। इसमें १२ सन्धियों में एक धर्मनिष्ठ सुदर्शन सेठ का चरित वर्णित किया गया है। कवि ने अपनी गुरुपरम्परा का इस प्रकार निर्देश किया है:—कुन्दकुन्दान्वय, पद्मनन्दि, विशाखनन्दि, रामनन्दि, माणिक्यनन्दि एवं नयनन्दी। इससे प्रतीत होता है कि नयनन्दी आचार्य माणिक्यनन्दी के शिष्य थे। इसका रचनाकाल

---

१ बहुरायकज्ज धम्मत्थकाममगोट्ठीविहत्त समयस्स ।
वीरस्स चरियकरणे इक्को संवच्छरो लग्गो ॥४॥ (जम्बूस्वामि चरित प्रशस्ति)।

२ संतिकई वाई विहु वण्णुक्करिसु फुरियविण्णाणो ।
रससिद्धिसंचियत्थो विरलो वाई कई एक्को ॥३॥ (वही)

३ विजयंतु जये कइणो जाणं वाणं अइट्ठपुव्वत्थे ।
उज्जोइय धरणियलो साहइ वट्टिव्व णिव्वडइ ॥४॥ (वही)

४ संते सयंभुएए वे एक्को कइत्ति विन्नि पुणु भणिया ।
जायम्मि पुप्फयंते, तिन्नि तहा देवयत्तम्मि ॥
(जम्बूस्वामि चरित, सन्धि ५ का प्रारंभिक भाग)

५ वरिसाण सयचउक्के सत्तरिजुत्ते जिणेंदवीरस्स ।
णिव्वाणा उववण्णा विक्कमकालस्स उप्पत्ती ॥
विक्कमणिवकालाओ छाहत्तरदससयेसु वरिसाणं ।
माहम्मि सुद्धपक्खे दसमीदिवसम्मि संतम्मि ॥
सुणियं आयरिय परंपराए वीरेण वीरणिद्दिट्ठं
बहुलत्थ पसत्थायं पवरमिणं चरियमुद्धरियं ॥
(जम्बू स्वामि चरित, अन्तिम प्रशस्ति)

वि० सं० ११०० है। नयनन्दी की 'सयलविहि विहाणकव्व' नामक एक अन्य रचना भी उपलब्ध है। यह काव्य १८ सन्धियों में समाप्त हुआ है[1]।

पास चरित्तं—इस पार्श्वचरित के रचनाकार श्रीधर या विबुध श्रीधर थे। यह बुध गोल्ह के पुत्र थे। श्रीधर ने इसकी रचना १२ सन्धियों में समाप्त की है। पद्य संख्या २५०० के लगभग है। प्रस्तुत पार्श्वचरित से प्रतीत होता है कि इन्होंने एक अन्य ग्रन्थ चन्द्रप्रभचरित की रचना भी की थी, जो अद्यावधि अनुपलब्ध है। कवि ने नट्टलसाहु[2] की प्रेरणा से इस चरित ग्रन्थ की रचना की थी। अन्तिम प्रशस्ति में नट्टल साहु का विस्तृत परिचय दिया हुआ है। इसका रचनाकाल वि० सं० ११८९ अगहनवदि अष्टमी रविवार है।

पज्जुण्ण कहा (प्रद्युम्न कथा)—इसकी रचना महाकवि सिंह ने की है। इसमें १५ सन्धियों द्वारा श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्नकुमार का चरित्र वर्णित किया गया है। महाकवि सिंह गुर्जरवंश के थे। इनके पिता का नाम बुध रल्हण था और माता का नाम जिनमती। इस ग्रन्थ की रचना बम्हनवाड में हुई थी। प्रस्तुत प्रद्युम्न चरित की प्रथम आठ सन्धियाँ पंजाइय और देवण के पुत्र कवि सिंह की बनाई हुई हैं और शेष की पूर्ति महाकवि सिंह[3] द्वारा की गई। कविवर ने अपने गुरु अमृतचन्द्र आचार्य, जो माधवचन्द्र के शिष्य थे, के आदेश से इस चरित ग्रन्थ का उद्धार किया। कवि ने इस रचना में अपने समकालीन रणधोरिय बल्लाल का उल्लेख किया है। सन् ११५१ लिखित बड़नगर प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि बल्लाल की मृत्यु वि० स० १२०८ से पूर्व हो चुकी थी; अतः प्रद्युम्नचरित का रचनाकाल भी १२०८ (वि० सं०) से पूर्ववर्ती सिद्ध होता है[4]।

सुकुमाल चरिउ—प्रस्तुत चरित ग्रन्थ के कर्ता श्रीधर कवि हैं। प्रस्तुत रचना पद्धडियाँ छन्दोबद्ध है एवं छः सन्धियों में समाप्त हुई है। श्रीधर ने बलड (अहमदाबाद) नगर में राजा गोविन्दचन्द्र के समय में इसकी रचना की थी। यह चरित वि० सं० १२०८ मगसिरकृष्णा ३ सोमवार को सम्पूर्ण हुआ था।

---

१ देखिए, पं० परमानंद शास्त्री का 'अपभ्रंश भाषा के दो महाकाव्य' (अनेकान्त वर्ष १०, किरण ४)।

२ इय सिरिपास चरित्तं रइयं बुहसिरिहरेण गुणभरियं।
अणुमण्णियं मणोज्जं णट्टल णामेण भव्वेण ॥ (पासचरित्तं की अन्तिम प्रशस्ति

३ (क) "कइ सिद्ध हो विरयंत हो विणासु, संपत्तउ कम्मवसेण तासु"।
(पज्जुण्ण कह) अन्तिम प्रशस्ति

(ख) "परकज्जं परकव्वं विहडंतं जेहि उद्धरियं ।" (वही)

४ महाकवि सिंह के विस्तृत परिचय के लिए देखिए, अनेकान्त वर्ष ८, किरण १०, ११ में प्रकाशित पं० परमानन्द जी शास्त्री का 'महाकवि सिंह और प्रद्युम्न चरित, शीर्षक लेख।

वीर चरिउ—इस ग्रन्थ के रचयिता श्रीधर हैं। इन्होंने १० सन्धियों में प्रस्तुत वर्धमान काव्य का प्रणयन किया। यह चरित जैसवालवंशीय साहु नेमिचन्द्र की प्रेरणा से लिखा गया था। श्रीधर ने इसके पूर्व शान्तिनाथ चरित तथा चन्द्रप्रभ चरित नामक दो काव्यों की रचना और की थी[1]। ग्रन्थ में रचनाकाल का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

सुलोचना चरिउ—प्रस्तुत रचना के प्रणेता देवसेन हैं। यह निवडिदेव के प्रशिष्य एवं विमलसेन के शिष्य थे। सम्पूर्ण रचना पद्धड़ी, चौपाई, सग्गिणी तथा भुजंगप्रयात आदि छन्दों में ग्रथित की गई है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आचार्य कुन्दकुन्द के गाथा बद्ध सुलोचना चरित को ही देवसेन ने पद्धड़िया में रूपान्तरित किया है[2]। अब तक महासेन की सुलोचना कथा ही अनुपलब्ध कोटि के ग्रन्थों में परिगणित की जाती थी, परन्तु देवसेन के इस उल्लेख से आचार्य कुन्दकुन्द की एक और गाथा बद्ध रचना साहित्य जगत् में प्रकाश में आई[3]। इसमें चतुर्मुख, स्वयंभू, पुष्पदन्त एवं भूपाल आदि कवियों का भी[4] उल्लेख हुआ है। इस चरित ग्रन्थ की रचना मम्मल नगरी में श्रावण शुक्ला चतुर्दशी बुधवार को समाप्त हुई। संवत् का कोई उल्लेख नहीं है। अतः निश्चित समय बतलाना अशक्य है। फिर भी देवसेन नाम के अनेक विद्वानों की छान-बीन के पश्चात् पं० परमानन्द जी शास्त्री ने इन्हें बारह-तेरहवीं सदी का विद्वान निर्धारित किया है[5]।

छक्कम्मोवएस—इसके रचयिता अमरकीर्तिगणि हैं और इसमें चौदह सन्धियों द्वारा देव-पूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप तथा दान—इन छह आवश्यक कर्त्तव्यों का मनोरम दृष्टान्त कथाओं के साथ उपदेश निबद्ध है। अमरकीर्ति माथुर संघीय मुनि थे, जिसकी परम्परा का

---

१ जिय विरइउ चरिउ दुवेहवारि संसारसमुद्द-संताव-हारि।
चंदप्पह-रं ति जिणेसराइ भव्वयण सरोज दिणेसराइ ॥
तिहंचइ विरयहि वीरहो जिणासु समणयणदिट्ठकंचण तिणासु ॥ (वीर चरिउ, अन्तिम प्रशस्ति)

२ जंगाहाबंधे आसि उत्तु, सिरि कुंदकुंदगणिणा णिरुत्तु।
तं एव्वहिं पद्धडियहिं करेमि, परिकिंपि न गूढउ अत्थु देमि ॥
तेणवि कइ चउ संसा लहंति, जे अत्थुदेखि वसणहिं रिवंति ॥

(सुलोचना चरिउ की अन्तिम प्रशस्ति)

३ महासेनस्य मधुरा, शीलालङ्कार धारिणी।
कथा न वर्णिता के न वनितेव सुलोचना ॥ (हरिवंश पुराण)

४ चउमुह-सयंभु—पमुहेहि रंजिय दुहिय पुष्फयंतेन।
सुरसइ—सुरदीए पयंपीयं सिरिदेवसेणेण ॥

(सुलोचना चरिउ की अन्तिम प्रशस्ति)

५ देखिए, अनेकान्त वर्ष ७, किरण ११–१२ में प्रकाशित पं० परमानन्दजी शास्त्री की 'देवसेन का सुलोचना चरिउ' शीर्षक लेख।

उल्लेख उन्होने आचार्य अमितगति से प्रारंभ किया है। इनके पिता नागरवंशी गुणपाल थे और माता चर्चिनी। ग्रन्थ की रचना गुजरात के महाकांठा प्रदेश के गोद्दय (गोधरा) नगर में वि० सं० १२४७ में हुई थी—और इसका प्रणयन उन्होंने अपने भाई अम्बाप्रसाद की प्रेरणा से किया था। अमरकीर्ति ने अपनी अन्य सात रचनाओं का भी उल्लेख किया है, जिनमें से 'णेमिणाह चरिउ' 'महावीर चरिउ' एवं 'जसहर चरिउ' अपभ्रंश-काव्य प्रतीत होते हैं; परन्तु ये रचनाएँ अब तक अप्राप्य हैं[1]।

जिणदत्त चरिउ—इस चरित ग्रन्थ के रचनाकार कवि लक्ष्मण हैं। इसमें अर्हद्दत्त श्रेष्ठी के सुपुत्र जिनदत्त का सुन्दर चरित्र गुम्फित किया गया है। इसमें छः सन्धियाँ हैं एवं पद्य-संख्या लगभग ४००० है। कविवर के पिता का नाम साहुल श्रेष्ठी था, जो सात भाई थे। यह त्रिभुवन गिरि के निवासी थे, परन्तु इस नगर के म्लेच्छाधिप द्वारा आक्रान्त एवं नष्ट-भ्रष्ट किये जाने से यह बिलरामपुर चले आये, वहाँ बिल्हण के पौत्र एवं जिनकर के पुत्र श्रीधर ने इन्हें स्थान आदि की पूर्ण सुविधाएँ प्रदान की। कविवर ने इन्हीं श्रीधर की प्रेरणा से इसकी रचना की और इसे वि० सं० १२७५ में पौष कृष्ण षष्ठी रविवार के दिन पूर्ण किया[2]। प्रस्तुत जिनदत्त चरित्र में अकलङ्क, चतुर्मुख, कालिदास, श्री हर्ष एवं व्यास आदि अनेक आचार्यों एवं कवियों का उल्लेख किया गया है[3]।

अणुवय-रयणपईउ—इस ग्रन्थ के रचनाकार भी कवि लक्ष्मण हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ आठ सन्धियों में समाप्त हुआ है और इसमें श्रावकोचित कर्त्तव्यों एवं व्रतों का हृदयग्राही कथाओं के साथ स्वरूप एवं प्रभाव वर्णित किया गया है। इसकी रचना आगरा प्रान्त में हुई थी, जब यमुना तटवर्ती चन्द्रवाड नगर (फीरोजाबाद) में चौहानवंशी राजा आहवमल्ल शासन कर रहे थे। प्रस्तुत रचना वि० सं० १३१३ में लिखी गई[4]।

पन्द्रहवीं शताब्दी में रइधू[5] नाम के एक विशिष्ट प्रतिभाशाली कवि हो गये हैं। इन्होंने

---

१ देखिए, प्रो० हीरालाल जैन का 'अमरकीर्तिगणि और उनका षट्कर्मोपदेश (जैन-सिद्धान्त-भास्कर, भाग २ में १९६२।

२ बारहसय सत्तरयं पंचोत्तरयं विक्कमकाल विइत्तउ।
पढम पक्ख रविवारइ छट्ठि सहारइ पूसमासे समत्तउ ॥ (जिणदत्त चरिउ अन्तिम प्रशस्ति)

३ णिक्कलंकु अकलंक चउमुहो, कालिदासु सिरिहरिस कमसुहो।
वय विलासु कइव सु असरिस, दोणुबाणु ईसाणु सहरिसो।
पुप्फयंत सुसयंभल्लओ, वाल्मीउ सम्मइ रसिल्लओ ॥ (दे० वही, प्रारंभिक उत्थानिका)

४ देखिए, प्रो० हीरालाल जैन का 'कवि लक्ष्मणकृत अणुव्रत रत्नदीप' (जैनसिद्धान्त भास्कर भाग ९ पृ० सं० १५५–१७७)।

५ देखिए पं० परमानन्द शास्त्री का अपभ्रंश भाषा के प्रसिद्ध कवि रइधू' (अनेकान्त) ५–१२ जनवरी १९४३। तथा महाकवि रइधू (वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ) (वर्णीहीरक जयन्ती महोत्सव, सागर)।

अपभ्रंश भाषा के अनेक महाकाव्यों एवं चरित ग्रन्थों का प्रणयन किया है। कविवर ने अपनी काव्य-रचना अधिकांशतः गोपाचल (ग्वालियर) में की थी। उनका रचना-काल वि० सं० १४९७ से १५२१ तक माना जाता है। उनकी कतिपय उल्लेखनीय रचनाएँ ये हैं:—मेहेसर चरिउ, सिद्धचक्कमाहप्प, सिरिवालकहा, पासणाह पुराणु, सम्मइ जिन चरिउ, बलहद्दचरिउ (पद्मचरित), सम्मत्तगुण निधाण, जसहर चरिउ, आदिपुराणु, णेमिपुराणु, पुण्णासव कथा, हरिवंशपुराणु, सुकुशोल चरिउ एवं जीवंधर चरिउ आदि।

रइधू पद्मावती पुरवाल वंश के थे। इनके पिता का नाम हरिसिंह था और माता का नाम विजयश्री। इनके गुरु भट्टारक यशः कीर्ति थे।

णेमिणाह चरिउ—प्रस्तुत चरित ग्रन्थ के रचनाकार लक्ष्मण देव हैं। इनके पिता का नाम रयण था और यह पौरवाड़ कुल के थे। मालवदेश के अन्तर्गत गोनद नाम की नगरी में कवि का जन्म हुआ था। प्रस्तुत चरितग्रन्थ का कब प्रणयन हुआ इसका अब तक कोई स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं हुआ है। कवि ने स्वयं ही यह अवश्य लिखा है कि—"मैंने आषाढ़ शुक्ला' तृतीया को काव्य लिखना प्रारंभ किया और चैत्र कृष्ण त्रयोदशी को समाप्त किया।" किन्तु १५१० वि० सं० में लिखित इसकी एक प्रति से यह स्पष्ट है कि इसका निर्माण १५१० (वि० सं०) से पूर्व हो चुका था।

बाहुबलि चरिउ—प्रस्तुत चरित के रचयिता धनपाल हैं। इस काव्य की रचना १८ सन्धियों में समाप्त हुई है। धनपाल के पिता का नाम 'सुहडप्रभ' था और माता का नाम 'सुहडा'। इनके पितामह 'भोवेह' थे जो गुजरात देश के मध्य 'पल्हणपुर' के निवासी थे। कविवर धनपाल के गुरु का नाम श्री प्रभाचन्द्र था, जो श्रीरत्नकीर्ति के पट्टपर प्रतिष्ठित थे। यह काव्य जैसवालवंशीय, राज्य-मन्त्री श्रीसाहु 'वासाधर' जी की प्रेरणा से विरचित हुआ और वि० सं० १५५४ वैशाख शुक्ला त्रयोदशी स्वातिनक्षत्र में इसकी पूर्ति हुई। इसमें अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों एवं कवियों का उल्लेख प्राप्त होता है।

संतिणाह चरिउ[1]—इसके रचनाकार महिंदु (महीचन्द्र) हैं। इसमें तेरह सन्धियों में भगवान् शान्तिनाथ का चरित्र वर्णित किया गया है। कवि ने बाबर बादशाह के राज्यकाल में वि० सं० १५८७ में योगिनीपुर में इस काव्य की रचना की थी। इन्होंने अपनी गुरु-परम्परा इस प्रकार दी है:—माथुरसंघ, पुष्करगण, यशःकीर्ति, मलयकीर्ति एवं गुणभद्रसूरि।

पाण्डवपुराणु—प्रस्तुत पुराण के कर्त्ता भट्टारक यशःकीर्ति हैं। यशःकीर्ति काष्ठासंघ के माथुरान्वय एवं पुष्करगण में भट्टारकमलयकीर्ति के पट्टपर प्रतिष्ठित होनेवाले भ० गुणभद्र के

१ देखिए, पं० परमानन्द शास्त्री का 'अपभ्रंश भाषा का शान्तिनाथ चरित'। (अनेकान्त, ५, ६–७, जुलाई-अगस्त, सन् १९४२)।

शिष्य एवं लघु भ्राता थे। इन्होंने योगिनीपुर (दिल्ली) निवासी साहु वील्हर के पुत्र हेमराज की प्रेरणा से वि० सं० १४९७ में पाण्डवपुराण की रचना की। इस ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति में हेमराज की बड़ी प्रशंसा की गयी है। उनमें परोपकारिता सत्यवादिता आदि सैकड़ों गुण विद्यमान थे। इसके अतिरिक्त वह सुलतान मुबारकशाह के मन्त्री भी थे[1]। इन्होंने एक जिन चैत्यालय का भी निर्माण कराया था[2]।

यशःकीर्ति की दूसरी रचना 'हरिवंशपुराण' है। इसमें १३ सन्धियाँ हैं और वि० सं० १५०० में लिखकर समाप्त हुई। अग्रवालवंशी साधु दिवड्ढा की प्रेरणा से इस पुराण का प्रणयन किया गया; अतः इसका नामाङ्कन इन्हीं के नाम से हुआ है।

इनकी एक तीसरी रचना (चंदप्पह चरिउ) भी बतलाई जाती है जो ११ सन्धियों में समाप्त हुई है एवं हुंबडकुल के कुमार सिंह के पुत्र सिद्धपाल की प्रेरणा से लिखी गई है। किन्तु गुरुपरम्परा, रचनागत देश-भेद आदि के कारण इसे भ० यशःकीर्ति की रचना स्वीकार करना असंदिग्ध नहीं है[3]।

अमरसेण चरिउ—इस काव्य के रचयिता कवि माणिक्कराज हैं। इनके पिता का नाम बुद्धसूरा था और गुरु का नाम श्री पद्मनन्दि। रोहतक निवासी चौधरी देवराज की प्रेरणा से इस ग्रन्थ का प्रणयन किया गया था। वि० सं० १५७६ चैत्रशुक्ला पंचमी शनिवार के दिन प्रस्तुत रचना समाप्त हुई। इसमें मुनि अमरसेन का चरित्र बड़ी सुन्दरता से वर्णित किया गया है।

कविवर माणिक्कराज की एक अन्य कृति भी उपलब्ध है, जिसका नाम है 'नाथकुमार चरिउ' प्रस्तुत काव्य में नौ सन्धियों द्वारा नागकुमार का चरित्र गुम्फित किया गया है। पद्य संख्या ३३०० है। वि० सं० १५७९ फाल्गुनशुक्ला नवमी को इसकी समाप्ति हुई[4]।

सेणिय चरिउ—इस काव्य के कर्त्ता जयमित्र हल्ल हैं। प्रस्तुत रचना इनके द्वारा विरचित 'वड्ढमाणकव्वु' की छह सन्ध्यात्मक अन्तिम अंश है। वर्धमानकाव्य की रचना ११ सन्धियों में की गई थी; परन्तु पूर्व की पांच सन्धियाँ उपलब्ध नहीं हुई हैं। प्रस्तुत 'सेणिय चरिउ' अपने आप में एक सम्पूर्ण रचना है तथा इसे देवराय के पुत्र संघाधिप होलिवर्म के कर्णाभरण स्वरूप लिखा गया है। रचना में निर्माण-काल का कोई उल्लेख नहीं है[5]।

---

१ सुरताण ममारख तणहं रज्जे, मंतित्तणे थिउ पिय भार कज्जे।—(पाण्डवपुराण प्रशस्ति)

२ जेण करावउ जिण चेयालउ, पुण्णहेउ चिउ रय पर कालउ।—(वही)

३ देखिए, पं० परमानन्द शास्त्री का 'भट्टारक यशःकीर्ति' (जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ११ किरण २, जनवरी, सन् १९४५)।

४ देखिए, पं० परमानन्द जी शास्त्री का 'सोलहवीं शताब्दी के दो अपभ्रंश काव्य' (अनेकान्त, वर्ष १० किरण ४)।

५ देखिए, प्रो० हीरालाल जैन का 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य' (नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५० अङ्क ३-४, पृ० १२०)।

पासणाह चरिउ—प्रस्तुत चरित-ग्रन्थ के रचयिता कवि अग्रवाल हैं। यह एक अपूर्ण रचना है जो छठी सन्धि के तीसरे कडवक के मध्य से प्रारंभ होकर तेरहवीं सन्धि में समाप्त होती है[1]। प्रस्तुत काव्य में रचनाकाल का कोई निर्देश नहीं है। परन्तु सन्ध्यन्त की पुष्पिकाओं से प्रतीत होता है यह काव्य संघाधिप सोणिय के कर्णाभरणस्वरूप विरचित किया गया था।

मयणपराजय चरिउ—रूपकात्मक शैली में लिखा गया यह एक विशिष्ट काव्य है। इसके कर्त्ता चङ्गदेव के पुत्र हरिदेव हैं। इसमें रचनाकाल का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है; परन्तु अनुमानतः यह बारहवीं तेरहवीं शताब्दी की रचना है। प्रस्तुत रचना पाँच सन्धियों में समाप्त हुई है। इसमें जिनराज द्वारा किये गये मदन पराजय का विचार अनेक रूपकों के आधार पर बड़े ही आकर्षक ढंग से हुआ है। नागदेव ने अपने संस्कृत 'मदनपराजय' का प्रणयन प्रस्तुत रचना के आधार पर ही किया है[2]।

मयण जुज्झ—बुच्चरायकृत यह एक रोचक रूपकात्मक प्रबन्ध है। इसमें भगवान् पुरुदेव द्वारा किये मदनपराजय का बहुत सुन्दर ढंग से वर्णन किया गया है। इस काव्य की रचना वि० सं० १५८९ आश्विन शुक्ला प्रतिपद्, शनिवार, हस्तनक्षत्र में हुई।[3]

मृगाङ्कलेखाचरित्र—प्रस्तुत काव्य के प्रणेता कविवर भगवती दास हैं। इनमें चन्द्रलेखा एवं सागर चन्द्र के चरित्र का वर्णन करते हुए चन्द्रलेखा के शीलव्रत का माहात्म्य अभिनन्दित किया गया है। कवि ने इस काव्य को हिसार नगर के भ० वर्द्धमान के मन्दिर में वि० सं० १७०० में सम्पूर्ण किया।

भगवती दास की दो अन्य रचनाएं भी उपलब्ध हैं। एक 'सीतासतु' है और दूसरी 'अनेकार्थ नाम माला'। 'सीतासतु' एक विस्तृत एवं रोचक रचना है। इसमें मन्दोदरी सीता के प्रश्नोत्तर रूप में सीता के दृढ़तम सतीत्व का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है। इसका रचना काल वि० सं० १६८४ है। 'सीतासतु' की प्रशस्ति से स्पष्ट है कि पं० भगवती दास जी बूढ़िया (अम्बाला) ग्राम के निवासी थे एवं भट्टारक गुणचन्द्र के प्रशिष्य तथा भ० सकलचन्द्र के शिष्य—भ० महेन्द्रसेन के शिष्य थे[4]।

मैनपुरी के दि० जैन बड़ा मन्दिरके शास्त्र-भण्डार में विद्यमान तथा वि० सं० १७८० में स्वयं कविवर भगवती दास जी द्वारा लिखित एक गुटकामें कविवरकी निम्नाङ्कित अन्य रचनाएँ भी लिपिबद्ध हैं

१ देखिए, (वही)।

२ देखिए, प्रो० राजकुमार जैन द्वारा सम्पादित मदनपराजय (भारतीय ज्ञानपीठ काशी) की प्रस्तावना पृ० सं० ५६।

३ देखिए, प्रो० राजकुमार जैन द्वारा सम्पादित मदन पराजय की प्रस्तावना पृ० सं० ५०।

४ "नगर बूढ़िए बसै भगोती, जन्मभूमि है आसि भगोती।
अग्रवालकुल बंसल गोती, पंडित पद जन निरख भगोती।।" —(सीतासतु, प्रशस्ति)।

(१) टंडाणा रास, (२) बनजारा, (३) आदित्यव्रतरासा, (४) पखवाड़े का रास, (५) दसला-क्षणीरासा, (६) अनुप्रेक्षा-भावना, (७) खीचड़ी रासा, (८) अनन्तचतुर्दशी चौपाई, (९) सुगंधदशमीकथा, (१०) आदिनाथ शान्तिनाथ विनती, (११) समाधीरास, (१२) आदित्यवार कथा, (१३) चुनड़ी मुकतिरमणी, (१४) योगीरासा, (१५) अनथमी, (१६) मनकर हारास, (१७) वीर जिनेद्रगीत, (१८) रोहिणी व्रतरास, (१९) ढमाल राजमती नेमीसुर और (२०) ढमाल षशानी।[१]

छन्दः शास्त्र—इसके प्रणेता कविवर राजमल्ल पाण्डे हैं। कविवर आचारशास्त्र, अध्यात्म, काव्य एवं न्याय के प्रकाण्ड पंडित थे। छन्दः शास्त्र पर भी इनका असाधारण अधिकार था। प्रस्तुत छन्दः शास्त्र संस्कृत अपभ्रंश एवं हिन्दी का मिश्रणात्मक एक निराला छन्दोग्रंथ है। कविवर ने नृप भारमल्ल के लिए इसकी रचना की थी। भारमल्ल श्री मालवंश के प्रतापी श्रावकरत्न थे। नागौर देश के संघाधिपति थे और बादशाह अकबर के समान ही साकंभरी (सांभर) के शासनाधिकारी थे। इस छन्दोग्रन्थ में अकबर के समकालीन अनेक ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख मिलता है।

कविवर राजमल्ल जी भट्टारक हेमचन्द्र जी काष्ठासंघी के आम्नाय में थे। इनकी (१) पंचाध्यायी (२) लाटी संहिता (३) जम्बूस्वामिचरित्र तथा (४) अध्यात्मकमल मार्तण्ड नामक महत्वपूर्ण चार रचनाएँ और भी उपलब्ध हैं।

अपभ्रंश का कथा साहित्य

भारतीय वाङ्मय में कथा साहित्य का एक अपना निराला स्थान है। साहित्य का यह एक ऐसा अङ्ग है, जिसमें जीवन के प्रत्येक रूप की अभिव्यञ्जना विद्यमान है। यहां हम अपभ्रंश के कथा साहित्य का एक संक्षिप्त विवरण दे रहे हैं।

कथाकोश—प्रस्तुत कथाकोश के रचनाकार श्रीचन्द्रमुनि है। यह सहस्रकीर्ति के प्रशिष्य एवं वीरचन्द्र के प्रथम शिष्य थे। अपभ्रंश भाषा का यह एक बृहत् कथाकोश है। इसमें जैन कथाओं का बड़ा सुन्दर एवं विस्तृत विवेचन है। यह ग्रन्थ ५३ सन्धियों में पूर्ण हुआ है। ग्रन्थकार की अन्तिम प्रशस्ति से प्रतीत होता है कि कथाकार ने अणहिल्लपुर के प्राग्वाट वंशी सज्जन के पुत्र और मूलराज नरेश के गोष्ठिक कृष्ण के लिए इसकी रचना की थी। इस कथाकोश का प्रणयन वि० सं० ११२३ में हुआ, जिस समय कर्ण नरेन्द्र श्रीवालपुर में शासन कर रहे थे।

धम्मपरिक्खा—इस ग्रन्थ के रचयिता कविवर हरिषेण हैं। यह मेवाड़ निवासी धक्कड़ वंश के गोवर्धन तथा गुणवती के पुत्र थे। यह चित्तौड़ छोड़कर अचलपुर चले आये और वहीं

१ देखिए, बाबू कामता प्रसाद जैन का 'हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' (पृ० सं० १०१ तथा २५०, २५१)।

पर इन्होंने प्रस्तुत धम्मपरिक्खा की रचना की। वि० सं० १०४४ में पद्धडिया छन्द में इस ग्रन्थ को निबद्ध किया गया। इसमें मनोवेग ने पवनवेग को अनेक शिक्षाप्रद आख्यानों एवं सैद्धान्तिक उपदेशों द्वारा सुदृढ़ जैन श्रद्धालु बनाने का प्रयत्न किया गया है। जयरामकृत प्राकृत 'धर्म-परीक्षा' का भी इसमें उल्लेख है, जो अब तक प्राप्त नहीं हैं। ग्रन्थकार ने इसमें अपने पूर्ववर्ती चतुर्मुख, स्वयंभू और पुष्पदन्त का भी प्रशंसात्मक उल्लेख किया है।

भविसयत्तकहा[1]—प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्त्ता धनपाल हैं। कवि के पिता का नाम महेश्वर था और माता का नाम धनश्री। यह धक्कड़ वंशीय थे। कवि के काल-निर्णय के सम्बन्ध में कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है। डा० याकोबी इस ग्रन्थ का रचनाकाल दसवीं शताब्दी अनुमान करते हैं। इस रचना में श्रेष्ठिपुत्र भविष्यदत्त का चरित वर्णन किया गया है। विमातृ भ्राता के द्वेष के कारण किस प्रकार भविष्यदत्त असह्य कष्टों को झेलता है और किस प्रकार अन्त में अपने असीम धैर्य एवं पराक्रम से समस्त बाधा-विघ्नों को दूर करता हुआ आधे कुरू राज्य का अधिकारी बन जाता है। इस बात का प्रस्तुत रचना में बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन हुआ है।

भविसयत्त पंचमी कहा—प्रस्तुत कथाग्रन्थ के रचयिता श्रीधर हैं। इन्होंने चन्द्रवाड नगर में स्थित माहुर कुलीन नारायण के सुपुत्र सुपट्ट साहु की प्रेरणा से इसकी रचना की थी। यह रचना साहु नारायण की पत्नी 'रुप्पिणी' के नाम से अङ्कित है। इसका रचनाकाल वि० सं० १२३० है।

पुरंदर विहाणकहा—इस रचना के कर्त्ता भट्टारक अमरकीर्ति हैं। ग्रन्थकार ने इसमें अपने आपको 'मुनि' 'गणि' और 'सूरि' उपाधियों से उल्लेखित किया है। इससे प्रतीत होता है कि वह गृहवास के पश्चात् मुनि हो गये थे। यह माथुरसंघी चन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। इन्होंने जिस गुरु-परम्परा का परिचय दिया है उससे यह आचार्य अमितगति की परम्परा के निश्चित होते हैं। अमरकीर्ति ने गुजरात देश के 'महीयडु' प्रदेशवर्ती गोदहय (गोधरा) नामक, नगर में श्री ऋषभ जिन चैत्यालय में भाद्रपदशुक्ला चतुर्दशी वि० सं० १२४७ के दिन 'षट्कर्मोपदेश' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें उन्होंने—नेमिनाथ चरिउ, महावीर चरिउ धर्मचरित टिप्पण, सुभाषितरत्ननिधि, धर्मोपदेशचूड़ामणि एवं झाणपईव नामक अन्य ग्रन्थों के भी रचित करने का उल्लेख किया है। रचनाकार ने 'पुरंदरविहाणकथा' एवं 'षट्कर्मोपदेश' दोनों ही रचनाएँ अपने लघु बन्धु अम्बा प्रसाद के निमित्त से तैयार की थी।

चंदणछट्ठीकहा—इस कथा के कर्त्ता कवि लक्ष्मण अथवा 'लाखू' हैं; परन्तु इन्होंने अपनी गुरु-परम्परा का कोई परिचय नहीं दिया है। फलतः यह कहना कठिन है कि प्रस्तुत कथाकार किस गुरु-परम्परा से सम्बन्धित थे।

---

१ इस ग्रन्थ के दो संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। एक डा० हर्मन याकोबी द्वारा सम्पादित होकर जर्मन भूमिका एवं अनुवाद सहित (जर्मनी सन् १९१८) और दूसरा श्री सी० डी० दलाल द्वारा सम्पादित होकर गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज संख्या २२ में (बड़ौदा, सन् १९२३)।

णिज्झरपंचमी विहाणकहाणक—प्रस्तुत कथाकार भट्टारक विनयचन्द्र हैं जो माथुरसंघीय भट्टारक बालचन्द्र के शिष्य थे। प्रस्तुत विनयचन्द्र विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध आचार्यकल्प विद्वान् पं० आशाधर के समकालीन विनयचन्द्र से भिन्न हैं; क्योंकि वह सागरचन्द्र मुनि के शिष्य थे। निर्झरपंचमी कथा के कर्त्ता विनयचन्द्र इनके बाद के विद्वान् मालूम होते हैं। इनकी दो रचनाएँ और उपलब्ध हैं—एक 'चूनड़ी' और दूसरी 'कल्याणकरासु'। इनमें से प्रथम रचना में ३३ पद्य हैं और दूसरी रचना 'कल्याणकरासु' में जैन तीर्थङ्करों की पंचकल्याणक तिथियों का वर्णन किया गया है। जिस गुटके में उक्त दोनों रचनाएँ निबिद्ध हैं, वह वि० सं० १५७६ में सुनपत नगर में सिकन्दरशाह के पुत्र इब्राहीम के राज्य में लिखा गया है। विनयचन्द्र का आविर्भावकाल यदि इस लिपि से सौ डेढ़सौ वर्ष पूर्व माना जाय तो इन्हें विक्रम की चौदह या पन्द्रहवीं शताब्दी का विद्वान् अनुमानित किया जा सकता है।

निद्दुहसत्तमी कहा तथा नरयउतारी विहि—प्रस्तुत दोनों कथाओं के प्रणेता मुनि बालचन्द्र हैं जो मुनि उदयचन्द्र के शिष्य थे। कथाकार के सुनिश्चित समय की सूचक साधन सामग्री उपलब्ध नहीं है, अतः ठीक नहीं कहा जा सकता कि यह कब और कहां हुए?

जिनरत्ति कहा और रविवउ कहा—इन दोनों कथाओं के कर्त्ता भट्टारक यशःकीर्ति हैं। यह गुणकीर्ति के शिष्य तथा लघुभ्राता थे। यशःकीर्ति अपने समय के बहुत अच्छे विद्वान थे। इन्होंने सं० १४८६ में विबुध श्रीधर के संस्कृत भविष्यदत्त चरित्र तथा अपभ्रंश भाषा के सुकुमाल चरिउ की प्रतियां अपने ज्ञानावरण कर्मक्षयार्थ लिखवाई थीं। महाकवि रइधू ने अपने (सम्मइ जनचरिउ) की प्रशस्ति में यशः कीर्त्ति का निम्न शब्दों में उल्लेख किया है—

"भव्व कमल सर वोह पयंगो, वंदिवि सिरि जस कित्ति असंगो।"

कविवर रइधू ने स्वयं यशःकीर्ति एवं इनके शिष्यों की प्रेरणा से अनेक ग्रन्थों की रचना की की है। यशः कीर्ति ने स्वयं अपना 'पाण्डव पुराण' वि० सं० १५४७ में अग्रवालवंशी साहु वील्हा के पुत्र हेमराज की प्रेरणा से लिखा था। 'हरिवंश पुराण' की रचना वि० सं० १५०० में साहु दिवढ्ढा की प्रेरणा से की थी। साहु दिवढ्ढा भी अग्रवाल थे और उनका गोत्र गोपाल था। इनकी तीसरी रचना 'आदित्यवार कथा' है। और चौथी 'जिनरात्रि कथा' जिसमें शिवरात्रि कथा की पद्धति पर जिनरात्रि के व्रत का माहात्म्य अंकित किया गया है। इनके अतिरिक्त 'चन्दप्पह चरिउ' नामक एक अन्य अपभ्रंश रचना है, जिसके कर्त्ता भी यशः कीर्ति है परन्तु यशःकीर्ति नाम के अनेक विद्वान् होने के कारण यह ठीक नहीं कहा जा सकता कि यह यशःकीर्ति प्रस्तुत यशःकीर्ति ही है।

अणथमी कहा—प्रस्तुत कथा की रचना सुप्रसिद्ध कवि रइधू ने की है। यह पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ के विद्वान् थे। इन्होंने ग्वालियर के

तोमरवंशी राजा डूंगर सिंह के और उनके पुत्र कीर्तिसिंह के राज्यकाल में अनेक ग्रन्थों की रचना की है तथा मूर्तियों की प्रतिष्ठा भी कराई है। प्रतिष्ठाचार्य के नाम से भी यह विख्यात रहे। रचनाकार ने प्रस्तुत कथा में रात्रिभोजन के दोषों एवं रोगों का वर्णन करते हुए लिखा है कि गृहस्थ को दो घड़ी दिन रहने पर भोजन कर लेना चाहिये; क्योंकि सूर्य के तेज मन्द होते ही हृदय कमल संकुचित हो जाता है। प्रस्तुत रचना में धार्मिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य दोनों ही दृष्टि बिन्दुओं से रात्रि भोजन का निषेध किया गया है। कविवर ने लिखा है:—

"जि रोय दलद्दिय दीण अणाह,
जि कुट्ठ गलिय कर करण सवाह।
दुहग्गु जि परियण वग्गु अणेहु,
सु-रयणिहिं भोयणु फलु जि मुणेहु ॥८॥
घड़ी दुइ वासरु थक्कइ जाम,
सुभोयणु सावय भुंजहिं ताम।
दिवायरु तेउ उजि मंदउ होइ,
सकुच्चइ चित्तहु कमलु जि सोइ ॥९॥

पुण्यासव कहा—प्रस्तुत कथा के रचयिता कविवर रइधू हैं। इसमें १३ सन्धियाँ हैं। जिनमें पुण्य का आस्रव करनेवाले व्रतों की कथाएँ निबद्ध हैं। इस कथा-ग्रन्थ की रचना कवि रइधू ने महाभव्य साहू नेमिदास की प्रेरणा से की है।

अणथमी कथा (द्वितीय)—प्रस्तुत कथा के कर्त्ता कवि हरिचन्द हैं। इनका विशेष परिचय उपलब्ध नहीं है। केवल इतना उल्लेख मिलता है कि यह अग्रवाल कुलोत्पन्न थे। यह कथा कविवर रइधू की कथा से बड़ी है और १६ कड़वकों में समाप्त हुई है। इसमें रात्रि-भोजन के दोषों का चित्रण करते हुए उसके परित्याग का सुन्दर उपदेश दिया गया है।

अणंतवयकहा आदि १५ कथाएँ—इन कथाओं के रचयिता भट्टारक गुणभद्र हैं। यह माथुरसंघी भट्टारक मलयकीर्ति के शिष्य थे और अपने उक्त गुरु के बाद गोपाचल के पट्टपर प्रतिष्ठित हुए थे। इनके द्वारा विरचित निम्नांकित १५ कथाएं पंचायती मन्दिर देहली के गुटका नं० १३ तथा १४ में लिखित हैं। प्रस्तुत गुटका वि० सं० १६०२ में श्रावण शुक्ला एकादशी सोमवार के दिन रोहतक नगर में पातिसाह जलालुद्दीन के राज्यकाल में लिखा गया है[1]। कथाओं के नाम ये हैं:—

(१) अणंतवयकहा (२) सवणबारसिविहाणकहा (३) पक्खवइ कहा (४) णहपंचमीकहा (५) चंदायणवयकहा (६) चंदणछट्ठीकहा (७) णरयउतारी दुद्धारसकहा (८) णिद्दहसत्तमी कहा (९)

1 अथ संवत्सरेऽस्मिन् श्री नृपविक्रमादित्यराज्यात् सं० १६०२ वर्षे श्रावणसुदी ११ सोमवासरे रोहितास शुभस्थाने पातिसाहजलालदी (जलालुद्दीन) राज्य प्रवर्त्तमाने ॥छ॥

मउडसत्तमीकहा (१०) पुप्फंजलिवयकहा (११) रयनत्तयविहाणकहा (१२) दहलक्खणवयकहा (१३) लद्धिवयविहाणकहा (१४) सोलहकारणवयविहि (१५) सुयंधदसमीकहा।

उल्लिखित कथाओं में से नं० १, १० और १२ कथाओं की रचना ग्वालियर के जैसवालवंशी चौधरी लक्ष्मण सिंह के पुत्र पंडित भीमसेन के अनुरोध से हुई है। नं० २ तथा १३ की कथाएँ ग्वालियर निवासी संघपति साहु उद्धरण के जिन मन्दिर में निवास करनेवाले साहु सारंगदेव के पुत्र देवदास की प्रेरणा से लिखी गयीं और नं० ७ की कथा गोपाचल निवासी साहु बीधा के पुत्र सहजपाल के अनुरोध से लिपिबद्ध की गई। शेष नौ कथाओं की रचना में किन महानुभावों की प्रेरणा निमित्त रही, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है।

भट्टारक गुणभद्र का समय १६ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है; क्योंकि सं० १५०६ की 'धनपाल पंचमी कथा' की प्रशस्ति[1] से स्पष्ट है कि उस समय ग्वालियर के पट्टपर भट्टारक हेमकीर्ति विराजमान थे। और जिस समय 'ज्ञानार्णव' की प्रतिलिखी गई वि० सं० १५२१ में राजा कीर्ति, सिंह के राज्य में प्रस्तुत गुणभद्र विद्यमान थे[2]।

सोलहकारणविहाणकहा—प्रस्तुत कथा के रचनाकार हैं—श्रीविमलकीर्ति, जिनकी गुरु-परम्परा आदि का कोई परिचय उपलब्ध नहीं है।

सुयंधदसमी कहा—इस कथा के कर्त्ता कविवर देवदत्त हैं। कविवर देवदत्त का किस गुरु-परम्परा से सम्बन्ध रहा और वह कब हुए आदि बातों के सम्बन्ध में कोई जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी है।

रविवउकहा और अणंतवयकहा—इन दोनों कथाओं के रचयिता मुनि नेमिचन्द्र हैं जो माथुरसंघ में प्रख्यात मुनि रहे हैं। नेमिचन्द्र नाम के अनेक विद्वान् हो गये हैं, अतः प्रस्तुत कथाकार की गुरु-परम्परा आदि के सम्बन्ध में अभी स्पष्ट संकेत नहीं किया जा सकता।

इनके सिवाय 'अणंतवयकहा' तथा 'मुक्तावलीविहाणकहा' नामकी दो कथाएँ और उपलब्ध हैं, जिनके कर्ता आदि का पता नहीं है[3]।

अपभ्रंश के खण्ड काव्य

अपभ्रंश-साहित्य में उसके खण्ड काव्यों का एक स्वतन्त्र स्थान है। इनकी कथावस्तु विविधमुखी है। कुछ ऐतिहासिक तथा स्तुतिप्रधान हैं तो कतिपय आख्यानात्मक एवं सैद्धान्तिक संलापात्मक और उपदेशात्मक रचनाएँ भी इनमें उपलब्ध होती हैं।

हम यहाँ ऐसे ही खण्ड-काव्यों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

---

१ देखिए 'धनपाल पंचमी कथा' की लेखक प्रशस्ति, कारंजाप्रति।

२ दे०, 'ज्ञानार्णव' आरा प्रति की लेखक प्रशस्ति।

३ कथा-साहित्य की विस्तृत जानकारी के लिए देखिए, पं० परमानन्द जी का 'जैन अपभ्रंश का कथा साहित्य' (अनेकान्त वर्ष ८, किरण ६, ७ सन् १९४६)।

कुमारपालप्रतिबोध[1]—इसके रचनाकार श्री सोमप्रभ हैं और रचनाकाल वि० सं० १२४१ है। इसमें 'जीवमनःकरणसंलापकथा' 'स्थूलभद्रकथा', 'द्वादश भावना' तथा 'स्फुट पद्य' सुग्रथित हैं।

इनमें से 'जीवमनःकरणसंलापकथा' एक रूपकात्मक काव्य है, जिसमें इन्द्रियों की निरंकुश प्रवृत्ति को लेकर जीव और मन के पारस्परिक आह्लाद का सुन्दर चित्रण हुआ है। दूसरे में स्थूलभद्र की जीवनी गुंफित है। तीसरे में बारह भावनाओं का वर्णन है और चौथे में कतिपय सुभाषित पद्यों का। 'प्राचीनगुर्जरकाव्यसंग्रह',[2] 'अपभ्रंशकाव्यत्रयी'[3] और 'ऐतिहासिक जैनकाव्य[4] संग्रह' में अपभ्रंश भाषा की अनेक स्फुट रचनाएँ संगृहीत हैं।

'प्राचीनगुर्जरकाव्यसंग्रह' में चौदह पद्यात्मक रचनाएँ हैं और सात गद्यात्मक। ये रचनाएँ तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी की हैं और गद्य साहित्य के क्रमिक विकास के अध्ययन के लिए इनका बड़ा महत्त्व है।

प्राचीन गुजराती[5] गद्यसंदर्भ—अपभ्रंश गद्यसाहित्य का यह एक विशाल एवं महत्त्वपूर्ण संग्रह है। इसमें चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी की लगभग सौ लघुकाय स्फुट गद्य रचनाएँ संगृहीत हैं। प्रायः समस्त रचनाएँ जैनकथानक एवं धर्मोपदेश आदि पर आधारित है।

'ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह'—जैन गीति-काव्यों का एक सुन्दर संग्रह है। इसमें सैकड़ों ऐसे गीत संगृहीत हैं जो एक समय बड़े लोकप्रिय रहे होंगे। इन गीतों का विषय भक्ति एवं पुण्य पुरुष गुण-स्तवन है। इनमें धार्मिक प्रभावना प्रतिपादक अनेक ऐतिहासिक घटनाओं के उल्लेख भी सन्निहित उपलब्ध होते हैं। प्रस्तुत संग्रह चार भागों में विभक्त है।

भरत-बाहुबलि-रास[6]—प्रस्तुत काव्य के रचयिता शालिभद्रसूरि हैं। यह एक पौराणिक खण्डकाव्य है, जिसमें भरत-बाहुबलि के जीवन-संघर्ष का सुन्दरता के साथ चित्रण हुआ है। इस काव्य का रचनाकाल वि० सं० १२४१ है।

शालिभद्रसूरि[7]—की एक अन्य रचना भी उपलब्ध है, जिसका नाम 'बुद्धिरास' है।

श्रीजम्बूस्वामीरास—इस काव्य के कर्त्ता श्री महेन्द्रसूरि के शिष्य श्री धर्मकीर्ति है। इसमें अन्तिम केवली श्री जम्बूस्वामी के जीवन वृत्तका बड़ी सजीवशैली में वर्णन किया गया

१ लुडविग आल्सडार्फ का दी कुमारपाल प्रतिबोध (हेमबर्गजर्मनी ,सन् १६२८)।

२ गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, बड़ौदा, सन् १९२० ।

३ वही, सन् १६२७, सम्पादक श्री भट्टाचार्य ।

४ सम्पादक श्री अगरचन्द्र नाहटा तथा भँवरलाल नाहटा (कलकत्ता, सं० १९६४)।

५ सम्पादक मुनि जिनविजय (गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, सं १६८६)।

६-७ इन दोनों काव्यों के विशेष अध्ययन के लिये देखिये, 'भारतीय विद्या' भारतीयविद्याभवन, बम्बई), वर्ष २ अङ्क १ ।

है। इसका रचनाकाल वि० सं० १२६६ है[1]।

रेवंतगिरि रासा—इस काव्य के प्रणेता वस्तुपाल मन्त्री के गुरु विजयसेनसूरि हैं। इसमें गिरिनार का और वहाँ के जैन मन्दिरों के जीर्णोद्धार का वर्णन है। प्रस्तुत काव्य का रचनाकाल वि० सं० १२८८ है[2]।

नेमिनाथ चउपई—इस काव्य के रचयिता श्री रत्न सिंह के शिष्य विनयचन्द्र सूरि हैं। इसमें श्री नेमिनाथ जी को लक्ष्य में रखकर राजीमती एवं उनकी सखियों के पारस्परिक संलाप का हृदय-ग्राही चित्रण हुआ है। इसका रचनाकाल विक्रम की तेरहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग है[3]।

उवएसमाला कहाणय छप्पय—प्रस्तुत काव्य के रचयिता भी उक्त विनयचन्द्र सूरि हैं। धर्मदास गणि विरचित प्राकृत 'उपदेश माला' का अनुवाद स्वरूप यह काव्य है। यह रचना ८१ छप्पयबद्ध है[4]।

सात क्षेत्रिरास—यह काव्य अपने कर्त्ता के सम्बन्ध में मौन है। इसमें जिन मन्दिर, जिन प्रतिमा, ज्ञान, साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका इन सात पुण्य क्षेत्रों की उपासना का वर्णन किया गया है। इसका रचनाकाल वि० सं० १३२७ है[5]।

संघपति समरारास—अणहिल्लपुर पट्टन के ओसवाल शाह समरा संघपति ने वि० सं० १३७१ में अगणित द्रव्य राशि लगाकर शत्रुञ्जय तीर्थ का उद्धार किया था। प्रस्तुत धार्मिक प्रभावना का निरूपण ही इस काव्य का विषय है। इसके रचयिता नागेन्द्र गच्छ के आचार्य पासड सूरी के शिष्य अम्बदेव हैं[6]।

गौतमरासा—इस काव्य के प्रणेता श्री उदयवंत या विजयभद्र हैं। इसमें श्री गौतमस्वामी का संक्षिप्त जीवनवृत्त वर्णित है। रचनाल वि० सं० १४१२ है[7]।

ज्ञान पंचमी चउपई—प्रस्तुत काव्य के रचयिता जिन उदयगिरि के शिष्य एवं ठक्कर माल्हे के पुत्र विद्धणू हैं। इसमें श्रुत पञ्चमी का महात्म्य प्रतिपादित किया गया है। रचना का समय वि० सं० १४२३ है[8]।

धर्मदत्त चरित्र—इस काव्य के कर्त्ता दयासागर सूरि हैं। इसमें धर्मदत्त का चरित्र अङ्कित

१ देखिये, 'हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास' (श्री नाथूरामजी प्रेमी), पृ० सं० २५।
२ देखिये, वही, पृ० सं० २६।
३ देखिए, 'हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास', (श्रीनाथूरामजी प्रेमी) पृ० सं० २७।
४ देखिए, वही।
५ देखिए, वही, पृ० सं० २६।
६ देखिए, वही, पृ० सं० ३०।
७ देखिए, वही, पृ० सं० ३२।
८ देखिए, वही, पृ० सं० ३३।

किया गया है। रचनाकाल वि० सं० १४८२ है[1]।

ललितांग चरित्र—प्रस्तुत काव्य के रचयिता शान्ति सूरि के शिष्य ईश्वर सूरि हैं। मण्डप-दुर्ग (मांडलगढ़) के बादशाह ग्यासुद्दीन के पुत्र नासरुद्दीन के समय वि० सं० १५२१ में, मलिक माफर के पट्टधर सोनाराय जीवन के पुत्र पुंज मन्त्री की प्रार्थना से इस काव्य की रचना हुई[2]।

सारसिखामन रासा[3]—इस काव्य के रचनाकार जयसुन्दर सूरि के शिष्य संवेगसुन्दर उपाध्याय हैं। इसमें अहिंसा, रात्रि भोजन त्याग, अभक्ष्यभक्षण निषेध आदि धार्मिक एवं नैतिक शिक्षाओं का समावेश है। प्रस्तुत रचना २५० पद्यों में समाप्त हुई है। रचना का समय वि० सं० १५४८ है।

यशोधर चरित्र[4]—इस काव्य के रचयिता गौरवदास हैं। यह फफोंदू ग्राम निवासी जैन विद्वान् थे। रचनाकाल वि० सं० १५८१ है।

कृष्ण चरित्र[5]—प्रस्तुत काव्य के निर्माता छेल्हे के पुत्र कविवर ठकुरसी हैं। यह एक लघु काव्य सुन्दर रचना है। इसमें ३५ छुप्पय छन्दों में कवि ने एक कृपण का आँखों-देखा चरित्र वर्णित किया है। इसके निर्माण का समय १५८० (वि० सं०) है।

राम-सीता-चरित्र[6]—इस काव्य के कर्त्ता बालचन्द्र हैं। इसमें रामचरित का वर्णन किया गया है। रचनाकाल वि० सं० १५७८ है।

पुरन्दर कुमर चउपई[7]—इस काव्य के रचयिता मालदेव हैं। मालदेव वड़गच्छीय भाव-देवसूरि के शिष्य थे। साधारणतः यह 'माल' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस काव्य में पुरन्दर कुमार के शील का माहात्म्य वर्णित किया गया है। इसका रचनाकाल १६५२ (वि० सं०) है। मालदेव सिन्ध और पंजाब के मध्य रहा करते थे।

भोज प्रबन्ध[8]—मालदेव की दूसरी रचना है। इसमें तीन सम्बन्ध या अध्याय हैं। पहले अध्याय में भोज के पूर्वजों का, भोज के जन्म का और वररुचि धनपाल आदि पण्डितों की उत्पत्ति का वर्णन है। दूसरे में परकाया प्रवेश, विद्याभ्यास, देवराजपुत्र जन्म और मदनमञ्जरी के विवाह का वर्णन है। तीसरे में देवराज-वच्छराज विदेशगमन एवं अनुमती के समागम का वर्णन है।

१ देखिए, वही, पृ० सं० ३३।
२ देखिए, वही, पृ० सं० ३४।
३ देखिए, 'हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास' (श्री नाथूराम जी प्रेमी) पृ० सं० ३५। तक
४ देखिए, वही, पृ० सं० ३५।
५ देखिए, वही, पृ० सं० ३५, ३६, ३७।
६ देखिए, वही, ३८।
७ देखिए, वही, ४४, ४५।
८ देखिए, वही, ४५, ४६, ४७।

यद्यपि इसकी रचना प्रबन्धचिन्तामणि एवं बल्लाल के भोजप्रबन्ध पर आधारित है, फिर भी इसमें मौलिकता की कमी नहीं है।

दहलक्खण जयमाल[1]—यह पन्द्रहवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध कवि रइधू की रचना है। इसमें उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य इन दश धर्मों का बड़ा सुन्दर विवेचन किया गया है।

सोलह कारण-जयमाल[2]—यह भी उल्लिखित कविवर रइधू की कलाकृति है। इसमें दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का बड़ा तात्विक वर्णन किया गया है।

चूनड़ी[3]—इस काव्य के कर्ता माथुर संघीय भट्टारक बालचन्द्र के शिष्य भ० विनय चन्द्र हैं। उन्होंने इसे गिरिपुर में रहते हुए अजय नरेश के राजविहार में बैठकर लिखा था। कवि ने इसमें धार्मिक भावनाओं एवं सदाचार की चूनड़ी रंगाकर उपयोग करने का उपदेश दिया है। इसमें ३१ पद्य हैं और यह वि० सं० १५७६ के एक गुटका में लिखित है। अतः इससे पूर्व ही इसकी रचना हो चुकी होगी।

कल्याण रास—यह रचना भी उक्त भ० विनयचन्द्र की है। इसमें चौबीस तीर्थंकरों के पञ्चकल्याणकों की तिथियों का निरूपण किया गया है।

णिज्झरपंचमी विहार कहाणक—यह रचना भी भ० विनयचन्द्रकृत है और इसका अपेक्षाकृत विस्तृत परिचय 'अपभ्रंश कथा साहित्य' शीर्षक स्तम्भ के अन्तर्गत दिया जा चुका है।

मेघकुमार कथानक[4]—यह एक अपूर्ण लघुकाव्य रचना है। कर्त्ता भी अज्ञात हैं। वि० सं० १६२६ में लिखित एक गुटका में लिपिबद्ध है। अतः इससे पूर्व ही रचनाकाल निश्चित है।

गर्भ विचार स्तोत्र[5] – इसके कर्ता पद्मतिलक हैं। उपरिलिखित वि० सं० १६२६ के गुटका में यह भी लिपिबद्ध है। यह काव्य श्री ऋषभनाथ भगवान को लक्ष्य में रखकर प्रणीत किया गया है, परन्तु गर्भ वास के दुःखों के वर्णन के कारण इसे 'गर्भ विचार स्तोत्र' के नाम से अङ्कित किया गया। रचना २८ छन्दों में समाप्त हुई है।

उक्त गुटके में आठ अन्य स्तवरूप रचनाएँ[6] भी संगृहीत हैं, जिनमें मध्यकालीन जैन उपासना के आदर्श की एक सुमधुर झाँकी अङ्कित है।

हनुमन्त चरित्र[7]—इस काव्य के रचयिता ब्र० रायमल्लजी हैं। यह शारद गच्छ के

---

१ दशलाक्षणिक धर्म जयमाला (जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, सन् १६२३)।

२ प्राकृत षोडशकारण जयमाला (जैन साहित्य मन्दिर, सागर, सं० १६८३)।

३ देखिए, हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास (बाबू कामता प्रसाद जैन), पृ० सं ७१।

४ देखिए, वही, पृ० सं० ७४। ५ देखिए, वही, पृ० सं० ७४, ७५।

६ देखिए, वही, पृ० सं० ७६-७८। ७ देखिए, वही, पृ० सं० ८९।

आचार्य रत्नकीर्ति के पट्टधर मुनि अनन्तकीर्ति के शिष्य थे। इसमें हनुमान चरित वर्णित किया गया है, रचनाकाल वि० सं० १६१६ है।

संनेहरासिय[1]—इस काव्य के रचनाकार उद्दिहमान (अब्दुल रहमान) हैं। इनके पिता का नाम मीरसेन था। प्रस्तुत रचना २१६ पद्यों का खण्ड काव्य है। इसमें एक विरहिणी अपने प्रवासी पति को एक पथिक द्वारा प्रेम सन्देश भेज रही है। इस काव्य पर एक संस्कृत चूर्णि भी उपलब्ध है। मूल काव्य एवं टीका दोनों का रचनाकाल अज्ञात है।

श्री अगरचन्द्र नाहटा ने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के वर्ष ५० अङ्क १—२ में 'वीरगाथा-काल का जैन भाषा साहित्य' शीर्षक लेख के अन्तर्गत अपभ्रंश की २८ पद्यात्मक एवं एक गद्यात्मक रचना का संक्षिप्त परिचय दिया है। ये रचनाएँ आकार में छोटी हैं; परन्तु भाषा एवं विषय की दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण हैं। इनमें से कुछ का उल्लेख यहां किया जा रहा है—

१ भरतेसरबाहुबलिघोर (वज्रसेनसूरि) रचनाकाल सं० १२२५ के लगभग।

२ चन्दनबाला रास (आसिगु) रचनाकाल सं० १२५७ के लगभग।

आसिगु की 'जीवदया रास' नामक एक अन्य रचना भी उपलब्ध है।

३ नेमिनाथरास (सुमतिगणि), रचनाकाल सं० १२९० के लगभग।

४ भावनासन्धि (जयदेव मुनि), १३ वीं शताब्दी की रचना।

५ मातृका दोहा पृथ्वीचन्द्र, रचनाकाल १३ वीं सदी।

६ शालिभद्रमुनिचरासु (राजतिलक), रचनाकाल १४ वीं शताब्दी।

७ जिनचन्द्रसूरिवर्णनारास (लखमसीह श्रावक), रचनाकाल १४ वीं सदी।

८ नेमिनाथफागु (राजशेखरसूरि), रचनाकाल १४०० (वि० सं०) के लगभग।

इस प्रकार अपभ्रंश भाषा का साहित्य एक विशाल एवं महत्वपूर्ण साहित्य है। उपलब्ध सीमित सामग्री के आधार पर हमने इस साहित्यका यहाँ एक अति संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है।

सर जार्ज ग्रियर्सन की मान्यता है कि जितने प्रकार की प्राकृत भाषाएँ थीं, उतने उतने ही प्रकार के अपनी अपनी कतिपय प्रवृत्तियों को लिए हुए अपभ्रंश उत्पन्न हुए और इन अपभ्रंशों से आधुनिक भाषाएँ विकसित हुईं।

अपभ्रंश भाषा और उसका साहित्य आज ऐसे भाषा विज्ञान प्रेमियों की प्रतीक्षा में है जो उसका इस दृष्टि से वैज्ञानिक मन्थन करें और अपने मथितार्थ को विज्ञ-समाज के सामने उपस्थित करें।*

---

1 देखिए, डा० एस० एम० कत्रे का 'मुसलिक कन्ट्रीब्यूशन टू अपभ्रंश लिटरेचर' (दि कर्नाटक हिस्टारिकल रिव्यू, वाल्यूम ४, जनवरी—जुलाई, सन् १९३७, पृ० सं० ११-२१)।

* इस लेख की अधिकांश सामग्री श्री डॉ० हीरालाल जैन के 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य' से ली गई है। अतः लेखक उनका एवं इस लेख के फुट नोटों में अङ्कित समस्त विद्वान् लेखकों का विनम्र भाव से कृतज्ञ है।

कवि हीरकलस रचित जोइसहीर

[ले०—श्रीयुत् अगरचन्द नाहटा]

सत्रहवीं शती के राजस्थानी कवि हीरकलस ज्योतिषशास्त्र के अनुभवी विद्वान् थे। आपके द्वारा रचित प्राकृतभाषा का जोइसहीर या ज्योतिषसार ग्रन्थ एवं राजस्थानी भाषा का हीरकलश ग्रन्थ बहुत महत्व पूर्ण और सरल हैं। ज्योतिषसार का कुछ अंश पंडित भगवानदास जैन ने कुछ वर्ष पूर्व हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित किया था। उस ग्रन्थ की आपको अधूरी प्रति ही मिली थी। मैं जब जयपुर गया उनके पास उक्त ग्रन्थ की वह अपूर्ण प्रतिलिपि देखी तब से उस ग्रन्थ की पूरी प्रति की खोज में रहा। बंबई के ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन में इस ग्रन्थ की पूरी प्रति होने का पता चला तो माननीय नाथूरामजी प्रेमी को उक्त प्रति भेजवाने के लिए लिखा गया; उनका उत्तर मिला कि प्रति कहीं अस्तव्यस्त रखी हुई है, मिल नहीं रही है। रजिस्टर में उस ग्रन्थ की प्रशस्ति लिखी हुई थी वह उन्होंने भेजवा दी। तदनन्तर कलकत्ते के स्वर्गीय पूर्णचन्द्र जी नाहर की गुलाबकुमारी लाइब्रेरी के हस्तलिखित ग्रन्थों का अवलोकन करते हुए इसकी एक प्रति प्राप्त हुई जो पंडित भगवानदास जी को भेज दी गयी और उन्होंने अपनी अधूरी प्रतिलिपि को पूर्ण करके वापस भेजवा दी।

प्रस्तुत ग्रन्थ २ तरंगों में विभक्त है जिनमें से पहली तरंग में ५७ विषय हैं और दूसरी में ६५। आगे दी जानेवाली द्वार गाथाओं में उन विषयों की नामावली होने से यहाँ देने की आवश्यकता नहीं समझता। ग्रन्थ का महत्त्व इसकी द्वारगाथाओं से स्पष्ट हो जाता है।

ग्रन्थकार का दूसरा ज्योतिष ग्रन्थ 'हीरकलस' राजस्थानी भाषा के पद्यों में है। यह ग्रन्थ गुजराती अनुवाद के साथ साराभाई नवाब ने प्रकाशित कर ही दिया है। ग्रन्थकार की अन्य रचनाओं के सम्बन्ध में राजस्थानभारती में प्रकाशित मेरा लेख द्रष्टव्य है।

जोइसहीर ग्रन्थ परिचय

आदिः—पण परमिट्ठ नमेयं, समरिय सहगुरुय सरसई सहियं।
कहियं जोइसहीरं, गाहा छंदेण बंधेण ॥ १ ॥

द्वारगाथा—

तिथि१ वार२, रिक्ख३ जोगं४ हीरा५ चंदमिरासि६ दिणसुद्धि७
वाहणहंसो८ वच्छो१० सिवचक्कं११ जोगिणी१२ राहो१३ । २ ।
भिगुचार१४ परिघर१५ पंचग१६ सूल१७ रविचक्क१८ थिविर१९ सव्वंकं२० ।
रवि२१ राज२२ कुमर२३ अमिय२४ सिद्धं२५ शुभ२६ असुभ२७ ओगाय२७ ।

अहपुहर२८ कालबेल२९ कुलिकं३० अवकुलिकं३१ कंटकंजोग३२ ।
ककड३३ यमघंटायं३४ उतपातं३५ मिच्चु३६ काणायं३७ ॥ ४ ॥
खंजोय३८ यमल३९ संवल४० आइल४१ भसमं४२ उवग्गहं४३ दंड४४ ॥
हालाहल४५ वज्जमुसलं४६ यमदाढ़४७ कुम्भकायं४८ । ५ ॥
भद्दाइ४९ कालपासं५० छीया५१ बिजयाइ५२ गमन५३ तारबलं५४ ।
गहसि५५ सिवच्छा५६ करणं५७ भणियं बोलेहि अणुकमसो ॥ ६ ॥
पक्खेपढिवा सिद्धं, बीया सिद्धी तियाय खेमायं ।
चउत्थीय घणंखीया, पंचम सेया प्रसुह छट्ठी ॥ ७ ॥

२० पत्रांके—

शकुन१ चतुपद२ किंस्तुघ्न३, कौलव४ वाणि५ नाग६ ।
कुम्भई सककंमि सुभिषकहि, बाधेलछि;अथाग ।४३८॥

इति श्री खरतरगच्छे पंडित हीरकलश कृते श्री योतिःसारे प्रथमस्तरंग ।

द्वितीय तरंग

द्वारगाथा—

जोणी१ नाडविहं२ वग्ग३ गणं४ जुंजि५ खडहि अट्टमयं६ ।
गहमित्तं७ रासिमेलं८ हवरागिणेयअट्टविहं ॥ १ ॥
उवग्गो९ लहणादेणा१० बीयावारंमि तोडमा१२ इगारसमो ।
दशमचउ१३ उभउसम१४ नवपंचगाम१५ चक्कंमि१६ ॥ २ ॥
गिह आरंभ१७ चुलही विउजा१८ गहणं१९ सिसुन्नं२० खोरायं२१ ।
कन्न२२ वत्था२३ भरणं२४ भाइण२५ सोयन्त२६ न्हाणंच२७ ॥ ३ ॥
निवमन्त्रीसुह असुहमास२८ अहोमाम२९ पक्खतिथि हीणं ।
रिखियोग हीण अहियं पणवाइंकहियफलकमसो ॥ ४ ॥
वासर रिसिन्हाण३१ गलं३३ पंथो३४ चउगाय३५ जिट्ठ मूलायं३६ ।
रोहि३७ णिय मिय३८ कउमं निमिद्दिण३९ मागाच मत्तसिला४० ॥ ५ ॥
रोगो४१ नाडी वेहं काला४२ रविचन्द४३ मित्त४४ चउनाडि४५ ।
अहिचउघडी४६ विस४७ कुमरी सीलपरिक्खाइ नारीयं४८ ॥ ६ ॥
रासीय आयु वरयं समयपरिक्खाउ दिसा तिन्नंच५१ ॥
संक्रंतं५२ चउमण्डल५३ खंजय५४ काणोही भय वत्थ५६ ॥ ७ ॥
तत्तं५७ सरं५८ अकडम५९ लगनभावाइ६० सउण सिक्खायं ।
छिक्का६२ वर बहुखसिस६३ गंडंतो वहय६४ बीयाइं ॥ ८ ॥

गाथा ७६६ में विवाहपडल समाप्त। गा० ७७२ के पश्चात् 'इति तीर्थंकरराशि जोड़ा वेवऊजाणि वउ' लिखके संस्कृत गद्य में तीर्थंकरों के साथ १२ राशियों का सम्बन्ध बतलाया है। ग्रन्थ में बीच बीच में भाषा के पद्य भी हैं एवं कहीं कहीं भाषा गद्य में विषय को स्पष्ट किया गया है। यथास्थान यन्त्रकोष्टक भी हैं।

गद्य उदाहरण—

हिवइ बीजइ थान किइ रवि हुवइ तउ जिमणउ नेव दूखई। सुखाग्नि प्रवर हुवइ, रूड़उबोलइ, वंचकरोगी लोक वल्लभ। द्रव्योपार्ज्जक, प्रचुर संतानआचन्द्रमाहु वहु तउ। सौम्यकान्त। प्रसन्नवदनगुणानुरागीकफरोगी तिमिर सहित-मन्दाग्नि समदन्त सुभाहार रुही वल्लभपुत्रिका संतान सुशील सामिभक्त। अति पथीय जड प्रकृतेजउमंगल हुवइ तउ कोपी, लोभी, मानी हुवई।

भाषा पद्य उदाहरण—

भाद्रव आभू कात यह जेठइ मगसिर चेत।
जह मिगु ऊगइ अपि महुर तो निपज्जइ खेत॥ ५२॥
अगनि भनइ वाइव विहिमि परिघवरुइदिन रात।
देव न दानव लंघहि माणस केही मात॥ ६२॥

अन्त—

गाहा छंद विरुद्धं अत्थ विरुद्धं च जं मइराभणियं।
तं गीयत्था सघं करिय पउठव खमियव्व॥ ७३॥
सिरि खरतर गण गुरुणो सूरी जिणचन्द विजय रायहिं।
हीरकलसेहि गुंफिय जोइससारं हियगरच्छं॥ ७४॥
सोलसरा सगवीसं वच्छर विक्कमि विजय दसमीय।
अहिपुर मज्झे आगम उद्धरियं जोइसं हीरं। ७५॥

इति श्रीखरतर गच्छे पंडित हीरकलस मुनि कृतेः श्रीयोतिसारे द्वितीय तरंग सम्पूर्णः

लेखन प्रशस्ति—

संवत् १६७५ वर्षे आसाढ सुदि ४ दिने मंगलवारे। पंडित श्री लाभचन्द्रमणि शिष्य गजचन्द लिपिकृता। पत्र ५६ पं० १४ अ० ४० मं० ५२ नहरजी संग्रह बं नं० ५३ प्रति न० ६२२।

इधर २-३ वर्षों में ज्योतिष सम्बन्धी कई अद्यावधि अज्ञात जैन ग्रन्थ भी प्राप्त हुए हैं। जिनका परिचय अगले लेख में दिया जायगा। कई जानकार ज्योतिषियों से बातचीत हुई तो उन्होंने जैन विद्वानों के रचित ज्योतिष सम्बन्धी कई ग्रन्थों की बड़ी तारीफ की। ज्योतिष विद्या निपुण जैन विद्वानों से निवेदन है कि उन समस्त जैन ज्योतिष ग्रन्थों का सम्यक् अनुशीलन कर उनका महत्व प्रकाश में लावें।

सर्वार्थसिद्धि की वचनिका का आरम्भिक अंश

श्रीवृषभादि जिनेश वर, अंत नाम शुभवीर ।
मनवचकाय विशुद्धकरि, वंदों परम शरीर ॥१॥
कर्मधराधरभेदि जिन, मरम चराचर पाय ।
धरम बराबर कर नमूं, सुगुरुपरापर पाय ॥२॥
शब्दब्रह्मको मैं नमूं, स्यात्पद मुद्रित सोय ।
कहे चराचर वस्तु को, सत्यारथमल धोय ॥३॥
आप्तमूल आगम तणूं, एकदेश जु अनूप ।
तत्वारथ शासन सही, करौं वचनिका रूप ॥४॥

ऐसे आप्त, आगम को नमस्कार रूप मंगल करि श्रीउमास्वामी नाम आचार्य विरचित जो दशाध्यायरूप तत्वार्थशास्त्र ताकी देश भाषामय वचनिका लिखिये हैं। तहाँ ऐसा संबन्ध को सूचना है जो श्री वर्द्धमान अंतिम तीर्थंकरकूं निर्वाण भये पीछे तीन केवली तथा पंच श्रुतकेवली इस पंचम काल विषै भये तिनिमै अंतके श्रुतकेवली श्रीभद्रबाहु स्वामीकूं देवलोक गये पीछे काल दोषतै कई इक मुनि शिथिलाचारी भये। तिनिका संप्रदाय चल्या, तिनिमै केते इक वर्ष पीछै एक देवर्धिगण नाम साधु भया तिहि विचारी जो हमारा संप्रदाय तो बहुत बढ़ा परंतु शिथिलाचारी कहावै है। सो यहू युक्त नहीं। तथा आगामी हमतैं भी हीनाचार्य होयगे, सो ऐसा करिये जो इस शिथिलाचार कूं कोई बुद्धिस्या चलाई। सो भगवान कै पेचिस का रोग हुआ तब भगवान के वेदन बहुत हुआ तब साधानै कही।

एक राजा की राणी बिलाव के निमित्त कूकड़ा कबूतर मारि भूनस्या है सो वै हमारे ताईं ल्यावो, तब यह रोग मिटि जासी तब एक साधु ल्याया भगवान का तब रोग मिट्या इत्यादि अनेक कल्पित कथा लिखी।

अर श्वेत वस्त्र राखि दंड आदि भेषधारि सेतांबर कहाये पीछे तिनिकी संप्रदाय मै केई समझदार भये तिननै विचारी ऐसे विरुद्ध कथन तो लोक प्रमाण करसी नाहीं। तब तिनके साधने कूं प्रमाण नय की युक्ति बणाय नय विवक्षा बदी करी जैसे तैसे साधी तथापि कहां ताई साधै तब केई संप्रदायी तिनि सूत्रनिमै अत्यंतविरुद्ध कथे, तिनिकूं तो अप्रमाण ठहराय कईक सम्प्रदाय भये तिनिमै भी केईक नैपैताली भये केइक नेवती भये ऐसे परस्पर विरोध बध्या तब अनेक गछ भये सो अबताई प्रसिद्ध हैं। इनिकै आचार विचारका कछु ठिकाणां नाहीं। इनिही मै ढूंढिये भये हैं, ते निपट ही निंद्य आचरण धारता है सो काल दोष है कछु अचिरज है नहीं। जैनमत की गौणता इस काल मै होणी है, ताके निमित्त ऐसे ही बणै। बहुरि भद्रबाहु स्वामि पीछै दिगंबर संप्रदाय मै केतेक वर्ष

तौ अंगनि के पाठी रहे। पीछै अंग ज्ञानकी व्युच्छिति भई अर आचार यथावत रहवो ही कीया पीछै दिगंबरनि का आचार कठिन सो काल दोष तै य कल्पित न कहै तब तिमके साधवे निमित्त सूत्र रचना करी।

चौरासी सूत्र रचे तिनिमै श्री वर्द्धमान स्वामि अर गौतम गणधर का प्रश्नोत्तर का प्रसंग लगाय शिथिलाचार पोषणे के हेतु दृष्टांत युक्ति बणाय प्रवृत्ति करी। तिनि सूत्रनि के आचारांग आदि नाम धरे तिनिमै केते-इक विपरीत कथन किये केवली कवलाहार करैं स्त्रीकूं मोक्ष होय। स्त्री तीर्थंकर भया, परिग्रह सहित कूं मोक्ष होय, साधु उपकरण वस्त्र आदि चौदह राखै। तथा रोगी ग्लान आदि वेदना करि पीडित साधु होय तो मद्यमांस सहित का आहार करै तो दोष नाहीं इत्यादि लिख्या तथा तिनिकी साधक कल्पित कथा बणाय लिखी।

एक साधु कौ मोदक का भोजन करता ही आत्म निंदा करी तब केवलज्ञान उपज्या, एक कन्या कौं उपाश्रय मै बुहारी देतै ही केवलज्ञान उपज्या। एक साधु रोगी गुरु को कंधै ले चाल्या आपडता चाल्या गुरु लाठी की दई तब आत्मनिंदा करी ताकू केवलज्ञान उपज्या, तब गुरु ताके पगां पड्या। मरुदेवी कूं हस्ती परि चढ़ै ही केवलज्ञान उपज्या इत्यादि-विरुद्ध कथा तथा श्री वर्द्धमान स्वामि ब्राह्मणी के गर्भ मैं आये तब इन्द्र वहाँ ते काढि सिद्धारथ राजा की राणी के गर्भ मैं थापें तथापि तिनिकौ केवल उपजे पीछै गोसाला नाम गरू ताकूं दीक्षा दई सो वानै तप बहुत कीया वाकै ज्ञान वध्या रिद्धि फुरि तब भगवान सूं कलहवाय करि तेजो ले सूत्रनि का महाभाष्य रच्या और ग्रंथ बड़े बड़े। जिनसेन नै आदि पुरान संस्कृत रच्या।

बहुरि इस ही सम्प्रदाय मैं काष्ठासंघ प्रवर्त्या। बहुरि देव संप्रदाय मै अकलंक देव भये ते स्याद्वाद विद्या के अधिकारी भये, तिनिनै प्रमाण प्रकरण रचे और भी केई भये, तिनिनै बड़े-बड़े ग्रन्थ रचे, सोमदेव नै यशस्तिलक काव्य कीया। बहुरि सिंह संप्रदाय मैं वादिसिंह आदि मुनि भये, तिनि नै बड़े बड़े ग्रन्थ बणाये। ऐसे चारयों ही सम्प्रदाय मैं यथार्थ प्ररूपणा तथा आचार चल्या आया। तथा अब इस निकृष्ट काल मैं दिगंबरनिका संप्रदाय मैं यथावत आचार का तौ अभाव ही है जो कही है तो दूर क्षेत्र मैं होगा। बहुरि मोक्षमार्ग की प्ररूपणा तौ ग्रन्थनि के महात्म्य तै वर्त्त है तहाँ मेरा ऐसा विचार भया जो श्री उमा स्वामी कृत दशाध्याय रूप तत्त्वार्थ शास्त्र है ताकी संस्कृत टीका तौ गंधहस्ति नाम महाभाष्य है अर लघु टीका सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थ वार्त्तिक तथा राजवार्त्तिक भी कहे हैं। तथा श्लोकवार्तिक है तेते पंडितनिके समझनै लायक है। मंदबुद्धिनिका प्रवेश नाहीं, ताते याकी संक्षेपार्थरूप देशभाषामय वचनिका करिये तौ मंदबुद्धीहू वांचि समझै, तत्वार्थ की श्रद्धा करै तौ बडा उपकार है। यह जानि याकी वचनिका का प्रारंभ किया है—

तहाँ यावत आचारी विरले रह गये। तथापि संप्रदाय मैं अन्यथा प्ररूपणा तौ न भई तहाँ श्री वर्द्धमानस्वामि को निर्वाण गये पीछै छहसै नियासी वर्ष पीछै दूसरे भद्रबाहु नामक आचार्य भये,

तिनिकै पीछै केतेक वर्ष पीछै दिगंबरनिकै गुरुनिके नाम धारक च्यारि साखा भई (१) नंदि (२) सेन (३) देव (४) सिंह। ऐसे इनिमैं नंदि संप्रदाय मैं श्री कुन्दकुन्द मुनि तथा श्री उमास्वामि मुनि तथा नेमिचन्द्र, पूज्यपाद, विद्यानंदि, वसुनंदि आदि बडे बड़े आचार्य भये; तिनिनै विचारि जो शिथलाचारी श्वेतांबरनि का सम्प्रदाय तौ बहुत बध्या सो तौ कालदोष है परन्तु यथार्थ मोक्ष मार्ग की परूपणा चली जाय। ऐसे ग्रन्थ रचिये तो कैई निकट भव्य होयते यथार्थ समझि श्रद्धान करै। यथ शक्ति चारित्रग्रहण करै तो यह बड़ा उपगार है। ऐसे विचार के कई इक मोक्षमार्ग की प्ररूपणा के ग्रन्थ रचे तत्वार्थसूत्र, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, मूलाचार, गोमट्टसार, त्रिलोकसार, लब्धिसार, क्षपणासार आदिक तथा तिनिका अर्थ अविछेद होनैके अर्थि तिनिकी टीका करी।

बहुरि दूसरा सेन सम्प्रदाय मैं भूतबलि, पुष्पदन्त, वृषभसेन, सिद्धसेन, समंतभद्र, जिनसेन, गुणभद्र आदि बड़े बड़े आचार्य भये तिनिमैं बडे बड़े सूत्र धवल जयधवल, महाधवल प्राकृत—आदि पुराण आदि ग्रन्थ रचे तथापि सिद्धसेन, समंतभद्र आदि स्याद्वाद विद्याके अधिकारी भये, तत्वार्थ, देशघाति कर्म का नाश एक देशपणै परोक्ष समस्त तत्वनिका यथोक्त ज्ञान है तथा इनमे सम्बन्धी रागद्वेष भी जिनिकै नांही है ते अपर गुरु जानने ते गणधरादि सूत्रकार पर्यन्त आचार्य जानने।

बहुरि जे सर्वथा एकांत तत्व का प्ररूपण करै हैं ते गुरु नाहीं हैं। तिनिके वचन प्रमाण विरुद्ध हैं ते आपने तथा परके घातक हैं तिनिकों नमस्कार भी युक्त नाहीं। अथवा इहाँ आप्त ऐसा जानना जो सर्वज्ञ वीतराग आप्त होय सो ही शास्त्र की उत्पत्ति तथा शास्त्र का यथार्थ ज्ञान होने को कारण है तातै शास्त्र की आदि विषै निर्विघ्न रचौ शास्त्र की समाप्ति के अर्थि ऐसे ही विशेषण युक्त को नमस्कार करना योग्य है। यहां कोई कहै आप्त के नमस्कार तै पाप का नाश होय है तातै विघ्न का उपशम होय तब शास्त्र की समाप्ति निर्विघ्नपणै होय है न तै ताकूं नमस्कार योग्य है। ताकूं कहिये पाप का नाश तो पात्र दानादिक तै भी होय है सो आप्त का नमस्कार का नियम कह्यां।

कोई कहै परम मंगल आप्त का नमस्कार ही है। सो यह भी न कहना धर्म के अंग है ते सर्व ही मंगल है। कोई कहै नास्तिकता का परिहार नमस्कार कीयें होय है। याही तै श्रद्धानी पुरुष शास्त्र कौ आदरे हैं ताकूं कहिये नास्तिकता का परिहार तो मोक्ष मार्ग के समर्थन करने तै ही होय है। आप्त के मुख्य तो सर्वार्थसिद्धि नाम संस्कृत टीका का आश्रय है। बहुरि जहाँ तहाँ विशेष लिख्या है सो तत्वार्थवार्तिक, श्लोकवार्तिक का आश्रय जानना। या विषै कहीं भूल चूक होय तौ विशेष ज्ञानी सोधियो।

तहाँ प्रथम ही सर्वार्थसिद्धि टीकाकार मंगल अर्थि आप्त का असाधारण विशेषयुक्त ग्रंथ रच्या है। सो लिखिये है।

मोक्ष मार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्म्म भूभृतां ।
ज्ञातारं विश्व तत्त्वानां, वंदे तद्गुण लब्धये ॥१॥

याका अर्थ — मोक्षमार्ग के प्रवर्तावनहारे, कर्मरूप पर्वत के भेदनहारे, समस्त तत्त्वनि के जाननहारे कौं मेरे तिनि ही गुणनि की प्राप्ति के अर्थि मैं वंदौं ॥ छ ॥ भावार्थ ॥ इस शास्त्र विषै मोक्षमार्ग का उपदेश है सो जो घाति कर्म का नाश करि सर्वज्ञ वीतराग भया होय सो ही आप्त है तिसहीकूं नमस्कार किया है।

जातै सर्वज्ञ वीतराग का प्रवर्त्यो याही मोक्ष मार्ग प्रमाण सिद्ध होय। काहे तै जातै जो सर्वज्ञ न होय तो अज्ञान तै अयथार्थ भी कहै। तथा रागद्वेष सहित होय तो क्रोध, मान, माया लोभादि कषाय तै अन्यथा कहै सो प्रमाण नाहीं। तातै सर्व कौं जाणो कछू तै रागद्वेष न होय, ताही के वचन प्रमाण होय। वाही वस्तु का स्वरूप यथार्थ प्ररूपै। याही तै ऐसे विशेषण युक्त कौं नमस्कार कीया सो ऐसे तीर्थंकर तथा सामान्य केवली अरहंत भगवान हैं। इनिकूं परम गुरु कहिये।

प्रतिमा-लेख-संग्रह

(१) श्री दि० जैन केशोबाग मन्दिर, नागपुर

(१) अजितनाथ—श्वेतपाषाण १ फुट ६ इंच, मूलनायक "सं० १५४८ वर्षे वैसाख सुदी ३ श्री मूलसंघे भट्टारक श्री जिनचंद्रदेव.... प्रसाद जीवराज पापडीवाल नित्यं प्रणमति।"

(२) पार्श्वनाथ—श्वेत पा० १ फुट "सं० १५४८ वर्षे वैसाख सुदी ३ श्रीमूलसंघे भट्टारक जिनचंद्रदेव साहु जीवराज पापडीवाल प्रणमति।"

(३) पार्श्वनाथ—श्वेत पा० १ फुट "सं० १५४८ वर्षे वैसाख सुदी ३ श्री मूलसंघे भट्टारक श्री जिनचंद्रदेव शाहु जीवराज पापडीवाल प्रणमति।"

(४) पार्श्वनाथ—कृष्ण पा० ६ इंच (लेख पढ़ने में नहीं आता)

(५) पार्श्वनाथ—कृष्ण पा० ७ इंच ,, ,,

(६) चंद्रनाथ—कृष्ण पा० ६ इंच ,, ,,

(७) पार्श्वनाथ—धातु-९ इंच "सं० १६२५ श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्यान्वये नागौरपट्टे भ० श्री विद्याभूषणजी तत्पट्टे भ० श्री हेमकीर्तिजी तदाम्नाय.......पल्लालान्वये लोळुलगोभे संघवी भुरसीदास तत्पुत्र मनालालेन प्रतिष्ठा कराविता"।

(यह प्रतिमा मनोज्ञ है)

(८) चौबीसी—धातु-४ इंच "संमत १७७५ माघ सुदी ५ सोमे काष्ठासंघे लाडबागडगच्छे भट्टारक प्रतापकीर्तितदाम्नाये बघेरवालज्ञातौ कावरी गोत्रे........"।

(९) पार्श्वनाथ—धातु-४½ इंच "शके १६६२ मिति वैसाख वदी ११ श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे भ० धर्मचंद्र प्रतिष्ठितं"।

(१०) पार्श्वनाथ—धातु-३½ इंच (लेख पढ़ने में नहीं आता)

(११) पार्श्वनाथ—धातु ३½ इंच ,, ,,

(१२) धर्मनाथजी—धातु-४½ इंच "शाके १५८६........"।

(१३) पार्श्वनाथ—धातु-५ इंच-"सं० १७५४ श्रीमूलसंघे सेनगणे पुष्करगच्छे भ० छत्रसेनोपदेशात्.... प्रतिष्ठितं (यह प्रतिमा मनोज्ञ है)।

(१४) पार्श्वनाथ—धातु-१½ इंच (अस्पष्ट)।

(१५) पार्श्वनाथ—पार्श्वनाथ-धातु १½ इंच (,,)

(१६) चौबीसी—कृष्ण पा० १½ फुट लेख रहित।

(१७) शांतिनाथ—धातु-७ इंच लेख रहित।

(१८) पद्मावती—कृष्ण पा० १० इंच, लेखरहित।

प्रतिमा दो लेख और चिन्ह रहित, इंच २½)

(२) श्री दि० जै मंदिर मस्कासाथ (पुराना मन्दिर, नागपुर)

(१) आदिनाथ—श्वेत पा० २ फुट ३ इंच मूलनायक "सं० १६२५ शके १७६० विभव-नामसंवत्सरे शुक्लपक्ष तिथि ७ बुधवासरे श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे कुंदकुंदाचार्याम्नाये इयं प्रतिमा देवेंद्रकीर्तिस्वामिना हस्ते नागपूरमध्ये नीलालाल तस्य भार्या चीमाबाई ने प्रतिष्ठा कराप्पितं"।

(२) पद्मप्रभ—श्वेत पा० १ फुट "सं० १५४८ श्रीमूलसंघे भट्टारक जिनचंद्रदेव साह जीवराज पापड़ीवाल नित्य ''.'''संघ"।

(३) पार्श्वनाथ—श्वेत पा० १½ फुट "समंत १६६४''' '''महाराजाधिराज''''''श्रीचंद्रकीर्ति''''''तत्पट्टे भ० देवेंद्रकीर्तिजी''''''प्रतिष्ठितं"।

(४) आदिनाथ—श्वेत पा० १० इंच "सं० १५४७ वैशाख सुदी ३ श्रीमूलसंघे भ० जिनचंद्रदेवा सा''''''पापड़ीवाल''''''"।

(५) पार्श्वनाथ—कृष्ण पा० ११ इंच "सं० १८८७ का ज्येष्ठ सुदी ६ विंशतिनामसंवत्सरे श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे कुंदकुंदाचार्याम्नाये भ० रत्ननंददेवा तत्पट्टे भट्टारक देवेंद्रकीर्ती''' '''प्रतिष्ठा कराप्पितं"।

(६) पार्श्वनाथ—कृष्ण पा० १० इंच "सं० १७७८ चैत्र सुदी ६ श्रीमूलसंघ सरस्वतीगच्छ''''''(अस्पष्ट)।

(७) पार्श्वनाथ—धातु-७ इंच "संमत १८५६ शके १७२४ का नागपूरमध्ये भ० रत्नकिर्ती उपदेशात्''''''"।

(यह प्रतिमा मनोज्ञ है)

(८) पार्श्वनाथ—धातु-७ इंच "ॐ नमः सिद्धेभ्यः संमत १८५७ शके १७२२ भादवा सुदी १० सोमवारे कुंदकुंदाचार्याम्नाय सरस्वतीगच्छ बलात्कारगण भट्टारक श्री श्री श्री अजित कीर्तितस्य उपदेशात्''''''मोतीरामुग्गे परवारज्ञाते''''''मंगलं भूयात्"।

(९) पार्श्वनाथ—श्वेत पा० १ फुट "संमत १५४८ वैशाख सुदी ३ श्रीमूलसंघ''''''साह जीवराज पापड़ीवाल''''''श्री राजा सा संघ"।

(१०) पार्श्वनाथ—धातु-६ इंच "सं० १८५६ दुंदभिनामसंवत्सरे नागपूरनगरे रघुवर राज्ये भ० श्रीरत्नकीर्ति उपदेशात् परवारवंशे''''''"(अस्पष्ट)।

(११) पद्मप्रभ—धातु ११ इंच "सं० १८५६ शके १७२४ श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे

सरस्वतीगच्छे भट्टारक रत्नकीर्ति उपदेशात् नागपूर नगरे रघुवरराज्ये परवारान्वये चेतनागर ...... हिल गोमे ...... भार्या ...... प्रतिष्ठा कारापित" ।

(१२) अजितनाथ—श्वेत पा० १० इंच "संवत १५४८ श्रीमूलसंघ भ० श्री जिनचंद्रदेवासा ...... राज पापडीवाल नित्यं ...."

(१३) चौबीसी—धातु ७ इंच "संमत १९१६ मिति फागसुद ११ श्रीमूलसंघ सरस्वतीगच्छ बलात्कारगण कुंदकुंदाचार्यान्वये प्रतिष्ठितं हिरालालसा ठाकूर" ।

(१४) चौबीसी—धातु ७ इंच "संमत १९१६ मिति फागसुद ११ श्रीमूलसंघ सरस्वतीगच्छ बलात्कारगणकुंदकुंदाचार्याम्नाये प्रतिष्ठितं सुखमा च.गणाव ।

(१५) चौबीसी—धातु ७ इंच लेख रहित ।

(१६) पार्श्वनाथ—धातु ६ इंच "१९१६ फागुणसुद ११ समर्तसूतं कुंदकुंदाचार्याम्नाय गणहुगंगाराम ।

(१७) आदिनाथ—धातु ३ इंच "संमत १९२८ ...... माघ" ।

(१८) चंद्रनाथ—श्वेत पा० ११ इंच "संमत १९०२ शके १७६७ तेरसी दिवसे प्रतिष्ठितं"

(१९) चद्रनाथ—श्वेत पा० १० इंच "संमत १५४८ वैसाख सुदी ३ गुरौ मूलसंघे भट्टारक जी श्री जिनचंद्र .... प्रणमति" ।

(२०) आदिनाथ—श्वेत पा० १० इंच "संमत १५४८ वैशाखसुदी ३ श्रीमूलसंघ भट्टारक श्रीजिनचंद्रदेवा साह जीवराज पापडीवाल ...." ।

(२१) सुपार्श्वनाथ—श्वेत पा० १० इंच सं० १५४८ वैशाख सुदी ३ श्रीमूलसंघ श्रीजिनचंद्रदेवा साह जीवराज पापडीवाल नित्यं प्रणमति सा ...... मदास ...... राजासा संघ"

(२२) मुनिसुव्रत—श्वेत पा० १० इंच "संमत १५४८ वैसाख .... " (अस्पष्ट)

(२३) पार्श्वनाथ—श्वेत पा० १ फुट "संमत १५४८ वर्षे वैसाखसुदी ३ श्रीमूलसंघ भ० श्री जिनचंद्रदेव साह जिवराज पापडीवाल नित्यं प्रणमति"

(२४) वासुपूज्य—श्वेत पा० ११ इंच "संमत १५४८ वर्षे वैसाख सुदी ३ श्री मूलसंघ भट्टारकजी श्री .... देव साह जीवराज पापडीवाल नित्यं प्रणमति सहर .... सा श्री राजालघसंघ" ।

(२५) पार्श्वनाथ—कृष्ण पा० १ फुट २ इंच "सं० १५४८ वर्षे वैसाख सुदी ३ श्रीभानुचंद्र भट्टारक जी श्री जिवराज पापडीवाल ...."

(२५) पार्श्वनाथ—श्वेत पा० १ फुट "संमत १५४८ वर्षे वैसाखसुदी ३ श्रीमूलसंघ भट्टारक जी .... प्रणमति" ।

(२६) चन्द्रनाथ—श्वेत पा० १० इंच "संमत १८०० चैतसुदी ३ ...."

(२७) अजितनाथ—श्वेत पा० १० इंच "संमत १५४८ वर्षे वैसाख सुदी ३ श्रीमूलसंग ...." (अस्पष्ट)।

(२८) पार्श्वनाथ—श्वेत पा० १ फुट २ इंच "संमत १५४८ वर्षे वैसाख सुदी ३ श्रीमूलसंघे जीवराज पापड़ीवाल ...."।

(२९) अजितनाथ—धातु ६ इंच "संमत १६१६ मिति फागणसुदी ११ शु० श्री सरस्वती गच्छे बलात्कार गणे कुंदकुंदाम्नाय अयं श्री अजितनाथ स्वामी सुखोमाव परवारतने प्रतिष्ठित"- (यह प्रतिमा मनोज्ञ है)।

(३०) धर्मनाथ—धातु ७ इंच "संमत १६२८ प्रजापतिनाम संवत्सरे माघकृष्णे द्वादशी तिथौ बुधवासरे प्रतिष्ठाचार्य श्रीमत् भ० देवेन्द्रकीर्ति प्रतिष्ठाकरविणार मगालाल मवाई संघवी"

(३१) नमिनाथ—श्वेत पा० ११ इंच "संमत १५४८ वर्षे वैसाख सुदी ३ श्रीमूलसंग भट्टारक जी श्री जिनचंद्रदेव साह जीवराज पापड़ीवाल नित्यं.......................... ....."।

(३२) आदिनाथ—श्वेत पा० ७ इंच "संमत १५४८ वर्षे वैसाख सुदी ३ श्रीमूलसंग भट्टारक जिनचन्द्रदेव सा... ...जिवराज पापड़ीवाल नित्यं....... ...राजासा संघ"

(३३) अरनाथ श्वेत पा० ७ इंच "संमत १५४८ वर्षे वैसाख सुदी ३ श्रीमूलसंग भट्टारक जी जिनचन्द्रदेव सा जिवराज पापड़ीवाल नित्यं प्रणमति"।

(३४) सुपार्श्वनाथ—श्वेत पा० १० इंच "संमत १५४८ वर्षे वैसाख सुदी ३ श्रीमूलसंग भट्टारक जी ...."

(३५) चौबीसी—धातु १० इंच "रघुजीराजे संमत १८५६ शके १७२४ शु० दुंदुभिनाम-संवत्सरे नागपुरनगरे श्रीमूलसंगे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे भट्टारक रत्नकीर्त्ति उपदेशात् नागपुर नगर परवारान्वये सेतवाल ....मूल गोईली गोत्र......... ....आत्मज ....
भार्या दुर्गा इन प्रतिष्ठा करापितं शुभं भवन्तु"।

(३६)पद्मावती—धातु प्रतिमा दो ६ और ७ इंच "सम्मत १८५६ श्रीमूलसंग भ० रत्नकीर्ति उपदेशात्"।

(३७) पार्श्वनाथ—धातु प्रतिमा दस १½ से २½ इंच तक　　(अस्पष्ट और लेख रहित)

श्री दि० जैन मन्दिर किराणाओल मस्कासाथ, नागपुर

(१) महावीर—कृष्णपाषाण ४½ फुट (कायोत्सर्ग खड़ी) "श्री संमत १८६४ साल आषाढ़ वदी ६ श्री महावीर स्वामीजीका मुख" (चौओर प्रतिमायें हैं) मूलनायक (यह प्रतिमा बहुत ही मनोज्ञ है)

(२) चन्द्रनाथ—श्वेत पा० १½ फुट (प्रतिमा मनोज्ञ है) श्रीसंमत १८६४ ज्येष्ठ सुदी १४ श्रीचन्द्रप्रभुजी का मुख चूक आषाढ़ वदी ६"

(३) पार्श्वनाथ – श्वेत पा० १ फुट "संमत १८८५ ········ श्रीमूलसंगे सरस्वती गच्छे बलात्कार गणे कुंदकुंदाचार्याम्नाये भट्टारक श्री देवेन्द्रकीर्ति उपदेशात् ······ ·· प्रतिष्टितं"।

(४) मुनिसुव्रत—श्वेत पा० १ फूट "संमत १८०० वैशाख सुदी ३ भौमवासरे श्रीमूलसंगे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्री कुन्दकुन्दाचार्याम्नायेन् ········नागपुर मे ·······प्रतिष्टितं"।

(५) चौबीसी—धातु ६ इंच "संमत १६१६ मिति फागणसुदी ११ श० श्रीमूलसंगे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे कुन्दकुन्दाचार्याम्नाये अयं ······"

(६) पार्श्वनाथ—श्वेत पा० १ फुट "समंत १५४८ वर्षे वैशाख सुदी ३ श्रीमूलसंगे भट्टारक श्री श्री जिनचन्द्रदेवा साह ········श्रीवाल नित्यं प्रणमति"।

(७) पार्श्वनाथ—श्वेत पा० १½ फुट (लेख अस्पष्ट)।

(८) चन्द्रनाथ—श्वेत पा० १½ फुट 'संवत १७०० वैशाख सुदी ३ भौमवासरे श्रीमूलसंगे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाम्नाये तेन प्रतिष्ठानुसारेण प्रतिष्ठितं नागपूरमध्ये ······"।

(९) पार्श्वनाथ—धातु-१० इंच (यह प्रतिमा मनोज्ञ है) "संमत १८८७ वैशाख कृष्ण ५ रविवासरे श्रीमूलसंगे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुंदकुंदाचार्यान्वये ··· ···इयं प्रतिमा कारयेन श्रीसकलपंच कमेटि के हाकर्म त्यार्थे प्रतिमा प्रतिष्ठितेन"।

(१०) पार्श्वनाथ—श्वेत पा० २ फुट (यह प्रतिमा मनोज्ञ है) "संवत १८०० वैशाख मासे शुभे तिथौ सुदी ३ भौमवासरे श्री मूलसंगे बलात्कारगणे········नागपूरमध्ये·······शुभं भवतु"।

(११) पार्श्वनाथ—कृष्ण पा० १ फुट (प्रतिमा मनोज्ञ है) "संमत १५४८ वर्षे वैशाख सुदी ३ श्रीमूलसंग श्री भट्टारकजी जिनचंद्रदेवसाह शिवराज पापडीवाल···· ···"।

(१२) सुपार्श्वनाथ—श्वेत पा० १० इंच "संमत १५४८ वर्षे वैशाख सुदी ३ श्रीमूलसंग ·········· ··········प्रणमंति"

(१३) चंद्रनाथ—श्वेत पा० १ फुट "संवत १७७२ श्रीमूलसंग सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुंदकुंदाचार्याम्नाये।

(१४) चन्द्रनाथ—कृष्ण पा० ११ इंची प्रतिमा दो, लेख अस्पष्ट।

(१५) पार्श्वनाथ—श्वेत पा० १ फुट "सम्वत १७५२ वर्षे वैशाखसुदी ३ श्रीमूलसंग······ ······ ····प्रतिष्टितं (अस्पष्ट)।

(१६) सुपार्श्वनाथ—मूंगावर्ण ७ इंच (मनोज्ञ है) "संमत १८०० वैशाखसुदी ३"।

(१७) चन्द्रनाथ—श्वेत पा० १ फुट (मनोज्ञ है) "संमत १६०४ शाके १७६६ मिती वैशाख सुदी १३ बुधवासरे इन्द श्री चन्द्रनाथ स्वामी प्रतिष्ठा श्रीमद्देवेन्द्रकीर्त्तिस्वामी तेन प्रतिष्ठिता"।

(१८) पार्श्वनाथ—पीतवर्ण १ फुट (मनोज्ञ है) "संमत १६०४ मिती वैशाखसुदी ११ बुधवार इन्द श्रीपार्श्वनाथस्वामी श्रीमद्देवेन्द्रकीर्तिस्वामिना प्रतिष्ठितं"।

(१९) चन्द्रनाथ—कृष्णपा० १ फुट "संमत १७१३ मिती वैशाखसुदी ३ .... पापड़ीवाल..........."।

(२०) नेमिनाथ —कृष्ण पा० १ फुट "सम्वत १७५३ श्रीमूलसंग................ पापड़ीवाल .... "

(२१) पार्श्वनाथ—धातु प्रतिमा चार, १½ से ३ इंची तक लेख अस्पष्ट।

(२२) महावीर—धातु १½ फुट (यह प्रतिमा मनोज्ञ है) "श्री महावीर निर्वाणसंवत २४६० विक्रमसंवत १९९० शाके १८५५ फालगुणसुद्ध १२ सोमवार श्रीमूलसंगे सरस्वतीगच्छ बलात्कार-गण श्रीकुन्दकुन्दाचार्याम्नायातील वामन गांधील परवारज्ञाति नागपूरनिवासी सेठ कनईलाल नेमिचन्दजी यांनी दि० जैन सिद्धक्षेत्र गजपंथ येथील श्री० ब्र० जीवराज गौतमचन्द सोलापुर यांचे प्रतिष्ठामध्ये श्री महावीर तीर्थङ्कराचे बिंब प्रतिष्ठित केले असे"

(२३) पद्मावति—धातु चार इंची लेख रहित।

(२४) स्फटिकप्रतिमा एक—१½ इंच, चिन्ह और लेख रहित।

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर छिन्दवाड़ा की प्रतिमाएं—

१—पंचायती मन्दिर

(१) चन्द्रप्रभ—पीतवर्ण, ऊँचाई ६ इंच, (अनुमान), धातुमय "संम (व) त (त्) १९३१ श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुन्दकुन्दाचार्य आम्नाय नग्र (नगर) छिन्दवाड़ा मध्ये वैसा (शा) ख मासे शुक्ल सप्तमी गुरुवासरे वैश्यवर्गे श्रावक कुले परवार न्यायते (ज्ञातौ) भूरेलाल तस्य पुत्र खेमचंद प्रधुमंत (प्रद्युमन्त) प्रति एतं श्रीरस्तु कल्याणमस्तु येडामर (मूर) वासल्ल गोत (त्र)।

(२) पार्श्वनाथ—शुक्लवर्ण, १½ हाथ (अनुमान), पाषाणमय मूलनायक (ऊपर के भांति)।

(३) पार्श्वनाथ—पीतवर्ण, ऊंचाई (?), धातुमय (लेख उपर्युक्त प्रकार)।

(४) अरनाथ—शुक्लवर्ण, ऊँचाई १० इंच, पाषाणमय "संवत १५४५ मिति वैसाख सुद ३" (इसके बाद जगह छोड़कर नीचे लिखा है) सकलचंद जी"।

(२) दि० जैन मंदिर मोहखेड़े वालों का; मु० छिंदवाड़ा (छिंदवाड़ा) की प्रतिमाएँ

(१) नेमिनाथ—कृष्णवर्ण, ऊँचाई २ हाथ अनुमान, पाषाणमय "संमत (वत्) १९५६ (मूलनायक) माघ शुक्ल ५ श्रीमूलसंघे सरस्वती गच्छे बलात्कारगणे कुन्दकुन्दाचार्य आम्नाय बिच (मध्ये) मिदं छिंदवाड़ा नग्रे (नगरे) हीरालाल सेठ कशनलाल जी परवार मोहखेड़ निवास प्रतिष्ठितम्"।

(२) आदिनाथ—शुक्लवर्ण, ऊँचाई १½ हाथ अनुमान, पाषाणमय "लेख उपर्युक्त प्रकार"

(३) श्री आदिनाथ दि० जैन मन्दिर (परवारों का) छिंदवाड़ा (छिंदवाड़ा) की प्रतिमाएँ—

(१) आदिनाथ—(मूलनायक) शुक्ल वर्ण, ऊँचाई २½ हाथ, पाषाणमय "संमत (संवत्) १६३१ श्रीमूलसंघ (घे) बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छ (च्छे) श्रीकुन्दकुन्दाचार्य आम्नाय नग्र (नगरे) छिंदवाडे मध्ये वैशा (शा) ख मासे शुक्ल पक्षे सप्तमी गुरुवारे वैश्यवर्णे श्रावक कुले परवार ज्ञातौ (ज्ञातौ) दउवा (पदविशेष) भूरेलाल तस्यपुत्र खेमचन्द प्रणमंतु (प्रणंतु) प्रतिष्ठितम् श्रीरस्तु वैडूर्य वासल्ल गोत (त्र)।

(२) पार्श्वनाथ—शुक्लवर्ण, ऊँचाई १ हाथ अनुमान, पाषाणमय "सं० १६३१ से परवार ज्ञातौ तक (ऊपर के अनुसार) बाद में चुन्नीलाल तस्य पुत्र जुगल लछमण तस्य पुत्र भोजराज प्रणमंतु श्री। पूरा लेख निम्न प्रकार होगा। सं० १६३१ श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वती-गच्छे श्रीकुन्दकुन्दाचार्य आम्नाय (ये) नगरे छिंदवाड़े मध्ये वैशाख मासे शुक्लपक्षे सप्तमी गुरुवासरे वैश्यवर्णे श्रावककुले परवार ज्ञातौ चुन्नीलाल तस्य पुत्र जुगल लछमण तस्यपुत्र ...... भोजराज प्रणमंतु श्री।

(४) चन्द्रप्रभ दि० जैन मंदिर खण्डेलवालों का (रामजी का) मु० छिंदवाड़ा

(१) चन्द्रप्रभ—(मूलनायक) शुक्ल वर्ण, ऊँचाई ½ हाथ, पाषाणमय "माघ शुक्ल ५ सं० १६५६ श्रीमूलसंघे सरस्वती गच्छ (च्छे) बलात्कारगणे आम्नाय कुन्दकुन्दाचार्य जिनबिंब (१) छिंदवाड़ा नग्रे (नगरे) रामलाल जी कानूरचन्द जी रांका सिवनी निवासी प्रतिष्ठितम्।

(२) पार्श्वनाथ—नीलवर्ण, ऊँचाई ८ इंच, अनुमान "संवत् १६३१ मूलसंघ बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छ कुन्दकुन्दाचार्य आम्नाय छिंदवाड़ा मध्ये वैशाख सुदी ७ गुरौ प्रतिष्ठितम् साउ (हु) लोकमन प्रतिष्ठितम्।

(६) पार्श्वनाथ दि० जैन मंदिर खण्डेलवालों का (मजोबाला) मु० छिंदवाड़ा

(१) आदिनाथ—शुक्ल वर्ण, ऊँचाई १½ हाथ अनुमान, पाषाणमय "संमत (वत्) १९४५ शाके १८१० सर्वधारिनाम संवत्सरे मिती वैषा (शा) ख सुदी ६ गुरौ वासरे श्रीमूलसंघे सरस्वती गच्छ (च्छे) बलात्कार गणे कुन्दकुन्दाचार्यान्वय भ० श्री महेन्द्रकीर्ति स्वामी तत्पट्ट ...... (पट्टे) भ० श्री रत्नकीर्ती (त्यु) पदेशात् ग्राम छिंदवाड़ा वाले गुलाबराम केसरीलाल तस्य पुत्र जवाहरमल मोतीलाल तस्य पुत्र हजारीलाल पाटनी खंडेलवाल प्रतिष्ठा कारापितं (ता)।

(२) महावीर—शुक्लवर्ण, ऊँचाई १½ हाथ अनुमान, पाषाणमय "लेख उपर्युक्त प्रकार"।

(३) पार्श्वनाथ—कृष्णवर्ण, ऊँचाई ८ इंच, पाषाणमय "सं० १९४९ शाके १८१४ माघ शुक्ल ५ व चन्द्र श्रीमूलसंघे बलात्कारगण सरस्वती गच्छ .... परवारचमल गनेशुलाल।

(४) अजितनाथ—शुक्लवर्ण, ऊँचाई ९ इंच, पाषाणमय "सं० १९४५..........जुवारमल मोतीलाल छिंदवाड़ा पदमजी तस्य पुत्र उमेदचन्द जी।

(६) श्री दि० जैन पंचायती बड़ामंदिर (चैत्यालय) छिंदवाड़ा —

(१) पार्श्वनाथ—शुक्लवर्ण, ऊँचाई १½ फुट, "सं० १८८१ श्रीमुक्तागिर जी...... ब्रह्मचारी नागसागरजी।

(२) पार्श्वनाथ—पीतवर्ण, ऊँचाई (?), धातुमय, "सं० १९३१ के प्रतिष्ठा के साथ की—

(३) पार्श्वनाथ—पीतवर्ण, ऊँचाई (?), धातुमय "सं० १९३१ के प्रतिष्ठा के साथ की"—

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर कैमारी तह० पाटन (जबलपुर) की निर्लिङ्ग प्रतिमाएँ—

(१) पार्श्वनाथ—कृष्णवर्ण, ऊँचाई १३ इंच, पाषाणमय "सं० १९८१ श्रावण शुक्ल....... मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे गाराचतमद्दे..........नागचिन्ह-फणावली (?)।

(२) शुक्ल वर्ण—ऊँचाई १२½ इंच, पाषाणमय "सं० १५४५...........भगवानदास कान्त (अस्पष्ट पढ़ने में नहीं आया)।

(३) शुक्ल वर्ण—१०½ इंच, पाषाणमय "सं० १५४८ व (शु) षे वैसा (शा) ८ सुदी १ श्रीमूलसंघे भट्टारक गणे (?) श्रीजनचन्द्रये साहाज राजेश (राजा) पधार-कमल चिन्ह।

(४) शुक्ल वर्ण—ऊँचाई ६½ इंच, पाषाणमय "सं० १५४५ का वदी २ (बाकी लेख अस्पष्ट है) कच्छुर चिन्ह।

(५) शुक्ल वर्ण—ऊँचाई १०½ इंच, पाषाणमय "सं० १८६३ मिती फागन (फाल्गुन) वदी ३ कट्टा (इां) रे मनमुख चपत प्रतिष्ठतं।

(६) शुक्ल वर्ण—ऊँचाई १७ इंच, पाषाणमय "सं० १८६३ मिती फागुन वदी ३ मूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक नरेन्द्रभूषणजी तत उपदेशात् सिवई कद्दां (इा) रे मन मुखरप (ख) त गाढ़ावाट (जिला जबलपुर) मध्ये प्रतिष्ठितम्।

(७) सुपार्श्वनाथ पीतवर्ण—ऊँचाई ७ इंच, धातु (पीतल) मय "सं० १९१९" साथिया।

(८) पीतवर्ण—ऊँचाई ११ इंच, धातुमय 'सं० १९२० माघमासे शुक्ल पक्षे नौमी (नवमी) ९ वार मंगल मध्ये हीरालाल मार्दा कैमोरी।

(९) पीतवर्ण—ऊँचाई ६ इंच, धातुमय "सं० १८०४ माघ कृष्ण...... ......वासरे-गोपाचल पट्टे........श्री भट्टारक चारु च०............(पढ़ा नहीं जाता)।

(१०) पीतवर्ण—ऊँचाई २½ इंच, धातुमय "सं० १८९१"।

(११) पीतवर्ण—ऊँचाई ½ इंच, धातुमय।

(१२) पीतवर्ण—ऊँचाई २½ इंच, धातुमय "सं० १४७६" आगे स्पष्ट नहीं है।

(१३) १४, १५, १६ पीतवर्ण—ऊँचाई क्रम से २½, १½, १½, १½ इंच।

(१७) पीतवर्ण—मन्दिर (धातुमय) में बीच बीच में चारों ओर ४ चार प्रतिमाएँ प्रत्येक २-२ दो दो इंच ऊँची संवत् आदि कुछ नहीं लिखा है।

(१८) मेरु—धातुमय, पीतवर्ण, ऊँचाई २ फुट १ इंच, चार खण्ड हैं प्रत्येक खण्ड में १-१ प्रतिमा १½—½ (इंच ?) ऊँची १६ (कुलप्रतिमाएँ) नीचे के भाग में चार हस्ति सुंडों पर १-१ प्रतिमा १-१ इंच ऊँची "सं० १९२४ फाल्गुनमासे श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे।

बीजकोश

श्री जैन-सिद्धान्त-भवन आरा में कुछ ऐसे हस्तलिखित गुटकों का संकलन है, जिनमें प्रत्येक गुटके में लगभग बीस-पच्चीस ग्रन्थ हैं। त/१२ गुटका छोटा सा है, पर इसमें ८-१० ग्रन्थ छोटे होने पर भी महत्त्वपूर्ण हैं। इस गुटके का लिपिकाल संवत् १६३२ मिति वैशाख शुक्ला ११ शनिवार है। इसे गोपाल ब्राह्मण ने मौजपुर कालीपी दिल्ली में लिखा है। इसमें अर्हन्त-पाशाकेवली, प्रायश्चित्तसंग्रह, बीजकोश, पंडितवचन, गृहबिम्बलक्षणम्, वासठठाणा, द्वितीय प्रायश्चित्त, तीर्थयात्रा अर्चनपूजा, व्रतभोरा, नव प्रकार ब्राह्मण, प्रतिमा का अठारो दोष, षट्दर्शन दूहा, और मयूर चित्र ग्रन्थ हैं।

बीजकोश केवल दो पत्रों में है। इसमें 'ओं' को आत्मवाचक मूल भूत बीज बताया है। इसे तेजोबीज, कामबीज और भवबीज भी माना है। पञ्चपरमेष्ठी वाचक होने से ओं को समस्त मन्त्रों का सारतत्त्व बताया गया है। मात्र ओं का जाप या चिन्तन करने से ही आत्मा निर्मल निकल आती है और स्वानुभव होने लगता है। ओं प्रणववाचक है, इसका ध्यान करते हुए जब आत्मा इतनी अधिक अपने में लीन हो जाय कि ध्यान, ध्याता और ध्येय का भेद ही न रहे तो निश्चय ध्यान हो जाता है और आत्मा कर्मों को नष्ट कर निर्वाणपद प्राप्त कर लेती है। 'ओं' बीजमन्त्र की शक्ति का निरूपण करना अभिव्यञ्जना के बाहर की बात है। जैन मन्त्रों में आये हुए बीजाक्षरों में निम्न बीजाक्षर प्रधान हैं—

ओं, ह्रां, ह्रीं, ह्रूं, ह्रौं, ह्रः, ह्रा, हं, सः, क्लीं, क्लूं, द्रां, द्रीं, द्रूं, द्रः, श्रीं, क्षीं, क्ष्वीं, भ्वीं, हं, अं, फट्, वषट्, संवौषट्, घे, घै, यः, ठः, हः, खः, ह्, ल्ब्यूं, पं, वं, मं, क्षं, तं, थं, दं।

प्रस्तुत बीजकोश में उपर्युक्त सभी बीजाक्षरों का वर्णन नहीं किया गया है। इन बीजाक्षर में प्रधान बीज श्रीं को कीर्तिवाचक, ह्रीं को कल्याणवाचक, क्षीं को शान्तिवाचक, हं मंगलवाचक, अं को सुखवाचक, क्ष्वीं को योगवाचक, ह्रं को विद्वेष और रोषवाचक, प्रों, पीं को स्तम्भन वाचक और क्लीं को लक्ष्मी प्राप्ति वाचक बताया गया है। सभी तीर्थंकरों के नामाक्षरों को मंगलबीज माना गया है। यक्ष और यक्षिणियों के नामों को कीर्ति, प्रीतिवाचक कहा है। यह छोटासा ग्रन्थ होने पर भी मन्त्र शास्त्र के ज्ञाताओं के लिए उपयोगी है।

मूल पाठ

ऊँ प्रणवध्रुवं ब्रह्मबीजं, तेजो बीजं वा ओं तेजो बीजं, ऐं वाग्भवबीजं, लूं कामबीजं, क्रीं शक्तिबीजं, हंसः विषापहारबीजं, क्षीं पृथ्वीबीजं, स्वा वायुबीजं, हा आकाशबीजं, ह्रीं मायाबीजं, त्रैलोक्यनाथबीजं वा, क्रों अंकुशबीजं, जं पाशबीजं, फट् विसर्जनं चालनं वा, वौषट् पूजाग्रहणं आकर्षणं वा, संवौषट् आमन्त्रणम्, ब्लूँ द्रावणं वा, क्लूं

आकर्षणं, ग्लौंस्तम्भनं, ह्रौं महाशक्तिः, वषट् आह्वाननं, रं ज्वलनं, क्ष्वीं विषापहारबीजं ठः चन्द्रबीजं, घे घै ग्रहणबीजं, वैविग्रन्धो वा, द्रां द्रीं क्लीं ब्लूं सः पञ्चबाणी, द्रं विद्वेषणं रोषबीजं वा, स्वाहा शान्तिकं होमकं, स्वधा पौष्टिकं, नमः शोधनबीजं, हं गगनबीजं, हं ज्ञानबीजं, यः विसर्जनबीजम् उच्चारणं वा, यं वायुबीजं, जुं विद्वेषण-बीजं, क्ष्वीं अमृतबीजं, क्ष्वीं भोगबीजं, हूं दण्डबीजम्, खः स्वादनबीजं, क्ष्रौं महाशक्ति-बीजं ह्ल्व्र्यूं पिण्डबीजं, हं मंगलबीजं सुखबीजं वा, श्रीं कीर्तिबीजं कल्याणबीजं वा, क्लीं धनबीजं, कुबेरबीजं वा, तीर्थंकर नामाक्षरं शान्तिबीजं, ह्रौं ऋद्धिबीजं सिद्धिबीजं, वा, ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः सर्व शान्तिबीजं, मांगल्यबीजं कल्याणबीज विघ्नविनाशकबीजं वा अ आकाशबीजं धान्यबीजं वा, आ सुखबीजं तेजोबीजं वा, ई गुणबीजं तेजोबीजं वा, उ वायुबीजं क्षां क्षीं क्षूं क्षें क्षैं क्षों क्षौं क्षः सर्वकल्याणबीजं सर्वशुद्धिबीजं वा, वं द्रवणबीजं, यं मंगलबीजं, सं शोधनबीजं, यं रक्षाबीजं, फं शक्तिबीजं। तं, थं, दं, कालुष्यनाशकं मंगलवर्धकं सुखकारकं च।

साहित्य-समीक्षा

भारतीय ज्ञानपीठ काशी के प्रकाशन

ज़िन्दगी मुसकराई:—लेखक : श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'; पृष्ठ संख्या : २६६; मूल्य : चार रुपये।

प्रभाकर जी हिन्दी के उन सपूतों में से हैं, जिनका सहारा पाकर हिन्दी आज राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन हो गई है। यह मानवता का पुजारी मानवता के लिए ही जीवित है। इनकी लेखनी से प्रसूत अमर रचनाएँ मानव को साहस, बल, पुरुषार्थ और प्रेमपूर्वक जीना सिखलाती हैं। प्रस्तुत रचना भी निराश और उदास जीवन में हर्ष और उल्लास का संचार करती है। यह पारिभाषिक धर्मशास्त्र न होने पर भी जीवन शोधन और संस्करण में धर्मशास्त्र के समान ही उपादेय है। इससे जीवन को पूर्ण गति और प्रेरणा मिलती है।

इस पुस्तक में ४० उपाख्यान हैं, जो रोचक शैली और सरल भाषा में लिखे गये हैं। सभी उपाख्यानों में लेखक ने जीवन को मंगलमय बनाने का मन्त्र बतलाया है। जीवन निर्माण के लिए इस प्रकार के उपाख्यान निश्चयतः हितप्रद होते हैं। चिन्तनशील लेखक ने अपनी गहरी अनुभूति को पाठकों के हृदय में उतारने का पूरा आयास किया है, शैली और भाषा की स्वच्छता प्रत्येक सहृदय को अपनी ओर सहज में ही आकृष्ट कर लेती हैं। आरम्भ कर देने पर किसी भी उपाख्यान को अधूरा छोड़ने को जी नहीं चाहता है। अंग्रेजी भाषा में इस प्रकार का साहित्य उपलब्ध है, पर हिन्दी में इस प्रकार के साहित्य की नितान्त कमी है। श्री प्रभाकर जी एक बड़े अभाव की पूर्ति में संलग्न हैं, यह हिन्दी के लिए महान् गौरव का विषय है। ज्ञानपीठ के अधिकारी भी साधुवादार्ह हैं, जो इस प्रकार के सत्साहित्य का प्रकाशन कर रहे हैं पुस्तक पठनीय है, प्रत्येक पाठक को इसे मंगाकर पढ़ना चाहिए। छपाई, सफाई, गेटअप आदि विशेष कलापूर्ण हैं।

हिन्दू विवाह में कन्यादान का स्थान:—लेखक : श्री सम्पूर्णानन्द जी; पृष्ठसंख्या : ६२; मूल्य : एक रुपया।

प्रस्तुत रचना चार अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में समाज में स्त्रियों के स्थान का विवेचन करते हुए अनेक प्राचीन भारतीय ग्रन्थों के प्रमाण के आधार पर स्त्रियों के गौरवपूर्ण स्थान का निर्देश किया गया है। लेखक ने इस प्रकरण में स्त्रीधन का विवेचन करते हुए स्त्रियों के अधिकार और कर्त्तव्यों का भी पूर्ण विवेचन किया है। द्वितीय अध्याय में कन्यादान और हिन्दू विवाह में उसका महत्त्व बतलाते हुए कन्या को अपने वित्त के अनुसार सोना, चाँदी, और अन्य बहुमूल्य द्रव्य देने की बात कही गयी है। लड़की के लड़के—नाती का भी महत्त्व पुत्र के समान ही है। पुत्र के अभाव में नाना की सम्पत्ति का अधिकारी नाती ही होता है। लेखक ने अपने कथन की पुष्टि वेद और सूत्रग्रन्थों के आधार पर की है।

तृतीय अध्याय में कन्यादान की वैधता का समर्थन किया है। विवाह के पाँच अंग हैं—वाग्दान, प्रदान, वरण, पाणिपीडन और सप्तपदी। विवाह मात्र कन्यादान का नाम नहीं है, बल्कि सप्तपदी का नाम है। बताया गया है—

नोदकेन न वा वाचा, कन्यायाः पतिरिष्यते।
पाणिग्रहणसंस्कारात्, पतित्वं सप्तमे पदे॥

चतुर्थ अध्याय में कन्यादान के वास्तविक महत्व का निरूपण किया गया है।

रचना अन्वेषणात्मक है, इसमें जानकारी की अनेक बातों का संकलन किया है। वेद आरण्यक, सूत्र, स्मृतियों और ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रमाण देकर विषय का स्पष्टीकरण किया है। नारी, कन्यादान और पाणिग्रहण संस्कार के सम्बन्ध में अनेक महत्वपूर्ण बातों पर प्रकाश डाला गया है। रचना सर्वांग सुन्दर है। इस कलापूर्ण प्रकाशन के लिए ज्ञानपीठ के सुयोग्य मंत्री श्री अयोध्या प्रसाद गोयलीय धन्यवादार्ह हैं। ज्ञानपीठ हिन्दी माध्यम द्वारा सांस्कृतिक और साहित्यिक प्रकाशनों के लिए प्रयत्नशील है, यह हिन्दी के लिए शुभ लक्षण है। पुस्तक पठनीय है, पाठकों को लाभ उठाना चाहिए।

द्विवेदी-पत्रावली:—संपादकः श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद'; पृष्ठ संख्याः २२८; मूल्यः ढाई रुपये।

स्व० आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी गद्य को परिष्कृत करने में अपूर्व श्रम किया है। आपने सरस्वती के संपादन काल में विभिन्न व्यक्तियों के पास अनेक पत्र लिखे हैं। इन पत्रों में उस, समय की हिन्दी की विभिन्न समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। हिन्दी भाषा में साहित्याकारों के पत्रों के संकलन अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं, यह पहला संग्रह है। इस संग्रह द्वारा हिन्दी में एक बड़े अभाव की पूर्ति हुई है।

इस पुस्तक के आरम्भ में आचार्य द्विवेदी जी का जीवन चरित भी निबद्ध किया गया है। द्विवेदी जी का जीवन प्रत्येक हिन्दी प्रेमी को प्रेरणा, उत्साह और गति देगा। उनका-सा त्याग, संयम, धैर्य, और दृढ़ संकल्प विरले ही व्यक्तियों में होता है।

इन पत्रों में अनेक साहित्यिक और भाषा सम्बन्धी समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। प्रत्येक हिन्दी भाषा भाषी को इन्हें पढ़कर उलझी हुई समस्याओं का समाधान प्राप्त करना चाहिए। क्योंकि अधिकांश समस्याएँ आज भी ज्यों की त्यों हैं। छपाई-सफाई, गेट-अप आदि उत्तम हैं।

खेल-खिलौने:—लेखकः श्री राजेन्द्र 'यादव'; पृष्ठ संख्याः १५२; मूल्यः दो रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक में शिक्षाप्रद और मनोरंजक आख्यान हैं। लेखक ने निकट के वातावरण से ही इन आख्यानों की कथावस्तु को प्राप्त किया है और उसमें अपनी कल्पना का रंग घोलकर उसे सुन्दर बनाने की पूरी चेष्टा की है। सभी आख्यान सरस और सरल हैं। जीवन के गम्भीर

तथ्यों को खेल खिलौनों द्वारा समझा और जाना जा सकता है। भाषा परिष्कृत और सरल है। शैली में रुकावट नहीं है, पाठक सरलतापूर्वक भावों तक पहुँच जाता है। छपाई-सफाई अच्छी है।

शेर ओ सुखन (द्वितीय, तृतीय भाग):—लेखकः श्री अयोध्या प्रसाद गोयलीय; मूल्यः प्रत्येक भाग का तीन-तीन रुपये।

हिन्दी के सपूत श्री गोयलीय जी उर्दू साहित्य के मर्मज्ञ हैं। आपने उर्दू कविता का पूर्णतया अनुशीलन और आलोडन किया है। इसे हम हिन्दी का सौभाग्य ही मानेंगे कि नागरी लिपि और हिन्दी भाषा में उर्दू साहित्य का रसास्वादन हम श्री गोयलीय जी की कृपा से कर रहे हैं। कुछ दिन पूर्व आपके 'शेर ओ शायरी' एवं 'शेर ओ सुखन' प्रथम भाग प्रकाशित हुए थे। हिन्दी भाषी जनता ने आपकी इन कृतियों का अच्छा स्वागत किया। अब आपके 'शेर ओ सुखन' के दूसरे और तीसरे भाग हमारे समक्ष हैं। प्रस्तुत दोनों भागों में उर्दू साहित्य का वर्तमान युगीन लखनवी और देहलवी कविताओं का विकास क्रम एवं उनकी साहित्यिक विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। हिन्दी पाठकों की सुविधा के लिए कठिन शब्दों के हिन्दी अर्थ भी नीचे टिप्पणी में दे दिये गये हैं। कवियों का सुन्दर परिचय भी दिया गया है। संक्षेप में यह उर्दू कविता का प्रामाणिक इतिहास है। पर विशेषता यह है कि इसमें इतिहास की बोझिल शैली नहीं है।

पुस्तकों के अन्त में शब्दकोश दिया गया है, जिससे इनकी उपयोगिता और भी बढ़ गयी है। उर्दू साहित्य की विशेषताओं को अवगत करने के लिए इन पुस्तकों का अध्ययन आवश्यक है। सहृदय रसास्वादियों को इनका रसपान करना चाहिए। छपाई-सफाई, गेट-अप आदि अत्युत्तम और कलापूर्ण हैं।

नेमिचन्द्र शास्त्री

THE JAINA ANTIQUARY

VOL XIX DECEMBER, 1953. No II

Edited by

Prof. A. N. Upadhya, M. A., D. Litt.
Prof. Jyoti Prasad Jain, M. A., LL. B.
Sri, Kamata Prasad Jain, M. R. A. S., D. L.
Pt. K. Bhujbali Shastri, Vidyabhushan.
Pt. Nemi Chandra Shastri, Jyotishacharya

Published by :

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH BIHAR. INDIA.

Annual Inland Rs. 3. Single Copy Rs. 1/8.

CONTENTS.

Om

THE JAINA ANTIQUARY

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "

[अकलंकदेव]

Vol. XIX No. II | ARRAH (INDIA) | December 1953.

MOHANAGṚHA IN MALLI-JÑĀTA AND IN KAUṬILYA'S ARTHAŚĀSTRA*

By

Dr Gustav Roth, German Scholar at Patna University.

Mohanagṛha in its Prakrit form *mohaṇaghara* is mentioned in the chapter VIII of *Nāyādhammakahāo* representing the 6th Anga of the Jaina Śvetāmbra Canon.

According to this text Malli was the daughter of King Kumbhaka before she entered the state of a Tīrthānkara. For a certain purpose forseen by her "ohi" she ordered to have built a *mohanagṛha* described in the Malli Jñāta (Vaidya p. 94,95 and No. 39 of my edition) as follows :

Tae ṇaṃ sā Mallī koḍumbiyapurise saddāvei 2 evaṃ vayāsī gacchchaha ṇaṃ tubbhe devāṇuppiyā asogavaṇiyāe egaṃ mahaṃ mohaṇagharaṃ kareha aṇegakhambhasayasanniviṭṭhaṃ tassa ṇaṃ mohaṇagharassa bahumajjhadesabhāe cha gabbhagharae kareha, tesi ṇaṃ gabbhagharagāṇaṃ bahumajjhadesabhāe jālagharayaṃ kareha, tassa ṇaṃ jālagharayassa bahumajjhadesabhāe maṇipeḍhiyaṃ kareha jāva paccappiṇanti, tae ṇaṃ sā Mallī maṇipeḍhiyāe uvariṃ

*For Prakrit and Jain section of All-India Oriental Conference, Seventeenth Session, at Ahmedabad.

appaṇo sarisiyaṃ ... ...kaṇagamayiṃ matthayacchiḍḍaṃ paumuppala-pihāṇaṃ paḍimaṃ karei 2 ...."

Translation :

Then this Malli called her servants and spoke to them as follows: Go you, Beloved by gods, and construct a big delusive house (mohaṇaghara) propped on several hundreds of pillars in the Asoka-tree park, and exactly in the middle of this delusive house six central apartments (*gabbhaghara*) and exactly in the middle of these central apartments a lattice chamber (jālaghara), and exactly in the middle of this lattice chamber a pedestal with inlaid stones....upto.... they reported (that the work is done.)

Then Malli made a statue of herself on the pedestal with inlaid stones, resembling her........a golden one, with a hole on the top, and with a lid in the shape of a lotus."

Malli used to take piece after piece of her food everyday to put it in the hole on the head, which was causing a horrible smell.

The six *garbhagṛhas* are thought to be grouped round the *jālagṛha* as pasage No. 156 in my edition shows. According to this passage 6 kings are taken separately without knowing from each other to the respective *gabbhagharas* to see Malli in the central *jālaghara*. Here the six kings in their six *garbhagṛhas* are taught a lesson about the deceptiveness of outside beauty by an horrible smell coming out of the hole in the statue, opened by Malli.

As far as I can see, the technical term *mohanagṛha* does not occur in other Sanscrit Literature. I could not trace this term either in our Sanscrit Dictionaries* or in the Kośas accessible to me as follows: Hemacandra—Anekārtha-saṃgraha, Mankhakośa, Hema-candra-Abhicintamani. Śaśvatakośa and Amarakośa.

Kauṭilya's Arthaśastra 1,20 however refers to it.

The passage reads: Vāstukapraśaste deśe sa-prākāra-parikhā-dvāram anekakakṣyā-parigatam antahpuraṃ kārayet, kośagṛhavi-dhānena vā madhye vāsagrhaṃ gūḍhabhittisañcāraṃ mohanagṛhaṃ,

*Richardt Schmidt: In "Nachträge zum PW" Lpz 1928 has noted mohaṇagṛha as term occurring in Kauṭ with the meaning, Liebeslust Gemach· chamber of erotical pleasures The Abhidhānarājendrakośa also refers to it and Woolner's Illustrated Ardha-*Māgadhi*-Dictionary 1932, Vol. 5 gives evidence of it and atrnslates: "A private chamber for sexual enjoyment."

tanmadhye vā vāsagṛhaṃ, bhūmigṛhaṁ vā āsanna-kāṣṭhacaitya-devatāvidhāna-dvāram anekasuruṅgāsañcāraṃ, prāsādaṃ vā gūḍha-bhitti-sopānaṃ, suṣira-stambha-praveśāpasāraṃ vā vāsagṛhaṃ yantra-baddha-talāvapātaṃ kārayed āpat-pratīkārārtham āpadi vā kārayet, ato 'nyathā vā vikalpayet sahādhyāyibhayāt.

I follow here the reading which T. Gaṇapati Sāstri in the first vol. p. 98 of his edition gives. But instead of his reading *devatā-pidhāna* I prefer with R. Shama Śastri and Jolly *devatāvidhāna*, why, will be discussed later.

Sham and Jolly differ also from Gaṇ in so far as they don't read *vā madhye* behind *kośagṛhavidhānena* and I think that Gaṇ here has the better reading.

I am trying to translate :

In a place appreciated by somebody well versed in architecture he shall have his castle constructed with walls, ditches and gates, surrounded by several courtyards.

Either he shall have the bedroom constructed in the middle (of the palace) in the way of a treasure house with secret walls and passages as a *mohanagṛha*—delusive house, or in the middle of this (the mohanagṛha) the bedroom may be as chamber in the ground, which has one door, being in its plan in accordance with a guardian deity (of the groundplan), and with a wooden temple close by and with several underground passages, may be as an upper storey room with secret indoor steps in the wall, or he shall have the bedroom made with entrance and exit through an hollow pillar and with a trap-door in the ground connected with a mechanism, he shall have it made as protection against casualties, or he may vary it in a different way from this (mentioned above) in fear of his colleagues (of the study of Arthaśāstra who know all the tricks).

Gan. is right when he gives the reading *vā madhye* behind *kośa-gṛhavi* as it is very essential to the character of such a room that it is in the middle according to the set form of passages mentioning items of architecture. May I remind you of our parallel passage in MJ 39 with the formula: *bahumajjhadesabhāe-bahumadhya-deśa-bhāge* in connection with *mohanagṛha*.

But the comma, which Gaṇ is placing behind first *vāsagṛha* is misleading, so it is not quite clear that *mohanagṛha* is mentioned

clearly here as technical term in connection with *kośagṛha* too.

It is also not clear in the translation of Shamasastri p. 39 : "He shall construct his own residential palace after the model of a treasure house, or he may have his residential abode in the center of the delusive chamber, provided with secret passages made into the walls."

By this translation Sham. simply ignores *tan* before *madhye* though to be found in his edition on p. 40

This passage is also not understood by J. J. Meyer translating : "Gemach der Liebeslust-chamber of love pleasures on p 49 of his German translation. He is wrong when he brings *tan* in connection with the palace in the passage : *tanmadhye vā vāsagṛhaṃ*, translating : oder in der Mitte des Wohnpalastes das schchlchlafgemach — Or in the center of the residential palace the bedroom."

I think there is no doubt that we can only bring *tan* in connection with previous *mohanagṛha*. The security shall be more improved by the alternative of placing the bedroom also in the middle of such a *mohanagṛha*-delusive house :

Translating "chamber of love pleasures" Meyer felt it impossible to find the bedroom supposed to be the place of pleasures, placed in the middle of this and so he brought *tan* in connection with *antaḥpuraṃ*.

This indicates that *mohanagṛha* is used here as a technical term to improve security.

It is very tempting to read with Gaṇ ....*devata-pidhāna-dvāram* instead of : *devatā-vidhāna-dvāram* when we think of the last chapter in Daśakumāracaritam and of Kauṭ. 12,5 where someone in danger is adviced to enter a *daivatā-pratimā-cchidram* and *gudhabhittim vā daivata-pratimā-yuktaṃ bhūmigṛhaṃ* is mentioned (Gaṇ vol 3, p. 178. I prefer the reading of Gaṇ. to that of Sham. having a second vā behind yuktaṃ).

A parallel passage to Kauṭ 1,20 is Kaut. 2,5. prak. 25 in which the construction of a *kośagṛha*-treasure house is mentioned :.... .. ..*ekadvāraṃ yantrayuktasopānaṃ devatāvidhānaṃ bhūmigṛhaṃ kārayet** (Gaṇ. reads again : *devatāpidhānaṃ* vol. I. p. 132.5)

---

*In this passage *mohanagṛha* is not mentioned.

As *devatāvidhāna* represents the *lectio difficilior* it has to be found out, if we can get any proper meaning out of this term.

Meyer translates Kauṭ 1,20 on p. 49: oder ein unterirdisches Gemach (soll er als Schlafgemach herrichten lassen), das hinausführt zu einem nahen Heiligtum aus Holz oder zu einer Tempelanlage-or an underground chamber (he shall have it made as a bedroom) which leads to a close sanctuary made from wood or to a construction of a temple."

In his note 4 to this passage Meyer gives another interpretation: *devatāvidhāna*="Göttereinrichtung, Götteranlage-arrangement for the "deities, construction for the deities!"

Sham. translates this passage: "or in an underground chamber provided with the figures of goddesses and of altars (chaitya) carved on the wooden door frame."

Meyer thinks in his note 4 of an underground passage leading from the bedroom to a temple.

He translates *devatāvidhāna* in Kauṭ 2.5 on p. 77: mit einer Vorrichtung für die Gottheit-with an arrangement for the deity" and suggests in his note No 7 to think of a small room with the images of deities.

Sham translates: "solemnised with the presence of the guardian deity. (p. 55)."

We see how different interpretations are, which the same translater gives for a technical term occuring in Kauṭ. 1,20 and 2,5.

Devatāvidhāna mentioned in both passages in closest connection with *bhūmigṛha* must have the same meaning.

We read in Kauṭ. 2.4, prak 22: **koṣṭhakālayeṣu yathoddeśaṃ vāstudevatā sthapayet*—In alcoves (Meyer suggests "shrine" in note 5, p. 75) he shall have the guardian deities of the building-ground placed according to their place."

Meyer's translation for *vāstudevatā* "Gottheiten der Hausstätten' 'deities of home-stalls' is not clear enough.

The conception of *vāstudevatā* is well known from the treatise Samarāṅgaṇasūtradhāra. For instance we find a list of all guardian deities of the building ground in vol I, chapter 14. p. 61 starting with verse 12 and in verse 32 the passage: *ityeṣa vastudevānām*

*p. 56, in Shama Sastry's edition.

nighaṇṭuḥ parikīrtitaḥ—by this the list of the guardian deities of the building ground has been mentioned."

In chapt. 11 of Samar. vol. I with the title *vāstutrayavibhāg* we learn that "the building ground has to be divided in *padas* plots attributed to Brahman, who covers nine *padas*, and to other deities who are called *padadevatās* in verse 10

From chapt. 10, vol I we learn that the architect has to divide the ground in vaṃśas-stripes (verse 5) and in *padas*-plots to which the respective guardian deities, townquarters and buildings are assigned.

One, who is well versed in the construction and planning of a town or any building in connection with the respective guardian deity is called *vidhānavit*

So we read in Samar. I. 10, 89, p. 45: *Suvarṇakārān āgneyyāṃ tathā vahnyupajīvinaḥ-niveśayet karmakārān anyānapi vidhānavit.* "The expert for planning shall settle the goldsmiths as well as the drivers and also the other workers in a place belonging to agni." (South East.)

This *pada* arrangement is also the base in the planning of a king's palace. About the bedroom of a king, being for us of special interest in connection with Kauṭ 1,20 we read in Samar. 15,23, p. 63 vol. I :

Prekṣāsaṅgītakāni syur gandharve vāsaveśma ca
kāryā vaivasvate śālā rathānām dantinām tathā

"The theatre, the music rooms and the bedroom shall be constructed in the Gandharva (plot), the hall for the cars and the stable for the elephants in the plot of Vivasvant."

These passages of the treatise of architecture make it certain that *devatāvidhāna* is not "construction of a temple" or "arrangement for deities" but a technical term of the meaning: construction in accordance with a guardian deity of the building ground.

So I interpret *devatā* as *Vāstudevatā* a term well known to Kauṭ. as we have seen, and *vidhāna* as planning, arrangement construction according to a guardian deity of a groundplan.

Now it has become understandable why *devatāvidhāna* is especially mentioned in connection with *bhumigṛha* in two passages of Kauṭ. A bhūmigṛha is constructed into the *vāstu*-the building-ground being

the fundamentum for the treasure house to be erected above according to Kauṭ. 2,5, so the demand to have the construction of such a building done in accordance with the guardian deity of the building-ground has become quite comprehensible in this special case. I think that this interpretation of devatāvidhāna gives a good sense and therefore prefer the reading *vidhāna* to which Gaṇ gives. (s. p. 3).

Both passages in Malli Jñāta and in Kauṭ. complete each other in an ideal manner. In MJ *garbha ghara* and *jāla-ghara* are mentioned in a *mohaṇaghara*, terms not mentioned in the Kauṭ. passage.

I could not trace the term *garbhagṛha* in the whole text of Kauṭ. at all.

But Kauṭ. tells us about secret passages and walls in connection with *mohanagṛha* in which the bedrood of a king and a treasure house had to be constructed to improve security.

As I said in the beginning of my paper I am not able to trace *mohanagṛha* in other Sanscrit literature. Vaidya in his Notes to Malli Jnāta p. 19 refers to a mayasabhā in Moh.

But I could find this term in other Prakrit works belonging to the Uvanga of the Jaina Śvetāmbara Canon : in Rāyapaseṇaijja and Jīvābhigama.

By the kind help of the librarian of Central Archaeological Library in New Delhi Mr. Prarab I could use the Edition: Rāyapaseṇiyasuttam, sampādakaḥ Pandita Becaradas Jivaraj Dosi, vi. sam. 1994, prakāśaka Śambhulal Jayaśi Śah, Gurjargrantharatnakārayālaya. In this text. which in his varṇakas often is a real compendium of items of architecture, the following passage can be found on p. 197 of edition mentioned above : Tesu ṇaṃ vaṇasaṃdesu tattha tattha tahiṃ tahiṃ dese dese bahave āliyagharagā (v. l. āli.), māliyagharagā, kayāli-gharagā, layāgharagā, acchaṇagharagā, picchaṇagharagā, majjaṇa-
(v. l. acchaya)
gharagā, pasāhaṇagharagā, gabbhagharagā, mohaṇagharagā, sāla-gharagā, jālagharagā, kusumagharagā, cittagharagā, gandhavva-gharagā āyaṃsagharagā, savvarayaṇāmayā acchā jāva paḍirūvā.

The *variae lectiones* are from "Rājapraśnīyasūtra" by Bala Brahmacāri Pandit Muni Shri Amolak Ṛṣi Ji p 112, 113 which text I could

use by the kind help of the librarian of the Central Jain Oriental Library at Arrah near Patna, Mr Nemi Chhand Jain Śāstri

Translation: In these forests scattered here and there, there are many Alikatree bowers, Malikatree-and Kadali bowers, Liana bowers rest houses (I follow here the reading acchaṇa-āsana, v. l. acchaya-akṣaka=baheḍā kā vṛkṣ:=Baheḍa tree bower, which would also fit in the whole of this passage.), places for entertainments, swimming pools, dressing chambers, inner apartment—cottages, delusive houses, Sāltree bowers,* lattice bowers, flower bowers, picture bowers, music bowers, halls of mirrors (shīsh mahal) decorated with all precious stones, bright....upto....beautiful" In this passage gabbha-ghara and jālaghara are mentioned beside *mohaṇaghara*, terms we have met in MJ 39 in connection with *mohaṇaghara* too

The Commentary of Malayagiri gives the following explanation of our Rāy. passage: mohanaṃ maithunaseva "ramiyaṃ mohaṇa-rayāiṃ' iti nāmamālavacanāt tat-pradhānāni gṛhakāṇi mohana-gṛhakāṇi vāsabhavanāni-iti Bhāvaḥ Translation: mohanam is sexual intercourse, "pleasure of love, sexual pleasures by intercourse" so according to quotation of Nāmamālā. Houses in which this is the main thing are *mohanagṛhāni vāsabhavanāni* so Bhāvaḥ.

The Com. of Abhayadevasuri says to the passage in the Malli Jñāta: Mohaṇagharayaṃ ti sammohotpādakam gṛhaṃ, ratigṛhaṃ vā Gabbhagharae tti mohanagṛhasya garbhabhūtāni vāsabhavanānīti kecit jālagharayaṃ ti dārvādimayajālaka-prāyakuḍyaṃ yatra madhya-vyavasthitaṃ vastu bahiḥsthitair dṛśyate.

Translation "Mohanagṛha" is a house which causes confusion, or a pleasure-house,

"Carbhagṛhas" are bedrooms having become garbhas central apartments of a mohanagṛha, this is the opinion of some scholars.

"Jālagṛha" is a chamber the walls of which mostly consist of lattice work of wood etc., where an object placed in the centre is seen by people standing outside.

**Sāla* can also be *sālā* the bough, the branch of a tree, so *sāla-gharagā* could simply also mean: a bower consisting of branches According to Pischel, § 97 long final vowel of a word within a compound is often shortened, e g. *acchara-gaṇa=apsara-gaṇa*, parallel to it: *sāla-gharagā* can come from *sālā-gharagā*.

The development in the meaning of the term "*mohanagṛha*" is now obvious. First *mohanagṛha* was used as a term of security having the function to mislead and to decieve a person. Second the meaning *ratigṛha* arose mentioned by the Commentators and Bhāva, when the bedroom of a king also had to be constructed as a *mohanagṛha* for a king was supposed to be in high danger in his sleeping room according to Kauṭilya.

The original meaning of *mohana* itself is "delusive, deceptive", and the second "Mithuna-intercourse" used as an euphemistic expression.

Jīvābhigama ed. by Hindi translater Amolak Rishi, Vir Nirvana samvat 2445, Haiderabad, mentions also *mohaṇaghara* just beside *gabbhaghara* in connection with *kalpadruma*

From this the conclusion can be drawn that *mohanagrha* was originally closely linked with the well known term of *garbhagṛhas,* which in certain cases were arranged in a *mohanagrha* or as a *mohanagṛha* to make the entrance of an outsider difficult.

The Sanscrit treatises about architecture Mānasara and Samar. don't mention our term.

Conception of mohanagrha in a narrative of the Avasyak-literature.

From Kauṭ. 1,20 we could make it certain that treasure-houses had also to be constructed as mohanagṛhas with secret walls and passages.

A narrative from Leumann's Āvaśyaka-stories shows that mohanagṛha is a conception belonging to the common possession of a cultural period of considerable antiquity.

In his paper : Two new evidences for the Indian origin of lool nights, ZDMG 89. 1935. p 302 ff, L. Alsdorf has published and translated a text from the not printed manuscript of Leumann's Āvaśyka-stories which includes a narrative referred to our subject.

A king of Ujjain had four servants, very skilled in their respective jobs.

About the fourth servant we read : "cauttho sirighario, tāriso sirigharo kao, jahā aigao, na kiṃci pecchai."

The rourth was a treasurer. He had constructed such a treasure house that when somebody entered, he could not see anything.

When we think of Kauṭ. 1,20 that a treasure house has also to be constructed as a *mohanagṛha* with secret walls and passages, we understand at once that the treasurer has built his treasure-house as a *mohanagrha* which makes it impossible for an outsider to see anything even when he has entered such a building.

The further development in our story shows that we are right with our interpretation.

We read that the servants come under the power of another king and have to demonstrate their abilities.

About the fourth we read : Tā bhaṇḍārieṇa pavesio, gao : kiṃci vi na pecchai, aṇṇeṇa dāreṇa darisiyaṃ.

"Then the treasurer let (the king) enter the treasure-house, but he did not see anything. He was made to see the treasures by another door."

There cannot be any doubt that in our narrative a treasure-house in the construction of a *mohanagṛha* is mentioned. He, who enters such a building, will not be able to see anything first, as the treasures are kept safely in the "safes" behind secret walls and passages. So the king thinking that the room he had entered be the real room of the treasure-house, has to be taken through another door to see the hidden treasures in secret places behind secret walls and passages.

Alsdorf has recognised the difficulty of this passage and suggests in his note 4 to his translation on p. 305, to read *dāseṇa* for *dvāreṇa* and translates : "another servant showed them to him " As another possibility he discusses : "aṇṇena dāreṇa-in an other way."

After we have learned something about the construction of a *kośagṛha* as a *mohanagṛha* from Kauṭilya, the text as it is handed down to us is very comprehensible and does not need any emendation.

To sum up : The definition of the term *mohanagṛha* according to the different references mentioned above will be : A delusive-house with secret walls and passages, in the center of which *garbhagṛhas*, *jālagṛhas*, *vāsagṛhas* and *kośagṛhas* may be constructed to improve security:

The occurrence of this technical term in Jaina Prakrit texts and in Kauṭilya exclusively as far as I can see, what Sanscrit Literature is

concerned,* gives a further evidence for close relations between Kauṭilya and Jaina Prakrit Literature, both belonging to the same common Indian Culture as their base. *Mohanagṛha* is before us as a technical term of high antiquity closely linked with *Garbhagṛha*, having become obsolete in later times, but preserved in Kauṭilya and Jaina Literature. The term *garbhagṛha* has survived and can be traced in Sanscrit treatises about Architecture.

Abbreviations: *Kauṭ*.-Kauṭilya's Arthaśāstra Edition of T. Gaṇapati Sastri, 1924, *Gaṇ*.-Gaṇapati Sastri.

Meyer, J. J. German Translation of Kauṭ.: Das Altindische Buch vom Welt-Und Staatsleben. Das Arthasastra des Kauṭilya. Otto Harassowitz, 1925.

MJ-Malli Jñāta.

Pischel, R—Grammatik der Prakrit-Sprachen. Strassburg, 1900.

Sham-R. Shama Sāstri ed. of Kaut. Mysore 1909 and his translation

Rāy-Rāyapaseṇaijja.

N. V. *Vaidya*, Niyādhammakahāo, Critically Edited, Poona 1940.

Samar-Samarāṅganasūtradhāra, Gaekwad's Oriental Series, Baroda, 1924. 2 Vls.

*After I had presented this paper, Dr. Wilhelm Rau, German scholar at Shantiniketana very kindly called my attention to another passage, in which *mohanagṛha* occurs, Raghuvaṃśa 19,9. The passage reads :

Yavanonnata-vilāsinī-stana-kṣobha-lola-kamalāśca dīrghikāḥ
gūḍha-mohanagṛhās tad- ambhubhiḥ sa vyagāhata vigāḍha-manmathaḥ.

JAINA ANTIQUITIES IN THE HYDERABAD STATE.

By
Prof. Jyoti Prasad Jain, M.A, LL. B

The state of Hyderabad is situated on the eastern side of the great Deccan Plateau, and comprises the better part of the ancient Dakshina patha. The area of the state is about the size of the United kingdom, and its population is mainly Hindu including Marathas, Kanarese and Telugus (The Jains who once formed a considerably large part of its population, constitute at present, a very small minority.)

Tradition indicates the existence, in ancient times, of a large kingdom in this part, and this kingdom is reputed to have been in an advanced state of civilization Most probably a large part of the Deccan was under the Maurya empire even in the times of Chandragupta. But after Asoka, from about the middle of the 3rd century B. C.; the greater part of this country came under the domination of the Andhras or the Satawahana dynasty. The latter were succeeded, one after the other, by the Kadambas of Vaijyanti, the Western Chalukyas of Vatapi, the Rastrakutas of Malkhed, the eastern Chalukyas of Vengi, the later Chalukyas of Kalyani, the Hoyasalas of Dwarsamudra, and finally the Zadavas of Deogiri till the Muslim conquest.

During their long and powerful sway in the Deccan, Chalukya rulers allowed diverse religious sects—Buddhism, Jainism, Saivism —to influence art and architecture. As a consequence of this liberal patronage, the Deccan became a centre of great architectural developement. The technique of building rockcut temples was borrowed by Brahmin artisans from the Buddhist and Jain rivals.

The subsequent dynastic changes did not fundamentally affect cultural development. This period was, however, marked by a decline of Buddhistic influence, which gave place to Jainism and orthodox Brahminism.

It is said that architecture is "the matrix of civilization," Rock-hewn monastries, temples, tombs, shrines, palaces, forts—all these

bear tbe stamp of the religious, social, political and economic forces of every phase of the romantic history of the Deccan. The monuments of the Deccan are therefore of special interest to the student of Indian architecture.

The archaeological heritage of the state, besides historical monuments, includes palaeolithic, Neolithic and prehistoric remains as well.

A quarter of a century ago, an Asokan rock edict was discovered by the Director of Archaeology in a site named Maski. Extensive survey and consequent excavations of the site produced a rich harvest. Among these relics, the ruins of a number of Jain temples were discovered.

And at Kadkal, nineteen miles north of Maski, an old mint was found. At this very site, some bronze Jain images were accidently discovered by a cultivator while ploughing his fields. The matter was brought to the notice of the Archaeological department, and it was presumed that a Jain temple must have existed in this site. This view was confirmed by the results of the excavations; the brick pavement and the foundations of our edifice of considerable size provided sufficent evidence of the existence of a temple.

Recent excavation at Kondpur has yielded an abundance of antiquities which show the development of life and culture of the Andhra dynasty in the first millenium B. C. The Chalukyan and the Rastrakuta kings favoured rock-hewn architecture, the notable examples of which are found at Ajanta, Ellora and Aurangabad. The Hindu dynasties have left great legacies of architecture in the Deccan "In starting from the earliest times of which we have records as to the building practice", writes Mr H. V. Lancaster, vice president of the Royal Institute of British Arehitects, "some two thousand or more years ago, we find that buiding, like everything else in India of that time, was most highly systematized and regulated, indeed to a degree almost comic to the western mind."[1]

The temples of Warrangal, Amla Jogai, Ler etc. are notable examples of this ancient architecture. Infact, some of the finest specimens extant of the Hindu (which includes the Buddhists and Jain) architecture are to be found in the state of Hydrabad. And these ruins are numerous, varied and scattered.

The archaeological remains of Amba Jogai the modern Mominabad, are of great interest, for here we have three noteworthy historical relics. And the first of these is the group of three underground excavations, two Brahmanical and one Jaina, to the north of the town. The principal monument among these ruins is the Jogi Sabha Mandapa. Another cave brought to light by the Mominabad excavation is the work of the Jain community.

Among the ruins at Nagai, an ancient city situated about a mile and a half to the South west of Chitapur station on the State Railways, the best preserved temple is the Maruti-Gudi, with a tall Dipastambha infront. It has 114 brackets for the support of lamps in addition to the many small niches between them in the shaft of the pillar itself. At this place, within a ruined Jaina shrine, there is an image of a standing Jina. The figure may be one of the twenty four Tirthankaras (probably of Suparswa Nath the 7th Tirthankara). It has five hooded snake canopy and a triple crown above. Another sculpture is that of a seated Jina with a seven hooded snake over his head. This image must be that of Parswanath, the 23rd Tirthankara. Among the ruins at Nagai we find richly carved doorways and sculptures of male and female figures. It is interesting to note that no distinction is made in the Silpasastras or manuals of architecture to the constructional details of the Brahmanical, Buddhist and Jaina shrines regarding the structure of their spherical roofs.

Rock-hewn Architecture: The heritage of the ancient monuments in the state includes a number of unique rockcut monasteries and sanctuaries. This form of architecture is found in many parts of the world, and according to some archaeologists its original home was Egypt and Assyria.

In India rock hewn architecture reached its highest development in the region of the Western Ghats. Here monasteries and chapels were carved out of the living rock. The cliffs of the Western Ghats provided an ideal site for the purpose of excavating permanent monastic establishments for the Buddhist and Jaina communities. It is to be noted that the designers of the Indian rockhewn edifices chose ths solid rock face, and not an existing cave, to execute their plan. Out of this, halls, chapels, double storeyed monastic abodes, refecteries, stone cisterns, pillars, massive arches and horse shoe

windows were patiently carved with the primitive hammer, pick and chisel. These skilfully wrought excavations are usually referred to as 'Caves', but it is a misnomer, and is misleading. Rock hewn architecture is perhaps a more accurate term And this, as Percy Brown puts it, "to all intents and purposes is not architecture —it is sculpture, but sculpture on a grand and magnificent scale." This sort of architecture is, of course, mainly internal. The construction of temples by excavating the living rock was, as Fergusson points out, really more economical than quarrying the stone and then transporting it. Besides, such rockcut structures once hewn out they did not need much repair and thus maintained their essential architectural features. Today they are often as perfect as when they were erected over a thousand years ago. In executing the designs of rock-hewn architecture, the Indian masons and sculptors have shown a high standard of efficiency. One is puzzled to find so high a level of technical accuracy with the use, as is supposed, of the somewhat crude implements at their disposal. It also appears that they had considerable knowledge, of rock formations and joints. And there are indications that the actual work of excavation must have proceeded from the top down wards.

Of the rock hewn monuments in the state, first in importance and time of execution, are those of Ajanta, but they are chiefly Buddhist.

Next come those of Ellora It is a town about sixteen miles from Deogiri (now Aurangabad), the old capital of the Yadava kings. The series of rockcut monastries were excavated in the scarp of a plateau the scarp running for about a mile and a quarter "No place is more suitable than Ellora", writes a European critic, "for a comparison between the solemn art of Buddhism and the Brahmanic one which has something dramatic and passionate about it There is also a group of Jain shrines in which the figures of Mahavira and Parswanath add to the interest of Ellora as a meeting ground of Brahmanism, Buddhism and Jainism". Most important shrines at Ellora date from a period when complete toleration was observed by Hindus, Buddhists and Jains. And according to the Report of Archaeological Survey of Western India (vol. V), "All the Ajanta caves belong to one religion, and, beginning at a very much earlier period than anything found at Ellora carry on the history of the Buddhist

religion and architecture for nearly a thousand years; and though the series at Ellora commenced nearly at the time when the excavations at Ajanta ceased, immense interest is added by the introduction of temples belonging to the Hindu and Jain religions, affording a varied picture of the mythology of India during the period of its greatest vigour, such as is nowhere else to be found."

The Buddhists group is situated in the south horn, the Jain group in the north horn and the Brahmanical group is between them. Jainism rose to greater importance about 1000 A. D, and the great age of Jain architecture was between 1000 A. D. and 1300 A. D. (in this part of the country). It should be noted that Jain temples were largely built by private patrons. Among the Brahmanical group, the Kailasa temple, executed under the patronage of the Rastrakuta king Krishna I (757-783 A. D) (?) is one of the most precious treasures of the state of Hyderabad.

The final group of the excavated shrines at Ellora belongs to the Jains, and they are situated at the northern spur of the hill about a mile and a half from the Kailasa. Of these five excavations the two shrines are of greater interest.

The Indra Sabha or the assembly hall of Indra, a two storeyed shrine cut into the rock to a depth of over a hundred feet, is approached through a rock hewn doorway which opens on to a square courtyard in the centre of which we see a monolithic structure somewhat in the form of a miniature Dravidian temple. To the right of the entrance is an imposing statue of an elephant balanced on the opposite side by a monolithic pillar or Dhwajastambha thirty feet high. The upper storey of the Indra Sabha is borne on twelve profusely sculptured pillars. A broad horizontal surface divides the lower frôm the upper storey. Both these entablatures are elaborately carved On the upper entablature we see a number of images of the twenty four Tirthankaras or Jain saints.

The ceiling over the altar in the main hall is designed to represent a large tobes giving an effect of considerable beauty. At each end of the hall is a shrine containing a large figure of Mahabira. The statue of Indra in the loggia with an elephant at its feet is an enquisite piece of sculpture. Both in figure sculpture and in decorative

motif, the artists have indeed produced works of considerable distinction. "No other temple at Ellora", writes Percy Brown (in Indian Architecture, 1940), "is so complete in its arrangements or so finished in its workmanship as the upper storey of the Indra Sabha; all the large sunk panels between pilasters on every wall being filled with figure subjects, while the pillars, admirably spaced, and on occasion joined by dwarf walls, are moulded, fluted, and faceted, as in no other instance."

The Indrasabha seems evidently to have been designed to commemorate the Janma Kalyanaka or birth celebration of the Tirthankara, wherein the Indra prepares to go on his Airavata elephant, to celebrate the occasion.

Almost adjoining the Indra Sabha is the other notable example of Jain excavations at Ellora. This is the Jagannath Sabha or the Assembly Hall of the Lord of the Universe (probably the Samavasarana of the Tirthankara). Its general plan is similar to that of the Indra Sabha but is smaller in size. The shrine is entered through a small ante-chamber with a well proportioned gate or Torana over the entrance. Within the shrine is a seated Mahabira on the throne. The walls are recessed for figure sculpture, and the pillars are richly carved in the style in which the Jain artist excels.

With the excavated shrines and monastaries of the Jains at Ellora, we arrive at the final phase of rock hewn architecture in India.

Note :—The material for the present article has been extracted with thanks from "Hydrabad —A guide to Art and Architecture", published by the Publications Division, Ministry of Information and Broadcasting, Government of India (1951).

ROCK-CUT CAVE ARCHITECTURE OF THE JAINS IN ORISSA.

By

Prof. K. N. Tandon, M, A., Dip. Ger.

Grünwedel rightly remarked that "The religious character so deeply rooted in the national life of Indian races has continued to be the guiding principle in their art" In fact, Hindus, Buddhists and Jains, all sought the help of art to propagate their respective religious systems. Art served for them as a medium of religious propaganda. Such intimate relationship between religion and art has not been a peculiarity with the Indians alone, but, as has been shown by Della Setta in her book 'Religion and Art', nearly all ancient human races have used art primarily as a means to express their religious sentiments. It is difficult to deny that art has been responsible for giving real permanency to certain aspects of a particular religion at a particular time. The extint ancient monuments supply much material information regarding ancient religious practices and beliefs. In India religious monuments consist mainly of rock-cut chambers, monasteries and chapels or temples.

Rock-cut architecture was popular mainly with the Jains and the Buddhists. First models of such architecture seem to have been furnished by Aśoka, the great Maurya emperor of India, who excavated a few caves for the Ājīvakas in the Barabar Hills in Bihar. Buddhist rock-cut architecture is found in abundance in Western India, for example at Bhaja, Karle, Ajanta, Ellora, etc. Earliest of these Buddhist monuments may be dated back in c 1st century A.D. The earliest specimens of Jain rock-cut architecture are to be found at Udaigiri and Khandagiri hills near Bhubanesvara in Orissa. They may be dated from c. 2nd century B. C. to 2nd century A. D.

The rock-cut architecture of the Jains, as also of the Buddhists, consists of two classes of monuments, namely, retreats for the monks and nuns and chapels for the laity. The Jain monasteries are generally devoid of superflous ornamentation and present a very simple, sometimes even not very pleasant, site. Chapels have, however, been found exuberantly adorned. The simple and sober appearance

of the monasteries is in confirmity with Jain emphasis on austerity (Tapas) and asceticism. These monasteries were, in fact, meant to shelter the mortal and material body of the monks whose soul had already been floating in higher planes of spiritual phenomena. That's why Khāravela has referred to the caves he excavated for the residence of the monks as Kāyanisidiyā and, still more appropriately, as Jīvadehasayikā in his Hāthigumphā Inscription. Etymologically, Kāyanisidiyā or Kāyaniṣidyā means 'rest place for the material body' and Jīvadehasayikā or Jīvadehāśrayikā also means 'shelter for the body which is the abode of the soul.'

Monks needed solitude to practise penances and yoga which were necessary for annulling the evil effects of the past Karmas and thereafter for attaining Nirvāṇa. In order to achieve their end they stayed in lonely places, outside the busy centres of life and away from the hubbub of this troubled world. The lay devotees considered it their duty to excavate cells for the monks out of the living rock, wherever possible, or to provide some other shelter for their material body against the ravages of weather.

The earliest specimen of rock-cut chambers are simple cellular retreats. The workmanship of these excavations is not of a high order. They were excavated by the devoted Śrāvakas in the low hills near Bhuvaneswara. The two tree-clad hills in which the rock-cut chambers are located are well known as Khandagiri and Udaigiri.

The number of chambers excavated in these hills is 35. They are both large and small. But only 17 of them are important and worth noticing. Udaigiri is noted for its 16 caves while Khandagiri, for its one cave only. These chambers appear to have been excavated one after another, as the necessity for the accomodation of the monks arose. A few chambers show definite improvement in style and technique when compared to others which shows that the activity of excavating cave-retreats must have continued for a sufficiently long period. There are also a few double-storeyed caves. The workmanship and treatment of these excavations is though generally clumsy and crude but not devoid of grace. It may, however, indicate that these excavations belong to the period which saw the beginning of the art of excavating Vihāras in living rocks. Some scholars are

of opinion that the clumsiness is due to the rough texture of the stone. The local name for these monasteries is 'Gumphā' i.e. 'cave'.

The pillars in these caves are quite plain in design except that they have been adorned with bracket capitals. We find a low-pedestalled wall carved like a continuous bench all round inside certain apartments. There also appears a stone seat or āsana on which the monks could sit to meditate. These āsanas have a sloping back rest in some cases. Such a device appears for the first time in Indian rock-cut cave architecture.

The cells are mostly oblong in plan. The floor in each apartment is sloped so as to form a couch. It is remarkable that these cells are not very high. They are only 4' high which suggests that they were meant for meditation and rest only. Retreats consisting of a single cell in the Orissan group sometimes show primitive styles, e.g. the Bāgha Gumphā. The ingeniuous excavator has shaped the exterior of this cave like the mask of a tiger, the ante-chamber simulating his gaping mouth and the cell-door within, his gullet The door jambs of this cave are adorned with winged creatures.

Rānī Gumphā is the most important monastic retreat of the whole group. It is a double sotreyed excavation. Cells in this retreat have been excavated on three sides of the courtyard, on its fourth side is the approach to the Gumphā The general arrangement of the cells shows that they were meant for the residence of the monks. There are also a few cells which might have been used for some special purposes since they differ in shape and size from the general body of the cells in that Gumphā. It is conjectured that they might have served as cloak rooms for keeping Kamaṇḍalu and Pīchhī. The general plan of the Gumphā with a courtyard and terraces suggests that it should have been used as an open air theatre where the monks used to deliver sermons to the lay-followers. The architectural treatment of this Gumphā is characteristic of the Orissan style of rock-cut architecture. The arches have been decorated in a very fine manner. Many single life-size figures have also been beautifully sculptured. The device of figures depicted as door-keepers (dwāra-pāls) is also interesting.

The other important monasteries of this group are Gaṇesha

Gumphā, Manchapurī Gumphā and Ananta Gumphā. The Gaṇesha Gumphā is one of the earliest examples of the Orissan cave architecture. The scheme of sculptured animal guardians appears for the first time in this Gumphā. The pillars forming the facade of this Gumphā are noted for their beautiful sculptural treatment. These are square in section above and below but are octagonal in the middle.

Manchapurī Gumphā is important since an inscription of Nayanikā, the chief queen of King Khāravela of Kaliṅga, has been found there. It thus provides an aid for studying the Orissan cave architecture chronologically.

The productions at Khandagiri are not so beautifully rendered as at Udaigiri. They do not show a very high standard of technique and workmanship. There we find either the earliest or the latest specimens, the former representing the state of evolution while the latter, that of decadence. The best examples of Orissan cave architecture are thus to be seen at Udaigiri. Udaigiri represents the culmination of Orissan cave architecture. This hill is all the more important from the point view of the political history of Orissa as well since it records the Hāthīgumphā Inscription, the only reliable source of information regarding Khāravela whose achievements make him stand in the galaxy of the greatest of Indian kings and heroes

SYADVĀDA—AN EPISTEMOLOGICAL SOLUTION OF WORLD-TENSION.

By

Prof. Ramji Singh M. A.

To be safe from 'The Tyranny of Words'[1] in the spirit of Ludwig Wittgenstien's Tractatus Logico-Philosophicus[2] let us follow our paper in view of logical Syntax[3] and Semantics[4]

Expository :—Syat (somehow) Syādvāda is (an epistemological) solution of World-tension

Analysis :—

(a) Syādvāda[5] —The Jaina theory of Judgment and truth as relative.

(b) World-tension—"Present international tensions among nations."

(c) Epitemological Solution—Solution emanating from the standpoint of knowledge.

Synthesis :—Syādvāda along with its complementary doctrines of Anekantvāda and Nayavāda, when applied to the phenomena of international tension, might result in perpetual peace.

World-Tensions :—

By world-tension, we mean presence of international conflicts, hot and cold wars, so-called Peace and Defence treaties etc. But international conflicts are often the result of internal conflicts.[6] Internal conflicts and contradictions often lead to external and inter-

---

1. Stuart Chase—"The Tyranny of Words" Quoted from proceeding of Indian Philosophical Congress 1952, 57.

2. Wittgenstien's "Tractatus Logico-Philosophicus" "The proposition is a picture of reality.........Tractatus Page 63.

3. Logical Syntax-Analysis of complex sentences into simple ones and the simple ones into component words etc.

4. Semantics-Relation of linguistic expression to objects designed by them.

5. (a) Every proposition is true but only under certain condition—Radha Krishnan : Annals of Indian Philosophy Vol.—I Page 302

(b) स्या प्रवाणो व स्याद्वाद :—Jaina Darsan Sāra-by Chainsukh Dass

6. Azad, A. K.—Inaugural Address at Seminar to discuss the contribution of Gandhian outlook and technique to the solution of tensions. 5-1-1953,

national aggressions and wars.[1] Hence world tension includes "tensions within and among nations."[2] It is no use denying the great dangers that threaten our present generation.[3] The riven atom, uncontrolled, can only be a growing menace to us all.[4] One atom bomb killed more than seventy thousand people,[5] but now it is not a question of one or two or even hundred but of hundreds of millions of them. Prof Yusuki Trurumi says in agony. "Japan's mind is disturbed profoundly. We face war—how can we avert it?[6]" Therefore while inaugurating Silver Jubilee Session of Indian Philosophical Congress Dr. K. N. Katju fears that the story of Mahāvārat it seems is being re enacted all over again. In the conclusion of that war there was neither the victim to lament his defeat nor the victor to celebrate the victory. Refering to Korea he observed. Their towns and villages, their land and dwellings are bring trampled under foot and destroyed over and over again by invading troops and retreating troops and human life there seems to have lost all sanctity.[7] So that the war of liberation has been turned into a war of annihilation. (Surely this is completely a new version of liberation)[8] Though the third-war might mean virtual end of all that western civilization stands for, yet there is in spite of all this an imminent danger of war.[9] The result is the mounting suspicion and rivalary between the two power blocks, feverish rearmament and cold war, alternating with tipid war.[10] In spite of recent peace moves this is no gain saying the fact

1. Kriplani, J. B. "Gandhian way Towards Peace."—Seminar-above.

2. "Solution of tensions within and among nations"—Indian National Comission for cooperation with Unesco decides this as the main topic of discussion.

3. Prof. Tucci—My Approach to Gandhi—ref. above.

4. Robert Oppentumer—Ex-chairman, Advisory Atomic Council, under Article, "Atomic weapons and American Policy quoted in "*Foreign Affairs* July 1953."

5. Prof. Trurumi—Japanease delegate to the Gandhian seminar vide his paper to the Seminar.

6. Dr. K. N. Katju—Silver Jubilee vol. II.

7. Dr. K N. Katju—Inaugural Address to Silver Jubilee Session of I P. C.

8. Dr. K. N. Katju Do.

9. R. N. Kaul—Social Philosophy—Socialist Democracy.

10. E. Ashirvathem—Is peace Possible ? Indian Journal of Political Science Vol. XIV, No.—2, April 52.

that the world is sharply divided into two opposing camps[1] and there is an array of peace (war), defence (offence) treatises like NATO'S[2], MEDO'S[3] and many more yet to come out. The development of the international organisations in last fifty year recognises that disputes which arise concern many states, and that they need to be settled.[4] So we are practically in a world bewildered by the turmoil of nationalism and war.[5] The whole world is in the ferment.

Need of a Solution :—

Humanity is tottering today upon the brink of the principle of self-annihilation for the lack of proper understanding[6] which includes understanding ourselves, understanding each other.[7] It is a time of tragic important for the world, because even before the shadows cast by the war lifted fully, the skies have become overcast with dark threatening clouds.[8] Hence, at no period of human history man was in need of a sound Philosophy than today.[9] As war begins in the minds of men, it is in the minds of men that the defence of peace should be built.[10] Today if a person does not agree with you he is wicked, if a country does not agree with your country it is wicked; there is no half-way,[11] hence there is no neutrality[12] Unesco, realising the need of a solution is however keen.[13]

1. E. Ashirvathem—Ref. as above
2. Nato—North Atlantic Treaty Organisation.
3. Medo—Middle Eastern Defence Organisation.
4. James N Hyde—art "U. N and the Peaceful Adjustment" in Proceeding of Academy of Poltical Science vol XXV Jan. 53 United Nations: Success or Failure.
5. E. H. Carr—"Nationalism And After"—Page 70.
6. Paul Arther Schillip—Art. "On Human Understanding" Silver Jubilee Number Vol. 2 Page 107.
7. Paul Ar Schillip— Do.
8. Raj Pramukh of Mysore—Message to the Jubilee Session.
9. Srimati Hansa Mehta— Do.
10. Dr. Alva Myrdal—Quotation from Unesco's constitution.
11. Pt. Nehru—Inaugural Address of Gandlian Seminar 5-1-53.
12. Memorandum on the Signature of His Majesty's Govt. in the U K. of the Optional clause cmd --3452 Page 10. Quoted from "Conditions of Peace" by E. H. Carr, Page 51.
13. Dr. Alva Myrdal—Her Speech 5th Jan 53 There can be no neutrals, Seminar.

Solutions there are and are of many types—political including diplomatic, economic, religious etc. Broadly there are two approaches towards world peace—

(a) Politico-Economico-Positivistic Approach.

(b) Religico-Spirituo Mystical Approach.

Religico Spirituo Mystical view :—

The upholders of the religico-spirituo-mystical view hold that without is withinin.[1] We cannot banish war while we are perpetuating war within us. The tremendous amount of hatred and injustice within us accumulated in a national form leads to war.[2] Hence the best solution of world-tension is to control the animal within us [3]" Here the dictum is 'Reform yourself and the world will be reformed [4]" Some of the mystics, however depend upon God's goodness

Political Solution : –

Professional politicians often indulge in diplomatic double talk which breeds pessimism and cynicism on the part of the people and makes peace a mere will-o-the wisp[5] Some very irresponsible politicians talk of 'preventive war[6]" as a solution of world tension, for they think offence may be the best form of defence.[7] From United Nations we cannot have any hope. Vyshinsky charges that USA has stolen the sign-board of U. N.[8]" and also Turner confirms that the U. N is really dead as a peace and security maintaining organization."[9] Commenting upon the prospects for Berlin Meeting the Eastern Economist doubts "whether the meeting will prove another episode in the cold war or a real ground of understanding."[10]

1. Idealestic thesis.
2. J. C. Kumarappa —*Ibid*
3. J. C Kumarappa—"A non-violent way of life" Article in Gandhian Seminar.
4. J. B. Kriplani —Gandhian way
5. E Astirvathem —Is Peace Possible ? --Arct. in Political Science Journal.
6. Macarthy and Co in the U. S. A. Senate.
7. Mathew—Secretary Navy of U S. A. under Truman—Indian Political Science Journal July 53,
8. Vyshisnky · Soviet Delegate to the United Nations General Assembly,
9. A. C. Turner-Review of Atlantic Allaince "Bulwark of the West : Implications and problems of Nato."-*International Affairs* Vol.—XXIX No. 4 Oct. 53
10. Eastern Economist—Article—Prospects for Berlin Meeting Jan. 1-54,

Similarly the same journal had declared that "Conference at Bermuda will hold out no new hopes for the world."[1]

Hence political solution is practically no solution, for present day politics is not a politics of peace and brotherhood but of falsity and fraud, deceit and dishonesty. We cannot adopt politics as a profession and remain honest.[2] So said Adolf Hitler that if you wish the sympathies of broad masses, then you must tell the crudest and most stupid things.[3] Hence any politico-diplomatic talks of either big our for five for peace will prove a mere moonshine for diplomatic talks are talks of interest and convince

Economic Solution :—

But political evils are to a large extent supposed to be eliminated through democracy, which has no place for autocratic whims for waging war. But if we are working upto a democracy in politics we must have a democracy in Economics.[4] Most serious of the problems which claimed their attention were not political or territorial but financial and economic and that the perils of the future lay not in frontiers and in soveriegnties but in food, coal and transport.[5] Political rights too have failed to provide a key to the millennium[6] So political democracy if it is to survive must be interpreted in economic terms.[7] So long as there are tigers in society there will be wars.[8] Permanent peace cannot come from the endless see-saw, but only from the elimination of the causes of enimity between nations. And in the present day these causes are mainly to be found in economic interest of certain sections, and are therefore only to be abolished by a fundamental reconstruction,[9] of course not of the type of U.N.R.R.A. W.M.B., I B.R.D., I.T.A., E.R.P. and their counterparts.[10]

1. Eastern Economist-Article—Conference At Bermuda Nov. 20-53.
2. Lowis Mettenry Howe Address Jan. 17-1933.
3. Adolf Hitler—Mein Campf.
4. J. C. Kumurppa—Gandhian way.
5. J. M. Keynes—Economic Consequence of Peace—134.
6. R. N. Kaul—Social Philosophy, "Socialist Democracy."
7. E. H. Carr—Conditions for Peace.
8. J. C. Kumarppa—Gandhian way.
9. B. Russell—In Praise of Idleness—101.
10. I mean the Soviet Economic pact with Eastern democrasies etc,

This fatal neglect of the economic factor by the peace-maker of 1919 was the main theme of Mr. Keyne's famous book "The Economic consequence of the Peace.[1] Individual profit which in the 18th and 19th centuries provided the motive force of the economic system, has failed us and we have not discovered any moral for it rather than war.[2] Mr. Keynes adds" Pyramid-building, earthquakes even wars may serve to increase wealth.[3] During great U. S. economic crisis Governer Lafolette however charged those who had squandered 40,000,000,000 dollar of American money in the most wasteful and futile war of modern history and were not prepared to vote money for public works to relieve distress.[4] The Economic Digest confirms this waste today, when it published that U. S. spends 16 million dollars a month on U. S. forces in U. K.[5]

So somehow people think that if economies be reconstructed it can bring peace. So economies means political economies and political philosophy. And with this comes the perenial conflict of political ideologies. The free-world must adhere to Marshall and Keynes and the Keynesion Revolution, while the Reds find salvation in no other economics structure other than the Marxian, because the Capital is not a personal, it is a social power.[6] So again, ultimately it is our warring idologies that are at the root of world tension. So whether we philosophise or we won't we are to be philosophized.[7]

Transition to Epistemological Solution :—

But we must philosophize only in a particular way as there are many methods of philosophy. Much of our philosophy depends upon our way of philosophizing. Empiricism leads to scepticism[8], whether

---

1. J. M. Keynes—Economic consequece of Peace.
2. E. H. Carr—Condition of Peace—Page 101.
3. J. M. Keynes—The General theory of Employment, Interest, and Money Page—129.
4. D W. Brogan—The American Political System—132.
5. Economic Digest-Article "Spending by U.S. Forces in Britain" May-1953
6. Mark Engles—Vol I Page 45. Communist Manifisto.
7. Aristotle—Quoted from "Introduction to Philosophy" by G W. Patrick Page 49.
8. S. C. Chattarji—Problems of Philosophy Page 32

of Locke or of the Charvakas. Similary, dogmatism, rationalism, intuitionism, authoritarianism, mysticism etc have their own concequences. This branch of philosophy has very lately been accorded an independent place and the term Epistemology has been used firstly by Ferrier[1], although we can not forget Locke who first reminded us to examine our own abilities, and see what objects our understanding were or were not fitted to deal with.[2] In short Locke felt that the epistemological problems are former to all others.[3] After all any quest for reality presupposes (path of[4]) knowledge. In any survey of the history of philosophy we come across with the treatment of knowledge.[5] Cunnigham calls it to be the problem of intellectual enterprise"[6] But problems of knowledge pre-supposes the methods of acquiring knowledge. Otherwise one may ask, "If it is the business of Kaut in his Critique of pure Reason to show how mathematics is possible, whose business is to show how the critique of pure reason is possible![7] To maintain that our knowlege is true we must prove that it is really so. Thus the validity of knowledge is made to rest on the validity of the methods of knowledge.[8] Doctrines of the Pramanas, ranging from one (charvaka) to eight[9], I am sure, determine to a great extent the nature of philosophy. So an epistemological reorientation will influence metaphysical grounding, which in turn will determine our socio-ethico political views.[10]

Great logical inter relations among all social and sociological studies prove that one follows as the reductio ad absurbdum from the other. Thus we see that any solution can ultimately be achieved

---

1. Ferrier-Institutes of Metaphysics (1884), Encyclo Britanica vol 13/448
2. Locke—"Epistime to the Reader" "Essay concerned Human Understanding".
3. Patrick—Introduction to Philosophy—Page 326.
4. L. T. Hobhouse—"Theory of knowledge."
5. Encyclo-Britan 13/448.
6. Cunnigham—Problem of Philosophy chaps- VI-VIII.
7. The New Realism—P. 61 quoted from Nyāya theory of knowledge.
8. S. C. Chatterjee—Problems of Philosophy Page 3.
9. Dr. Kuppaswami Shastri—A Primer of Indian Logic Page 40
10. L. T. Hobhouse—Theory of knowlege.

through knowledge free from confusion and prejudices.[1] Each addition to knowledge is in sober truth one step further to the goal of all effort, the right understanding of the whole of things as they are in their inmost nature.[2] But the main difficulty is to blend the divergent current of thought and in particular the methods of philosophy and science.[3]

With this end in view we put before you an old wine in a new bottle—The relative[4], Jaina Theory of Judgment namely Syādvāda as it expresses one aspect of reality. Syādvād is composed of two words—Syād[5] and vada..[6] Syād may mean perhaps,[7] some how[8], may be[9], in some respect[10] etc. So Syādvāda with certain reservations[11] may be translated into Probablism.[12]

Syādvāda must be understood along with its metaphysical counterpart of Anekantvada and other comptementary theorm of Nayavāda; Nikshepvāda, and Saptbangti which form a formidable part of Jaina philosophy, which was systematised in the second period of the evolution of Jaina Literature, namely Anekant Yuga.[13]

Theory of Syadvada :—

Definition :—In the earliest Jaina work on pure logic by Sidhsena Divakara, the author holds "since things have many characters, they are the object of all sided knowledge.[14] The knowledge which determines the full meaning of an object through the employment in the

---

1, 2, 3 LT. Hobhouse—Theory of Knowledge.
4. D. M. Datta—Indian Philosophy—90.
5. वाद सिद्धान्त—Jaina Darsana S'r-Chainsukh Das Page 45 6
6. स्यात्प्रधानो वादः स्याद्वाद : — ,,
7. Radhakrishnan—H. I P.—Vol I, 302.
8. Do ; D. M. Datta. Indian Phil—90
9. D. M. Datta I. P. Page 90.
10. ,, ,, —I. P. ,, 92.
11. Apart from suggestion of Scepticism
12. Dr. Deoraj—History of Indian Philosophy (Hindi) Page 135.
13. Dal Sukh Malbania—Essay on Jaina Darshan-Shahitya ka Singhablokan in "Premi Abhinandan Granth".

१४ अनेकान्तात्मकं वस्तुगोचरः सर्वं संविदाम्-न्यायावतार Tr. by S. C. Vidya Bhusan Slok 29

scriptural method, of one sided Nayas, is called Syādvāda Sruta.[1] Similarly Samant Vadra says that Syādvāda discards all absolute judgments.[2] Even sermonic sentences of Lord Mahabir had always a prefix of Syat for otherwise truth would have been violated.[3] Scriptural knowledge is of three kinds—Scriptures of bad Tirthankars,[4] one sided method[5] and all sided knowledge.[6] So Syādvāda holds that the knowledge of reality has got innumberable characterestics.[7] The reality is not simply Sat, nor simply Asat, nor simply Universal nor simply particular but both and also more.[8] Even Tattvarthadhigamsuttra[9], the Bible of Jainism recognises the most important use of Naya as the theory of Syādvād. Even Pramāna is defined as that which gives us knowledge of a thing in its various aspects.[10] Sri Abhinab Dharm Bhusan in Nyāya Dipikā holds that all expressions are somehow real.[11] Let us hold with Mallisena Suri, the author of Syādvād Manjari that all objects from a lamp to the sky are both eternal and non-eternal and hence do not disobey Syādvāda.[12]

Syadvada & Anekantvada : –

A thing partakes the nature of both reality and unreality, Mallisena

---

१ सम्पूर्णार्थं विनिश्चायिस्याद्वाद श्रुतमुच्यते Ibid. 51. 30.

२ स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्ति चिद्विधिः–आप्तमीमांसा Quoted tr. Permi Abhinandan granth स्याद्वाद सप्तभंगी by. कैलाशचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री ।

३ स्याद्वाद केवलज्ञाने वस्तुतत्वप्रकाशने–आप्तमीमांसा Ibid.

४ न्यायावतार Sl. 30, also, नयकर्णिका विनय महराज Tr. M. D Desai intro dution.

५ विकला देशोनय वाक्यम्–श्लोकवार्तिक पृ० १८१

६ सम्पूर्णार्थ विनिश्चायिस्याद्वादश्रुतमुच्यते–न्यायावतार कारिका ३०

७ अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः—अकलंक ग्रन्थत्रयम् लघीयस्त्रये, प्रवचन प्रवेश ८-२१

८ वस्तु न केवल सदादि केवल मसत् आपितु सदसदात्मकं Jaina Darsana Sara Page 45-60.

९ प्रमाण नयैरधिगमः—तत्वार्थ सूत्र सू० ६ अध्याय १

१० सर्वस्यानेकरूपस्य धी प्रमाणं अष्टसहस्री ।

११ सर्ववाक्यं सावधारणम्–न्यायदीपिका परोक्षप्रमाण एवं प्रमाण सिद्धमनेकात्मकं वस्तु श्लोक १५

१२ आदीपमाव्योम समस्वभावं स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तुः–स्याद्वाद मंजरी (हिन्दी) —श्लोक ५ Page 20.

says, for example a man having characteristic of lion in one part and of man in other part is called Nrisinghavatār.[1] So Anekant Vada is called Syādvāda, according to which the same object has got the presence of eternality and non-eternality etc. All object have got innumerable characters.[2] So Mānikyanandi in Parikshamukham giving example of विरुद्ध स्वभाव अनुपलब्धि[3] says that all things are Anekantice (possessed of different aspects) because we do not find that these have only one aspect.[4] A thing that is real has three characteristics of production, destruction and stability.[5] Object according to Nyaya Dipika has many qualities,[6] which is proved on the basis of perception, inference and testimony.[7] Nayavatar of Sidhisena also holds that thing have many characters.[8] So substance is that which has qualities and modifications[9] and the real is substantial[10] So substance has anything which has origin existence and destruction,[11] and which may be described by opposites.[12]

---

१ भागे सिंहो नरो भागे यो सुर्यो भाग द्वयात्मकः
तम भागं विभागेन नरसिंह प्रचक्षते—स्याद्वादमंजरी श्लोक १ Exp I

२ स्याद्वादोऽनेकांतवादो नित्यानित्याद्यनेक धर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगम्—स्याद्वादमंजरी Page 124.

३ प्रमाणनयतत्वालोकालंकार—III-११ वादिदेवसूरि 12th A. D.

४ अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकांतस्वरूपानुपलब्धेः परीक्षामुखम् Eng. Tr. G. C. Ghosal Page 124.

५(क) तत्वार्थाधिगम सूत्र—५-३० उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्-

(ख) आप्तमीमांसा कारिका ५९-६० घटमौलिसुवर्णार्थीनाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।

(ग) द्रव्यसंग्रह Page 44.

६ सर्वमनेकान्तात्मकं सत्वात्—न्यायदीपिका-परोक्ष प्रकाशः-Page 125.

७ एवं प्रमाणसिद्धमनेकान्तात्मकं वस्तु—न्यायदीपिका परोक्ष ।

८ अनेकान्तात्मकं वस्तुः-न्यायावतार-Eng. Tr. S. C. Badya Sl. 29.

९(क) गुणपर्ययवद् द्रव्यम्-तत्वार्थसूत्र ५-३८

(ख) लघीय सू० २-१४२

(ग) परमात्मा प्रकाश गा० ४७

(घ) गुण पज्जयासयं० प्रवचनसार कुंदकुंदचार्य ।

१०(क) सद्द्रव्यलक्षणम् तत्वार्थसूत्रम् ५-२९

(ख) सत्वं द्रव्यं-अकलंक—

11 Radha Krishnan—Hist. of Indian Philosophy Vol. 2-313.

१२ अनन्तधर्मात्मकम् वस्तु-हरिभद्र 's Saddarshan Sammuchya page 57

The standpoint of Jainas is supported by Patanjali yoga[1] and Mimamsa.[2] So reality to them is a unity in difference, or bhedabheda or difference in unity. Substance perish through its own qualities and modifications. But the Gunas or qualities are inseperably related to substance. The qualities continue while the forms change.[3] Every object has innumerable characters, and that which has not many character is also not real like sky lotous,[4] this is proved by the Method of Difference or केवल व्यतिरेक [5]

—To be Continued.

---

१ द्रव्यं नित्यम् आकृतिरनित्या । इत्यादि योग महाभाष्य ।

२ Kumaril-मीमांसा श्लोकवार्तिक–नोत्पादस्थितिभंगानामभावे स्यान्मति त्रयम्–२८ मीमांसा श्लोक ।

३ Radha Krishnan History of Indian Philosophy Vol 1–314

४ स्याद्वाद मंजरी श्लोक २१ अनन्तधर्मात्मकमेवतत्त्वमतोऽन्यथा सत्त्वम् रूपपादम् २२

५ यदनन्तधर्मात्मकं न भवति तन् सदपि न भवति यथा वियदिन्दीवरम् इति केवलव्यतिरेकी हेतुः—स्याद्वाद मंजरी श्लोक २३ ।

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में दो बार प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देश के लिये ३) है, जो पेशगी लिया जाता है। १॥) पहले भेज कर ही नमूने को कापी मंगाने में सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं। मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो तो इसकी सूचना शीघ्र कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

PRINTED AT SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD.
ARRAH

जैन-सिद्धान्त भास्कर

भाग १८ किरण १

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. XVIII No. 1

Edited by

Prof. A. N. Upadhya, M. A., D. Litt.

Prof Jyoti Prasad Jain M A., LL B.

Sri. Kamata Prasad Jain, M.R.A.S., D.L.

Pt. K. Bhujbali Shastri, Vidyabhushan.

Pt. Nemi Chandra Shastri, Jyotishacharya.

Published by

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY

(JAIN SIDDHANTA BHAVANA)

ARRAH (Bihar)

Annual Inland Rs. 3. Single Copy Rs. 1/8

JUNE, 1952.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १९ जून १९५२ किरण १

सम्पादक :

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्

प्रोफेसर ज्योति प्रसाद जैन एम. ए., एल. एल. बी.

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी एल.

श्री पं० के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) एक प्रति का १।।)

विषय-सूची



श्री स्व० बाबू बच्चू लाल जी जैन रईस

[illegible]

श्रीजिनाय नमः

जैन सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १९ } जून १९५२। आषाढ़, वीर नि० सं० २४७८ { किरण १

काकन्दी अथवा खुखुन्दो तीर्थ

[ले० श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन, D. L., M. R. A. S.]

जिला गोरखपुर में नुनखार रेलवे स्टेशन से दक्षिण पश्चिम की ओर दो मील की दूरी पर खुखुन्दो नामका एक छोटा सा गांव है; जिसमें थाना, पड़ाव और प्राइमरी स्कूल हैं। किन्तु उस खुखुन्दो गांव के पास में प्राचीन नगर के भग्नावशेष मिलते हैं[1]। कई बड़े तालाब और खास टीले लगभग एक मील के क्षेत्र में बिखरे हुए पड़े हैं। कनिंघम साहब ने इन टीलों की छानबीन की थी। यह घने जंगल में है और जंगल की पेड़ों की जड़ों ने मन्दिरों और राजभवनों को धराशायी बना दिया है[2]।

माना जाता है कि ये भग्नावशेष प्राचीन काकन्दी नगरी के हैं, जिसे उपरान्त किष्किन्धापुर भी कहते थे। खुखुन्दो काकन्दी का ही अपभ्रंश रूप है। उसका किष्किन्धापुर नाम अर्वाचीन है और है जैनत्व के ह्रास का प्रतीक। जैन साहित्य में उसका नाम काकन्दी ही मिलता है। जब वहां पर जैनों का ह्रास हो गया और ब्राह्मण प्रबल हो गये, तब उन्होंने उसका नाम किष्किन्धापुर रख दिया। यही कारण है कि कनिंघम साहब ने उसे ब्राह्मणों का नगर मान लिया था। वस्तुतः वह जैनधर्म के आदि तीर्थों में से एक है।

काकन्दी नगर ऋषभ-युग का प्रतीत होता है। वहां ही नवें तीर्थङ्कर भ० पुष्पदन्त के गर्भ एवं जन्म कल्याणक उत्सव इन्द्र ने आकर मनाये थे। उस समय सुग्रीव नामक

१ "भूगोल" विशेषांक, पृ०

२ कनिंघम, आर्केलॉजिकल रिपोर्ट, १८६१-६२, पृ० ८५-८८

राजा यहां के शासनाधिकारी थे। वह इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रिय रत्न थे। उनकी रानी जयरामा ने भ० पुष्पदन्त को जन्म दिया था। तीर्थङ्कर की जन्मपुरी होने के कारण स्वयं इन्द्र ने काकन्दी की श्रीवृद्धि की थी—उसका अतिशय लोक प्रसिद्ध हो गया था। वह एक तीर्थ तो बना ही; परंतु साथ ही एक समृद्धिशाली नगर भी वह बना था[1]। श्वेताम्बरीय 'नायधम्म कहा' (नवां अ०) अंग ग्रन्थ में लिखा है कि काकंदी का एक व्यापारी रत्नद्वीप की ओर बड़े २ जलपोतों (जहाजों) को लेकर व्यापार के लिए गया था। दुर्दैव से उसके जलपोत समुद्र के तूफान में नष्ट हो गये थे और वह ज्यों त्यों करके अपने प्राण बचा पाया था[2]। इससे स्पष्ट है कि काकंदी अपने व्यापार के लिये दूर २ देशों में प्रसिद्ध था।

'भगवती आराधना' जैसे प्राचीन ग्रन्थ में उसका उल्लेख निम्न प्रकार हुआ है—

काकंदियभयघोसो, वि चंडवेगेण छिरण सव्वांगे।

तं वेयणमधियासिय, पडिवाणो उत्तमं अट्ठं। १५५०।'

अर्थात्—काकंदी नगरी में अभयघोष मुनि को उनके चंडवेग नामक वैरी ने सर्वाङ्ग छेद कर मारा था; परंतु उस छेदन-वेदना में भी उन्होंने उत्तम अर्थ अर्थात् रत्नत्रय को प्राप्त किया था।

मुनि अभयघोष की कथा का विस्तार से श्री हरिषेणाचार्य ने 'बृहद्कथाकोष' (कथा १३७) में लिखा है।

श्री गुणभद्राचार्य ने 'उत्तरपुराण' में काकन्दी को जिनेन्द्र पुष्पदन्त की जन्म नगरी लिखा है। उन्होंने यह भी लिखा है कि वहां ही 'पुष्पक' नामक वन में उन्होंने तप तपा था। यह वनोद्यान काकंदी के निकट रहा! श्री जटासिंहनन्दि आचार्य ने भी 'वराङ्गचरित्' में और श्री आचार्य यतिवृषभ ने 'तिलोय पण्णत्ति' में काकन्दी को ही भ० पुष्पदन्त का जन्मस्थान लिखा है[3]। कविवर आशाधरजी ने भी लिखा है कि काकन्दी में उल्कापात को देखकर पुष्पदन्त तपस्वी हुए थे[4]।

इस प्रकार काकन्दी प्राचीन काल से जैनों का पूज्य स्थान रहा है। उपरान्त कालमें वहां पर किन २ राजाओं ने राज्य किया और कौन-कौन धर्मकार्य किये गए, यह अन्वेषण की वस्तु है। खुखुन्दो के अवशेषों की यदि खुदाई की जाय तो यहां अपार जिन कीर्तियां उपलब्ध हों।

१ उत्तर पुराण, ५५ पर्व

२ भ० महावीर नोधर्म कथाओ, पृ० ८०

३ वराङ्ग चरितम् (मा० ग्रं० ४०), पृ० २७१

४ त्रिषष्ठिस्मृति शास्त्रम् (मा० ग्रं० ३६), पृ० २८६

कनिंघम साहेब का अनुमान रहा कि चीनी यात्री हुएनत्सांग बनारस से आगे जाते हुए खुखुन्दो होकर निकला था, जहां उसे एक ब्राह्मण मिला था जो यात्रियों की खूब आवभगत करता था[1]। इस स्थान पर कोई बौद्ध कीर्तियाँ संभवतः नहीं थीं—यही कारण है कि हुएनत्सांग ने किसीका भी उल्लेख नहीं किया। कनिंघम साहेब ने जिन भग्नावशेषों का उल्लेख किया है वे प्रायः सभी जैन भासते हैं; यद्यपि उन्होंने भ्रान्ति से उनको ब्राह्मणों के लिखा है। निम्न पंक्तियों में हमें उनका आलोचनात्मक दिग्दर्शन कराना अभीष्ट है।

सबसे पहली बात तो ध्यान देने की यह है कि जब कनिंघम साहेब ने खुखुन्दो के लोगों से उन तीस टीलों के नाम-धाम पूछे तो उन्होंने केवल तीन के नाम बताये। बाकी २७ के लिये लोगों ने कहा कि उनको हम 'देउरा' कहते हैं? 'देउरा' का अर्थ कनिंघम साहेब ने टीला (Mound) लगा लिया; परंतु वस्तुतः मुस्लिम काल से मुख्यतः जैन मंदिर 'देउरा' नाम से प्रसिद्ध रहे हैं। जैन साहित्य जैसे 'कृपण पचीसी' आदि में जैन मंदिर के लिये 'देउरा' शब्द प्रयोग में लाया गया है। जैन स्त्रियां बातचीत में कहती रही कि 'देउरे' हो आई। अतः लोकश्रुति इस बातका समर्थन करती है कि खुखुन्दो के अवशेष जैन मंदिरों के हैं। अवशेषों का रूप और ढंग भी यही बताता है।

'अ' टीला (Mound A) २०० घन फीट चौड़ा और ६ फीट ऊँचा था। उसपर केवल एक विष्णुमूर्ति कनिंघम साहेब को मिली थी। 'ब' टीला (Mound B) ५० घन फीट चौड़ा और १० फीट ऊँचा 'शिवका टीला' नाम से प्रसिद्ध था, क्योंकि ऊपर एक शिवलिंग पधरा दिया गया था। कनिंघम साहेब का यहां एक शिलापट मिला था, जिस पर एक दम्पत्ति अंकित था। स्त्री की गोद में बच्चा था। उनके पीछे वृक्ष बना था, जिसकी शाखायें उन पर छत्री सी बन गई थीं। मूर्तियां प्रायः नग्न थीं[2]—कुछ आभूषण अवश्य पहने थीं, कनिंघम साहेब उनको महादेव और भवानी अनुमान करते हैं; परंतु वास्तव में यह शिलापट जैन चैत्यावृक्ष है। श्रावस्ती एवं अन्य स्थानों से ऐसे कई जैन शिलापट मिले हैं। दम्पत्ति तीर्थंकर के माता-पिता अथवा यक्ष यक्षिणी होते हैं और चैत्य के अग्रभाग में जिन प्रतिमा होती हैं[3]। इस टीले पर दूसरी मूर्ति एक चतुर्भुजी देवी की मिली थी, जिसे उन्होंने पार्वती अनुमान किया था। हो सकता है कि यह मूर्ति किसी जैन शासन देवी की हो।

---

१ कनिंघम, एन्शियेन्ट जॉगराफी ऑव इंडिया, (१६३) पृ०

२ कनिंघम, आर्कि० रिपोर्ट १८६१–६२, पृ० ८७

३ हमारी 'श्रावस्ती' पुस्तक देखो।

'सी' टीला (Mound 'C') १२० फीट लम्बा व ११० फीट चौड़ा और १५ फीट ऊँचा था। चोटी पर ईंट के बने हुए मंदिर की दीवालों के ४-५ फीट ऊँचे अवशेष थे, जिसके बीच में लिंग पधरा दिया गया था। यहां प्राचीनता का कोई चिन्ह न रहा अलबत्ता गणेशजी की एक भग्नमूर्ति, एक चतुर्भुजी देवी की मूर्ति, नवग्रह, शिलापट तथा एक आसन जिसमें खंडित मूर्ति का अवशेष पैर एक बैल पर रक्खा बना हुआ रहा, वहां मौजूद थे[1]। जैन अवशेषों में अन्यत्र नवग्रह, शिलापट और चतुर्भुजी यक्षी की मूर्तियां मिली हैं। गोमुख, कुसुम, किम्पुरुष, गंधर्व एवं भृकुटी नामक तीर्थंकरों के यक्षों की मूर्तियों में बैल उनके आसन के निम्न भाग में बना हुआ होता है और उस पर उनका पैर भी लटकता बनाया जाता है[2]। अतः खुखुन्दो के उक्त अवशेष जैन यक्षों के ही प्रतीत होते हैं।

'द' टीला (Mound 'D') १०० घन फीट चौड़ा और १५ फीट ऊँचा रहा। ऊपर एक बरगद के पेड़ तले ब्राह्मण और जैन अवशेषों का ढेर लोगों ने कर रक्खा था। इस ढेर में कनिंघम साहेब को एक मुख्य मूर्ति चतुर्भुज पद्मासनस्थ पुरुष की मिली थी, जिसके दाढ़ी और मूंछें थीं। उसके चार हाथों में क्रमशः दुधारा चक्र, एक माला, एक लड्डू और चौकोण दंड थे। उसका बांया पैर एक बैल की मूर्ति पर रक्खा हुआ था। कनिंघम साहेब इसे शिव की मूर्ति अनुमान करते हैं[3]। किन्तु मूर्ति का उक्त वर्णन किम्पुरुष यक्ष की मूर्ति से ठीक मिलता है, जो १६ वें तीर्थंकर के शासन देवता थे[4]। एक अन्य खड्गासन चतुर्भुजी मूर्ति को कनिंघम साहेब ने विष्णु की मूर्ति लिखा है। तीसरा एक खंडित मूर्ति का आसन रहा, जिसपर नग्न मूर्तियां बनी हुई थीं और बीच में हिरण बना हुआ था। कनिंघम साहेब ने इसे १६ वें तीर्थंकर शान्तिनाथ की मूर्ति का आसन लिखा है। अतः उक्त यक्ष इस मूर्ति के साथ बनाया गया होगा। यक्षिणी की मूर्ति भी वहां होना चाहिए। चौथी चीज उन्हें भग्नलिंग का अर्घा मिला था। अवशेष में उन्हें शिलापट मिले जो जैन चैत्यवृक्ष दो दम्पत्तियों वाले थे। कनिंघाम साहेब ने इन्हें महादेव और भवानी अनुमान किया है। किन्तु वह असमंजस में रहे, क्योंकि उन्होंने पुरुष के मुकुट में एक छोटी-सी नग्न मूर्ति बनी देखी, जिसे वह बुद्ध कहते हैं[5]। वास्तव में वह जिनमूर्ति है। इसलिये कनिंघम साहेब ने भी इसे जैन माना है।

---

१ आर्कि० रिपोर्ट १८६१-६२, पृ० ८८

2 Der Jainismus, Plates 24-26

३ आर्कि० रि० पृ० ८८

4 Der Jainismus, plate No. 26 Fig 5

5 "But in these sculptures the god has a small naked figure of Buddha

टीला 'ई' (Mound E) करीब ७५ घन फीट चौड़ा और १५-१६ फीट ऊँचा था। जिसपर ईंटों के सिवा कुछ न था। टीला 'फ' (Mound F) पर केवल विष्णु की एक मूर्ति रही। 'जी'—'एच' छोटे २ टीले थे, जिनसे ईंटें निकाली जाती थीं।

टीला 'ज' (Mound J) ८५ घन फीट चौड़ा व १५ फीट ऊँचा था, जिसे कनिंघम साहेब ने कुछ खुदवाया था। मंदिर की दीवालें खुदाई में निकलीं थी। उन्हें कोई प्राचीन मूर्ति नहीं मिली थी। इसके दक्षिण में ही नया जैन मंदिर है। उसके सामने चतुर्भुज विष्णु मूर्ति नील पाषाण की उन्होंने देखी थी। उसका शीश व भुजाएँ खंडित थीं। उसके वाम पक्ष में मत्स्य, कच्छप और वराह अवतार अंकित हैं और सीधे हाथ पर बुद्ध एवं कल्कि अवतार बने हैं[1]।

कनिघम साहेब ने नवीन जैन मंदिर को भी देखा था। उस मंदिर में वह नील पाषाण की पद्मासन मूर्ति का उल्लेख करते हैं, जिसके आसन पर बैल का चिन्ह रहा। इसलिए वह इसे आदि बुद्ध की मूर्ति बताते हैं। उनके समय में विद्वान् जैनधर्म और बौद्ध धर्म को एक मानने की गलती करते थे। इसीलिए कनिंघम साहेब ने जिन मूर्तियों को बुद्ध लिखा है। वस्तुतः वह आदि तीर्थंकर की मूर्ति है। किंतु लोग उस मूर्ति को पार्श्वनाथ भी कहते थे। अजैन लोग बहुधा जैन मूर्तियों को 'पारसनाथ' भी कहते हैं। हां, कनिघम साहेब को इस मंदिर के बाहर एक दिगम्बर जिन प्रतिमा मिली थी, जिसके आसन में सर्प बने थे। वह पार्श्वनाथ की थी। यहां भी उनको एक जिन चैत्य वृक्षका शिलापट मिला था, जिसमें ऊपर नग्न जिनमूर्ति बनी हुई थी। कनिघम साहेब उसे भी बुद्ध की मूर्ति पर नग्न लिखते हैं[2], जो ठीक नहीं। वह जिन प्रतिमा है।

'क' टीला (Mound K) पर तब इमली का पेड़ खड़ा था। यह टीला सब से बड़ा रहा। वह १२० घन फीट चौड़ा व १६ फीट ऊँचा था। उसके पश्चिमीय पार्श्व को पृथ्वी से १० फीट की ऊँचाई पर कनिंघम साहेब ने खुदाया तो ८९ फीट चौकोर फर्श मिला। फूलदार ईंटें भी मिली थीं। उनको यहां कोई मूर्ति नहीं मिली। उनका अनु-

---

fixed in the front of his head-dress, from which I infer that these figures probably belong to the Jain Religion.

—Cunningham, Arch: Report, 1861-62, p. 88

1 Ibid, pp. 88-89

2 Another sculpture, in coarse-stone, represents the same naked couple male and female, whom I have before described. A tree rises behind them, & with its boughs forms a canopy over their heads. Over all there is a small squatted figure like a Buddha, but naked. The male figure in this sculpture has a lotus in his right hand. —*Ibid*, p. 89

मान रहा कि यहाँ की मूर्तियां नये जैन मंदिर में पहुँची हैं। यह पुराना जैन मंदिर हो सकता है। इसकी खुदाई होना चाहिये।

'न' टोला (Md. N) नीचे में है। इसमें से लोग ईंटें निकाल कर ले गए हैं। खोदने पर इसमें एक फीट पर ही एक योनि अर्घा मिला था।

'स' टोला (Md S) १०० फीट लम्बा, ६० फीट चौड़ा और १२ फीट ऊँचा पश्चिम में है। चोटी पर दो सिरस के पेड़ हैं, जिनके नीचे एक विशाल पाषाण मूर्ति है। उसे लोग 'जगवीर' कहते हैं। इसीलिए कनिंघम साहेब ने उसे तीर्थंकर वीर वर्द्धमान की मूर्ति लिखा है[1]; परंतु उसे चतुर्भुजी अनुमान किया है। वह खंडित है।

'म' टीला (Md. Z) बांसों के झुरमुट में दक्खिन पश्चिम में है। उसे कनिंघम साहेब बौद्ध स्तूप अनुमान करते हैं[2]। चूंकि वह जैन और बौद्ध में भेद नहीं करते और खुखुन्दो की कीर्तियां जैन हैं, अतः यह स्तूप भी जैन है।

इस प्रकार खुखुन्दो के प्राचीन अवशेष सभी जैन प्रतीत होते हैं। वह जैन तीर्थ रहा है। वहां की खुदाई में बड़ गांव—नालन्दा की तरह ही बहुत-सी अमूल्य कीर्त्तियां प्राप्त हो सकती हैं[3] जो जैन इतिहास के लिए महान् होगीं; क्योंकि खुखुन्दो एक ऐसा स्थान है जहाँ पर केवल जैनधर्म का प्राबल्य रहा प्रतीत होता है। अतः जैन समाज का कर्तव्य है कि वह खुखुन्दो की खुदाई के लिये चन्दा करके सरकार के पुरातत्त्व विभाग को दे जिससे कार्य प्रारम्भ हो जावे। फिर सरकार उसे आगे खुदवाती रहेगी। कनिंघम साहेब ने इसे गलती से ब्राह्मण-स्थान माना है।

---

1 The figure has apparently had four arms. and is called "Jug-bhira" or "Jag-Vira"—"the champion of the Age", a title which might be applied appropriately to *Vira* or Mahavira, the last of the 24 Jain hierarchs and the Pontiff of the present age." —Ibid p. 90

2 "...the building...in mound Z was a Buddhist stupa" —Ibid p. 91

3 "With the exception of Baragaon (the ancient Nalanda), I have seen no place where the ruins offer such a promise of valuable discovery as at Khukhundo." —Ibid.

दक्षिण की बाहुबलि-मूर्तियों के संस्थापकों का लक्ष्य

[श्रीयुत् पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण, मूडबिद्री]

जैन सिद्धान्तानुसार आठ प्रकार के कर्मों में से ज्ञानावरण आदि चार प्रकार के घातिया कर्म नष्ट होते ही प्रत्येक मुक्तात्मा को केवलज्ञान अर्थात् सर्वज्ञत्व प्राप्त होता है। उसी अवस्था में वह परम योगी सर्वज्ञ कहलाता है। मुक्ति को प्राप्त करनेवाले प्रत्येक आत्मा को पहले केवल ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है। जैनधर्म में केवल ज्ञान प्राप्त हर एक आत्मा का केवली यह संकेत है। इन केवलियों में २४ तीर्थंकरों को छोड़ कर शेष केवलियों को स्वर्गीय देवताओं के द्वारा वैभवपूर्वक मनाये जाने वाले गर्भावतरण आदि पांच कल्याण नहीं होते हैं। अर्थात् गर्भावतरण, जन्माभिषेक दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण ये पांच कल्याण स्वर्ग के देवों द्वारा सिर्फ तीर्थंकरों के ही मनाये जाते हैं। देवों के द्वारा इतर केवलियों के कल्याण मनाये जाने की बात मेरी जानकारी में जैन ग्रंथों में कहीं भी नहीं पाई जाती है। यद्यपि यह बात निश्चित है कि तीर्थंकरों की तरह उपर्युक्त गर्भावतरण आदि कल्याण अपने संबंधी एवं भक्तों के द्वारा इतर केवलियों के भी अवश्य मनाये जाते रहे होंगे। किन्तु व्यवहार में देवों के द्वारा मनाये जानेवाले कल्याण ही पंच कल्याण के नाम से विश्रुत हैं। आज भी भक्तों के द्वारा श्री ऋषभादि महावीरांत चतुर्विंशति तीर्थंकर केवलियों के ही कल्याण मनाये जाकर सिर्फ इन्हीं चतुर्विंशति तीर्थंकरों की मूर्तियों को देवालयों में स्थापित की जाने की प्रथा है।

हाँ, यहां पर यह एक प्रश्न अवश्य उठ सकता है कि जब ऐसी बात है तो चंद्रम आदि कुछ कन्नड़ कवियों ने बाहुबली को गर्भावतरण और जन्म कल्याण को छोड़कर शेष तीन कल्याण देवों के द्वारा मनाये गये थे यह क्यों लिखा ? मेरे ख्याल से इसका यही समाधान हो सकता है। वह यह है कि जैनों में पंच कल्याणपूर्वक तीर्थंकर केवलियों की प्रतिमाओं को ही देवालयों में स्थापित करने की परंपरागत शास्त्रीय पद्धति है। फिर भी विशिष्ट कारणों से स्थापित की गई सामान्य केवली बाहुबली क मूर्ति के स्थापनकाल में तीर्थंकर केवलियों के पूर्व के पंच कल्याणों को याद कर तीर्थंकर केवली की तरह बाहुबली को गर्भ एवं जन्म कल्याण न मनाये जाने पर भी शेष तीन कल्याण देवों के द्वारा अवश्य मनाये गये होंगे, यों सोच कर उत्सव की शोभा बढ़ाने की दृष्टि से पूर्वोक्त उन अर्वाचीन दो एक कवियों ने तीन कल्याणों की कल्पना की होगी। वस्तुतः जैन पूजोत्सवों में पंच कल्याण से बढ़कर दूसरा कोई पूजोत्सव है भी नहीं। प्रभावना के खयाल से पंच कल्याण जैन समग्र पूजोत्सवों में अग्र

स्थान को प्राप्त है। आज भी उत्सव की शोभा को बढ़ाने की दृष्टि से अन्यान्य उत्सवों के अवसर पर जैन लोग भिन्न भिन्न तीर्थंकरों के कल्याणों को वैभव से मनाते रहते हैं।

अब हमें यह देखना है कि बाहुबलि-मूर्ति का प्रथम संस्थापक कौन है? ई० सन् आठवीं शताब्दी के दिग्गज संस्कृत महाकवि सिद्धांत विशारद, महातपस्वी और पूर्वपुराण आदि ग्रन्थरत्नों के प्रणेता आचार्य जिनसेन के मत से प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का पुत्र चक्रवर्ती भरत ही बाहुबलि-मूर्ति का आद्य संस्थापक है। भगवज्जिनसेन के उल्लेखानुसार बाहुबली की वह मूर्ति पौदनपुर में स्थापित की गई थी। परन्तु वह पौदनपुर एवं वहां पर स्थापित उपर्युक्त बाहुबली की मूर्ति अब अप्राप्य है। मेरे खयाल से आज उपलब्ध बाहुबली की विशाल काय मूर्तियों में वीरमार्तण्ड चावुंडराय के द्वारा ई० सन् दशवीं शताब्दी में श्रवणबेल्गोल में स्थापित बाहुबली की मूर्ति ही सर्व प्राचीन है। उसीको आदर्श मान कर ई० सन् १५ वीं शताब्दी में वीर पांड्य के द्वारा कारकल में और ई० सन्० १७ वीं शताब्दी में तिम्मण्णाजिल के द्वारा वेणूर में बाहुबली की मूर्ति स्थापित की गई।

श्रवणबेल्गोल में बाहुबलि-मूर्ति को स्थापित करने वाला वीरमार्तण्ड चावुंडराय ब्रह्म क्षत्रिय और महावीर था। इसने अनेक युद्धों में लड़कर वीर मार्तण्ड, रणरंग सिंह, जगदेकवीर, समर धुरंधर, वैरिकुल-कालदंड, भुजविक्रम, समरपरशुराम, प्रति, पक्षराक्षस, भटमारि और सुभटचूडामणि आदि अनेक बहुमूल्य उपाधियों को प्राप्त किया था। चावुंडराय एक अप्रतिम वीर ही नहीं था; किन्तु राजनीति विशारद, श्रेष्ठ कवि और उत्तम चारित्रनिष्ट भी था। इसीलिये इसे कविजनशेखर, सम्यक्त्वरत्नाकर, शौचाभरण, गुणरत्नभूषण और सत्य युधिष्ठिर आदि अन्य महत्वपूर्ण उपाधियाँ भी प्राप्त थीं। राजनीति विशारद चावुंडराय गंगवंश के तीन शासकों के अधीन मंत्री तथा सेनानायक रहा। इसने उत्तरदायित्वपूर्ण इस पद को बड़ी योग्यता से निभाया था। इसके लिये उन शासकों के द्वारा अन्यान्य अवसरों पर सम्मानपूर्वक दी गई भिन्न भिन्न उन्नत उपाधियां ही साक्षी हैं। वस्तुतः इतिहास में वीरमार्तण्ड चावुंडराय का नाम सुवर्णाक्षरों में लिखा जाने योग्य है।

अब हम यह देखें कि आदर्श श्रावक चावुंडराय धर्म प्रेम से बार-बार गत शास्त्रीय प्रथानुसार किसी तीर्थंकर केवली की मूर्ति को स्थापित न कर परंपरागत प्रथा के प्रतिकूल सामान्य केवली बाहुबली की बहुव्यय एवं श्रमसाध्य विशालकाय मूर्ति को स्थापित करने का मुख्य रहस्य क्या है? इस विषय में मेरा यह अभिप्राय है कि चावुंड-

राय एक अनुपम वीर और अपने जीवन में लड़े गये प्रत्येक भयंकर युद्ध में जय लक्ष्मी को वरण करनेवाला महाव्यक्ति है। अनुपम साहसी ऐसे महाव्यक्ति के लिये संसार विजयी, क्षत्रियपुंगव, महान् वीर और लौकिक पारलौकिक दोनों का मार्ग-दर्शक एक आदर्श महाव्यक्ति की जरूरत थी। चावुंडराय की सूक्ष्म दृष्टि में बाहुबली को छोड़कर दूसरा कोई व्यक्ति इस स्थान के लिये उपयुक्त नहीं जँचा। वस्तुतः चावुंडराय सदृश वीर क्षत्रिय के लिये संसार-विजयी बाहुबली ही मार्ग दर्शक होने के अर्ह थे। बाहुबली भरतचक्री सदृश षट् खण्डाधिपति को जीतनेवाला अप्रतिम वीर था। इतना ही नहीं, जीतने के उत्तर क्षण में ही संसार से विरक्त हो, सर्वस्व को परित्याग कर मुक्ति कन्या के लिये भिड़नेवाला आदर्श त्यागी तथा महान् वीर था। बाहुबली के इन लौकिक एवं पारलौकिक गुणों पर मुग्ध होकर ही उभय-गुणकांक्षी चावुंडराय ने बाहुबली को ही अपना आदर्श चुना होगा। वह सर्वथा स्वाभाविक भी है। मेरी राय में तो जैनों के ६३ महापुरुषों में बाहुबली से बढ़कर दूसरा आदर्श वीर मिल नहीं सकता।

चावुंडराय के द्वारा श्रवणवेलगोल में स्थापित बाहुबलि-मूर्ति को देखकर ही कारकल के भैरव वंश के शासक वीर पांड्य को एवं वेणूर के अंजिल-वंश के शासक तिम्मण्ण अंजिल को अपनी अपनी राजधानी कारकल और वेणूर में श्रवणवेल्गोल सदृश संसार विख्यात विशालकाय बाहुबलि-मूर्ति को स्थापित करने की इच्छा उत्पन्न हुई। फल स्वरूप अन्यान्य शताब्दियों में कारकल और वेणूर में भी बाहुबली की चित्ताकर्षक विशाल काय मूर्तियां स्थापित की गईं। वीर क्षत्रिय वीर पांड्य और तिम्मण्ण अंजिल ने स्वजातीय चावुंडराय का अनुकरण किया, यह सर्वथा उपयुक्त ही था। इसमें संदेह नहीं है कि दक्षिण की उपर्युक्त तीनों मूर्तियां आश्चर्यकारी दर्शनीय वस्तुओं में से हैं।

हस्तिनापुर का एक ८५ वर्ष पुराना विवरण

[ले०—श्रीयुत् प्रो० ज्योति प्रसाद जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०, मेरठ]

प्राचीन भारत का गौरव, आदि पुरुष भ० ऋषभ देव का प्रथम पारणास्थल, शांति, कुंथु, अरह तीन-तीन चक्रवर्ती तीर्थङ्करों तथा अनेक महापुरुषों की लीलाभूमि, कौरव, पांडवों का क्रीड़ास्थल, त्रेता की प्रधान राजधानी और उत्तरापथ के मध्यदेश की की महानगरी हस्तिनापुर आज उजाड़ एवं निर्जन है। इतिहास काल के बहुत पूर्व ही यह महानगरी अनेक दैवी एवं मानुषी उपद्रवों के कारण विनष्ट हो चुकी थी। कालान्तर में कई बार इसे पुनः पुनः बसाने के प्रयत्न हुए, किन्तु अत्याधिक समय के उपरान्त प्रत्येक बार यह फिर से वीरान हो गई। शताब्दियों से मात्र एक पवित्र जैनतीर्थ क्षेत्र के रूप में ही विस्तृत वनखंड के मध्य स्थित हस्तिनापुर का नाम जीवित चला आरहा है।

भारत के प्राचीन सांस्कृतिक केन्द्रों में हस्तिनापुर का अपना विशिष्ट स्थान है। प्रा० ऐतिहासिक युग सम्बन्धी इतिहास एवं पुरातत्त्व के अन्वेषण में इस स्थान से सम्बद्ध अनुश्रुतियाँ, साहित्योल्लेख तथा स्थानीय पुराने टीलों की विस्तृत शृंखला के गर्भ में छिपे पड़े पुरातत्त्विक अवशेष अनुसंधान कर्त्ताओं के लिये अमूल्य निधि हैं। ऐसे महत्त्वपूर्ण स्थानों के स्वतंत्र इतिहासों के निर्माण की अतीव आवश्यकता है*। इन स्थानों के सम्बन्ध में जिस किसी व्यक्ति को कोई विशेष अथवा महत्त्वपूर्ण तथ्य ज्ञात हों उनके प्रकाश में आते रहने से इतिहासकारों के कार्य में भारी सुविधा हो जाती है।

कुछ वर्ष हुए दिगम्बर जैन मंदिर हस्तिनापुर के पुराने कागज पत्रों को उलटते पलटते सन् १९०५ ई० के एक मुकदमे में दाखिल मेरठ जिले के एक पुराने इतिहास ग्रन्थ के कुछ पृष्ठ प्राप्त हुए थे। सन् १८७१ ई० में यह ग्रन्थ किसी सज्जन ने उर्दू में लिखकर प्रकाशित कराया था। किन्तु प्रयत्न करने पर भी मूल ग्रन्थ की कोई प्रति अब नहीं मिली। उक्त मुकदमे में दाखिल उद्धरण हस्तिनापुर के सम्बंध में हैं, जिसके जैन इतिहास की दृष्टि से उपयोगी कतिपय अंश निम्न प्रकार हैः—

* उ० प्र० सरकार के शिक्षा एवं पुरातत्त्व विभाग की ओर से लेखक द्वारा रचित हस्तिनापुर का एक इतिहास शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है।

"हस्तिनापुर जिसके नाम से यह परगना मशहूर है अब वीरान है, साबिक़ में एक बड़ा शहर आबाद करदा राजा हस्तिन का था। यह राजा हस्तिन खल्फ़ बवजह मीर और खानदान राजा हाय चन्द्रबंसी से तिरतिया जुग के आख़ीर में बमुक़ाम अलाहबाद जिसको परयाग कहते हैं, राजगद्दी रखता था[1]। सो उसको मञ्जूर हुआ कि एक शहर अपने नाम से आबाद करके वहाँ राजगद्दी कायम करूँ। चुनांचे उसने बरलब दरियाए गंगा के जो ज़मीन अब हस्तिनापुर के नाम से मशहूर है, वहाँ अपनी राजगद्दी की इमारत बनाई और उसका नाम हतनावरत रक्खा[2]। दरयाफ्त होता है कि वक्त आबादी के यह शहर ४८ जोजन में जिसके १९२ कोस हुए, आबाद था। दरवाजा गरबी उसका कस्बा बरनावा[3] तहसील सरधना और मशरिक में दरियाए गंग और शुमाल में होकर बड़े सुकरताल[4] और जनूब में कस्बा आहार जिला बुलन्द शहर था। अलबत्ता उस वक्त आबादी उसकी ऐसी न थी जैसे कि अब शहर गुञ्जान बसते हैं, हर एक हिस्सा अलहदा अलहदा कुछ कुछ फ़ासले पर आबाद था। बाद में दीगर राजा हाय उसके खानदान से वहाँ राज करते रहे और कौरवान व पांडवान भी जो उसी चन्दरबंस के खानदान से थे वहाँ बसे और उस वक्त तक रहे कि जब तक बमुक़ाम थानेसर याने कुरुछत्तर कुल लड़कर मर गये। सिर्फ सात नफ़र याने पाँचों पांडे और छठे सिरीकृष्ण और सातवें द्रोनाचारज[5] बाकी रहे थे। चुनांचे बवजह सकूनत कौरवान व पांडवान के अब उसकी दो पट्टी एक जानिब शुमाल कौरवान और दूसरी जानिब

---

१ राजा हस्तिन चन्द्रवंशी तो था, किन्तु उसकी पूर्व राजधानी प्रयाग में थी, इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता। —सं०

२ हस्तिन के पूर्व भी हस्तिनापुर अवस्थित था। जैन अनुश्रुति के अनुसार इस नगर का मूल नाम गजपुर था और यह उन सर्व प्रथम १०४ नगरों में से एक था; जिनका कि निर्माण कर्मभूमि की आदि में देवताओं ने किया था। राजा हस्तिन ने जो भ० ऋषभदेव के पौत्र कुरु का एक वंशज था, इसे हस्तिनापुर नाम प्रदान किया।

महाभारत तथा अन्य हिन्दू पुराणों के अनुसार भी जिस हस्तिन ने इस नगर को यह नाम दिया वह शकुन्तला पुत्र सर्वदमन भरत की पांचवीं पीढ़ी में हुआ था। और उसके बहुत पूर्व पुरुवंशी दुष्यन्त एवं उक्त भरत की राजधानी यही नगर था। —सं०

३ प्राचीन वरणावह अथवा वरणावत।

४ यह वही शुक्रताल जिला मुज़फ्फर नगर में स्थित है।

५ महाभारत के अनुसार द्रोणाचार्य तो भीष्म पितामह के पश्चात् ही कौरव चमू के प्रधान सेनापति बने थे और महाभारत युद्ध में ही वीर गति को प्राप्त हुए थे। हाँ उनका पुत्र अश्वत्थामा उक्त युद्ध के उपरान्त जीवित बचा था।

जनूब पांडवान नामजद हैं। ……………बाद लड़ाई महाभारत के यह शहर सदमे तुग़यानी दरियाए गंगा से बिलकुल बरबाद और वीरान हो गया।

अकवाम हनूद इस मुकाम को निहायत मुतबर्रक और पवित्र और राजधानी समझते हैं, और दूर दूर मुल्कों से बतौर तीरथ जातरा आते हैं। और यहाँ के जगल में अक्सर दरवेश तारक-उल-दुनिया इबादत इलाही करने को चले आते हैं[1]।

पट्टी कौरवान में एक डेरा सरावगियान लागत कसीर खुशकितअतामीर काबिल दीद पारसनाथ[2] परस्तिश जैन धरम सरावगियान का है। और मुताल्लिक उसके कुछ मकानात भी बने हुए हैं कि जिनमें मुसाफिर ठहर जाते हैं। कातिक सुदी पूरनमासी को उसका मेला होता है। सरावगियान दूर दूर से मय जन और बच्चे आते हैं। तखमीनन दस हजार आदमी हरकौम के जमा हो जाते हैं और कई कई रोज तक वहाँ कयाम करते हैं। और हस्व तरीके अपने धरम के पूजा करते हैं। और दीगर मजहब के हनूद बमुकाम हस्तनापुर होना इस डेरे जैनधर्म का अच्छा नहीं समझते, और अगर उनका अख़तियार होता तो हरगिज उसकी तामीर भी न होती। तखमीनन साठ पंसठ बरस हुए कि यह डेरा बअहद राजा नैनसिंह[3] के इस तौर पर बना था कि राजा मौसूफ को कुछ रुपया शाह देहली का देना था और उसमें राजा साहब बमुक़ाम देहली थे। जब सबील अदाई रुपये की न बन आई तो लाला हरसुखराय नामी कारबारी खजान्ची बादशाह देहली ने, जो वह भी जैन धरमी था, बिलएवज़ राजा साहब मौसूफ के रुपया इस शर्त पर अदा किया कि राजा साहब डेरा पारसनाथ का बमुक़ाम हस्तनापुर बनवा दें, किस वास्ते कि यह जगह बहुत पवित्र समझी जाती है और जमींदारान गनेशपुर उनको मानअ तामीर थे। चुनांचे राजा साहब की दबायात से सरावगी अपने मक़सद को पहुँचे। और वास्ते हिफ़ाजत इस मन्दर के एक पुजारी और चार चौकीदार मुक़र्रर हैं। वह हमेशा वहाँ रहते हैं। और जो कुछ आमदनी चढ़ाने की होती है वह उसी मन्दर के खर्च में सर्फ होती है, और जिन्स बिरन्ज और

१ यह स्थान अत्यन्त प्राचीन काल से ही जैन मुनिपुंगवों की प्रिय तपोभूमि रहता आया है। —सं०

२ अजैन होने के कारण लेखक ने अनभिज्ञता से इस मंदिर को पार्श्वनाथ का लिख दिया। वास्तव में यह मंदिर शान्तिनाथ का है।

३ यह राजा नैन सिंह बहसूमे के तत्कालीन गूजर राजा थे। स्वनाम धन्य ला० हरसुखराय के सौजन्य, उदारता, धर्मप्रेम और उपकार से प्रभावित होकर उन्होंने इस मंदिर के निर्माण में अपने बल और प्रभाव से सहायता दी थी। —सं०

मेवे चढ़ाने के जमा होकर फरोख्त हो जाते हैं और वह आमदनी में महसूब होते हैं[1]। और हिसाब आमदनी व खर्च का हमेशा तहरीर होता रहता है। वक्त मेला साल-तमाम में जो साहूकारान मेम्बर सरपरस्त मन्दर के हैं वह मुलाहजा हिसाब और जो कुछ तजवीज खर्च वगैरह मुनासिब होती है, करते हैं। चौकीदार व पुजारी आमदनी मन्दर से तनख्वाह पाते हैं। अलावा इसके एक अमर निहायत अच्छा है कि जो कोई मुसाफिर वहाँ जाकर शबबाश हो या एक दो रोज ठहरे तो उसको खुराक मिलती है[2]। दो मरतबा चोरी भी इस मन्दर में हो चुकी है। एक मरतबा बअहद मिस्टर एडवर्ड बाल्कल डिप्टी साहब मजिस्ट्रेट बहादुर हंगाम तैनाती महमूदअलहक़ थानेदार नीलोहा के, उस वक्त भी अशिया क़ीमती चोरी गई थी। दूसरे अय्याम ग़दर में गूजरान कुल शै मौजूदा मन्दर को लूट कर ले गये। बल्कि खुद परतमा पारसनाथ को भी उठा कर ले गये थे। बाद ग़दर के फिर परतमा क़ायम हुई है।

अलावा इसके तीन परस्तिगाह मारूफ़ निसिया सरावगियान की यहाँ पर हैं। उनका चढ़ावा जो बिरञ्ज व मेवे खुश्क का होता है जमींदार लेते हैं। जिसका तख-मीना सालतमाम में सौ रुपये का है। कोई मूरती वहाँ पर नहीं है, बतौर चबूतरा[3] और चार दीवारी के हैं। सुना जाता है कि बाजमुनि याने बुजुर्ग सरावगियान ने इस जगह तप किया था। इस सबब से भी सरावगियान को ज्यादः ख्वाहिश तामीर मन्दर की इस मुकाम पर थी[4]।

तफ़सील हालात मेला कातगी हस्तिनापुर—यह मेला अक्कम सरावगियान का उस मुकाम पर होता जहाँ हस्तनापुर की क़दीम आबादी के निशानात मौजूद हैं[5] और अब वहाँ बूढगंगा के खादर का जंगल है, कातिक सुदी पूरनमासी को होता है।

---

१ लेखक ने अनभिज्ञतावश ऐसा लिख दिया। इस प्रकार का सब चढ़ावा मन्दिर के माली को दे दिया जाता है। वह निर्माल्य द्रव्य होता है अतः न बेचा जाता है और न उसका मूल्य आय में सम्मिलित किया जाता है।

२ खेद है कि अब वहाँ इस प्रकार का कोई स्थायी प्रबंध नहीं है।

३ ये निशियाँ वास्तव में प्राचीन स्तूपों के रूप में थीं और स्मरणातीत काल से इस स्थान पर निर्मित थीं। मध्यकालीन अनेक यात्रा विवरणों में भी हस्तिनापुर के इन प्राचीन जैन स्तूपों के उल्लेख मिलते हैं।

४ वास्तव में जैनतीर्थ के रूप में हस्तिनापुर की मान्यता अत्यन्त प्राचीन काल से चली आती है। वहाँ के प्राचीन जैन मंदिर जीर्ण शीर्ण एवं नष्ट प्रायः हो गये थे अतः नवीन मंदिर के निर्माण की आवश्यकता थी। —सं०

५ खेद है कि लेखक ने इन प्राचीन चिन्हों का कोई स्पष्ट विवरण नहीं दिया।

इस मेले में आदमी सिर्फ जैन मत के लोग जमा होते हैं, और मय अपनी अपनी क़बीलदारी के आते हैं। एकादशी से लोग जमा होने शुरू हो जाते हैं[1]। और पूरनमासी तक रहते हैं। वजह इज्तमा इस मेले की यह है कि इस मुक़ाम पर तीन मीनार[2] बफ़ासले एक दूसरे के बने हुए हैं। इनको वह लोग निशि बोलते हैं। (निशि के माने हमेशगी के हैं)[3] और कहते हैं कि मिनजुमला चौबीस औतार[4] जैन मत के तीन औतारों ने इस जगह तपस्या की थी और इस शहर में उनका जन्म हुआ था। क़दीम को सिर्फ वह मीनार ही परस्तिश की जगह है[5]। मगर अरसा सत्तर बरस का हुआ कि लालाहरसुखराय साहूकार मशहूर क़ाज़ी रईस देहली ने ...... इस मुक़ाम पर एक मन्दर पारसनाथ का बलागत कसीर निहायत आलीशान बनवा दिया है[6] और बाद में वक़्तन फ़वक़्तन लोगों ने उस मन्दर के मुत्तसिल बहुत सी सहदरी बनाई हैं ताकि अहले बिरादरी को जो वहाँ जमा होते हैं अपने हमराह डेरा वगैरह लाने की ज़रूरत न रहे और बआराम तमाम इन सहदरी हाय में रहें। अब यह मुक़ाम निहायत फ़िज़ा का हो गया है। यह मेला निहायत उजला होता है। सब मर्द औरत लिबास फ़ाखरा पहन और सदहा हज़ार रुपये के जेवरात से मुज़य्यन होकर नंगे पाँओं से परस्तिश को हररोज़ अलसुबह जाते हैं और दोपहर तक आमदरफ़्त का तार लगा रहता है। छोटे छोटे बच्चे भी पापयादा जाने में सवाब समझते हैं पूरनमासी के दिन सुनहरे रथ में पारसनाथ की मूरत सवार करके बड़े तुज़क व शान से क़रीबतर निशि ले जाते हैं, और वहाँ पूजा करके वापस लाकर मन्दर में अस्थापन कर देते हैं। और सब लोग रुख़सत हो जाते हैं। दूर दूर के आदमी इस मेले में आते हैं। जिस क़दर नक़द चढ़ावा चढ़ता है वह एक साहूकार के पास मन्दर के नाम से जमा रहता है और मन्दर की हिफ़ाज़त और मरम्मत वगैरह में

१ वर्तमान में यह मेला कार्तिक शुक्ला ८ से प्रारंभ होकर पूरे ८ दिन रहता है।

२ लेखक द्वारा प्रयुक्त मीनार शब्द भी उनके स्तूपाकार होने की पुष्टि करता है।

३ निशि शब्द निषद्या का अपभ्रंश है। संभव है किसी जैन सज्जनने लेखक को इस शब्द के उपरोक्त अर्थ अर्थात् 'हमेशगी'=शाश्वत या अनादिनिधन—बताये हों।

४ जैनधर्म अवतार वाद को नहीं मानता। यहाँ आशय तीर्थङ्करों से है।

५ इस लेखक के अनुसार भी हस्तिनापुर के ये जैन स्तूप अत्यन्त प्राचीन थे।

६ अन्य प्रमाणाधारों से भी यही सिद्ध होता है कि इस मंदिर का निर्माण सन् १८०० ई० के लगभग हुआ था।

सर्फ होता है। और गोले चावल वगैरह लवाजमात माली को मिल जाते है। किसी खास क़िस्म की तिजारत इस मेले में¹ नहीं होती।

१ मेले का प्रबंध और विस्तार पहले से कहीं अधिक बढ़ गया है। किन्तु वर्तमान प्रबंध प्रणाली के विरुद्ध जनता का असंतोष भी बढ़ रहा है।

इस स्थान पर कालान्तर में एक श्वेताम्बर मंदिर का भी निर्माण हो गया था और अब अन्य तीर्थों की भाँति हस्तिनापुर में भी श्वेताम्बरों और दिगम्बरों के बीच अहितकर एवं निन्दनीय झगड़े प्रारंभ हो गये हैं।

हिन्दी जैन साहित्य में अलंकार योजना

[ले०—श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न, आरा]

काव्य के दो पक्ष हैं—कलापक्ष और भावपक्ष। जैसे मानव शरीर और प्राणों का समवाय है, उसी प्रकार कलापक्ष काव्य का शरीर और भावपक्ष प्राण है। दोनों आपस में सम्बद्ध हैं, एक के अभाव में दूसरे की सुस्थिति संभव नहीं। भाषा, अलंकार, प्रतीक योजना प्रभृति कलापक्ष के अन्तर्गत हैं और अनुभूति भावपक्ष के। कोई भी कवि भाव को तीव्र करने, व्यञ्जित करने तथा चमत्कार लाने के लिए अलंकारों का प्रयोग करता है। जिस प्रकार काव्य को चिरन्तन बनाने के लिए अनुभूति की गहराई और सूक्ष्मता अपेक्षित है, उसी प्रकार उस अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए चमत्कारपूर्ण अलंकृत शैली की भी आवश्यकता है।

हिन्दी जैन कवियों की कविता कामिनी अनाड़ी राजकुलाङ्गना के समान न तो अधिक अलंकारों के बोझ से दबी है और न ग्रामबाला के समान निराभरणा ही है। इसमें नागरिक रमणियों के समान सुन्दर और उपयुक्त अलंकारों का समावेश किया गया है। कवि बनारसीदास, भैया भगवतीदास और भूधरदास जैसे रससिद्ध कवियों ने अभिव्यञ्जना की चमत्कारपूर्ण शैली में बड़ी ही चतुराई से अलंकार योजना की है। वास्तविकता यह है कि प्रस्तुत वस्तु का वर्णन दो तरह से किया जाता है—एक में वस्तु का यथातथ्य वर्णन—अपनी ओर से नमक-मिर्च मिलाये बिना ही और दूसरी में कल्पना के प्रयोग द्वारा उपमा, उत्प्रेक्षा रूपक आदि से अलंकृत करके अंग-प्रत्यंग सौन्दर्य का निरूपण किया जाता है। कवि की प्रतिभा प्रस्तुत की अभिव्यंजना पर निर्भर है। अलंकार इस दिशा में परम सहायक होते हैं। मनोभावों को हृदय स्पर्शी बनाने के लिए अलंकारों की योजना करना प्रत्येक कवि के लिए आवश्यक है।

जैन कवियों ने प्रस्तुत के प्रति अनुभूति उत्पन्न कराने के लिए जिस अप्रस्तुत की योजना की है, वह स्वाभाविक एवं हृदय स्पर्शी है; साथ ही प्रस्तुत की भाँति भावोद्रेक करने में सक्षम भी। कवि अपनी कल्पना के बल से प्रस्तुत प्रसंग के मेल में अनुरंजक अप्रस्तुत की योजना कर आत्माभिव्यंजन में सफल हुए हैं। वस्तुतः जैन कवियों ने चर्म चक्षुओं से देखे गये पदार्थों का अनुभव कर कल्पना द्वारा एक ऐसा नया रूप दिया है, जिससे बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् का सुन्दर समन्वय हुआ है। इन्होंने बाह्य जगत् के पदार्थों को अपने अन्तःकरण में लेजाकर उन्हें अपने भावों से अनुरंजित किया है और विधायक कल्पना द्वारा प्रतिपाद्य विषय की सुन्दर अभिव्यंजना की है। आत्माभिव्यञ्जन में जो कवि जितना सफल होता है, वह उतना ही उत्कृष्ट माना जाता है और यह आत्माभिव्यञ्जन तब तक संभव नहीं, जब तक प्रस्तुत वस्तु के लिए उसीके मेल की दूसरी अप्रस्तुत वस्तु की योजना न की जाय। मनीषियों ने इस योजना को ही अलंकार कहा है।

काव्यानन्द का उपभोग तभी संभव है, जब काव्य का कलेवर कलामय होने के साथ अनुभूति की विभूति से सम्पन्न हो। जो कवि अनुभूति को जितना ही सुन्दर बनाने का प्रयास करता है, उसकी कविता उतनी ही निखरती जाती है और यह तभी संभव है, जब उपमान सुन्दर हों। अतएव अलंकार अनुभूति को सरस और सुन्दर बनाते हैं। कविता में भाव प्रवणता भी तभी आ सकती है, जब रूप योजना के लिए अलंकृत और सँवारे हुए पदों का प्रयोग किया जाय। दूसरे शब्दों में इसीको अलंकार कह सकते हैं।

शब्दालंकारों में शब्दों को चमत्कृत करने के साथ भावों को तीव्रता प्रदान करने के लिए अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति आदि का प्रयोग सभी जैन काव्यों में मिलता है। "सकल करम खल दलन, कमठ सठ पवन कनक नग। धवल परम पद रमन जगत जन अमल कमल खग, में अनुप्रास की सुन्दर छटा है। भैया भगवतीदास के निम्न पद्य में कितना सुन्दर अनुप्रास है। इसने अनुभूति को कितनी तीव्रता प्रदान की है, यह देखते ही बनता है—

कटाक कर्म तोरि के छटाक गांठ छोर के,
पटाक पार मोर के तटाक दै मृषा गई।
चटाक चिन्ह जानिके, झटाक हीय आनके,
नटाकि नृत्य मान के खटाकि नै खरी ठई॥
घटा के घोर फारिके तटाक बन्ध टार के,
अटा के राम धार के रटाक राम की जई।
गटाक शुद्ध पान को हटाकि आन आन को,
घटाकि आप दानको सटाक श्यो बधू लई।

कवि बनारसी दास ने यमकालंकार की—"केवल पद महिमा कहौं, कहौं सिद्ध गुण गान" में कितनी सुष्ठु योजना की है। भैया भगवती दास की कविता में तो यमकालंकार की भरमार है। निम्न पद्य में यमक की योजना कितनी सुन्दर की गयी है—

एक मतवाले कहैं अन्य मतवारे सब,
मेरे मतवारे पर वारे मत सारे हैं।
एक पंच तत्त्व वारे एक एक तत्त्व वारे,
एक भ्रम मत वारे एक एक न्यारे हैं।
जैसे मतवारे बकैं तैसे मतवारे बकैं,
तासों मतवारे तकैं बिना मत वारे हैं।
शान्तिरस वारे कहैं मत को निवारे रहैं,
तेई प्रान प्यारे रहैं और सब वारे हैं।

इस पद्य में प्रथम मतवारे का अर्थ मतवाले और द्वितीय मतवारे का अर्थ मदोन्मत्त है। दूसरी पंक्ति में प्रथम मतवारे का अर्थ मतवाले और द्वितीय मतवारे का अर्थ मतन्योछावर है।

भैया भगवतीदास ने 'परमात्म शतक' में आत्मा को सम्बोधित करते हुए परमात्मा का रूप यमकालंकार में बहुत ही सुन्दर दिखलाया है।

पीरे होहु सुजान, पीरे कारे है रहे।
पीरे तुम बिन ज्ञान, पीरे सुधा सुबुद्धि कहँ।

इस पद्य में प्रथम पीरे का अर्थ पियरे अर्थात् हे प्रिय है और द्वितीय पीरे का अर्थ पीले है। द्वितीय पंक्ति में प्रथम पीरे का अर्थ पीड़े और द्वितीय पीरे का अर्थ पी-रे अर्थात् पियो है। इसी प्रकार निम्न पद्य में भी यमकालंकार भावों की उत्कर्ष व्यंजना में कितना सहायक है। साधक संसार के विषयों से ग्लानि प्राप्त करने के अनन्तर कहता है कि मैं बलवान काम को न जीत सका, व्यर्थ ही विषयासक्त रहा। आत्म साधना न कर मैं कामदेव के आधीन बना रहा अतः मुझ से मूर्ख और कौन होगा। जब विषयों से पूर्ण विरक्ति हो जाती है, उस समय इस प्रकार के भाव या विचारों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। यह सत्य है कि आत्मभर्त्सना या आत्मालोचना की अग्नि के बिना विकार जलकर भस्म नहीं हो सकते हैं।

मैं न काम जीत्यो बली, मैं न काम रसलीन।
मैं न काम अपनो कियो, मैं न काम आधीन॥

इस पद्य की प्रथम पंक्ति में प्रथम न काम का अर्थ है कामदेव को नहीं और दूसरे नकाम का अर्थ है व्यर्थ ही, दूसरी पंक्ति में न काम का अर्थ है कार्य नहीं किया और दूसरे नकाम का मैंने काम, इस प्रकार का पदच्छेद कर अर्थ करने पर कामदेव के आधीन अर्थ निकलता है। इसी प्रकार निम्न पद्य में 'तारी' शब्द के भी विभिन्न अर्थकर पदावृत्ति की गयी है।

तारी पी तुम भूलकर, तारी तन रस लीन।
तारी खोजहु ज्ञान की, तारी पति पर लीन॥

कवि वृन्दावनदास ने भी गुरु की स्तुति में शब्दालंकारों की सुन्दर योजना की है। 'जिन नाम के परभावसों परभावकों दहौं' में प्रथम परभाव का अर्थ प्रभाव है और द्वितीय परभाव का अर्थ परभाव—भेद बुद्धि या अन्य पदार्थ विषयक बुद्धि है।

कवि बनारसीदास ने आत्मानुभूति की व्यंजना वक्रोक्ति अलंकार में भी की है। इस नामरूपात्मक जगत् के बीच परमार्थतत्त्व का शुद्ध स्वरूप भेदबुद्धि द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। स्वात्मानुभव ही शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने में सहायक होता है।

अर्थालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, उदाहरण, असम, दृष्टान्त, रूपक, विनोक्ति, विचित्र, उल्लेख, सहोक्ति, समासोक्ति, काव्यलिङ्ग, श्लेष, विरोधाभास एवं व्याजस्तुति आदि का प्रयोग जैन काव्यों में पाया जाता है।

जैन कवियों ने सादृश्य मूलक अलंकारों की योजना स्वरूपमात्र का बोध कराने के लिए नहीं की है, किन्तु उपमेय के भाव को उद्बुद्ध करने के लिए की है। स्वरूपमात्र सादृश्य में उपमान द्वारा केवल उपमेय की आकृति या रंग का बोध हो सकता है, किन्तु प्रस्तुत के समान ही आकृतिवाले अप्रस्तुत की योजना कर देने मात्र से तज्जन्य भाव का उदय नहीं हो सकता है। अतएव 'गो सदृशो गवय.' के समान सादृश्य बोधक वाक्यों में अलंकार नहीं हो सकता। जबतक अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत के रूप या गुण में सौन्दर्य या उत्कर्ष नहीं पहुँचता है, तबतक अर्थालंकार नहीं माना जा सकता है। अर्थालंकार के लिए "सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपकारकम्" अर्थात् सादृश्य में चमत्कृत्याधायकत्व का रहना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि जिस अप्रस्तुत की योजना से भावानुभूति में वृद्धि हो वही वास्तव में आलंकारिक रमणीयता है। कवि बनारसीदास ने निम्न पद्य में उपमालंकार की कितनी सुन्दर योजना की है—

आतम को अहित अध्यातम रहित ऐसो आसव महातम अखंड अंडवत है।
ताको विसतार गिलिवेको परगटभयो, ब्रहमंड को विकासी ब्रह्ममंडवत है ॥
जामें सबरूप जो सबमें सबरूप सोपें सबनिसों अलिप्त आकाश खंडवत है ॥
सोहै ज्ञानभानु शुद्ध संवर को भेष धरे, ताकी रुचि रेखको अमारे दण्डवत है ॥

समदृष्टि की प्रशंसा करते हुए कवि बनारसीदास ने उपमालंकार की अद्भुत छटा दिखलायी है। कवि कहता है—

भेदविज्ञान जग्यो जिनके घट शीतल चित्त भयो जिमि चन्दन।
केलि करें शिव मारग में जग मांहि जिनेश्वर के लघुनन्दन ॥

इस पद्य में कवि ने चित्त की उपमा चन्दन से दी है। जिस प्रकार चन्दन शीतल होता है, आताप को दूर करता है, उसी प्रकार भेदविज्ञानी का हृदय भी। अतएव यहाँ चाँदनी उपमान और हृदय उपमेय है। समानधर्म शीतलता है तथा उपमावाची शब्द जिमि है। कवि कहता है कि जिनके मनमन्दिर में आत्मविज्ञान का प्रकाश उत्पन्न हो गया है, उनका हृदय चन्दन के समान शीतल हो जाता है।

कवि मनरंगलाल ने निम्न पद्यों में उपमालंकार की योजना द्वारा रसोत्कर्ष करने में कितनी विलक्षणता प्रदर्शित की है। भावना और चिन्तन में कितना संतुलन है, यह उदाहरणों से स्पष्ट है—

गिरिसम बेंच गयन्द सुमनकों खर पर चित्त चलावे ।
पाय धरम लब्धि त्यागि शठ विषय भोग को ध्यावे ।।
मुसिक्याय कही अब जावो । जन्मान्तर लौं अब खावो ।।
ले हार मने मुसिक्याना । जिम पावत भूलो दाना ।।

कवि वृन्दावनदास ने भगवद्भक्ति की विशेषता बतलाते हुए उपमालंकार की कितनी सुन्दर योजना की है। यद्यपि यह पूर्णोपमा है, पर इसमें आत्म-भावना को अभिव्यक्त करने के लिए कवि ने 'सुन्दर नारी की नाक कटी है' को उपमान बनाकर 'जिनचन्द पदाम्बुज प्रीति बिना जीवन को उपमेय मानकर भावों को मूर्त्तिरूप प्रदान करनेका आयास किया है।

सब ही विधिसों गुनवान बड़े, बलबुद्धि विभा नहिं नेक हटी है ।
जिनचन्दपदाम्बुजप्रीति बिना, जिमि सुन्दर नारी की नाक कटी है ।

जैन कवियों ने अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत के भावों की सुन्दर अभिव्यञ्जना करने का पूरा यत्न किया है। प्रतीकों द्वारा, साम्यरूप में, मूर्त के लिए अमूर्त्तरूप में, आधार के लिए आधेयरूप में और मानवीकरण के रूप में उपमालंकार की योजना की गयी है। कई कवियों ने निर्जीव वस्तुओं के वर्णन या सूक्ष्म भावों की गम्भीर अभिव्यञ्जना में ऐसे उपमानों का भी प्रयोग किया है, जिनसे मानव के सम्बन्ध में अभिव्यक्ति की गयी है। साहित्यिक दृष्टि से ये पद्य और भी महत्त्व रखते हैं।

सौन्दर्य और दृश्य चित्रण के लिए भी जैन काव्यों में उपमा और उत्प्रेक्षा का अधिक व्यवहार किया है। इन अलंकारों के सहारे इन्होंने अपनी कल्पना का विस्तार बहुत दूर तक बढ़ाया है। कवि-समय-सिद्ध उपमानों के अलावा नूतन उपमानों का भी प्रयोग किया है। प्रसिद्ध उपमानों के व्यवहार में भी अपनी कला का पूरा परिचय ये कवि दे सके हैं। चन्द्रप्रभु पुराण में नेत्रों की उपमा कमल से दी गयी है। कमल के तीन वर्ण प्रसिद्ध हैं— लाल, नीला और श्वेत। बचपन में नेत्र नीले वर्ण के होते हैं, अतएव उस समय के नेत्रों की उपमा नील कमल से तथा युवावस्था के नेत्र अरुण वर्ण के होने से 'कंजारुण लोचन' कहकर वर्णन किया गया है। वृद्धावस्था में नेत्र का रंग कुछ श्वेत हो जाता है, अतः 'कंजश्वेत इव राजत' कह कर निरूपण किया है।

कवि की पहुंच कितनी दूर तक है यह उपर्युक्त उपमानों की योजना से स्पष्ट है। कमल-युक्त बालकों की बड़ी-बड़ी आँखें चित्त को हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं। श्याम रंग भी चित्ताकर्षक और हृदय को शीतल करनेवाला होता है। अतएव केवल कमल की उपमा यहाँ उपयुक्त नहीं हो सकती थी। इसी प्रकार युवावस्था में अरुण नेत्र रहने से लाल कमल

की उपमा सौन्दर्य का पूरा चित्र सामने प्रस्तुत करने में सक्षम है। अरुण नेत्र प्रताप, शूरता और दुस्साहस के सूचक हैं। वीर-वेष के वर्णन में अरुण कमलवत नेत्रों को कहना अधिक सौन्दर्य द्योतक है।

वृद्धावस्था में शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है तथा रक्त की कमी होने से नेत्र भी स्वभावतः कुछ श्वेत हो जाते हैं। कवि ने वृद्धावस्था का पूरा चित्र सामने लाने के लिए श्वेत कमल के समान नेत्रों को बताया है। कवि वृन्दावन ने जिनेन्द्र के नेत्रों की निम्न छप्पय के प्रथम चरण में छः उपमाएँ दी हैं। और शेष पाँच चरणों में प्रत्येक उपमा के छः छः विशेषण दिये हैं। नेत्रों की दूसरी उपमा कमल से ही है, पर यह उपमा साधारण नहीं है, छः विशेषण युक्त है; अर्थात् सदल—पत्र सहित, विकसित, दिवसका, सजल-सरोवरका और मलयदेश का है। तात्पर्य यह है कि भगवान् के नेत्र मलयदेश के सरोवर में विकसित दैवसिक सदल अरुण कमल के तुल्य हैं। साधारण कमल की उपमा देने से यह अभिव्यंजना कभी नहीं हो सकती थी। कोमलता, दयालुता, सर्वज्ञता, हितोपदेशिता और वीतरागता की भावनाएँ उक्त उपमानों से ही यथार्थ में अभिव्यंजित हो सकी हैं—

मीन कमल मद धनद अमिय अंतकु छवि छज्जै।
जुगल सदल अति अरुन, सघन उज्जल मय सज्जै॥
हुलसित विकसित समद, दानि नाकी अति कूरे।
केलि दिवस शुचि अति उदार, पोषक अरि चूरे॥
सम सरज नीत चित चित दे, वृंद मिष्ट अनशस्त्र धर।
जल मलय महत अकहत अकृत, देवदृष्टि दुखसृष्टिहर॥

उपर्युक्त पद्य से स्पष्ट है कि कवि का हृदय उपमानों का अक्षय भंडार है। ये उपमान प्रकृति से तो लिये ही गये हैं, पर कुछ परंपरा भुक्त भी हैं। ज्यों ही कवि सौन्दर्य की अभिव्यंजना करने की इच्छा करता है, त्योंही उपमान उसकी कल्पना की पिटारी से निकलने लगते हैं। कवि दौलतराम ने भी उपमानों की झड़ी लगादी है। एक ही उपमेय का सर्वाङ्गीण चित्रण करने के लिए अनेकानेक उपमानों का एक ही साथ व्यवहार किया है—

पद्मासद्म पद्मपद पद्मा-मुक्तिसद्म दरशावन है।
कलिमय-गंजन मन-अलिरंजन मुनिजन शरन सुपावन।
× × ×
जाको शासन पंचानन सो, कुमति-मतंग—नशावन है।

जैन कवियों की एक विशेषता यह भी है कि उनके उपमान किसी न किसी भाव को पुष्ट करने के लिए ही आये हैं। विश्व में मोह का बन्धन सबसे सबल होता है, संसार का ऐसा कोई

प्राणी नहीं, जिसे मोह का विष व्याप्त न हुआ हो। मोह का तीक्ष्ण विष प्राणी को सदा मूर्छित रखता है। अतः कवि दौलतराम और भैया भगवती दास ने इस मोह का चार उपमानों द्वारा विश्लेषण किया है— व्याल, शराब, गरल और धतूरा। इन चारों उपमानों से भिन्न-भिन्न भावनाओं की अभिव्यञ्जना होती है। व्याल–सर्प जिस प्रकार किसी व्यक्ति को काट लेता है तो वह व्यक्ति सर्प के विष के प्रभाव से मूर्छित हो जाता है, तन-बदन का उसे होश नहीं रहता; उसी प्रकार मोहाभिभूत हो जाने से प्राणी भी विवेक शून्य हो जाता है। रात-दिन संसार के विषय-साधनों में अनुरक्त रहता है। अतएव सर्प-विष द्वारा प्रस्तुत मोह के प्रभाव का विश्लेषण किया गया है। इसी प्रकार अवशेष तीन उपमान भी मोहाभिभूत दशा की अभिव्यञ्जना करने में सक्षम हैं।

मिथ्यात्व की भावाभिव्यक्ति के लिए कवि बनारसी दास ने तीन उपमानों का प्रयोग किया है— मतंग, तिमिर और निशा। इन तीनों उपमानों के द्वारा कवि ने मिथ्यात्व के प्रभाव का निरूपण करने में अपूर्व सफलता प्राप्त की है। मिथ्यात्व को मदोन्मत्त हाथी इसलिये बतलाया गया है कि विवेक शून्य हो जाने पर व्यक्ति की अवस्था मत्त हाथी से कम नहीं होती। उसमें स्वेच्छाचरिता, अनियन्त्रित ऐन्द्रियक विषयों का सेवन एवं आत्मज्ञानाभाव हो जाता है। इसी प्रकार अन्धकार के घनीभूत हो जाने से पदार्थों का दर्शन नहीं हो पाता है, पास में रखी हुई वस्तु भी दिखलायी नहीं पड़ती है, और किसी अभीष्ट स्थान की ओर गमन करना असंभव हो जाता है। कवि ने उपमान के इन गुणों द्वारा उपमेय मिथ्यात्व की विभिन्न विशेषताओं का विश्लेषण किया है। वस्तुतः उक्त उपमान प्रस्तुत के स्वारस्य का सुन्दर विश्लेषण करते हैं।

सम्यक्त्व की विशेषता और विश्लेषण के लिए कवि भैया भगवतीदास, भूधरदास और द्यानतराय ने चार उपमानों का प्रयोग किया है—सिंह, सूर्य, प्रदीप और चिन्तामणि रत्न। जिस प्रकार सिंह के वन में प्रवेश करते ही इतर जन्तु भयभीत हो जाते हैं और वे सिंह की आधीनता स्वीकार कर लेते हैं उसी प्रकार सम्यक्त्व—आत्मविश्वास गुण के आविर्भूत होते ही व्यक्ति की सभी कमजोरियाँ समाप्त हो जाती हैं। मिथ्यात्व—अनात्मा विषयक श्रद्धान, रूपी मदोन्मत्त हाथी सम्यक्त्व रूपी सिंह को देखते ही पलायमान हो जाता है। विषयाकांक्षाएँ और राग-द्वेषाभिनिवेश सम्यक्त्व के पहले तक ही रहते हैं, आत्म श्रद्धान के उत्पन्न होने पर व्यक्ति को समस्त क्रियाएँ आत्मकल्याण के लिए ही होने लगती हैं। अतएव सम्यक्त्व के प्रभाव, प्रताप सामर्थ्य और अन्य दिव्य विशेषताओं को दिखलाने के लिए सिंह उपमान का व्यवहार किया है। इसी प्रकार अवशेष उपमान भी सम्यक्त्व की विशेषता का पूरा चित्र सामने प्रस्तुत करते हैं।

पञ्चेन्द्रिय के विषयों की सारहीनता कानी कौड़ी, जलमन्थन कर घृत निकालना, कुत्ते का सूखी हड्डी चबाकर स्वाद लेना आदि उपमानों के द्वारा अभिव्यक्त की है। उपमालंकार का वर्णन

हिन्दी जैन-साहित्य में बहुत विस्तार के साथ मिलता है। उपमा के पूर्णोपमा और लुप्तोपमा इन दोनों प्रधान भेदों के साथ आर्थी, श्रौती, धर्मलुप्ता, उपमानलुप्ता और वाचकलुप्ता इन उपभेदों का व्यवहार भी किया गया है। सादृश्य सम्बन्ध वाचक शब्द इव, यथा, वा, सी, से, सो, लौं, जिमि आदि का प्रयोग भी यथा स्थान मिलता है।

कवि बनारसीदास उपमा और उत्प्रेक्षा के विशेषज्ञ हैं। आपके नाटक समयसार में इन दोनों अलंकारों के पर्याप्त उदाहरण आये हैं। निम्न पद्य में कितनी सुन्दर उत्प्रेक्षा की गयी है, कल्पना की उड़ान कितनी ऊँची, यह देखते ही बनेगा।

ऊँचे ऊँचे गढ़के कंगुरे यों विराजत हैं, मानो नभ लोक लीलवेकों दांत दियो है।
सोहें चिहुँ ओर उपवन की सघनताई, घेरा करि मानो भूमि लोक घेरिलियो है॥
गहरी गंभीर खाई ताकी उपमा बनाई, नीचो करि आनन पताल जल पियो है।
ऐसो है नगर यामें नृप को न अंग कोउ, यों ही चिदानन्दसों शरीर भिन्न कियो है॥

उत्प्रेक्षा अलंकार का कवि बनारसीदास ने कितने अनूठे ढंग से प्रयोग किया है, भावोत्कर्ष कितना सुन्दर हुआ है, यह निम्न पद्य से स्पष्ट है—

थोरे से धक्का लगे ऐसे फट जाय मानों,
कागद की पूरी कीधो चादर है चैल की।

संसार के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की उत्प्रेक्षाएँ कवि रूपचन्द पाण्डेय और नयसूरि ने की हैं। भागचन्द और बुधजन के पदों में भी उत्प्रेक्षाओं की भरमार है। कवि भूधरदास ने हेतूत्प्रेक्षा का कितना सुन्दर समावेश किया है। कल्पना की उड़ान के साथ भावों की गहराई भी आश्चर्यजनक है—

काउसग्गा-मुद्रा धरि वन में, ठाड़े रिषभ रिद्धि तज दीनी।
निहचल अंग मेरु है मानों, दोऊँ भुजा छोर जिन दीनी॥
फँसे अनंत जंतु जग-चहले, दुःखी देख करुना चित लीनी।
काढ़न काज तिन्हें समरथ प्रभु, किधौं बांह ये दीरघ कीनी॥

भगवान् की कायोत्सर्गस्थित मुद्रा को देखकर कवि उत्प्रेक्षा करता है कि प्रभो! आपने अपनी दोनों विशाल भुजाओं को संसार की कीचड़ में फँसे प्राणियों के निकालने के लिए ही नीचे की ओर लटका रखा है। ऊपर के पद्य में इसी भाव को दिखलाया गया है।

भगवान शान्तिनाथ की स्तुति करता हुआ कवि कल्पना करता है कि देव लोग भगवान को प्रतिदिन नमस्कार करते हैं, उनके मुकुटों में लगी नीलमणियों की छाया भगवान के चरणों पर

पड़ती है, जिससे ऐसा मालूम पड़ता है, मानों भगवान के चरण कमलों की सुगन्ध का पान करने के लिए अनेक भ्रमर ही एकत्र हो गये हैं। कवि कहता है—

शांति जिनेश जयो जगतेश हरैं अघताप निशेष की नाईं।
सेवत पांय सुरासुरआय नमैं सिरनाय महीतल ताईं॥
मौलि लगे मनिनील दिपैं प्रभु के चरनों झलकै वह आईं।
सूंघन पाय-सरोज सुगन्धि किधो चलि ये अलि-पंकति आईं।

जैन कवियों ने एक ही स्थान पर उपमेय में उपमान की उत्कटता की संभावना कर वस्तूत्प्रेक्षा या स्वरूपोत्प्रेक्षा का सुन्दर प्रयोग किया है। वाच्या और प्रतीयमाना दोनों ही प्रकार की उत्प्रेक्षाओं के उदाहरण वर्द्धमान चरित्र में आये हैं। कवि ने वर्द्धमान स्वामी के रूप-सौन्दर्य का निरूपण नाना कल्पनाओं द्वारा अलंकृत रूप में किया है।

रूपकालंकार की योजना करते हुए कवि बनारसीदास ने कहा है कि काया की चित्रशाला में कर्म का पलंग बिछाया गया है। उस पर माया की सेज सजाकर मिथ्या कल्पना का चादर डाला गया है। इस पर अचेतना की नींद में चेतन सोता है। मोह की मरोड़ नेत्रों का बन्द करना है, कर्म के उदय का बल ही श्वास का घोर शब्द है और विषय सुख की दौर ही स्वप्न है। कवि ने यहाँ उपमेय में उपमान का आरोप बड़ी ही कुशलता से किया है। कवि कहता है—

काया की चित्रसारी में करम परजँक भारी,
माया की सँवारी सेज चादर कलपना।
सैन करे चेतन अचेतनता नींद लिए,
मोह की मरोर यहै लोचन को ढपना॥
उदै बल जोर यहै श्वास को शबद घोर,
विषै सुखकारी जाकी दौर यही सपना।
ऐसी मूढ़ दशा में मगन रहे तिहुँ काल,
धावे भ्रम-जाल में न पावे रूप अपना॥

वस्तुतः कवि बनारसीदास ने अप्रस्तुत में प्रस्तुत का केवल रूप-सादृश्य ही नहीं दिखलाया, किन्तु प्रस्तुत के भाव को तीव्र बनाया है। निरंग रूपकों में सादृश्य, साधर्म्य तथा प्रभाव इन तीनों का ध्यान रखा है, पर साँग रूपक में भी सादृश्य और साधर्म्य का पूरा निर्वाह किया है। कवि ने कई स्थलों पर आत्मा और परमात्मा के बीच के व्यवधान को दूर कर आत्मा को ही अभेद रूप परमात्मा बतलाया है।

कवि भैया भगवतीदास के सिवा कवि वृन्दावन ने भी अपनी कविता में रूपकों की यथास्थान योजना की है। कवि वृन्दावन कहता है—

आदि पुरान सुनो भव कानन।
मिथ्यामत गयंद गंजनको, यह पुरान सांचो पंचानन ॥
सुरगमुक्ति को मग दरसावत, भविक जीवको भवभय भानन ॥

यहाँ पर आदिपुराण को सिंह और मिथ्यामत को गयन्द का रूपक दिया गया है। आदिपुराण के अध्ययन और चिन्तन से मिथ्यात्वबुद्धि का दूर हो जाना दिखलाया गया है। मिथ्यात्व का निराकरण सम्यक्त्व के प्राप्त होने पर ही होता है। इसी कारण सम्यक्त्व को सिंह और मिथ्यात्व को मतंग-गज कहा जाता है। आदिपुराण का स्वाध्याय सम्यग्दर्शन उत्पन्न करता है, अतएव सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होने से कवि ने उसे सिंह का रूपक दिया है।

जैन कवियों ने प्रतिपाद्य विषय को प्रस्तुत करने के लिए उन्हीं उपमानों का उपयोग नहीं किया है, जो परम्परागत हैं। काव्यानुभूति का सर्वाङ्गसुन्दर चित्र वहीं प्रस्फुटित होता है, जहाँ कवि की निजी अनुभूति का उसके विचारों से सामञ्जस्य हो। यह अनुभूति जितनी विस्तृत और गम्भीर होती है, उतना ही प्रतिपाद्य विषय आकर्षक होता है। पुराने उपमानों को सुनते सुनते हमें अरुचि उत्पन्न हो गई है, अतएव नवीन उपमान ही हमें अधिक प्रभावित करते हैं तथा चर्वित-चर्वण किए हुए उपमानों की अपेक्षा प्रभाव भी स्थायी होता है। कवि बनारसीदास ने अनेक नवीन उपमानों के उदाहरण देकर वर्ण्य विषय को प्रभावशाली बनाया है। कवि बनारसीदास ने उदाहरणालंकार का प्रयोग बहुत ही सुन्दर किया है। निम्नपद्य दर्शनीय हैं—

जैसे तृनकाठ बांस आरने इत्यादि और, इंधन अनेक विधि पावक में दहिये।
आकृति बिलोकत कहावै आगि नानारूप, दीसै एक दाहक सुभाउ जब गहिये।
तैसे नवतत्व में भयो है बहु भेखी जीव, शुद्धरूप मिश्रित अशुद्धरूप कहिये।
जाही दिन चेतना शकतिको विचार कीजे, ताही छिन अलख अभेदरूप लहिये ॥

× × ×

जैसे बनवारी में कुधातुके मिलाप हेम, नाना भांति भयो पै तथापि एक नाम है।
कसिके कसौटी लीक निरखै सराफ ताही, बानके प्रमान करि लेतु देतु दाम है ॥
तैसे ही अनादि पुद्गलसों संयोगी जीव, नवतत्त्वरूप में अरूपी महाधाम है।
दीसै उनमानसों उद्योत वान ठौर ठौर, दूसरौ न और एक आतमाहि राम है ॥

यहाँ कवि ने बतलाया है कि जैसे तृण, काष्ठ, बाँस आदि की अग्नि भिन्न भिन्न होनेपर भी एक ही स्वभाव की अपेक्षा एकरूप है, उसी प्रकार यह जीव भी नाना द्रव्यों के सम्पर्क से नाना रूप होने पर भी चेतना शक्ति की अपेक्षा से अभेद एकरूप है।

ज्ञान के उदयतें हमारी दशा ऐसी भई,
जैसे भानु भासत अवस्था होत प्रातकी ॥

कवि ने इस पद्यांश में सूर्य के उदाहरण द्वारा ज्ञान की विशेषता दिखलायी है। कवि कहता है कि ज्ञान का उदय होने से हमारी ऐसी अवस्था हो गई है, जैसे सूर्य के उदय होनेपर प्रातःकाल की होती है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश अन्धकार को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार मोह अन्धकार दूर हो गया है।

कवि वृन्दावन और भूधरदास ने भी उदाहरणालंकार द्वारा प्रस्तुत का भावोत्कर्ष दिखलाया है। भूधरदास ने दृष्टान्तालंकार की योजना निम्न पद्य में कितने सुन्दर ढंग से की है, यह दर्शनीय है—

जनम जलधि जलजान जान जनहंस मानकर।
सरब इन्द्र मिल आन आन जिम धरहिं शीसपर ॥
पर उपमारी बान, बान उत्थपइ कुनय गन।
गनसरोज बन-भान, भान मम मोह-तिमिरघन ॥
घनवरन देह दुख दाह हर, हरखत हेरि मयूर मन।
मनमथ मतंग-हरि पास जिन, जिन विसरहु छिन जगतजन ॥

यहाँ भगवान् पार्श्वनाथ का ज्ञान उपमेय और सूर्य उपमान है तथा कमल का विकसित होना और अन्धकार का नष्ट होना समान धर्म है। बस, यही बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव है।

कवि मनरंगलाल ने उपमेय की समता का अभाव प्रदर्शित करते हुए असम अलंकार की कितनी अनूठी योजना की है—

जा सम न दूजी और कन्या देखि रूप लजे रती।

इसी प्रकार कवि भूधरदास ने निम्न पद्य में हृदय की भावनाओं और मानसिक विचारों को कितना साकार करने का आयास किया है। भावों के विकासमय आलोक की प्रोज्ज्वल राशि जगमगाती हुई दृष्टिगत होती है। कवि कहता है—

कृमिरास कुवास सराप दहै, शुचिता सब छीवत जात सही।
जिह पान किये सुध जात हिये, जननी जन जानत नार यही ॥
मदिरा सम आन निषिद्ध कहा, यह जान भले कुलमें न गही।
धिक है उनको वह जीभ जले, जिन मूढ़न के मत लीन कही ॥

इस पद्य में कवि ने मदिरा के समान अन्य हेय पदार्थ का अभाव दिखलाकर मदिरा की अशुचिता का दिग्दर्शन कराया है। इसी प्रकार आखेट का निषेध करते हुए कवि कहता है कि

"काननमें बसै ऐसो आन न गरीब जीव, प्रानन सौं प्यारे प्रान पूँजी जिस परै है।' अर्थात् हिरण के समान अन्य कोई भी प्राणी दीन नहीं होता है।

एक के बिना दूसरे के शोभित अथवा अशोभित होने का वर्णन कर विनोक्ति अलंकार की योजना बड़ी ही चतुराई के साथ की गयी है। भैया भगवतीदास ने—"आतम के काज बिन रज सम राज सुख, सुनो महाराज कर कान किन दाहिने।" में आत्मोद्धार के बिना राज्यसुख को भी धूल समान बताया है। कवि भूधरदास ने राग बिना संसार के भोगों की सारहीनता का चित्रण करते हुए विनोक्ति अलंकार की कितनी अनूठी योजना की है—

राग उदै भोग भाव लागत सुहावने से बिना ऐसे लागें जैसे नाग कारे हैं।
रागहीसों पाग रहे तनमें सदीव जीव राग गये आवत गिलानि होत न्यारे हैं॥
रागसों जगत रीति झूठी सब सांच जाने राग मिटे सूझत असार खेल सारे हैं।
रागी बिन रागी के विचार में बड़ो ही भेद जैसे भटापथ्य काहु काहु को बयारे हैं॥

कवि मनरंगलाल ने विनोक्ति अलंकार की योजना द्वारा अपने अन्तराल की व्यापकता और गहराई को बड़े ही अच्छे ढंग से व्यक्त किया है—

नेम बिना जो नर पर्याय। पशु समान होती नर राय॥
× × ×
नाथ तिहारे साथ बिन, तनक न मोहि करार।
तातें हमहू साथ तुम, चलसी तजि घर वार॥
× × × ×
हे पुत्र चलो अब घरै *हाल। तुम बिन नगरी सब है बिहाल॥*

कवि मनरंगलाल ने एक ही क्रिया शब्द को दो अर्थों में प्रयुक्त कर सहोक्ति अलंकार का भी समावेश किया है। कवि ने प्रत्येक अंग में कामदेव और सुषमा को साथ ही साथ रखा है—

अंग अंग में छायो अनंग। जहँ देखो तहँ सुखमा संग॥

भैया भगवतीदास ने हँस की उक्ति देकर निम्न पद्य में कितने सुन्दर ढंग से चैतन्य का फन्दे में फँसना दिखलाया है। आपका अन्योक्ति अलंकार पर विशेष अधिकार है। तोता, मतंग आदि की उक्तियों से आत्म की परतन्त्रता की विवेचना की है।

हँस हँस हँस आप मुक्त, पूर्व सँवारे फन्द;
तिहिं कुदाव में बंधि रहे, कैसे होहु सुछन्द।
कैसे होहु सुछन्द, चन्द जिस राहु गरासै;
तिमिर होय बल जोर, किरण की प्रभुता नासै।

स्वपर भेद भासै न देह जड़, लखि तजि संसा,

तुम गुण पूरन परम सहज अवलोकहु हँसा ।

× × ×

सूवा सयानप सब गई, सेयो सेमर वृच्छ;

आये धोखे आमके, यापै पूरण इच्छा ।

कवि मनरंगलाल ने निम्न पद्य में अतिशयोक्ति अलंकार का समावेश कितने अनूठे ढंग से किया है।

नासा लोल कपोल मझार । सब शोभा की राखन हार ।।

ताहि देखि सुक बन में जाय । लज्जित ह्वै निवसे अधिकाय ।।

कवि बनारसी दास ने अपने अर्द्धकथानक में आत्म चरित्र की अभिव्यंजना करते हुए आक्षेपालंकार का कितना अच्छा समावेश किया है। कवि कहता है—

शंख रूप शिव देव, महा शंख बनारसी ।

दोऊ मिले अबेव, साहिब सेवक एकमें ।।

भैया भगवतीदास और बनारसीदास ने श्लेषालंकार की भी यथास्थान योजना की है। "अकृत्रिम प्रतिमा निरखत सु 'करी न धरी न भरी न धरी" में करीन, भरीन और धरीन पद के तीन-तीन अर्थ हैं। मोह अपने जाल में फंसाकर जीवों को किस प्रकार नचाता है, कवि ने इसका वर्णन विचित्रालंकार में कितना अनूठा किया है—

नटपुर नाम नगर अति सुन्दर, तामें नृत्य होंहि चहुँ ओर ।

नायक मोह नचावत सबको, ल्यावत स्वांग नये नित ओर ।

उछरत गिरत फिरत फिरका दै, करत नृत्य नाना विधि घोर ।

इहि विधि जगत जीव सब नाचत, राचत नाहिं तहां सुकिशोर ।।

कवि बनारसीदास ने आत्मलीलाओं का निरूपण विरोधाभास अलंकार में करते हुए लिखा है—"एक में अनेक है अनेक ही में एक है सो, एक न अनेक कुछ कह्यों न परतु है"। इसी प्रकार वृन्दावन और द्यानतराय ने भी विरोधाभास की सुन्दर योजना की है। परिकर समासोक्ति, उल्लेख, विभावना और यथासंख्य अलंकारों का प्रयोग जैन काव्यों में यथेष्ट हुआ है।

हिन्दी जैन काव्यों में प्रकृति चित्रण

कविता को अलंकृत करने और रसानुभूति को बढ़ाने के लिए कवि प्रकृति का आश्रय ग्रहण करता है। अनादिकाल से प्रकृति मानव को सौन्दर्य प्रदान करती चली आ रही है। इसके लिए वन, पर्वत, नदी, नाले, उषा, सन्ध्या रजनी, ऋतु सदा से आकर्षण के विषय रहे हैं। हिन्दी के जैन कवियों को कविता करने की प्रेरणा जीवन की नश्वरता और अपूर्णता के अनुभव से ही प्राप्त हुई है। इसीलिये हर्ष-विषाद, सुख-दुख, घृणा-प्रेम का जीवन में अनुभव कर उसके सार को ग्रहण करने की ओर कवियों ने संकेत किया है।

भावों की सचाई (Sincerity) या सद्यः रसोद्रेक की क्षमता कोई भी कलाकार प्रकृति के अंचल से ही ग्रहण करता है। इसी कारण जीवन के कवि होने पर भी जैन कवियों की सौन्दर्य ग्राहिणी दृष्टि प्रकृति की ओर भी गयी और उन्होंने प्रकृति के सुन्दर चित्र अंकित किये। शान्त-रस के उद्दीपन और पुष्टि के लिये जैन कवियों ने प्रकृति की सुन्दरता पर मुग्ध होकर ऐसे रमणीय चित्र खींचे हैं, जो विश्वजनीन भावों की अभिव्यक्ति में अपना अद्वितीय स्थान रखते हैं। प्रकृति की पाठशाला प्रत्येक सहृदय को निरन्तर शिक्षा देती रहती है। यही कारण है कि मानव और मानवेतर प्रकृति का निरूपण कुशल कलाकार तल्लीनता और रसमग्नता के साथ करता ही है।

त्यागी जैन कवियों में अनेक ऐसे कवि हैं, जिन्होंने अपनी साधना के लिए वनाश्रम ग्रहण किया है। प्रकृति के खुले वातावरण में रहने के कारण सन्ध्या, उषा और रजनी के सौन्दर्य से इन्होंने अपने भीतर के विराग को पुष्ट ही किया है। इन्हें सन्ध्या नवोढ़ा नायिका के समान एकाएक वृद्धा, कलूटी रजनी के रूप में परिवर्तित देखकर आत्मोत्थान की प्रेरणा प्राप्त हुई और इसी प्रेरणा को अपने काव्य में अंकित किया है। प्रकृति के विभिन्न रूपों में सुन्दरी नर्तकी के दर्शन भी अनेक कवियों ने किये हैं, किन्तु यह नर्तकी दूसरे क्षण में ही कुरूपा और बीभत्स-सी प्रतीत होने लगती है। रमणी के केश कलाप, सलज्ज कपोल की लालिमा और साजसज्जा के विभिन्न रूपों में विरक्ति की भावना का दर्शन करना जैन कवियों की अपनी विशेषता है। परन्तु यह विरक्ति नीरस नहीं है, इसमें भी काव्यत्व है। भावनाओं और कल्पनाओं का संतुलन है। महलों की चकाचौंध, नगर के अशान्त कोलाहल और आपस के राग-द्वेषों से दूर हटकर कोई भी व्यक्ति निरावरण प्रकृति में अपूर्व शान्ति और आनन्द पा सकता है। मन्द मन्द पवन, विशाल वन प्रान्त और हरी-भरी वसुन्धरा व्यक्ति को जितनी शान्ति दे सकती है; उतनी जन-संकीर्ण भवन, नाना कृत्रिम साधन तथा नूपुरों की रुनझुन कभी भी नहीं।

कवि अपने काव्य में प्रकृति के उन्हीं रम्य दृश्यों को स्थान देते हैं, जो मानव की हृदय-बीन के तारों को झन-झना दें। ग्राम-सौन्दर्य और वन-सौन्दर्य का जितना सुन्दर चित्रण अपरिग्रही कवि या गृहीत परिमाण परिग्रही कवि कर सकते हैं, उतना अन्य नहीं। जैन साहित्य में वन विभूति और नदी तालों पर, जहाँ दिगम्बर साधु ध्यान करते थे, उन प्रदेशों की तस्वीरें बड़ी ही सूक्ष्मता और चतुराई के साथ खींची गयी हैं। ऐसा प्रतीत होगा कि गतिशील प्रकृति स्वयं मूर्तमान रूप धारण कर आ गई है। विषयासक्त व्यक्ति प्रकृति के जिस रूप से अपनी वासना को उद्बुद्ध करता है, विरक्त उसी रूप से आत्मानुभूति की प्रेरणा प्राप्त करता है।

अपभ्रंश भाषा के जैन कवियों ने अपने महाकाव्यों में आलम्बन और उद्दीपन विभाव के रूप में प्रकृतिचित्रण किया है। षट् ऋतु वर्णन, रणभूमि वर्णन, नदी-नाले-वन-पर्वत का चित्रण उषा-सन्ध्या-रजनी-प्रभात का वर्णन, हरीतिमा आदि का चित्रांकन सुन्दर हुआ है। इस प्रकृति चित्रण पर संस्कृत काव्यों के प्रकृति चित्रण की छाप है। अपभ्रंश भाषा के जैन कवियों ने नीति, धर्म और आत्मभावना की अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति का आलम्बन ग्रहण किया है। बिम्ब और प्रतिबिम्ब भाव से भी प्रकृति के भव्य चित्रों को उपस्थित किया है।

पुरानी हिन्दी, ब्रजभाषा और राजस्थानी ढूंढारीभाषा में रचित प्रबन्ध काव्यों में प्रकृति का चित्रण बहुत कुछ रीति कालीन प्रकृति चित्रण से मिलता जुलता है। इसका कारण यह है कि जैन कवियों ने पौराणिक कथावस्तु को अपनाया, जिससे वे परम्पार भुक्त वस्तु वर्णन में ही लगे रहे और प्रकृति के स्वस्थ चित्र न खींचे जा सके। शान्तरस की प्रधानता होने के कारण जैन चरित काव्यों में शृंगार की विभिन्न स्थितियों का मार्मिक चित्रण न हुआ, जिससे प्रकृति को उन्मुक्त रूप में चित्रित होने का कम ही अवसर मिला।

परवर्ती जैन साहित्यकारों में बनारसीदास, भगवतीदास, भूधरदास, दौलतराम, बुधजन, भागचन्द, नयनसुख आदि कवियों की रचनाओं में प्रकृति के रम्य रूपों को भावों द्वारा सँवारा गया है। कवि बनारसीदास ने कुबुद्धि की तुलना कुब्जा से और सुबुद्धि की तुलना राधिका के साथ की है। यहाँ रूप चित्रण में प्रकृति का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव देखने योग्य है।

कुटिल कुरूप अंग लगी है पराए संग, अपनो प्रवान करे आपुहि बिकाई है।
गहे गति अंधकीसी सकती कमंधकीसी, बंधको बढ़ाउ करे धंधहीमें धाई है॥
रांड कीसी रीति लिए मांडकीसी मतवारी, सांड ज्यों सुछन्द डोले भांडकीसी जाई।
घरको न जाने भेद करे परधानी खेत, याते दुर्बुद्धि दासी कुब्जा कहाई॥

× × × ×

रूपकी रसीली भ्रम कुलफकी कीली सील, सुधा के समुद्र झीली सीली सुखदाई।
प्राची ज्ञान मान की अजाची है निदान की सुराची नवाची ठोर साची ठकुराई है॥

धाम की खबरदार राम की रमनहार, राधारस पंथिनी में ग्रन्थनि में गाई है।
संतनिकी मानी निरवानी नूरकी निसानी, याते सदबुद्धि रानी राधिका कहाई है॥

कवि बनारसीदास ने प्रकृति को उपमान और उत्प्रेक्षा अलंकारों द्वारा चित्रमय रूप में प्रस्तुत किया है। कवि ने शारीरिक माँसलता के स्थान पर भावात्मकता, विचित्र कल्पना और स्थूल आरोपवादिता के स्थान पर चित्रमयता और भाव प्रवणता का प्रयोग किया है। प्रकृति के एक चित्र को स्पष्ट करने के लिए दूसरे दृश्य का आश्रय लिया गया है, फिर भी रंग-रूपों, आकार-प्रकार एवं मानवीकरण में कोई बाधा नहीं आयी है। सादृश्य और संयोग के आधार पर सुन्दर और रमणीय भावों की अभिव्यंजना सौन्दर्यानुभूति की वृद्धि में परम सहायक है। प्रकृति के विभिन्न रूपों के साथ हमारा भाव-संयोग सर्वदा रहता है; इसी कारण कवि बनारसीदास ने असंलक्ष्यक्रम से प्रकृति का सुन्दर विवेचन किया है।

उदाहरणालंकार के रूप में प्रकृति का चित्रण बनारसीदास के नाटक समयसार में अनेक स्थलों पर हुआ है। ग्रीष्मकाल में पिपासाकुल मृग बालू के समूह को ही भ्रमवश जल समझ कर इधर-उधर भटकता है, अथवा पवन के संचार से स्थिर समुद्र के जल में नाना प्रकार की तरंगें उठने लगती हैं और समुद्र का जल आलोडित हो जाता है; इसी प्रकार यह आत्मा भ्रम वश कर्मों का कर्त्ता कही जाती है और पुद्गल के संसर्ग से इसकी नाना प्रकार को स्वभाव विरुद्ध क्रियाएँ देखी जाती हैं। कवि कहता है—

जैसे महाधूप की तपति में तिसी यो मृग, भरमसों मिथ्याजल पीवन को धायो है।
जैसे अन्धकार मांहि जेवरी निरखि नर, भरमसों डरपी सरप मानि आयो है॥
अपने सुभाय जैसे सागर सुथिर सदा, पवन संजोगसों उछरि अकुलायों है।
तैसे जीव जड़सों अव्यापक सहज रूप, भरमसों करमको करता कहायो है॥

वर्षा ऋतु में नदी, नाले और तलाव में बाढ़ आ जाती है, जल के तेज प्रवाह में तृण, काठ और अन्य छोटे-छोटे पदार्थ बहने लगते हैं। बादल गर्जते और बिजली चमकती है। प्रकृति सर्वत्र हरी भरी दिखलायी पड़ती है। कवि बनारसीदास ने आत्मज्ञानी की रीति का वर्षा के उदाहरण द्वारा उपदेशात्मक रूप से कितना सुन्दर चित्रण किया है—

ऋतु बरसात नदी नाले सर जोर चढ़े, बढ़े नाहिं मरजाद सागर के फैलकी।
नीर के प्रवाह तृण काठ वृन्द बहे जात, चित्रावेल आइ चढ़ नाहीं कहूं गैलकी।
बनारसीदास ऐसे पंचन के पर पंच, रंचक न संक आवै वीर बुद्धि छैलकी।
कुछ न अनीत न क्यों प्रीति पर गुण सेती, ऐसी रीति विपरीति अध्यातम शैलकी॥

जब प्रकृति मानवीय भावों के समानान्तर भावात्मक-व्यंजन अथवा सहचरण के आधार पर प्रस्तुत की जाती है, उस समय उसे विशुद्ध उद्दीपन के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। आलम्बन

की स्थिति में व्यक्ति अपनी मनः स्थिति का आरोप प्रकृति पर करके भावाभिव्यंजन करता है। सौन्दर्यानुभूति जो काव्य का आधार है, प्रकृति से सम्बन्धित है। यद्यपि इसमें नाना प्रकार की सामाजिक भावस्थितियों का योग रहता है, तो भी आलम्बन रूप में यह सौन्दर्यानुभूति कराती ही है। जो रससिद्ध कवि प्रकृति के मर्म को जितना अधिक गहराई के साथ अवगत कर लेता है, वह उतना ही सुन्दर भावाभिव्यञ्जन कर सकता है।

भैया भगवतीदास ने प्रकृति के चित्रों को किसी मनः स्थिति विशेष की पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत किया है। मानवीय भावनाओं को प्रकृति के समानान्तर उपस्थित करना और प्रकृति रूप-व्यापारों को मात्र आलम्बन के रूप में अभिव्यक्त करना आपकी प्रमुख विशेषता है। उपमान के रूप में प्रकृति चित्रण देखिये—

धूमन के धौरहर देख कहा गर्व करै, ये तो छिनमाहि जाहिं पौन परसत ही।
सन्ध्या के समान रंग देखत ही होय भंग, दपिक पतंग जैसे काल गरसत ही॥
सुपने में भूप जैसे इन्द्रधनुरूप जैसे, ओस बूंद धूप जैसे दुरे दरसत ही।
ऐसोई भरम सब कर्मजाल वर्गणा को, तामें मूढ मगन होय मरे तरसत ही॥

इन्होंने प्रकृति को स्थितियों के प्रसार में समवाय रूप से आलम्बन मानकर कतिपय रेखा चित्र उपस्थित किये हैं। वर्षा और ग्रीष्म ऋतु का अपनी अभीष्ट मानसिक स्थिति को स्पष्ट करने के लिए दृष्टान्त के रूप में इन ऋतुओं का चित्रण किया है—

ग्रीषम में धूप परै तामें भूमि भारी जरै, फूलत है आक पुनी अतिही उमहिकै
वर्षा ऋतु मेघ झरै तामें वृक्ष केई फरै, जरत जवासा अघ आपुहीतैं डाहिकैं॥

यद्यपि उपर्युक्त पंक्तियों में प्रकृति का स्वच्छ और चमत्कारिक वर्णन नहीं है, फिर भी भाव को सबल बनाने में प्रकृति का सहायक अंकित किया है। कवि भूधरदास ने रूपक बांधकर जीवन की मार्मिकता को प्रकृति के आलम्बन द्वारा कितने अनूठे ढंग से व्यक्त किया है।

रात दिवस घटमाल सुभाव।
भरि भरि जल जीवन की जल॥
सूरज चाँद बैल ये दोय।
काल रैहट नित फैरे सोय॥

कवि ने अनुभूति के सरोवर में उतर प्रकृति में भावनाओं का आरोप कर कहा है कि कालरूपी अरहट सूरज, चाँद रूपी बैलों द्वारा रात दिन रूपी घड़ों में प्राणियों के आयुरूपी जल को भर-भर कर खाली कर देता है।

भावोत्कर्ष के लिए कवि ने प्रकृति की अनेक स्थलों पर भयंकरता दिखलायी है। ऐसे स्थलों पर कवि की लेखनी चित्रकार की तूलिका-सी बन गयी है। शब्द पिघल पिघल कर रेखाएँ बन गये हैं और रेखाएँ शब्द बनकर मुखरित हो उठी हैं। कवि कहता है कि शीत ऋतु में भयंकर शर्दी पड़ती है, यदि इस ऋतु में वर्षा होने लगे और तेज पूर्वी हवा चलने लगे तो शीत की भयंकरता और भी बढ़ जाती है। ऐसे समय में नदी के किनारे खड़े ध्यानस्थ मुनि समस्त शीत की बाधाओं को सहन करते रहते हैं।

शीतकाल सबही जन काँपैं, खड़े जहाँ बन विरछ डहे हैं।
झंझावायु बहै वरसा ऋतु, वरसत बादल झूम रहे हैं।
तहाँ धीर तटनी तट चौपट, ताल पाल में कर्म दहे हैं।
सहैं सँभाल शीत की बाधा, ते मुनि तारन तरन कहे हैं॥

इसी प्रकार ग्रीष्म ऋतु की भयंकरता दिखलाता हुआ कवि गर्मी का चित्रण करता हुआ कहता है—

भूखप्यास पीडै उर अन्तर, प्रजलै आंत देह सब दागै।
अग्निसरूप धूप ग्रीषम की, तातीं बाल झालसी लागै॥
तपै पहार ताप तन उपजै, कोपै पित्त दाहज्वर जागै।
इत्यादिक ग्रीषम की बाधा, सहत साधु धीरज नहीं त्यागै॥

ज्ञान वैभव से युक्त आत्मा को वसन्त का रूपक देकर कवि द्यानतराय ने कितना सुन्दर चित्र खींचा है, यह देखते ही बनता है। कवि की दृष्टि में प्रकृति का कण-कण एक सजीव व्यक्तित्व लिये हुए है, जिससे प्रत्येक मानव प्रभावित होता है। जिस प्रकार वसन्त ऋतु में प्रकृति राशि-राशि अपना सौन्दर्य बखेर देती है, उसी प्रकार ज्ञान वैभव के प्राप्त होते ही आत्मा का अपार सौन्दर्य उद्बुद्ध हो जाता है और वह शर्मिली छुई-मुई-सी दुलहिन सामने खड़ी हो जाती है। साधक इसे प्राप्त कर निहाल हो जाता है, कवि इसी भावना को दिखलाते हुए कहता है—

तुम ज्ञान विभव फूली वसंत, यह मन मधुकर सुखसों रमंत।
दिन बड़े भए वैराग भाव, मिथ्यामत रजनी को घटाव॥
तुम ज्ञान विभव फूली वसंत, यह मन मधुकर सुखसों रमंत।
बहु फूली फैली सुरुचि बेल, ज्ञाताजन समता संग केलि।
तुम ज्ञान विभव फूली वसंत, यह मन मधुकर सुखसों रमंत।
द्यानत बानी पिक मधुर रूप, सुरनर पशु आनन्द घन-स्वरूप॥
तुम ज्ञान विभव फूली वसंत, यह मन मधुकर सुखसों रमंत।

कवि हेम विजय ने प्रकृति को संश्लिष्ट और सजीवरूप में चित्रित किया है। कथा प्रवाह की पूर्व पीठिका के रूप में प्रकृति भावोद्दीपन में कितनी सहायक है, यह निम्न उदाहरण से स्पष्ट है।

पाठक देखेंगे कि इस उदाहरण में कथा प्रसंग को मार्मिक बनाने के लिए अलंकार विधान और उद्दीपन विभाव के रूप में कितना सुन्दर प्रकृति का चित्रण किया है।

घनघोर घटा उनयी जुनई, इततैं उततैं चमकी बिजली।
पियुरे पियुरे पपिहा बिललाति जु, मोर किंगार किरंति मिली॥
बिच बिन्दु परें दृग आंसु झरें, दुनि धार अपार इसी निकली।
मुनि हेमके साहिब देखनकूं, उग्रसेन लली सु अकेली चली॥
कहि राजिमती सुमती सखियानकूं, एक खिनेक खरी रहुरे।
सखिरी सगरीं अँगुरी मुही बाहि करति इसे निहुरे॥
अबही तबही कबही जबही, यदुरायकूं जाय इसी कहुरे।
मुनि हेम के साहिब नेमजी हो, अब तोरनतें तुम्हम्कूं बहुरे॥

कवि आनन्दघन को भी प्रकृति की अच्छी परख है। आपने मानव भावों की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में प्रस्तुत प्रतीकों के लिए प्रकृति का सुन्दर उपयोग किया है। ज्ञानरूपी सूर्योदय के उदय होते ही आत्मा की क्या अवस्था हो जाती है, कवि ने इसका बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। प्रातः काल को रूपक देकर ज्ञानोदय का कितना मर्मस्पर्शी चित्रण किया है, यह देखते ही बनता है—

मेरे घट ज्ञान भाव भयो भोर।
चेतन चकवा चेतन चकवी, भागौ विरहकौ सोर।
फैली चहुँदिशि चतुर भाव रुचि, मिथ्यौ भरम-तम जोर।
आपकी चोरी आप ही जानत, औरै कहत न चोर॥
अमल कमल विकसित भये भूतल, मंद विषद शशिकोर।
आनन्दघन इक बल्लभ लागत, और न लाख किरोर॥

रूपक अलंकार के रूप में कवि भागचन्द ने अपने अधिकांश पदों में प्रकृति का चित्रण किया है। कवि ने उपमा और उत्प्रेक्षाओं की पुष्टि के लिए प्रकृति का आश्रय ग्रहण करना उचित समझा है। कुछ ऐसे दृश्य हैं, जिनका मानव जीवन से घना सम्बन्ध है। कुछ ऐसे भी भाव-चित्र हैं, जो हमारे सामुदायिक उपचेतन मनमें जन्मकालसे ही चले आते हैं। जिनवाणी, गुरु-वाणी, मन्दिर, चैत्य आदि मानव के मन को ही शान्त नहीं करते, किन्तु अन्तरंग तृप्ति का परम साधन बनते हैं। प्रत्येक भावुक हृदय की श्रद्धा उक्त वस्तुओं के प्रति स्वभावतः रहती है। कवि वीतराग वाणी को गंगा का रूपक देकर कहता है—

सांची तो गंगा यह वीतरागवानी, अविच्छिन्न धारा निजधर्म की बहानी।
जामें अतिही विमल अगाध ज्ञानपानी, जहां नहीं संशयादि पंककी निशानी॥
सप्तभंग जहं तरंग उछलत सुखदानी, संत चित्त मरालवृन्द रमैं नित्यज्ञानी।
जाके अवगाहन तैं शुद्ध होय प्रानी, भागचंद निहचै घटमांहि या प्रमानी॥

प्रकृति के अधिक चित्र इनकी कविता में पाये जाते हैं। यद्यपि विशुद्ध रूप में प्रकृति का चित्रण इनकी कविता में नहीं हुआ है, फिर भी उपमानों का इतना सुन्दर व्यवहार किया गया है, जिससे प्रस्तुत की अभिव्यञ्जना में चार चाँद लग गये हैं। वर्षा होने पर चारों ओर शीतलता छा जाती है, निदाघ के आताप से सन्तप्त मेदिनी शान्त हो जाती है। सूर्य अपना पराजय देखकर ग्लानि के कारण अपना मुँह बादलों में छिपा लेता है। आकाश मण्डल घन तिमिर से आच्छादित हो जाता है, जहाँ-तहाँ बिजली चमकती हुई दिखलायी पड़ती है। नदी नालों में बाढ़ आ जाती है। वर्षा से धूल दब जाती है और नवीन धानों के पौधे लहलहाने लगते हैं। मेदिनी सर्वत्र हरी-भरी दिखलाई पड़ती है। कवि इस रूपक द्वारा जिनवाणी की महत्ता का रहस्योद्घाटन करता है—

बरसत ज्ञान सुनीर हो, श्री जिनमुख घनसों।
शीतल होत सुबुद्धि मेदिनी, मिटत भवातप पीर॥
स्यादवाद नय दामिनि दमकै, होत निनाद गंभीर।
करुना नदी बहै चहुँ दिशि तैं, भरी सो दोई तीर॥

× × × ×

मेघघटा सम श्री जिनवानी।
स्यात्पद चपला चमकत जामें, बरसत ज्ञान सुपानी।
धरम सस्य जातें बहु बाढ़ै, शिव आनन्द फल दानी।
मोहन धूल दवी सब यातै, क्रोधनल सुबुझानी॥

आधुनिक जैनकाव्यों में कविता की पृष्ठभूमि के रूप में तथा रहस्योन्मीलन के रूप में भी प्रकृति का चित्रण किया गया है। निराश होने के पश्चात् सहानुभूति के रूप में कोई भी कवि प्रकृति को पाता है, जैन काव्यों में प्रकृति का यह रूप भी पाया जाता है। जीवन की समस्याओं का समाधान प्रकृति के अंचल से जैन कवियों ने ढूंढ़ा है। अतः उपयोगितावादी और उपदेशात्मक दोनों ही दृष्टिकोण आधुनिक जैन प्रबन्ध काव्यों में अपनाये गये हैं। वर्द्धमान काव्य में परम्परावादी साहित्य के समान प्रकृति के यथातथ्य चित्र भी खींचे गये हैं। 'प्रतिफलन' और 'राजुल' में भी प्रकृति की संवेदनशील रूपों की सुन्दर अभिव्यंजना की गयी है।

नोट:—लेखक की अप्रकाशित रचना 'हिन्दी जैन-साहित्य अनुशीलन' का एक अंश।

जैन-गणित की कुछ मौलिक उद्भावनाएँ

[ले०—श्री प्रो० राजेश्वरी दत्त मिश्र एम० ए०]

जैनधर्म के ग्रन्थों में गणित की काफी सामग्री बिखरी पड़ी है। उसको प्रकाश में लाकर हमलोग न केवल भारतीय गणित के इतिहास को ही पूर्ण बना सकते हैं वरन् गणित की कितनी ही महत्त्वपूर्ण समस्याओं का उत्तर भी दे सकते हैं। उपलब्ध सामग्री में कुछ तो एकदम मौलिक है और कुछका ऐतिहासिक महत्त्व भी है। प्रस्तुत लेख में इस विषय पर कुछ विवेचनाएँ की जायँगीं।

(i) Aggregate of all cardinal numbers.

ग्रीक लोगों की तरह जैन आचार्य भी एक की गिनती संख्या में नहीं करते। अनुयोगद्वार के १४६ वें सूत्र में निम्नलिखित पाठ मिलता है :—

से किं तं गणना संखा ? एक्को गणणं न उवेइ, दुप्पभि संखा।

अर्थात्—गणना संख्या क्या है ? एक गणना संख्या नहीं है, दो प्रभृति गणना संख्या है !

अभिधान राजेन्द्र कोष भाग ७ पृ० ६७ में भी लिखा है कि—

लहू संखिज्जं दुच्चियं अओ परं मज्झिमं जा गुरुयम्।
जंबुद्दीवपमाणय चउपल्लपरूवणाय इयम्।

इहैको गणना संख्या न लभते यतः एकस्मिन् घटादौ दृष्टे घटादि वस्तु इदं तिष्ठति इत्यमेव प्रायः प्रतीतिरुत्पद्यते, नैकसंख्याविषयत्वेन अथवा दानसमर्पणादि व्यवहारकाले एकं वस्तु न प्रायः कश्चित् गणयति यतोऽसमव्यवहारात्वत् अल्पत्वाद्वा नैको गणनसंख्या लभते तस्मात् द्विप्रभृतिरेव गणनसंख्या।

अर्थात् एक की गिनती गणनासंख्या में नहीं है, क्योंकि एक घट को देखकर यहाँ घट है इसकी प्रतीति होती है, उसकी तादाद के विषय में कुछ ज्ञान नहीं होता अथवा दान समर्पणादि काल में एक चीज की प्रायः गिनती नहीं करते इसका कारण चाहे असमव्यवहार हो या इस तरह गिनने से अल्पत्व का बोध होता हो। कुछ भी हो एक गणना संख्या नहीं है; किन्तु उसका आरम्भ दो से होता है।

इसमें घटका उदाहरण तर्कपूर्ण है। दूसरे कारण में कुछ खास बात नहीं है। पहली युक्ति से यह स्पष्ट होता है कि संख्या 'समूह' की जानकारी के निमित्त होती है। मनुष्य को उसके विकास की प्रारंभिक अवस्था से ही एक प्रकार का आन्तरिक ज्ञान प्राप्त है जिसे हम उपयुक्त सम्बोधन के अभाव में संख्या ज्ञान कहते हैं। इससे वह समूहगत प्रत्येक चीज की अलग-अलग जानकारी के बिना वह समूह में किसी परिवर्तन को लक्ष्य कर सकता है। इस क्षमता में और गिनने की क्षमता में पर्याप्त अन्तर है। मनुष्य ने गिनना कालान्तर में सीखा है और

यह संख्या-ज्ञान के समान आन्तरिक और सहज क्रिया नहीं है। इसमें मस्तिष्क को पर्याप्त व्यायाम करना पड़ता है। इस दृष्टिकोण से देखा जाय तो एक पात्र को देखने से संख्या-ज्ञान की क्षमता आरम्भ में काम नहीं करती होगी।

एक को गणना संख्या नहीं मानने के लिये आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने अपने त्रिलोकसार में भी उक्त प्रमाण ही दिया है तथा इनके टीकाकार माधवचंद्र त्रैवेद्य ने भी इसी विषय को स्पष्ट किया है। जैनधर्म अनेकान्त-वादी है। किसी चीज के सम्यक् ज्ञान के लिए उसके सब पहलुओं का ज्ञान होना आवश्यक है और प्रायः सभी चीजों के दो से कम पहलू नहीं होते अतएव सबसे छोटी संख्या (बहुत्व समूहत्व के लिये) दो हुई। राजेन्द्र अभिधान कोष में संख्या की परिभाषा यह मिलती है —

संख्यायन्ते परिच्छिद्यन्ते जीवादयः पदार्थाः येन तज्ज्ञानं संख्या अथवा सम्यक् ख्याप्यते प्रकाश्यतेऽनया इति संख्या।

द्विप्रभृति संख्याओं का वर्गीकरण

पहले इन सबों का तीन वर्ग बना (१) संख्यात (२) असंख्यात (३) अनन्त। संख्यात के तीन भेद किये गये हैं (१) जघन्य, (२) मध्यम और (३) उत्कृष्ट। २ जघन्य संख्यात है और उसे लेकर उत्कृष्ट संख्यात-१ तक मध्यम संख्यात है। उत्कृष्ट संख्यात जानने के लिए एक बड़ी उलझी क्रिया लिखी है।

फिर असंख्यात के तीन प्रकार हैं (१) परीत (२) युक्त और (३) असंख्यात और इन तीनों में प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। इस तरह असंख्यात के कुल नव भेद हुए।

ठीक इसी तरह अनन्त के नव भेद किए गये हैं कुल मिलाकर Aggregates of Cardinal Numbers के २१ भेद हुए।

यह तो अनन्त का अंकगणितीय भेद हुआ। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि जैन आचार्यों ने अचिन्त्य बड़ी राशि को अनन्त नहीं माना है। उसे असंख्यात संज्ञा दी गयी है। गणनातीत राशि असंख्यात है और उससे भी आगे की संख्याएँ अनन्त कही जाती हैं। वस्तुतः ऐसा मालूम पड़ता है कि स्थानीयमान की रीति से वचनातीत संख्याओं के उन लोगों ने दो भेद किये हैं— एक असंख्यात और दूसरा अनन्त। संख्यानुयोग से असंख्यात और अनन्त के भेद के लिए कहा गया है कि सम्यक् दर्शन असंख्यात है और सम्यक् दृष्टि अनन्त हैं।

विस्तार की दृष्टि से अनन्त के पाँच भेद किए गये ह (१) एकतोऽनन्त (Infinite in one direction) (२) द्विधा अनन्त (Infinite in two direction) (३) देश-

विस्तारानन्त (Infinite in partial Space) (४) सर्वविस्तारानन्त (Infinite in entire Space) (५) शाश्वतानन्त (Infinite in eternity)

Permutation and Combination

विन्यास और समवाय

जैन ग्रन्थों में इस गणितीय क्रिया की संज्ञा 'भंग' है जैसा कि गोम्मटसार, त्रिलोकसार तिलोयपण्णत्ति, धवलाटीका एवं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में बताया गया है। स्थानाङ्ग सूत्र ७१६ में लिखा है :

"दस सुहुमा पण्णत्ता तंजहा–पाणसुहमे पणगसुहमे जाव सिणेहसुहमे गणियसुहमे भंगसुहमे"। आवश्यकसूत्रनिरुक्ति में भी ऐसा ही नाम करण मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि गणितसुहमे से आचार्यों का मन्तव्य गणित की संकलनादि क्रिया से है, जिसे उनलोगों ने भंगसुहुमा से भिन्न माना है। विकल्पगणित के नाम से भी यह जहाँ तहाँ सम्बोधित किया गया है जैसे तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के षष्ठाध्याय सूत्र ९ की व्याख्या में मिलता है। तत्त्वार्थराजवार्तिक में भी यही संज्ञा मिलती है।

भंग दो प्रकार के बताये गये हैं: स्थानभंग और क्रम भंग। यदि प्रत्येक समूह में 'अ' प्रमाण रहे तो 'अ' प्रमाण वस्तुओं के कितने समूह बन सकते हैं, इस रूप में हम पहले का परिचय दे सकते हैं। इसके उत्तर के लिए समवायाध्ययन (५, २८) की व्याख्या में श्रीशीलाङ्क सूरि ने निम्नलिखित नियम दिया है :—

एकाद्यागच्छपर्यन्ताः परस्परसमाहताः।
राशयस्तद्धि विज्ञेया विकल्पगणिते फलम् ॥

अर्थात् $१ \times २ \times ३ \times \cdots\cdots\cdots \times अ =$ इच्छितराशि। वहीं दो सूत्र और मिलते हैं :—

पुव्वाणुपुव्वि हेट्ठा समयाभेएण कुण जहाजेट्ठं।
उवरिमतुल्लं पुरओ न सेज्ज पुव्वक्कमो सेसे ॥ १ ॥
गणितेऽत्यन्त विभक्तं तु लब्ध शेषैर्विभाजयेत्।
आदावन्तो च तत् स्थाप्यं विकल्पगणिते फलम् ॥ २ ॥

कुछ उदाहरण देकर इस विषय को स्पष्ट कर देना अप्रासंगिक न होगा। जैन आगम में अनेक उदाहरणों द्वारा इस गणित को व्यक्त किया गया।

उदाहरण (१) आगम का विस्तार निकालना

प्रत्येक आगम का परिमाण उसमें प्रयुक्त पद की संख्या पर निर्भर है। ६४ वर्ण हैं जिनमें ३३ व्यञ्जन और २७ स्वर हैं (९ स्वर में प्रत्येक के तीन भेद) और फिर 'अं' आदि ४। इनके कुल, एक-एक, दो-दो, तीन-तीन लेकर २६४१ पद बनाये जा सकते हैं।

उदाहरण (२) संसार की प्रत्येक चीजों के प्रथमतः दो वर्ग हैं—जीव और अजीव। पहले का दो भेद स्थावर और त्रस। स्थावर के पाँच भेद और त्रस के फिर चार भेद किये गये हैं। अब किसी अजीव चीज को जीवित चीज का भ्रम हो जाय तब वह भी जीव वर्ग की चीज समझी जाय। इस तरह जीव वर्ग के १० भेद हो गये। क्षमा आदि १० प्रकार के धर्म हुए। इनमें से प्रत्येक जीव वर्ग के प्रत्येक चीज के साथ सम्बद्ध हैं। फिर हमारे कर्म पंचेन्द्रिय से सम्बन्धित हैं अतएव उनके पाँच भेद हुए। फिर प्रत्येक जीवित वस्तु अपने कर्म ४ अवस्थाओं में करती है। कर्म तीन तरह के हो सकते है, मानसिक, वाचनिक और कायिक। पश्चात् कोई व्यक्ति स्वयं कर्म कर सकता या करा सकता है या उसको अनुमोदन approve करा सकता है। तब एक साधु कितने तरह से साधु आचरण कर सकता है, उत्तर १८०००।

आधुनिक गणित के शब्दों में इस प्रश्न को यों रखा जा सकता है :—

अ१, अ२, अ३, अ४, अ५, अ६, छ प्रकार के समूह हैं। उनमें क्रमशः १०, १०, ५, ४, ३ और ३ चीजें है। प्रत्येक समूह से एक-एक चीज लेकर कितने नये समूह बन सकते हैं।

उत्तर : अ१ में किसी एक चीज को चुनने की १० रीतियाँ हैं।

अ२...१० रीति

अ१ की कोई एक रीति से अ२ की कोई एक रीति सम्बद्ध की जा सकती है। अतएव कुल मिलाकर १०×१० = १०० रीतियाँ हुईं।

इसी तरह

अ३ में से किसी एक चुनने के लिए ५ रीति है।

अ४...४ ....

अ५...३ ....

अ६...३ ....

और कुल मिलाकर १०×१०×५×४×३×३ = १८००० उत्तर हुआ।

उदाहरण ३— जीवाधिकरण में निम्नलिखित उदाहरण मिलता है : — (तत्वार्थराजवार्तिक षष्ठाध्याय)।

मूलतः ३ भेद संरम्भ, समारंभ, और आरम्भ फिर प्रत्येक के ३ भेद : कायिक, वाचिक और मानसिक के पुनः इनमें प्रत्येक; तीन भेद। इस तरह संरम्भ के नौ भेद हुए और समारंभ और आरंभ के भी नौ-नौ प्रकार हुए। इनमें भी प्रत्येक के ४ चार-चार भेद बने और कुल मिलाकर १०८ विकल्प बने।

आचार्य नेमिचन्द्र के जीवकाण्ड में कुछ उदाहरण मिलते हैं। जैसे प्रमाद १५ प्रकार का होता है जिसमें ४ विकथा वर्ग के है, ४ कषाय के, ५ इन्द्रिय के, और एक-एक निद्रा तथा

प्रमाद के। इन पाँच वर्गों में से प्रत्येक वर्ग की एक चीज़ों को लेकर समवाय, Combinations बनाया गया है। इसके उत्तर में गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ३६ में निम्नलिखित नियम मिलता है :—

सव्वेपि पुव्वभंगा उवरिमभंगेसु एक्कमेक्केसु।
मेलंतित्ति य कमसो गुणिदे उप्पज्जदे संखा।

अर्थ – पूर्व के सभी भंग आनेवाले प्रत्येक भंग में मिलते हैं, इसलिये क्रम से गुणाकार करने पर संख्या उत्पन्न होती है।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वर्ग की चीज़ों की संख्याओं का मनत गुणनफल उत्तर होगा।

अतएव ४ × ४ × ५ × १ × १ = ८०

इस सिलसिले में आचार्य नेमिचन्द्र ने अन्यान्य प्रश्नों के भी उत्तर दिये हैं। जैसे उद्दिष्ट का। किसी समूह की क्रम संख्या को उद्दिष्ट कहते हैं। उन्हीं सब चीज़ों के बने समूह की क्रम संख्या भिन्न भिन्न हो सकती है। यह क्रम संख्या विकथा, कषाय आदि के पूर्वापर चुनाव पर निर्भर करती है। जैसे हम विकथा, कषाय, इन्द्रिय, निद्रा और प्रणय के क्रम से प्रत्येक की एक एक चीज चुनकर समूह बनाएँ और कषाय, विकथा इन्द्रिय, निद्रा और प्रणय के क्रम से समूह बनाएँ तो दोनों समूह भिन्न भिन्न माने जायेंगे। इस तरह ६ क्रम बन सकते हैं।

Applied Mathematics

गति, प्रकाश, ध्वनि आदि के नियम की जानकारी का जहाँ तहाँ उदाहरण आगमग्रन्थों में मिलते हैं; यद्यपि उस ज्ञान के बल पर हमलोग कोई क्रमबद्ध सिद्धान्त नहीं खड़ा कर सकते।

न्यूटन के प्रथमगति—नियम के आशय का, सर्वार्थसिद्धि तथा तत्त्वार्थराजवार्तिक के चतुर्थ अध्याय सूत्र ६ में, उल्लेख मिलता है।

"कर्म के निमित्त को पाकर यह संसारी प्राणी संसार में भ्रमण किया करता है। उस प्रयोग से जो संस्कार बनता है उसके वशीभूत हुआ यह जीव कर्म के निमित्त छूट जाने पर भी गमन किया करता है।"

"[एवं यः पूर्वकमस्य कर्मणाप्रयोगे जनितः स क्षीणेऽपि कर्मणि गतिहेतुर्भवति"]

कर्मरूपीशक्ति से संसारी प्राणी गतिमान हो जाता है, उस शक्ति के समाप्त हो जाने पर भी उत्पन्नगति के कारण (अभ्यासतः) प्राणी गतिमान रहता है, जबतक वह संस्कार नष्ट नहीं हो जाता।

पुनः पाँचवें अध्याय के १७ सूत्र—

"गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः"

गतिमतां गतेः, स्थितिमतां स्थितेरुपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारो यथा संख्यम्।

गतिमान पदार्थों की गति में और स्थितिमान पदार्थों की स्थिति में निमित्त बनना सहायता करना क्रम से धर्म और अधर्म द्रव्य का उपकार है।

इससे यह पता चलता है कि पदार्थों की किसी खास दशा के रहने न रहने का बाह्य कारण हुआ करता है।

Potential Energy (स्थानगत उर्जा) उपर्युक्त पुस्तक के चतुर्थ अध्याय सूत्र २२ की व्याख्या का नीचे उद्धरण दिया जाता है। इस अध्याय में विभिन्न देवों की गति का वर्णन है।

ततः परतो जघन्य स्थितीनामेकैकादीनां भूमयो यावत्तृतीयेति गतिपूर्वाश्च गमिष्यन्ति च तृतीयां देवा परतस्तु सत्यपि गतिविषये न गतपूर्वा नापि गमिष्यन्ति। महानुभाव कियातः औदासीन्याच्चैते पर्युपरि देवा न गतरतयो भवन्ति।

अर्थात्—(कुछ देवता ऐसे भी हैं) जिनकी गति का विषयभूत क्षेत्र तीसरी पृथ्वी से अधिक है (आगम में इस पृथ्वी के अलावे भी पृथ्वी की कल्पना है) वे गमन शक्ति के रहने पर भी वहाँ तक गमन नहीं करते। न पूर्वकाल में कभी किया है और न भविष्य में कभी करेंगे। उनकी गति को बतलाने का अर्थ केवल उनकी कार्य क्षमता बताना है। उनकी शक्ति का व्यय नहीं होता, वह कार्य रूपमें परिणत नहीं होती पर वे उतना काम कर सकते हैं।

—क्रमशः

स्मृति की रेखाएँ—

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा के अनन्य सहायक—
श्री बाबू बच्चूलाल जी

[ले०—पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, आरा]

लंबा इकहरा बदन, उन्नत ललाट पर चन्दन मिश्रित केशर का तिलक, गौरवर्ण, झुकी हुई कमर और श्यामवर्ण की शेरवानी पहने हुए एक ८० वर्ष के वृद्ध ने भवन के बाहरी दरवाजे से झांकते हुए अधिकार पूर्ण स्वर में कहा—"महाराज, भवन का चार्ज ठीक ले लिया है ? अब आपकी जिम्मेदारी है। इस संस्था की उन्नति के लिए मेरे हृदय में अनेक अरमान हैं, क्या वे अरमान पूरे हो सकेंगे ? क्षमा कीजिये, मुझे भय है कि श्री पं० के० भुजबलीजी शास्त्री के स्थान की पूर्ति आपसे हो सकेगी ? आप अभी बिल्कुल नये हैं। यद्यपि मैं जानता हूं कि आप श्री जैन-बाला-विश्राम में कई वर्षों से काम कर रहे हैं, परन्तु मुझे आप पर पूरा विश्वास नहीं है। हमारे बड़े बाबू हैं तो बड़े बुद्धिमान, पर कभी कभी प्रमाद कर जाते हैं। अच्छा कोई बात नहीं है, आप काम करते जायँ। मैं यहीं पास में रहता हूं, जब आप आवश्यकता समझें, मुझ से सलाह ले लिया करें। 'भास्कर' का अंक कब तक निकलेगा ? आपको लिखना आता है या नहीं ? पुस्तकों को एक बार सूची से मिला लीजिये, शायद कुछ इधर-उधर हो गई हों।" इसी प्रकार से एक ही श्वास में अगणित प्रश्नों की झड़ी लगा दी।

मैं तो अवाक् रह गया। कुछ समझ में नहीं आया कि क्या उत्तर दूँ और कैसे इन्हें विश्वास दिलाऊँ कि मैं सुचारु रूप से काम कर सकूँगा। मैंने सिर्फ इतना ही कहा कि आपका आशीर्वाद रहेगा तो निश्चय ही मैं अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह कर सकूँगा। उस दिन अधिक विशेष बातें नहीं हुईं, और वे घड़ी मिलाते हुए अपनी बैठक की ओर चले गये। उनके जाने के पश्चात् भवन के चपरासी बीगन राम ने कहा कि यह श्री बाबू निर्मलकुमार जी के दादाजी हैं, इनका नाम बच्चूलाल जी है। यद्यपि मैं आपके नाम से बहुत पहले से परिचित था, पर सम्पर्क में आने का अवसर नहीं मिला था। अब तो प्रति दिन दो-चार बार आपसे मुठभेड़ होने लगी। समाज, भवन, आश्रम आदि के सम्बन्ध में घण्टों चर्चाएँ हुआ करतीं।

सन्ध्या समय प्रतिदिन श्री शान्तिनाथ मन्दिर के विशाल प्राङ्गण में दो बड़ी-बड़ी चौकियों को बराबर बिछाकर गद्दी लगायी जाती थी, और श्री बाबू बच्चूलाल जी

वहाँ कम से कम तीन-चार घंटे बैठते थे। सामायिक और देवदर्शन के पश्चात् एक डेढ़ घण्टे तक स्तोत्र पाठ करते रहते थे। जब-तब मैं भी उनके पास पहुंच जाता और बातें करने लगता। सदा वे सर्व प्रथम 'भवन' की चर्चा करते। 'भवन' के सम्बन्ध में विभिन्न प्रश्न पूछते। कभी-कभी तो मैं उनकी बातों से ऊब जाता और सोचता कि ये महाशय बड़े ही शंकाशील हैं, इनको यदि यही हरकत रही तो यहाँ निभना कठिन हो जायगा। इतना ही नहीं, वे जब-तब भवन में आकर बीगन राम को डाँटते-डपटते भी थे तथा नाराज भी हो जाते थे। मुझे उनकी इस प्रवृत्ति से कभी-कभी चिढ़ हो जाती थी। एकाध बार मेरी भी इनसे कहासुनी हो गयी थी। मैं समझता कि यह महानुभाव सहानुभूति और सहृदयता से शून्य हैं, पर वास्तविकता यह नहीं थी। वह जितने बाहर से कठोर थे, भीतर उतने ही कोमल। उनका आन्तरिक स्नेह भुलाया नहीं जा सकता है। अनेक अवसरों पर मुझे उनके भीतरी हृदय से दर्शन हुए। यहाँ एकाध घटना का जिक्र कर देना ही पर्याप्त होगा।

एक बार भवन का चपरासी बीगन राम बीमार हो जाने से तीन-चार दिन तक न आया। श्री बाबू बच्चूलाल जी ने कहा—"पंडित जी बीगन क्यों नहीं आता है ? बड़ा लापरवाह हो गया है, आप उसे डाँटते नहीं हैं"। मैंने उत्तर दिया—जी, उसकी तबियत खराब है। बुखार आ गया है, इसीसे नहीं आया है। मेरे इतने कहने पर तो वह द्रवीभूत हो गये और आर्द्र स्वर में बोले—तब आप जाइये किसी डाक्टर को दिखा कर दवा कराइये। खर्च की कोई परवाह मत कीजिये, मैं दे दूँगा, आदमी पुराना है, उसकी देख रेख करना चाहिये। इसी प्रकार अनेक व्यक्तियों के कष्ट में मैंने उन्हें दुखी होते देखा था।

दशहरे के अवसर पर जब तक सन्ध्या समय वह मुझसे मिल नहीं लेते थे उन्हें शान्ति नहीं आती। मुझे स्मरण है कि सन् १९४४ में जब भवन में आने के उपरान्त पहले-पहल दशहरा आया, उस समय तक मुझे आरा के रीति रिवाजों का परिज्ञान नहीं था। मैं दशहरे के दिन श्री बा० बच्चूलालजी से मिल नहीं सका। रात में उन्हें लगभग १० बजे मेरा स्मरण आया और तत्काल अपना आदमी भेजकर मुझे घर से बुलवाया और लगे रोने। मैंने पूछा—दादाजी क्या बात है ? कहने लगे कि आप नाराज हो गये हैं, इसीलिये मिलने नहीं आये। मैंने कहा—नहीं तो, मुझे मालूम नहीं था कि आज के दिन मिलना आवश्यक है। उन्होंने पुनः कहा—महाराज, हमारा जीवन कितने दिन का है। केवल यही इच्छा है कि आप सब लोग प्रेम से काम करते रहें, संस्थाएँ प्रगति करती जायँ। हमसे जो गलती हुई हो, उसे क्षमा करें।

मैंने कहा—दादाजी आप बड़े होकर यह क्या बात कह रहे हैं ! क्षमा तो बड़ों को करनी चाहिये, छोटों को नहीं।

उन्होंने प्रेम भरे मृदुल स्वर में कहा—पंडितजी ! हमको कभी कभी क्रोध आ जाता है, पर पीछे बड़ा पश्चात्ताप होता है। हो सकता है, क्रोध में आकर आपको कुछ कह दिया हो, अतः क्षमा माँग लेना हमारा कर्त्तव्य है।

इस प्रकार तीन-चार वर्षों तक मुझे उनके निकट सम्पर्क में रहने का अवसर मिला। मैंने उन्हें पाया कि वह व्यवस्था, सफाई, स्वच्छता, कर्त्तव्यपालन आदि को विशेष महत्त्व देते थे। उनकी देखरेख में संचालित होनेवाला कोई भी कार्य बिगड़ नहीं सकता था। उनकी-सी सतर्कता और लगन बहुत कम व्यक्तियों में मिलेगी। वह ऐसे व्यक्तियों में थे, जो जनसम्पर्क से दूर रहकर सेवा करते हैं, जिनके जीवन का उद्देश्य सेवा करना ही होता है, फल पाना नहीं। सुई से लेकर सुवर्ण का ढेरतक भी जिनके लिये प्रलोभन पैदा नहीं कर सकता। जिन्हें समाज जाने या न जाने, पर अपने जीवन और धनको समाज के कार्यों में लगा देना ही अभीष्ट होता है। कोई प्रसन्न हो या नाराज, पर व्यवस्था में कोई कमी न आने पाये, चाहें इसके लिए लोग कोसते ही क्यों न रहें। संस्था और समाज की प्रगति को जीवन से भी बढ़कर समझना और बिना फल का विचार किये अपनी दिशा में प्रगति करते जाना ही जीवन का उद्देश्य होता है। श्री बाबू बच्चूलालजी ने श्री जैन-सिद्धान्त-भवन और श्री जैन-बाला-विश्राम आरा आदि पारमार्थिक संस्थाओं के लिए अपना सर्वस्व दे दिया है।

जिस युग में श्री बाबू बच्चूलालजी का जन्म हुआ था, उस युग में उर्दू भाषा का अधिक प्रचार था; अतः आपने उर्दू और अरबी का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। साथ ही अंग्रेजी और हिन्दी भाषा का भी परिज्ञान था।

आपके परिवार में कोठी और सर्राफे का कारोबार होता था। आपका परिवार भरा-पूरा था। आपके पितृव्य महाराज अजयगढ़ के दीवान थे। उक्त बाबू साहब ने बचपन में जितना जीवन का आनन्द लिया, उतना शायद ही किसी व्यक्ति को प्राप्त हो सके। सोने के कटोरे में दूध पीते थे, चाँदी के बर्तनों में भोजन करते थे तथा अनेक नौकर-दाइयाँ आपकी सेवा के लिये प्रस्तुत थीं। आपके आदेश का उल्लंघन करने की क्षमता किसी में नहीं थी।

बाबूजी की शादी इतनी धूम-धाम से हुई थी कि आज ७८ वर्ष बाद भी उसकी चर्चा सुनने में आती है। उस समय यात्रा की अनेक असुविधाओं और कठिनाइयों के रहने पर भी उक्त बाबूजी के विवाह में महाराज अजयगढ़ स्वयं सम्मिलित हुए थे।

शादी में उस सस्ते युग में लगभग ६०–७० हजार रुपये खर्च किये गये, महीनों दावतें होती रहीं, जल्से होते रहे और दोनों हाथों में धन खर्च किया गया। विवाह के कुछ ही दिनों के बाद आपकी कोठी का काम गड़बड़ हो गया। 'निशि दिवासी घूमती सर्वत्र विपदा सम्पदा' सूक्ति के अनुसार आपके परिवार का समय भी पलटा और आप अपनी ननशाल में चले आये। यह भी एक सम्पन्न घराना था। आरा में ऐसा कौन है जो मुन्सीखाने को नहीं जानता ? गदर के पहले सरकारी खजाना यहीं था और आपके नाना के पूर्वज थे सरकारी खजांची। बाबू साहब की नानीजी ने ही आरा के श्री शान्तिनाथ मन्दिर का निर्माण कराया है, जो अद्भुत दर्शनीय माना जाता है। इस मन्दिर की व्यवस्था श्री बाबू बच्चूलालजी भी आजन्म बड़े ही सुव्यवस्थित ढंग से करते रहे।

ननिहाल से आपको जमीन्दारी, मकान और पर्याप्त सम्पत्ति प्राप्त हुई, परन्तु आप अपने पुरुषार्थ पर विश्वास करने वाले थे, अपने परिश्रम से उपार्जित आजीका को ही आप महत्व देते थे, अतः आपने खजाने में सरकारी नौकरी करली और बड़ी ईमानदारी और सचाई के साथ अपना कार्य करते रहे। ब्रटिश शासन ने आपकी ईमानदारी की कई बार प्रशंसा की। कलक्टर ने आपकी तरक्की के लिए भी सरकार से सिफारिश की। आपका प्रभाव सभी अफसरों पर था, तथा आपके कार्य से लोग इतने प्रसन्न थे कि एकाध दिन की अनुपस्थिति भी यों ही माफ हो जाती थी। नौकरी का समय पूरा हो जाने पर आपको पेंशन बराबर मिलती रही।

श्री बाबू देवकुमारजी ने, जिनके यह मामा होते थे, मृत्यु समय इन्हें अपना ट्रष्टी बनाया और अपने परिवार तथा सारी सम्पत्ति का भार इन्हीं के ऊपर सौंपा। साथ ही इनसे प्रार्थना कि आप सरकारी नौकरी छोड़ दें और स्टेट से अपने खर्च के लिये आवश्यकतानुसार जितना चाहें लें। परन्तु इन्होंने न तो स्टेट से पारिश्रमिक लेना ही स्वीकार किया और न सरकारी नौकरी ही छोड़ी। पर साथ ही साथ पूरी लगन और परिश्रम पूर्वक १२ वर्षों तक, जब तक श्री बाबू निर्मलकुमार जी बालिग न हो गये, तब तक सारी स्टेट और उनकी पारमार्थिक संस्थाओं की देख-रेख करते रहे। आपके सुप्रबन्ध में स्टेट की पर्याप्त उन्नति हुई तथा श्री जैन-सिद्धात-भवन और जैन कन्या पाठशाला ने भी उन्नति की। इन संस्थाओं की आपको अधिक चिन्ता रहती थी, और सभी प्रकार से उन्नति के लिये प्रयत्न भी करते। दिन भर आप सरकारी कार्य करते और प्रातः एवं सन्ध्या समय आप बड़े उत्साह एवं तत्परता के साथ घण्टों एकाग्र बैठकर स्टेट के सभी कागजातों को देखते, बिल पास करते तथा कर्मचारियों

को उचित परामर्श देते। आपके सुप्रबन्ध के कारण सभी कर्मचारी बड़ी मुस्तैदी से कार्य करते थे। छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा कार्य आपकी जानकारी में ही सम्पन्न होता।

आप कुछ दिनों तक श्री सम्मेदशिखर बीस पन्थी कोठी के कार्यों के निर्देशक भी रहे। असल बात यह है कि श्री बाबू देवकुमार जी के असामयिक स्वर्गवास के पश्चात् उनके धार्मिक और सामाजिक कार्यों का अवलोकन आप ही करते रहे। आपके सत्परामर्श और निर्देश से स्थानीय जैन समाज में तो जागृति आयी ही; पर इतर स्थानों के सामाजिक और धार्मिक कार्यों में आप सहयोग देते रहे।

बाबूजी का जीवन बड़ा संयमित और धार्मिक था। वह अपने कार्य क्रमानुसार प्रातः चार बजे उठ जाते थे। सामायिक, स्तोत्र पाठ के अनन्तर श्री शान्तिनाथ मन्दिर में आकर भक्तिभाव पूर्वक देवदर्शन करते थे। देवदर्शन में उन्हें लगभग पौन घण्टा समय लगता था। अनन्तर दुग्ध पान कर तैल मालिश कराते; तत्पश्चात् स्नान कर लगभग दो घण्टे पूजा-पाठ, स्वाध्याय आदि में व्यतीत करते थे। दोपहर के १२ बजे भोजन करते थे और सन्ध्या समय केवल दुग्ध पान। रात्रि के समय पुनः तीन घंटे श्री शान्तिनाथ मन्दिर पर रहते थे; सामायिक, स्तोत्र पाठ एवं अन्य धार्मिक कृत्यों को विधिवत् पूरा करते थे। प्रतिदिन धूप देकर कर्मदहन पाठ और पञ्चस्तोत्र पाठ करना आपका प्रमुख दैवसिक कृत्य था।

अपने उत्तरदायित्व को सम्यक्रीत्या निभाना और कठिन से कठिन कार्य से घबड़ाना नहीं, आपके जीवन की प्रमुख विशेषताएँ थीं। वृद्धावस्था में भी आपकी कार्य क्षमता विचित्र थी। स्वभाव कुछ रूखा था, पर थे हृदय के साफ। किसी को बुरा लगे या भला सत्य को प्रकट करने में आप तनिक भी नहीं हिचकिचाते थे। लल्लो-चप्पो करना या चापलूसी करना आपको नहीं आता था, निर्भय और कर्त्तव्य परायण अत्यधिक थे। इधर वृद्धावस्था के कारण कुछ स्वभाव चिड़चिड़ा हो गया था, परन्तु आपकी स्मृति और प्रतिभा अन्त समय तक बिलकुल ठीक रहीं। स्वाभावतः कुछ कंजूस थे, संकीर्णता भी थी, परन्तु अवसर आने पर पूरी उदारता दिखलाते थे। नौकरों के साथ कड़ाई से पेश आते थे, परन्तु उनकी सभी सुख-सुविधाओं का पूरा खयाल रखते थे। शर्दी के दिनों में सभी नौकरों को गर्म कपड़े देते थे। उनकी बात-चीत का ढंग बड़ा ओजस्वी था, बात करनेवाला उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता।

बाबूजी का घरेलू जीवन सुखी था, यद्यपि आपको कोई सन्तान नहीं थी, पर आपकी सेवा का समुचित प्रबन्ध श्री बाबू निर्मल कुमार जी के ओर से पूरा था। जीवन के अन्तिम क्षणों तक आप उक्त बाबू साहब के सत्परामर्शदाता रहे तथा आपके

ही परामर्श से उनके समस्त कार्य सम्पन्न होते रहे। बाबू जी को अपने जीवन में सम्मान भी पूरा मिला, सभी छोटे-बड़े उनकी इज्जत करते थे। जब कभी वे श्री बाबू निर्मल कुमार जी की कोठी में पहुंचते तो 'दादा जी प्रणाम' की एक ध्वनि गूँज जाती, छोटे-बड़े सभी अपने आसन से उठकर आपका स्वागत करते, उनकी आज्ञा को अहोभाग्य समझते।

बाबूजी बड़े दूरदर्शी थे। आपने अपनी मृत्यु के कई वर्ष पूर्व ही अपनी समस्त सम्पत्ति का धार्मिक विल कर दिया था; जिसमें अपनी जमीन्दारी और खानदानी पुराना मकान श्री शान्तिनाथ मन्दिर को तथा कटरा और बैठक श्री जैन-सिद्धान्त-भवन और श्री जैन-बाला-विश्राम आरा को आधा आध दान कर दिया। आपने चल, अचल अपनी सभी जायदाद धार्मिक बिल में लिख दी थी। आपकी मृत्यु के पश्चात् आपकी धर्मपत्नी ने अपने सारे आभूषणों को भी दान कर दिया था। बाबूजी की दान की गयी जायदाद की कीमत आज एक लाख रुपये से कम नहीं। उनकी विशेषता इस बात में है कि जो कुछ उनके पास था गहने, कपड़े आदि सब दान कर दिया।

मृत्यु के दस-पन्द्रह दिन पहले उन्होंने मुझे बुलाया और कहने लगे—पंडितजी! अब मेरा अन्तिम समय है, आप क्षमा करें। साथ ही मेरा निवेदन यह भी है कि मेरा समाधिमरण करायें। मैंने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—घबड़ायें नहीं; आप अच्छे हो जायँगे। वह बोले—'मैं मृत्यु से नहीं घबड़ाता। जैनधर्म ने मुझे वीरता पूर्वक मरना सिखलाया है। अब मुझे कोई सांसारिक आकांक्षा भी नहीं है, केवल मरते समय परिणाम शान्त रहें, राग-द्वेष का अभाव हो सके, यही इच्छा है। आप इस कार्य में मेरी सहायता करें।

उनकी उपर्युक्त इच्छा के अनुसार मैं प्रतिदिन उनके पास जाने लगा। वह बड़ी शान्तिपूर्वक मंगलराय की मेरी भावना सुनते और कहते—'राग-द्वेष ने ही इस संसार का निर्माण किया है। आत्मा की अनन्तशक्ति इसीने आच्छादित की है। अब मैं अनन्त पुरुषार्थ की ओर बढ़ूँगा। इतना कहकर प्रतिदिन किसी न किसी वस्तु का त्याग कर देते। औषधि का त्याग मृत्यु के ११ दिन पहले ही कर दिया था। मृत्यु के दो दिन पहले से सर्वारम्भ और कुछ वस्त्रों को छोड़ समस्त परिग्रह का त्याग कर सल्लेखना ग्रहण कर ली थी। अन्तिम समय में णमोकार मन्त्र का श्रवण करते-करते प्राणों का त्याग किया। बाबूजी ने ८५ वर्ष की अवस्था पायी थी और जीवन भर मूकरूप से जैनधर्म और जैन समाज की यथाशक्ति सेवा करते रहे।

बंगाल में जैनधर्म के चिन्ह

[लेखक—श्री अद्रीस बनर्जी क्यूरेटर सारनाथ म्यूजियम]

पूर्वी भारत जो पौराणिक युग का प्राच्य देश कहलाता है, एक अपना अलग ही रंग-ढंग और निरालापन लिये हुए है। ऋग्वेद के आर्य इससे बिल्कुल अनभिज्ञ थे। इसमें एक स्थल पर 'किकट' देश का नाम आता है, जो कुछ विशेष अधिकारियों द्वारा मगध साम्राज्य का द्योतक ही माना जाता है। इस बात का वर्णन हेमचन्द्र सूरि ने बहुत विस्तार पूर्वक किया है, जो मध्यकालीन युग में पैदा हुए थे। अतः किकट देश की समता का सिद्धान्त एक विवादास्पद प्रश्न हो जाता है, तो भी यह समझा जाता है कि आधुनिक बिहार, बंगाल, पूर्वी पाकिस्तान में लोग बसते थे, यद्यपि गंगा की निचली तराई की समतल भूमि बाद में चलकर नदियों की लायी हुई मिट्टी से बनी। डा० भण्डारकर[1] का मत है कि प्राच्य देश के लोग जैनियों द्वारा ही आर्य बनाये गये थे। इस प्रकार हमलोग अपने निबन्ध के विषय पर आ जाते हैं, जिसकी चर्चा हम करना चाहते हैं। यह दिखलाना हमारा अभीष्ट है कि पूर्वी जनसमूह पर जैनधर्म का प्रभाव किस प्रकार पड़ा। यह विषय सदा से लेखकों की आँखों से ओझल रहा है।

विश्व के धार्मिक इतिहास में भी पूर्वी भारत को उचित स्थान नहीं मिला है। विश्व में ऐसा कोई स्थान नहीं जो ऐसे जगत् प्रसिद्ध पुत्र रत्नों को पैदा किया हो, जिन्होंने धार्मिक विश्वास की अमिट रेखा खींची हो। विश्व में एक महान् धर्म के संस्थापक गौतम का जन्म इसी पूर्वी भारत के हिमालय की गोद में हुआ था, न कि कमायूं या गढ़वाल में। ऐतिहासिक पुरुष जैनधर्म के महान् प्रवर्त्तक भगवान् महावीर का जन्म मगध के क्षत्रिय कुल में पूर्वी भारत में ही हुआ था।

फिर भी अपने विषय पर आने के पहले ही कुछ भौगोलिक उलझनों को सुलझा देना परमावश्यक है।

उन दिनों बिहार तीन भागों में विभाजित था। अंग, मगध और कोशल। इसमें मुंगेर, भागलपुर, पटना, गया, शाहाबाद, मुजफ्फरपुर, चम्पारन, सारन, दरभंगा, छपरा, गोरखपुर, गोंडा, बस्ती, देवरिया और बलिया के जिले सम्मिलित थे। कुछ भाग गाजीपुर का भी है। कूच बिहार और टिपरा पहाड़ी के अतिरिक्त पश्चिमी बंगाल, पूर्वी पाकिस्तान बंगाल में ही सम्मिलित हैं। प्राचीन काल में पुन्द्र, राधा, सुम्ह और बंग कहलाते थे। आधुनिक आसाम, चटगाँव, कूच बिहार, खिरा पहाड़ी सम्भवतः किरात देश में सम्मिलित थे। जो पौराणिक

1 Anuals of the Bhandarkas Orecntal Research Institute Vol. XII. Page 110

भूगोलवेत्ताओं द्वारा भारतवर्ष की पूर्वी सीमा समझी जाती थी[1]। टिरा और कोमिल्ला के जिले जो आज पाकिस्तान में हैं, समताता (Samtata) कहलाते थे। क्योंकि महिपाल प्रथम के समय की कोमिल्ला की खुदाई से यह बात प्रमाणित हो जाती है। जो आज उड़ीसा राज्य कहलाता है, उन दिनों तीन देशों में विभक्त था—उद्र, उत्कल और कलिंग[2]।

पूर्वी भारत के विभिन्न प्रान्तों में जितने जैनधर्म से सम्बन्धित प्रमाण मिलते हैं, उनको सुविधापूर्वक दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।

(क) साहित्यिक (ख) शिल्पात्मक

प्रथम श्रेणी में इसी तथ्य को ले सकते हैं कि चौबीस तीर्थंकरों में बीस तीर्थंकरों ने विहार के हजारीबाग जिले के शिखरजी—पारसनाथ पहाड़ से निर्वाण प्राप्त किया। पश्चिमी बंगाल का वर्द्धमान जिला, जो उत्तर राधा में सम्मिलित था, सम्भवतः वर्द्धमान महावीर का ही द्योतक है। क्योंकि प्राचीन काल में यही वर्द्धमान भुक्ति कहलाता था। जैन कल्पसूत्र से पता चलता है कि जैन स्थविर के गोदासगण को तृतीय शाखा में पौण्ड्र वनिगा का नाम पुण्ड्रवर्द्धन के नाम पर रखा गया था। यह उस समय प्रान्त की राजधानी थी। आज भी पूर्वी पाकिस्तान के बोगरा जिले के खण्डहरों द्वारा इसका प्रमाण पर्याप्त मात्रा में मिलता है। प्रथम शाखा कोटिवर्ष और द्वितीय शाखा ताम्र लिपि के नाम से प्रसिद्ध थी। कोटिवर्ष गुप्तकाल में एक विषय (जिला) का नाम था, तथा दामोदर पत्र में इसकी चर्चा भी है। यह अधिकरण की राजधानी था। आजकल यही पूर्वी पाकिस्तान के फरीदपुर जिले का एक भाग है। ताम्रलिप्त सुम्ह का एक बहुत बड़ा बन्दरगाह भी था जो तमल लितिस कहलाता था। यह समझा जाता है कि वर्तमान नगर तमलुक उसी प्राचीन बन्दरगाह का दूसरा रूप है। आचारंग सुत्त से पता चलता है कि भगवान् महावीर वज्रभूमि और सुम्हभूमि के साथ राधा नामक देश में भी धर्म प्रचार के लिये निकले थे—जहाँ, वहाँ के निवासियों से बहुत बड़ी मुठभेड़ हुई तथा इनको नाना प्रकार के कष्टों को सहना पड़ा।

सुमगधा अनाथपिण्डिका की बेटी थी। उसकी कहानी जो बोधि सत्तावदान कल्पलता के सुमगधावदान में मिलती है, इस बात को प्रमाणित करती है कि ईसा मसीह के जन्म के बहुत पहले पुण्ड्रनगर में जैधनर्म का प्रचार हो रहा था। दिव्यावदान में भी यह बात दी गयी है कि अशोक ने बहुत से निर्ग्रन्थ साधुओं को मरवा डाला, जिन्होंने बुद्ध भगवान् की मूर्त्ति का निरादर किया था। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने पुण्ड्रनगर तथा उनकी स्थिति पर भी प्रकाश डाला है।

सबसे प्रमुख चिन्ह जो वहाँ के जैनधर्म को प्रमाणित करता है वह है १५६ (G E) का ताम्रपत्र। जिस पर यह अंकित है कि जैन मन्दिरों में अरहतों की पूजा के लिये खर्च वगैरह दिया जाता था। बनारस के पंचस्तूप के गुरु गुहनदीन के अनुयायियों द्वारा वहाँ पूजा होती

1. Vayu Puran Chapter 45 Verse 72 ff.

2. R. D. Banerjee History of Orissa. Vol. i pp. 1-15

थी। मथुरा में एक ६२ (A. D) के स्तूप पर यह अंकित है कि राता या राधा के एक साधु की प्रार्थना पर वहाँ एक जैनमूर्त्ति की स्थापना की गयी। सबसे मनोरंजन की बात यह है कि ४७८-६ (A D) में सोमपुरा के आसपास एक जैन मन्दिर था, जिसकी देखभाल पंचस्तूप शाखा के संन्यासियों द्वारा को जाती थी। परन्तु जिस समय धर्मपाल ने एक बहुत विशाल मन्दिर की स्थापना की तो इसका भी चिन्ह शेष न रहा। यद्यपि बाद के बौद्धमत की मूर्त्तियों और नालन्दा के मन्दिर नं० ११ की हिन्दू मूर्त्तियों से इसका प्रमाण नहीं मिलता तथा पहाड़पुर में भी जैन मूर्त्तियों का पता नहीं है। ताम्रपत्र के अभाव में सम्भवतः हमलोग बिल्कुल विचार ही नहीं कर सकते कि आरम्भिक धर्म की स्थापना किस प्रकार हुई। परन्तु इन लिखित ताम्रपत्रों से अधिक महत्त्वपूर्ण उन मूर्त्तियों के अवशेष हैं, जिनसे बंगाल निवासियों के धार्मिक विश्वासों का पता चलता है। इसके अतिरिक्त वर्त्तनों पर बनी मूर्त्तियों के आधार पर भी बहुत कुछ निश्चित किया जा सकता है, पर दुःख है कि वर्तनों के अवशेष भी नहीं मिलते। अतः परीक्षकों को उत्साहित करने के लिये केवल मूर्त्तियाँ ही पर्याप्त हैं। फिर भी बहुत सी मूर्त्तियाँ मूर्त्ति-विनाशक आक्रमणकारियों द्वारा नष्ट भ्रष्ट कर डाली गयीं। अनुमान किया जाता है कि प्रत्येक घर में अपने अपने खास सिद्धान्तों को लेकर पूजा की जाती थी। इन बातों का ठीक ठीक पता न लगने का एक और भी विचारणीय तथ्य है। म्यूजियम के अधिकारियों (Curator) और परीक्षकों ने तो इस दिशा में बहुत बड़ी हानि पहुँचायी। उन लोगों ने अपने म्यूजियम की शोभा बढ़ावें तथा उसके लिये संग्रह के फेर में पड़कर वस्तुकला विशारदों को इन मूर्त्तियों की सूचना तक भी न दी। यदि वे लोग ऐसा न करते तो खुदाई और जाँच पड़ताल द्वारा बहुत गहन बातों का सहज पता लगाया जा सकता था।

स्वर्गीय आर० डी० बनर्जी लिखते हैं कि जैनधर्म का काफी प्रचार और प्रसार गंगा के दक्षिणी भाग में था, जहाँ गोंड़ रहा करते थे। जो आज गोंड़वाना प्रान्त कहा जाता है। इनमें बाँकुड़ा जिले का बुहुतरा नामक स्थान सर्वोपरि है। बाँकुड़ा जिले को मुझे स्वयं देखने का अवसर मिला है, जिसका सम्बन्ध पहले छोटानागपुर और बंगाल से भी था। बहुतरा गोन्डाल स्टेशन से तीन मील की दूरी पर बर्द्धवान और आसनसोल के मध्य में स्थित है। यहाँ एक ईंट का बना सबसे सुन्दर मन्दिर वर्त्तमान है। मन्दिर में एक भगवान् शिव की और एक जैन तीर्थङ्कर भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्त्ति है। मन्दिर के चारों तरफ एक चहारदिवारी भी है। १६२२-२३ की खुदाई से यह स्थान और स्पष्ट दिखायी पड़ने लगा, जिस पर मन्दिर का निर्माण हुआ है। यह वृत्ताकार और आयताकार स्तूपों पर खड़ा है। मथुरा के कंकाली टिला से स्पष्ट मालूम हो जाता है कि यह जैनधर्म का केन्द्र स्थान था, क्योंकि जैन तीर्थङ्कर की मूर्त्ति भी इस बात को सिद्ध करती है। अतः यह मानना भ्रमपूर्ण नहीं होगा कि शिव मन्दिर का जैनिर्माण न स्तूपों पर ही हुआ है।

बाँकुड़ा जिले के बिल्कुल दक्षिणी भाग में कुछ मनोरंजक अवशेषों का मि० जे० सी० (फ्रान्सीसी) ने, जब वे बाँकुड़ा जिले के कलक्टर थे, अन्वेषण किया था। स्वर्गीय आर० डी० बनर्जी भी इस बात से सहमत हैं कि ये प्राचीन-युग के ही जैनधर्म के चिन्ह हैं। वहाँ भी जैनधर्म के चिन्ह दसवीं शताब्दी के ही मिलते हैं। पत्थर का बना हुआ मन्दिर बहुत ही ध्वंस हो चुका था, पर वहाँ किनारे पर एक २३ फीट ऊँची पार्श्वनाथ की मूर्त्ति बनी हुई है। हमलोग फ्रांसीसी कलक्टर की इस बात के भी ऋणी हैं कि उन्होंने पार्श्वनाथ की मूर्त्ति का अन्वेषण किया है। धौलमीरा भी बाँकुड़ा जिले में स्थित है, जहाँ प्राचीन मूर्त्तियाँ अभी अज्ञात दशा में पड़ी हुई हैं।

१८७२-७३ में बेगलर ने, जो बंगाल प्रान्त का भ्रमण कर रहा था, कुछ ऐसी सड़कों का पता लगाया है, जो प्राचीनकाल में वर्त्तमान थीं और धर्म-प्रचार के लिये सुविधाजनक भी। इसीके बल छोटानागपुर की पिछड़ी हुई जातियों में धर्म का प्रचार किया गया था। बहुत सी मूर्त्तिय जो इन्हें मिलीं, जैन-धर्म की ही थीं। "दुलमिया दयापुर दुलमी" में जो पुर्यिला से ५० मील की दूरी पर है, बेगलर को बहुत-सी मूर्त्तियों के अवशेष, मन्दिर एवं किले भी मिले थे। देवली एक अन्य ग्राम है। यह दुलमी से १२ मील की दूरी पर है। यहाँ भी जैन मूर्त्तियाँ पायी जाती हैं।

मन्दिर के भीतरी भाग में एक मूर्त्ति वर्त्तमान है, जिसे वहाँ के निवासी "औरनाथ" के नाम से पूजते हैं और वहाँ दो हिरण अगल-बगल में खड़े हैं, जिनसे स्पष्टतः विदित होता है कि वह जैन-तीर्थङ्कर भगवान "शान्तिनाथ" की मूर्त्ति है।

देवली के १½ मील उत्तर पश्चिम के कोने पर सुइसा नामक एक ग्राम है। इस गाँव में बेगलर ने एक दिगम्बर पार्श्वनाथ की मूर्त्ति भी देखी थी। 'पकबीरा' एक दूसरा ग्राम है जो पुरलिया के २३ मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। यहाँ भी जैन मूर्त्तियों के बहुत खंडित भाग मिले हैं। सबसे बड़ी मूर्त्ति दिगम्बर पद्मप्रभु की है जो वहाँ के निवासियों द्वारा पूजी जाती हैं और वे लोग इसे भी राम कहते हैं।

वहाँ सिंह के साथ भगवान महावीर की मूर्त्ति, हिरण के साथ शान्तिनाथ की, वृषभ के साथ आदिनाथ और बकरे के साथ कुन्थुनाथ की मूर्त्तियाँ थीं। इनके आस-पास बेगलर ने कुछ ऐसी मूर्त्तियों का भी पता लगाया है जो बौद्ध-मत की थीं। इनमें एक स्त्री-पुरुष की भी मूर्त्ति है जो भगवान महावीर के माता-पिता की मूर्त्ति मालूम होती है। दूसरी मूर्त्ति अम्बिका या अम्रिल या धर्मदेवी यक्षिणी की है, जो बाइसवें तीर्थङ्कर नेमिनाथ से सम्बन्धित है। ये सारे चिन्ह इस बात को प्रमाणित करते हैं कि बंगाल का प्रधान धर्म जैनधर्म था।

साहित्य-समीक्षा

१ **तत्त्वसमुच्चय** [जैन तत्त्वज्ञान और आचार सम्बन्धी प्राकृत गाथाओं का संकलन]— सम्पादकः डा० हीरालाल जैन एम० ए०, एल-एल० बी०, डी० लिट्; प्रकाशकः भारत जैन महामण्डल वर्धा; मूल्यः तीन रुपये और पृष्ठ संख्याः डिमाई १८८।

इस ग्रन्थ में प्राचीन जैन गाथाओं का संकलन और उनका हिन्दी अनुवाद लिखा गया है। लोकस्वरूप, गृहस्थधर्म, मुनिधर्म, धर्मांग, भावना, परीषह, छः द्रव्य, सात तत्त्व, नव पदार्थ, कर्म प्रकृति, गुणस्थान, मार्गणा, ध्यान, स्याद्वाद, नयवाद और निक्षेप विषयक प्राचीन प्राकृत गाथाएँ दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों की संग्रहीत की गयी हैं। आरम्भ में श्रीमान् डा० हीरालाल जी की जैनधर्म, साहित्य और सिद्धान्त विषयक महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना है, जिसमें जैन साहित्य और जैन धर्म का संक्षेप में स्पष्ट वर्णन किया गया है। गाथाओं का अनुवाद सरल, स्पष्ट और सरस है। ग्रन्थ के अन्त में शब्दकोष दिया गया है, जो जिज्ञासुओं के लिए अत्यन्त उपयोगी है। सबसे अन्त में दिया गया ग्रन्थ और ग्रन्थकारों का ऐतिहासिक विवेचन सर्व-साधारण के लिए भी उपयोगी है। संक्षेप में यह संकलन सर्वाङ्ग सुन्दर और उपयोगी है, डा० साहब और प्रकाशक दोनों ही इस सुन्दर प्रकाशन के लिए साधुवादार्ह हैं। छपाई-सफाई भी अच्छी है।

भारतीय ज्ञानपीठ काशी के नयनाभिराम प्रकाशन—

२ **आकाश के तारे : धरती के फूल**—ले० श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', मूल्य दो रुपये।

इसमें धरती के फूलों का दर्द अधिक है, आकाश के तारों की वेदना कम। फूलों पर छांह अधिक है, धूप कम; तारों में हार अधिक है जीत कम। आकाश की अनन्त नीलिमा में विकीर्ण अगणित तारिकाएँ अपनी झिलमिलाती आभा को वृन्तों पर संलग्न कलिकाओं पर व्याप्त कर देती हैं; ऊषाकाल में पटपरिवर्तन होते ही ये कलिकाएँ पुष्प बन जाती हैं। इस तथ्य के रूप परिवर्तन में लेखक की एक मान्यता चिपकी पड़ी है, जो इन लघु आख्यानों की जान है। लेखक का इन कहानियों के पीछे कोई गूढ़ उद्देश्य नहीं है, बल्कि भाषा की लचक और ललक की झोली से मुरमुरे बांटना है।

जो हो, प्रस्तुत कहानी-संग्रह वर्तमान कहानी कला का विकास सूत्र ग्रहण करता है; इन छोटी कहानियों में भी जान है। लगता है कि लेखक के पलकों में सपने झूल रहे हैं, उसकी उन्नींदी आँखों में झोंपड़ी में बसने वाली हमारी कंकाल-गरीबी का छाया चित्र ही नहीं, बल्कि झोंपड़ी के मान, दम्भ, पाखण्ड और बौद्धिकता की चरम सीमा का

प्रतिबिम्ब भी है। यही कारण है कि वह भावुक की अपेक्षा बौद्धिक अधिक है, वह रोटी का पक्षपाती है, भात का नहीं। 'कवि की पत्नी, 'कलाकार का स्वप्न, 'और तू', 'गनीमत हुई' 'बन्दूक', 'भला क्यों' वे दोनों', 'मैं जान गया।' 'भिखारी' आदि कथाओं को लेखक ने पर्याप्त मार्मिक बनाया है। ऐसा मालूम होता है कि लेखक की अधिकांश कथाएँ कला मण्डित दिमागी करामात की आंच में तप रही हैं।

छोटी से छोटी घटना का महत्व है, इससे प्रभाकर जी सुपरिचित हैं। आपकी शैली अपनी है, बिलकुल बहती हुई। गुरुतर चट्टान भी इसमें प्रवाहित हुए बिना नहीं रह सकती। पर एक चीज है कि डूबने का अवसर नहीं मिल पाता और पाठक गोता लगाते ही ऊपर चला आता है। अतः हम कह सकते हैं कि पाठक बह सकता है, डूब नहीं सकता।

हमें यह स्वीकार करने में तनिक भी संकोच नहीं कि 'आकाश के तारे : धरती के फूल' वर्तमान कहानी कला का प्रतिबिम्बित्व करता है; जबकि आज के भौतिक वातावरण में आदमी के पास अवकाश थोड़ा रह गया है, इन कहानियों का महत्व और बढ़ जाता है। हम लेखक की लेखनी का अभिनन्दन करते हुए अपना सुझाव रखते हैं कि लेखक भविष्य में अपनी कला में पाठकों को डूबने का अवसर प्रदान करे। इस सुरुचि पूर्ण प्रकाशन के लिए ज्ञानपीठ के व्यवस्थापक और लेखक साधुवादार्ह हैं।

संस्मरण —लेखकः श्री बनारसीदास चतुर्वेदी; मूल्यः तीन रुपये।

हिन्दी साहित्य श्री चतुर्वेदी जी की लेखनी का जौहर स्वीकार कर चुका है। आपकी शैली में जितना आकर्षण है, उतना ही लचीलापन भी। पाठक इन स्मरणों का आरम्भ करने पर अन्त किये बिना नहीं रह सकता है। लिखने का ढंग इतना सुन्दर है कि साधारण शिक्षित व्यक्ति भी इन संस्मरणों से अपने ज्ञान का संवर्द्धन कर सकता है। लेखक ने जीवन स्केच की आड़ में हृदय से हृदय की बात कही है; कहीं भी अतिशयोक्ति का आरोप अथवा संकोचन की संकीर्णता का नर्तन नहीं है। नपी-तुली भाषा और बोलती हुई शैली में लिखे गये ये संस्मरण प्रत्येक हिन्दी-भाषा-भाषी को अपने साहित्यिक देवताओं के चरणों में अश्रु रूपी पुष्प चढ़ाने के लिए बलात् आकर्षित करते हैं। लेखक ने पूर्ण रूप से युग की आँखों में अपनी चेतना को डुबाकर गहन जीवन सागर में गोते लगाए हैं, जिससे उसने चमकदार मोतियों को ही पाया है।

श्रीधर पाठक, गणेश शंकर विद्यार्थी, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद, मूनिस और साधक ऐसे साहित्यिक देवता हैं, जिन्होंने समाज और साहित्य को दिया ही है, पाया नहीं। साहित्य के इन पुजारियों की स्मृति ही अन्तरात्मा को पूत कर देती है, भव्य

भावनाओं से भर देती है। इस संग्रह में कुल २१ संस्मरण हैं। सभी एक से एक बढ़कर हैं। यद्यपि लेखक के कहने का ढंग शास्त्रीय है, पर सचाई के साथ अन्तरात्मा को उड़ेल दिया है, जिससे संस्मरणों में अपूर्व सजीवता आ गयी हैं। हमारा विश्वास है कि ये संस्मरण पाठकों के रागतन्तुओं को छूये बिना न रहेंगे। छपाई-सफाई, गेटप आदि कलापूर्ण हैं।

शब्द-रत्नावली [रचना-व्याकरण-कोश]—लेखकः श्री त्रिवेणी प्रसाद बी० ए०; प्रकाशकः सरस्वती प्रकाशन-मन्दिर आरा; पृष्ठ संख्याः ४२३ + ९; मूल्यः पाँच रुपये मात्र

प्रस्तुत पुस्तक में व्याकरण और रचना के पारिभाषिक शब्दों पर प्रकाश डाला गया है। इसमें व्याकरण सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों की विवेचना प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों के आधार पर की गयी है। इस प्रकार की हिन्दी में यह पहली ही पुस्तक है। यों तो व्याकरण और कोश सम्बन्धी अनेक रचनाएँ हिन्दी में विद्यमान हैं, पर यह प्रयास अपने ढंग का बिल्कुल नवीन है। लेखक ने इसे हाईस्कूल और कॉलेज के छात्रों के लिए सभी तरह से उपयोगी बनाने का प्रयास किया है। रचना के सिद्धान्तों के निरूपण करने की शैली आशुबोधकारिणी है। क्रियाएँ, कृदन्त, उपसर्ग, वाक्य-विन्यास, वाक्यपृथक्करण, संस्कृत और हिन्दी धातुओं से निष्पन्न शब्दावली, हिन्दी और संस्कृत तद्धित एवं साधारण पर्यायवाची और सूक्ष्म अन्तर वाले पर्यायवाची शब्द आदि विषय महत्वपूर्ण हैं। संक्षेप में यह रचना विद्यार्थियों और अध्यापकों के लिए उपयोगी है। छपाई-सफाई अच्छी है, गेटप भी सुन्दर है।

सूर्य की दुनिया—लेखकः श्री देवेन्द्रकिशोर जैन; प्रकाशकः सरस्वती प्रकाशन मन्दिर आरा; मूल्य एक रुपया।

इस पुस्तक की भूमिका श्री आचार्य शिवपूजन सहाय ने लिखी है। इसमें पृथ्वी, चन्द्रमा, सूर्य, बुध, शुक्र, मंगल, अवान्तर ग्रह, बृहस्पति, शनि, वारुणी, वरुण और यम इन ग्रहों का स्वरूप, वजन, आकृति, परिमाण, व्यास, घनफल और वहाँ के निवासियों की विशेष अवस्थाओं का चित्रण किया गया है। यद्यपि विषय पुराना है, पर लिखने की शैली सरस और सरल है। भाषा में इतना प्रवाह है, जिससे बच्चे, बड़े और बूढ़े भी बड़े चाव से पढ़ते हैं। आकाश, सूर्य की दुनिया, हिमालय, शुक्र, मंगल, पृथ्वी, चन्द्रमा आदि कई सुन्दर चित्र दिये गये हैं, जिससे पुस्तक बच्चों के लिए उपयोगी बन गयी है। हिन्दी भाषा में इस प्रकार की यह एक सुन्दर पुस्तक है। छपाई-सफाई, गेटप आदि बहुत ही चित्ताकर्षक हैं। छात्रों को इसका स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये।

विंशोत्तरी दशा—लेखकः श्री रामनरेश प्रसाद ज्योतिविद्ः प्रकाशकः साहित्य-मण्डल आरा; मूल्यः एक रुपया आठ आना।

प्रस्तुत पुस्तक में विंशोत्तरी दशा का गणित दिया गया है। महादशा, अन्तरदशा, प्रत्यन्तरदशा, सूक्ष्मदशा और प्राणदशाओं की सारणियाँ शुद्ध दी गयी हैं। नरेश चक्र द्वारा प्रत्येक दिन की पाँचों दशाओं का परिज्ञान किया जा सकता है। पुस्तक के अन्त में विंशोत्तरी दशा का फलादेश भी लिखा गया है। ज्योतिष विषय से प्रेम रखनेवालों के लिए पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है, प्रत्येक ज्योतिषी को इस पुस्तक की एक प्रति अपने पास रखनी चाहिये। छपाई-सफाई, गेटप आदि अच्छे हैं।

—*नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य*

धर्मामृत—रचयिताः श्री नयसेनाचार्य; सम्पादक एवं अनुवादकः आचार्य श्री देशभूषण मुनिराज; प्रकाशकः श्री स्याद्वाद प्रकाशन मन्दिर आरा; मिलने का पता—श्री पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, जैन-सिद्धान्त-भवन आरा; पृष्ठ संख्याः २+८+३००; मूल्यः चार रुपये।

कन्नड़ भाषा में विपुल परिमाण में जैन साहित्य लिखा गया है। आज हमें इस बात की परम आवश्यकता है कि कन्नड़ साहित्य का सुन्दर अनुवाद हिन्दी भाषा में प्रस्तुत किया जाय। प्रस्तुत ग्रन्थ इस दिशा में किया गया एक लघु प्रयास है। श्री मुनिराज देशभूषण महाराज ने इस ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में भावानुवाद किया है। अनुवाद इतना सुन्दर हुआ है कि पढ़ने में मूल का आनन्द आता है। आरम्भ में ८ पृष्ठों में ग्रन्थ का सारांश और ग्रन्थकर्ता का परिचय लिखा गया है।

इस ग्रन्थ में १४ कथाएँ हैं—एक सम्यग्दर्शन पर, आठ सम्यक्त्व के आठ अंगों पर और पाँच पञ्चाणु व्रतों पर। इन कथाओं के मध्य में गृहस्थ धर्म और मुनिधर्म का उपदेश दिया गया है। पाठक कथाओं के माध्यम से धर्मतत्त्व को बड़ी ही सरलता से पा लेता है, उसे मस्तिष्क पर धर्मतत्त्व को ग्रहण करने के लिए जोर नहीं देना पड़ता। अतः धर्मामृत यह इसका नाम बिल्कुल सार्थक है। साधारण शिक्षित पाठक भी इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से गृहस्थ के षट्कर्मों, मूलगुणों और उत्तरगुणों का स्वारस्य हृदयंगम कर सकता है। वसुभूति की कथा दिगम्बर जैन मुनि की कठोर चर्या का महात्म्य बतलाती है तथा सांसारिक प्रलोभन किस प्रकार व्यक्ति को विचलित करते हैं, लोभ के कारण मनुष्य कितना पतित हो सकता है, आदि बातें भी इस कथा से प्रकट होती हैं। इस स्वाध्याय योग्य ग्रन्थ का मूल्य भी प्रकाशन मन्दिर ने इतना कम

रखा है, जिससे यह सर्व साधारण को प्राप्य हो सकता है। छपाई-सफाई, गेटप, कागज आदि उत्तम हैं। स्वाध्याय प्रेमियों को मंगाकर लाभ उठाना चाहिये।

हमारा आहार और गाय—लेखकः रिषभदास रांका; प्रकाशकः जमनालाल जैन मंत्री रोहित जैन सेवा ट्रष्ट वर्धा; पृष्ठ संख्या २+६७; मूल्यः दस आने।

यह पत्रात्मक ढंग से लिखित १३ निबन्धों का एक संग्रह है। इन निबन्धों में लेखक ने दुग्धाहार और गौ पालन पर विशेष विचार किया है।

आहार में ओजतत्त्व, जीवन-तत्त्व, और चिकनाई, चीनी आदि तत्त्वों का होना आवश्यक माना गया है ये तत्त्व टमाटर, पालक और गाय के दूध आदि में प्रचुर परिमाण में पाये जाते हैं। स्वास्थ्य वर्द्धक आहार के लिए गौ दुग्ध आवश्यक है; अतः गौपालन प्रत्येक गृहस्थ के लिए अनिवार्य है। भारत जैसे निर्धन देश में गाय से बढ़कर अन्य कोई पशु उपयोगी नहीं हो सकता है; अतएव गाय-पालने की ओर प्रत्येक गृहस्थ को ध्यान देना चाहिये।

इन निबन्धों की शैली रोचक और सरल है। स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए अनेक नियम भी इसमें दिये गये हैं। शैली की दृष्टि से बच्चों के लिए यह पुस्तक अधिक उपयोगी है। छपाई-सफाई अच्छी है।

—माधवराम शास्त्री

प्रतिमा-लेख-संग्रह

दि० जैन मन्दिर मुलतान सिटी (पंजाब) की निर्लिङ्ग प्रतिमाएं

१ शान्तिनाथ—वर्ण-शुक्ल (पाषाण) ऊँचाई १६ इञ्च "सं० १९६३ वीर (संवत्) २४३२ वैशाख शु० १३ श्री कुन्दकुन्दगुरूपदेशात् फिरोजपुर शिविरे प्रतिष्ठितम् सकलशुद्धाम्नायः प्रणमतितराम् ।

२ मुनिसुव्रतनाथ—कृष्णवर्ण (पाषाण) ऊँचाई ९ इञ्च "श्री सं० १९५५ माघ शु० १२ प्रतिष्ठितम् छोगमल मुलतान ।

३ पार्श्वनाथ — कृष्ण-वर्ण (पाषाण) ऊँचाई ७ इञ्च "श्री सं० १९३५ माघ शुक्ला ३ इन्द्रपथनगरे राजेन्द्रकीर्त्तिः प्रणमति ।

४ चन्द्रप्रभ—शुक्ल-वर्ण (पाषाण) १ फीट "प्राचीन है, लेख रहित ।

५ नेमिनाथ—शुक्ल-वर्ण (पाषाण) ५ इञ्च "सं० १९६३ वै० शु० १३ फिरोजपुर शिविरे प्रतिष्ठितम् ।

६ पार्श्वनाथ— शुक्ल-वर्ण (पाषाण) ऊँचाई ९ इञ्च सं० १५४९ प्रतिष्ठितम् सेवासाध .... डेरागाजीखान........साहजी वाजा........

७ चन्द्रप्रभ—शुक्ल-वर्ण (पाषाण) ऊँचाई ९ इञ्च "सं० १९३५........

८ ऋषभनाथ—पीत-वर्ण (धातुमय) ऊँचाई ११ इञ्च "सं० १९५० फाल्गुन शु० २ प्रतिष्ठितम् रेवासानगरे (अलवर) ।

९ महावीर—पीत-वर्ण (धातुमय) ऊँचाई १० इञ्च "श्री सं० १९५५ मा० शु० १२ प्रतिष्ठितम् हाथरस ।

१० ऋषभनाथ—पीत-वर्ण (धातुमय) ऊँचाई ८ इञ्च "श्री सं० १९५५ प्रतिष्ठितम् ।

११ सुपार्श्वनाथ—कृष्ण-वर्ण (पाषाण) ऊँचाई ५ इञ्च "सं० १७८२ ।

१२ चन्द्रप्रभ—शुक्ल-वर्ण (पाषाण) ऊँचाई ५ इञ्च "सं० १५४६........मूलसंघ........

१३ ऋषभनाथ—पीत-वर्ण (धातु) ऊँचाई ४ इञ्च "सं० १६६० वै० कृ० २ सुवर्णप्रस्थे प्रतिष्ठितं ।

१४ पार्श्वनाथ—पीत-वर्ण (धातु) ऊँचाई ४½ इंच "सं० १७७९ फाल्गुन सुदी १२ श्री मूलसंघ बलात्कारगण श्री भट्टारक मरे प्र........ ।

१५ महावीर—पीत-वर्ण (धातुमय) ऊँचाई २½ इंच "सं० १९६३ वै० शु० १३ फिरोजपुर शिविरे प्रतिष्ठितम् ।

१६ पार्श्वनाथ—पीत-वर्ण (धातुमय) ऊँचाई ३½ इञ्च "सं० १५४८ वर्षे.........दिद (?)
शुक्रे जंगड़ा पोरवाड़ ज्ञातीय सं० वीमा सा० राजपुत्र सं० काहा
सं० फमाभा (ला) सिंह पुत्र अंबिकादास श्रेयोर्थिक........ ।

१७ पार्श्वनाथ—पीत-वर्ण (धातु) ऊं० ३½ इञ्च "सं० १४८१ काष्ठा व सा०...........
शस्यप्रतिष्ठितम् ।

१८ ऋषभनाथ—पीत-वर्ण (धातु) ऊ० ७½ इञ्च 'सं० १६५५ मा० शु० १२ हाथरस-
नगरे प्रतिष्ठितम् ।

१९ ऋषभनाथ— कृष्ण-वर्ण (पाषाण) ऊँचाई ७ इञ्च (प्राचीन है लेख घिसा है)

दि० जैन मन्दिरान्तर्गत 'चैत्यालय' मुलतान नगर की अलिंग प्रतिमाएँ—

१ अरहनाथ—शुक्ल-वर्ण (स्फटिकमय) ऊँचाई २½ इञ्च 'सं० १६५५ प्रतिष्ठितम् ।

२ चन्द्रप्रभ—शुक्ल-वर्ण (स्फटिक ऊँचाई ३¾ इञ्च 'सं० १६५५ प्रतिष्ठितम् ।

३ पार्श्वनाथ—वर्ण शुक्ल (स्फटिक) ४½ इंच 'लेख नहीं है'

४ पार्श्वनाथ—कृष्ण-वर्ण (पाषाण) ऊँचाई ४½ इंच 'सं० १६६३ वैशाख
शु० १३ प्रतिष्ठितम् ।

५ श्रेयांसनाथ—पीतवर्ण (पीतल आदि धातु) ऊँचाई १½ इंच 'श्रीमूलसंघे ...सं१८२६

६ पार्श्वनाथ—पीतवर्ण (पीतल आदि धातु) १½ इंच "सं० १६५३..................

७ शान्तिनाथ—पीतवर्ण (धातु) ऊँचाई १¾ इंच "सं० १६६३ वै० शु० १३
फिरोजपुरे प्रतिष्ठितम् ।

८ शान्तिनाथ—कृष्ण-वर्ण (कसौटी) ऊँचाई १½ इंच "सं० १६३५ मा० शु० ३' ।

९ चन्द्रप्रभ—पीतवर्ण (धातु) ऊँचाई १ इंच "सं० १८६१ प्रतिष्ठितम्' ।

दिगम्बर जैन मन्दिर, राँची (बिहार) केदारमल नन्दलालजी का मन्दिर —

१ चौबीसी—पीतवर्ण, (धातुमय) ऊँचाई ७½ अंगुल "ॐ स्वस्ति श्री सं (वत्)
१६४४ माघ मासे शुक्लपक्षे ७ भृगुवासरे श्रीसेठ १ कोटक्या किशुनदास
हीरालाल चम्पालाल परतापगढ़वाले ।

पार्श्वनाथ—पीतवर्ण (धातुमय) ऊँचाई ३ अंगुल ।

२ अज्ञात—पीतवर्ण (धातु) ऊँचाई ८ अगुल "ॐ सं० १६४४ श्रीमाघ शुक्ल ७ शुक्रे
नाराटे वासरे भट्टारक राजेन्द्रकीर्त्ति तम्नाय (तदाम्नाय) साधु नानन्दचन्द्र
सम्मेदशिखरे स्थापित सम्मेदशिखरे क्षेत्रे"

चम्पापुर सिद्धक्षेत्र—

पूर्व और दक्षिण के कोने (आग्नेय) के चत्यालय की प्रतिमाओं के लेख—

१ अभिनन्दननाथ—"ॐ सं० १९३९ मिती माघशुक्ला १० दशाम्वा (दशम्यां) शुक्रे— काष्ठासंघे माथुरगछे (च्छे) पुष्करगणे लोहाचार्याम्नाये भट्टारक ललितकीर्त्तिदेवास्तत्पट्टे भट्टारक राजेन्द्रकीर्त्तिदेवास्तदाम्नाये अग्रोत (क) न्व (ये) जिंगलगोत्रे साधु कीर्त्तिचन्द्रस्तत्पत्र साधु जीतमलस्यभार्या मकुन्दीवीवी पुत्रा साधु मुनीश्वरदासः जिनवरदासः लालचन्द्रश्चे पौत्रश्च गुलाबचन्द्र ते (:) वासपूज्यपंचकल्याणः (णैः) पुनीत चम्पापुर श्री जिनचैत्यचैत्यालयप्रतिष्ठा कारापिता शुभं। इन्दोर नगरस्थ हूमडज्ञा- तीयौ वेणीचन्द मलूकचन्दौ प्रणमतः।

२ नैऋत्य (दक्षिण-पश्चिम के) कोण के चैत्यालय में—

१ वासुपूज्य—पाषाण-मूर्ति "ॐ ह्रीं अर्हं श्रीमत वासपूज्यजिनेन्द्राय नमः स्वस्ति श्री संवत् १९२१ मिती ज्येष्ठ कृष्णा ५ बृहस्पतौ काष्ठा संघे माथुरगच्छे (च्छे) पुष्करगणे श्री लोहाचार्याम्नाये भट्टारक ललितकीर्त्तिदेवास्तत्पट्टे भट्टारक राजेन्द्रकीर्त्तिदेवास्तदाम्नाय (ये) अग्रोतकान्वय (ये) गांगिलेगोत्रे साधु हीरा साहु भार्या जयकसूरि श्रीज्ञया वैजनाथ सहायेन श्रीजिनबिम्ब- प्रतिष्ठा कारापिता शुभम (म्)।

२ तीन चौबीसी—धातु-निर्मित—"संवत् १९३४ फाल्गुन (न) शुक्ला ११ भृगुवासरे (रे) श्री मूलसंघे सरस्वतीगछे (च्छे) बलात्कारगणे कुन्दकुन्दा- चार्याम्नाये भट्टारक श्री सकलकीर्त्ति हूंवड़ ज्ञाति गाँधी मूलचन्द देवकरण।तथा बालचन्द्र तथा हीराचन्द तथा फूलचन्द रामचन्द सोलापुरवाले।

३ वासुपूज्य—श्याम-वर्ण, पाषाण-मय "संवत् १५९५ शाके १४६० माघमासे कृष्ण- पक्षे गुरुवार.........की ....प्रतिष्ठिता।

४ चरण-चिन्ह—श्री वासु पूज्य तीर्थंकर परमदेवस्य पादुका (?) "स्वस्ति श्रीव्याभ्यु- दय मंगल सं० १६९३ वर्षे शाके १५५९ मनुनाम संवत (त्) सरे मा (म) गसिर शुक्ला २ शनै (नौ) शुभ मुहूर्त्त श्रीमूलसंघे सरस्वती- गच्छे बलात्कारगणे कुन्दकुन्दान्वये भट्टारक कुमुदचन्द्रास्तत्पट्टे भ० श्री धर्मचन्द्रोपदेशात (त्) जयपुर शुभस्थाने बघेरवालज्ञाति सं० श्री पासा भा० सं० श्री पासा भा० सं० श्री सवाई तथा पुत्रस (स्)

श्रीधाना भा० सं० श्रीसजाई पतः—चम्पाया (म्) वासुपूज्यस्य शिखर-बद्ध प्रसादकारण्य प्रतिष्ठा च त्ता विद्याभूषणैः प्रतिष्ठितं वर्द्धतां श्रीजिनधर्म (र्मः) ॥

५ वासुपूज्य—(मूलनायक) गेहुआँ वर्ण, पाषाण-मय "स्वस्तिश्री वीरनिर्वाण संवत् २४४४ विक्रम संवत् १९७४ शालिवाहन शाके १८३९ फागुनमासे शुक्ल-पक्षे नवमीतिथौ गुरुवासरे श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्री कुन्दकुन्दाचार्याम्नाये स्य दशाहूंमड़ज्ञाती (य) लघुशाखायां अवेश्वर गोत्रोत्पन्न गुर्जरदेशे ईडर संस्थानस्थित 'बीकानेर' इति मूलग्राम निवासी तथा सम्प्रतिमहाराष्ट (ष्ट्र) देशस्थित षोडशपुर (सोलापुर (?)) पत्तन निवासी शहाप्रेमचन्द तत्पुत्र हरीचन्दस्तत्पुत्र तलकचन्द स्तत्पुत्र अमीचन्द स्तत्पुत्राभ्यां हीराचन्द माणिकचन्दाभ्याम (म्) श्रीचम्पापुर निर्वाणक्षेत्रे श्रीवासुपूज्यचरणपादुकामंदिरे श्रीवासुपूज्यजिनस्येदं स (सु) मनोहरं बिंव (बं) प्रतिष्ठितम् ।"

६ वासुपूज्य—मूलनायक, धातुमय, "संवत् १९३३ फाल्गुणमासे (से) शुक्लपक्षे तिथि २ रविवासरे लीमग्राम तथा मोसरे श्रीमूलसंघे सरस्वतीगछे (च्छे) बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्य (र्या) म्नाय परंपरा श्री दिगम्बर गुरु (?) उपदेशात (त्) गाँधी जयचन्द ताराचन्दभार्या कंकुदे उभयपुत्रगौतम जयचन्द भार्या रतनदे हूमड़ज्ञाती (य) लघुशाखायां खंवेश्वरगोत्रेगाम गुजरातमध्ये वाकरोलनरहवासी तथा गांधी रूपचन्द हीराचन्द तत्पुत्र १ रामचन्द २ मोतीचन्द ३ गौतम खं० गोत्र बुधि दु हय जते राह श्री वासुपूज्यस्वामी प्रतिबिंब मूलनायक चम्पापुरमंदिरमध्ये स्थापितं ।

३ वायव्य (उत्तर-पश्चिम) कोण के चैत्यालय में—

१ विमलनाथ—"ॐ संवत् १९३९ मिती माघ शुक्ला १० वार (रे) शुक्रे काष्ठासंघे माथुरगछे (च्छे) पुष्करगणे लोहाचार्याम्नाये भट्टारक ललितकीर्त्ति-देवास्तत्पदे (ट्टे ?) भट्टारक राजेन्द्रकीर्त्ति देवास्तदाम्नाये अग्रोतकान्वय (ये) जिंगलगोत्रे साधुकीर्त्तिचन्द तत्पुत्र साधुजीतमलस्य भार्या मकुन्दी बीबी पुत्रा साधु मुनीश्वरदास जिनवरदास लालचन्द्रश्चे पौत्रश्च गुलाबचन्द्रतैः श्रीवासुपूज्य पंचकल्याणक पुनीति चम्पापुर या (यां) श्री जिनचैत्यचैत्यालय प्रतिष्ठा कारापिता शुभम (म्) इन्दोरनगरस्थ हूमड़ ज्ञातीयौ वेणीचन्दमलूकचन्दौ प्रणमतः ।

४ ऐशान (उत्तर-पूर्व) कोण के चैत्यालय में—

१ वासुपूज्य—सं० १९३२ फाल्गुन (न) माशे (से) शुक्लपक्षे तिथि २ रविवासरे श्रीमूलसंघे सरस्वतीगछे (च्छे) बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्याम्नाय दिगम्बर गुरु (?) उपदेशात (त्) गांधीवरतार खुशालसुत फतेचन्द भार्या खुशालदे सुत १ नानचन्द २ देवचन्द (?) फतेचन्द ऊँ (हू) मड़ ज्ञाती (य) लघुशाखायां गोत्र गाम (ग्राम) शोलापुर करस्य पुण्यार्थं श्री वासुपूज्य स्वामी प्रतिबिंब चम्पापुरीमंदिरमध्ये स्थापितं।

नया मंदिर बेलनगंज आगरा—

१ पाषाण श्वेतवर्ण प्रतिमा १½ फुट ऊँची—संवत् १५४८ वर्षे वैशाख शुक्ल तृतीयायां भट्टारकश्रीनृपेन्द्रकीर्त्तिदेवाचरणारविन्देसु जीवराज पापड़ीवालः प्रणमति।

२ श्वेतवर्ण पाषाण प्रतिमा—सवत् १८२६ वर्षे वैशाख शुक्ल षष्ठ्यां बुधवासरे माधोपुर भट्टारकः सुरेन्द्रकीर्त्तिस्तच्छिष्यः नन्दलालः नित्यं प्रणमति।

बड़ा मंदिर कचौड़ा बाजार आगरा—

१ श्वेतवर्ण पार्श्वनाथ पाषाण प्रतिमा १½ फुट ऊँची—संवत् १५४८ वैशाख सुदी ६ भट्टारकः श्रीनृपेन्द्रकीर्त्तिः दीवानजी युवराज पापड़ीवाल सुत टीकाराम सदाजी सिंह ……………………।

२ श्वेतवर्ण पाषाण १ फुट ऊँची—सं० १८२६ मिति वैशाख सुदी ६ माधोपुर भट्टारकः श्री सुरेन्द्रकीर्त्तिस्तच्छिष्यः नन्दलालः नित्यं प्रणमति।

३ काञ्चनवर्ण धातु ४½ इञ्च—संवत् १४९४ आषाढ़ वदि २ काष्ठासंघे माथुरान्वये श्री देवकीर्तिः प्रतिष्ठिता। मूलसंघे भट्टारकः श्री शुभचन्द्रोपदेशात् गा० अमराजी समान प्रणमति।

४ काञ्चनवर्ण धातु ३ इञ्च—सं० १४६९ माघ सुदी ६ रवौ श्रीकाष्ठासंघे श्रीगुणकीर्त्तिः अमोत शाखायां राजपुत्रो अमरः कर्मक्षयार्थं निर्मितं।

५ काञ्चनवर्ण धातु ४ इञ्च—संवत् १२४९ माघ मासे द्वादश्यां तिथौ………।

६ " ३ इञ्च—संवत् १५२५ चैतवदी ५ सोमे श्री हेमचन्द आम्नाये काष्ठासंघे गंगोसर डालात् राजा रायमतः पुत्रस्य सूनु जिनदासः प्रणमति।

७ काञ्चनवर्ण धातु ३ इञ्च— संवत् १५२५ चैतसुदी ५… …

८ " " १४२६ वर्षे ज्येष्ठ सुदी १३ सोमे मूलसंघे……

९ " ४ इञ्च— संवत् १७४६ पं० नैनसुख…………।

बड़ा मन्दिर मोती कटरा आगरा—

१ श्याम वर्ण पाषाण १½ फुट— संवत् १२१० माघ शुक्ल ३ बुधे श्रीमति माथुर संघे आम्नाये श्रीमदनकीर्त्तिः श्रावकः तस्ये द्वेसुते दें दूब सावदेवस्तयोः पुत्रः देवनपाल अस्य भार्या तत्र प्रतिष्ठापिता।

२ श्वेतवर्णपाषाण १½ फुट ऊँची— संवत् १५४७ वर्षे वैशाख सुदी ३ श्रीभट्टारकः जिनचन्द्रः तत्पट्टे········।

३ श्वेतवर्ण पाषाण १½ फुट ऊँची—संवत् १····२ मूलसंघे बलात्कारगणे सरास्वती गच्छे कुन्दकुन्दाम्नाये प्रतिष्ठिता।

४ महावीर स्वामी की वेदी में काञ्चनवर्ण धातुमय १½ फुट ऊँची —संवत् १६८८ फाल्गुनशुक्लाष्टम्यां रविवासरे काष्ठासंघे माथुरगच्छे शुभे श्रीभट्टारकः यशकीर्त्ति-देवस्तत्पट्टे श्रीमकलचन्द्रस्तत्पट्टे श्रीमहेन्द्रसेनाम्नाये प्रतिष्ठितम्। मनयारवास्तव्य प्रतिष्ठा कारापिता।

५ कोने की वेदी में श्वेतवर्णपाषाणमय १ फुट ऊँची—संवत् १६५८ फाल्गुन सुदी ८ शुक्रवासरे काष्ठासंघे प्रणमति·······।

६ श्वेतवर्णपाषाण १ फुट ऊँची—संवत् १५४८ वैशाखसुदी ३ भट्टारक जिनचन्द्रः श्रीचन्द्रकीर्त्तिश्च अनयोः शिष्यः पापड़ीवालः·······।

७ श्वेतवर्णपाषाण १ फुट ऊंची—संवत् १६५८ फाल्गुनसुदी ८ श्रीकाष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे श्रीभट्टारकः यशर्कीर्त्तिः·······।

८ श्वेतवर्णपाषाणमयी १½ फुट ऊँची—संवत् १७८३ वैशाखवदी ८

९ ,, १½ ऊंची—संवत् १६८८ फाल्गुनसुदी ८

१० ,, ६ इंच—संवत् १७५१ ज्येष्ठवदी ५

श्री धन्नालाल गोधा का मन्दिर आगरा—

१ श्यामवर्णपाषाणमय १ फुट ऊँची—संवत् १८८१ मिती माघसुदी ६ शुक्रवासरे काष्ठासंघे भट्टारकललितकीर्त्तिआम्नाये अग्रोतकान्वये श्रावकहीरालालेन बिम्बप्रतिष्ठा कारापिता।

छीपी टोला आगरा—

१ श्वेतवर्णपाषाणमयी १ फुट ऊँची—संवत् १५४८ वैशाखसुदी ३·······।

तारको गली का मन्दिर आगरा—

१ श्वेतवर्णपाषाणमयी ६ इंच उन्नत—संवत् १८२६ वैशाखसुदी ३ भट्टारकः सुरेन्द्रकीर्त्तिः·······।

२ श्वेतवर्ण पाषाण १½ फुट उन्नत - संवत् १८६१ वैशाखसुदी ३ दीतवारभट्टारकः श्रीसुरेन्द्रकीर्त्तिः प्रणमति।

३ श्वेतवर्ण पाषाण १ फुट—संवत् १६५८ फाल्गुन सुदी ८ शनिवासरे श्री-काष्ठासघे माथुरगच्छे पुष्करगणे श्रीलोहाचार्यान्वये श्रीगुणभद्रपट्टे श्रीगुणकीर्त्तिः तत्पट्टे श्रीकुमारसेनस्ततः श्रीविशालकीर्त्तिः तच्छिष्यः श्रीजसोधरः नित्यं प्रणमति।

४ श्यामवर्णपाषाणमय एक फुट ऊँची—संवत् १२०४ वैशाखवदी १२ श्रीमूलसंघे भट्टारकविजयकीर्त्तिः नित्यं प्रणमति।

५ श्वेतवर्णपाषाणमय १ फुट—संवत् १२२६ फागुन सुदी ८ मूलसंघे ········

६ „ „ — संवत् १८६१ वैशाखवदी ५······ ········

७ „ १½ फुट—संवत् १८२६ वैशाखसुदी ६················।

चैत्यालय किनारी बाजार आगरा—

१ पीतवर्णधातुमय ३ इंच—मूलसंघे सा० मोहन फाल्गुन सुदी ८ संवत् १६८८

२ पीतवर्ण धातुमय ६ इंच—संवत् १५३६ वैशाखसुदी १० गुणदत्त जैसवालेन ससंघः प्रतिष्ठा करापिता।

३ पीतवर्ण धातुमय ४॥—संवत् १५२८ फाल्गुनसुदी ५··············।

धूलियागंज आगरा—

१ श्वेतवर्णपाषाणमय १ फुट ऊँची आदिनाथ प्रतिमा—संवत् १६६८ सा० हीरालाल सुतः निहालचन्ददेवः कारिता।

कचहरीघाट पत्थरीगली आगरा—

१ पीतवर्ण धातुमय पार्श्वनाथ—संवत् १५७५ मूलसंघे कुन्दकुन्दान्वये ···············

२ „ „ „— संवत् १५०३ काष्ठासंघे बलात्कारगणे माथुरगच्छे।

३ „ „ „—संवत् १२५८···········।

४ पीतवर्ण धातुमय चन्द्रप्रभु स्वामी—संवत् १४५२···········।

दि० जैन मन्दिर बटेश्वर जिला आगरा—

१ श्वेतपाषाणमय ७ इंच ऊँचाई—संवत् १६८८ वैशाखसुदी ३ श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे भट्टारकः जगतभूषणः तदाम्नाये सभासिंघः प्रणमति।

२ पीतवर्ण धातुमय ६ इंच ऊँची—संवत् १८३८ कार्त्तिकसुदी १३ मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे··········।

श्री दिगम्बर जैनमन्दिर शौरीपुर के भीतर पीठिका की दीवाल पर का शिलालेख—

श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये श्रीजगत्भूषण श्री भ० विश्वभूषणदेवाः स्वरीपुर (शौरीपुर) मैं (क्षेत्रे) जिन मन्दिर प्रतिष्ठा सं० १२२४ वैशाखवदी १३ को (रवौ) कारापिता

श्री वटेश्वर के दि० जैन मन्दिर के चौक में प्रवेश होनेवाले दरवाजे के ऊपर का शिलालेख—

ॐ परमात्मने नमः । संवत् १८३८ श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये श्री भट्टारक विश्वभूषणदेवाः ब्र० विनयसागरजी हर्षसागरजी तद्गुरुभ्राता पं० हरिकृष्णजी पं० जीवनराम जो पं० हेमराज जी एतेषां मध्ये स्थापनकरी सूरीपुरवटक्षेत्रे श्री महाराजाधिराजः श्रीमहाराज-महेन्द्र श्रीबषत (बखत) सिंह बहादुरराज्ये श्री भ० जिनेन्द्रभूषणः नित्यं प्रणमति श्री जिनमन्दिरं कारापितम् (?)

—क्रमशः

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XVIII JUNE, 1952. No I.

Edited by

Prof. A. N. Upadhya, M. A., D. Litt.
Prof. Jyoti Prasad Jain, M. A., LL. B.
Sri, Kamata Prasad Jain, M. R. A. S., D. L.
Pt. K. Bhujbali Shastri, Vidyabhushan.
Pt. Nemi Chandra Shastri, Jyotishacharya

Published by :

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Inland Rs. 3, Single Copy Rs. 1/8.

CONTENTS.

ॐ

THE JAINA ANTIQUARY

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "

[अकलंकदेव]

Vol XVIII No 1	ARRAH (INDIA)	June 1952.

ON THE LATEST PHASE OF THE PROGRESS OF PRAKRIT STUDIES.

By

Prof. Dr. A. N. Upadhye, Kolhapur.

The studies connected with Middle Indo-Aryan languages, which comprise Pāli, Prākrit and Apabhraṁśa of the earlier terminology, are proving day to day more lucrative and pregnant with fruitful prospects than they were once thought to be. The importance of Pāli for studying the Buddhist ideology and for supplying glimpses of the social and cultural aspects of contemporary India as a whole is unsurpassed; but soon Pāli got separated from the main current of Indo-Aryan languages and was carried to countries outside India where it developed in circumstances different from those in India proper. The Prākrit and Apabhraṁśa languages, however, stand on a slightly different footing. In the early stages of Oriental scholarship the Prākrits attracted the attention of Indologists in the so called Sanskrit dramas, by way of quotations in rhetorical works, and in the inscriptions of Asoka and other monarchs.

Lately the bounds of Prākrit studies have assumed a definite shape.[1] The recent work done in this field has revealed how rich and extensive literature is found written in the various Prākrit and Apabhraṁśa dialects and how varied are the interests of the Prākrit poets and scholars. A more intensive study of this important branch of Indology is bound to produce valuable results particularly for the period of the Indian Middle Ages and the cultural history of those times. The importance of the Prākrit studies for the history of Indian languages is obvious enough. The Prākrit literature is more popular than Sanskrit and helps us to get a better picture of the Indian masses than is otherwise possible. Particularly the field of folklore is likely to derive greater benefit from Prākrit literature.

In connection with Prākrit Inscriptions, the edition of Asokan records by Hultzsch[2] and of Khroṣṭhi Inscriptions by Sten Konow are a model[3]; and lately Dr. Bloch has given us a refreshing and concise exposition of the language of Asokan records[4]. Dr. Mehendale has attempted a valuable analysis of important Prākrit Inscriptions[5]; and now it should be possible to compare these details with those available from Prākrit literature found in and outside India[6].

Though editions of plays of Kālidāsa etc. are repeatedly issued in India, there is seen no attempt to edit the text critically using fresh material; but in many cases the Prākrit passages are deplorably neglected. Quite recently we have come to know about half

---

1. E. Windisch: Geschichte der Sanskrit-Philologie und ind. Altertumskunde, I-III, Strassburg-Berlin-Leipzig, 1917-21; W Wust: Die Erforschung der indo-germanischen Sprachen, Indiach, Berlin u. Leipzig, 1929, pp. 24, 31, 41f. 44 f. 67-8, 126-7, 135; A. M. Ghatage: A Brief Sketch of Prākrit Studies in the Progress of Indic Studies, Poona 1942; and also the Presidential addresses of Upadhye, Hiralal, Banarasidas, Ghatage at the Hyderabad, Benares, Nagpur and Darbhanga Sessions of the All India Oriental Conference in the Section Prākrit and Jainism.

2. Inscriptions of Asoka, Oxford 1924.

3. Kharoṣṭhi Inscriptions, Oxford 1929.

4. Les Inscriptions d' Asoka, Paris 1950.

5. Historical Grammar of Inscriptional Prākrits, Poona 1948.

6. T. Burrow; The Language of the Kharoṣṭhi Documents, Cambridge 1937.

a dozen plays of the Saṭṭaka type, but most of them follow Rājaśekhara's Kappūramaṁjarī and are of a late period. From the study of their Mss. one fact is becoming explicit that these authors made hardly any difference between Māhārāṣṭrī and Śaurasenī, confining the former to verses and the latter to prose, but wrote in a general Prākrit conforming on the whole to the rules of Vararuci's grammar in eight or nine chapters.[7]

The traditional course of study of an Indian Pandit has neglected Prākrit literature on the whole with the result that many artistic poems, the names of which are known and quotations from some of which are available, are lost beyond recovery. The Gāhākoso of Hāla shows what a wealth of natural poetry Prākrit once possessed. The pedantically artistic style of the Setubandha and the flights of Utprekṣā (or metaphor) are almost unsurpassed in Indian poetry. The latest addition to this branch is the Līlāvaī which is recently edited in a critical manner from rare Mss. material. This poem shows how Prākrit poetry was evolving hand in hand with Sanskrit; and the Prākrit and Sanskrit poets were drawing inspiration from each other. Among the latest publications the Nāṇapaṁcamīkahā is more a collection of stories of didactic and edifying nature than a literary piece. The Kuvalayamālā, the linguistic material from which has already attracted the attention of L. B. Gandhi, A. Master and others, is being edited by the present writer from the two available Mss. Very lately the Prākrit poems like the Kaṁsavaho, Soricaritta etc. have seen the light of day: they show how certain scholars, may be in isolation, carried on the exercise of composing Prākrit poems in the extreme south of India as late as the 15th to 18th century A. D. These poems are artistic, but their Prākrit dialect does not possess that living grace seen in the compositions of Pravarasena, Vākpati, Haribhadra, Uddyotana, Kutūhala etc.

The Ardhamāgadhī canon and its Prākrit commentaries are not really 'dry as dust' as they were once described from limited samples. They contain a great mass of socio cultural information, as is evident from Dr. Jain's 'Life in Ancient India, as depicted in the Jaina Canon' (Bombay 1947). It is still a virgin field, and there is scope for

7. A. N. Upadhye: Caṁdalehā, Bombay 1945, see the Intro.

studies on various lines. All the texts, even all the chapters of earlier texts, are not of the same age. What requires to be done is a chronological stratification of the texts and portions of them; and then alone the information from the different strata can be judiciously collected and sifted in a critical manner. Very few canonical texts have been critically edited. And today through the efforts of Muni Punyavijayaji the old Mss.-collections at Jaisalmer and Pattan have been examined and put in order; and photographs of many old canonical Mss. have been taken. Quite recently Dr. L. Alsdorf of Germany visited these and other collections and has taken to Europe scores of photographs of Mss. Any canonical text can be edited critically with some finality only after using old palm-leaf Mss. from Jaisalmer and Pattan. It is lately found that some of the old Mss. of Cūrṇis etc. show altogether a varying recension quite different from that of the printed editions.[8]

The publication of the ten volumes of the Dhavalā, two vols. of Jayadhavalā and one vol. of Mahādhavalā is a remarkable event They are edited from a single Ms. which was a sealed book to the scholars for centuries together. These texts mostly in Prākrit and partly in Sanskrit deal with the most obscure doctrine of Karman which is a speciality of Jainism and very little corresponding to which is found in any other Indian religion. These are important treatises the contents of which require to be studied critically by students of comparative religion.

The Lexicographical study of the M. I-A has also to progress side by side with the publication of Prākrit texts. It is quite urgent now that a comprehensive M. I-A or Prākrit Dictionary should be compiled on scientific lines. It should cover the entire material available from various inscriptions and Pāli, Prākrit and Apabhraṁśa texts. Such a Lexicon alone will give us a magnificient picture of the evolution of the M. I-A languages which have progressed towards the Modern I-A languages in the background of Sanskrit on the one hand and Dravidian and other languages on the other.

8. This is lately revealed by Muni Punyavijayaji in one of his letters written from Jaisalmer.

The study of Apabhraṁśa language and literature is still in its infancy but full of great promises as it connects us with Prākrits on the one hand and with many a Modern Indian Language on the other. Apabhraṁśa is an essentially literary language inheriting primarily the Prākrit vocabulary but showing extraneous influence in phonology, terminations etc. It shows minor regional and temporal variations here and there. The language is bound to prove elusive for those who have identified it with reginal languages and are trying to find consequently dialectal differences.[9] The Mss. collections in Jaipur and other places in Rajputana contain many Apabhraṁśa Mss; and the Catalogue of Āmera Bhaṇḍāra[10] only shows what a rich material is awaiting the hand of a critical worker. The Apabhraṁśa poetry breathes a new spirit, and there is something unconventional about it. It supplies rich harvest for the Indian linguist and metrician. The language is so shaping itself in Mss. of different centuries that here we feel how directly we are approaching the beginning of Rājasthāni, Old-Gujarāti and Old-Hindī. For reconstructing the historical growth of these languages nowhere can we get more rich material than in Apabhraṁśa texts. The number of critically edited texts is small in contrast to those still in Mss. However it is a happy augury that some important texts have been edited with critical Introductions. Any one who has a first hand knowledge of the regional speeches of Gujarāt, Saurāshṭra, Rājasthān and Hindi-speaking areas will at once find important links in Apabhraṁśa which would shed abundant light on the Hindi and Gujarāti dialects. It is high time that Hindī, Gujarāti, Marāṭhī etc. are studied critically in the background of Prākrits and Apabhraṁśa. In India there is a great awakening today to enrich the National Language, namely Hindī. In fashioning the technical terms we are rightly drawing upon Sanskrit vocabulary; but it is necessary to note that many words which are current in the common man's mouth have a history of their own through Prākrit and Apabhraṁśa stages, and they need not be replaced by Sanskrit terms. Thus alone Hindī can be simple to be understood by the learned as well as the common man; in fine

9. G. V. Tagare: Historical Grammar of Apabhraṁśa, Poona 1948

10. Āmera Śastra Bhaṇḍāra, Jayapura, Sūcī by K. Kasalival, Jaipur 1949.

Hindi as a lingua franca will be the same for the classes and masses. Apabhrmśa can be of great use in this context.

For rightly appreciating the cultural heritage of India, Prākrti and Pāli, besides Sanskrit, have to be studied more extensively; and the Prākrits and Apabhramśa have a special value for the study of Modern Indo-Āryan[11].

---

11. This paper was submitted to the 22nd International Congress of Orientalists, Istanbul, but the author could not attend the Congress personally.

JAINA GURUS OF THE NAME OF PUJYAPĀDA.

By

Prof. Jyoti Prasad Jain, M.A. LL. B.

(*Continued from Vol. XVI No. 2, p. 53.*)

Thus in an inscription of 1163 A.D., it is mentioned that 'in the line of Bhadrabāhu arose Kundakunda, also called Padmanaṇdi, and Umāswāmi alias Gṛdha-picchācārya; his disciple was Balākapiccha. That in such a line of illustrious Acāryas arose Samantabhadra after whom came Pūjyapāda.' This record also informs us that Pūjyapāda was given this name because his feet had been worshipped by the gods. Further, that his original name was Dēvanandi, and that, on account of his towering intellect, he was also called Jinēndrabuddhi. As regards his works, the inscription informs us that his (Pujyapāda's) Jainēndra proclaimed to the learned his unrivalled knowledge of grammar, the great Sarvārthasiddhi his proficiency in philosophy, the Jaināblhiṣēka his high poetic talents and subtle knowledge of prosody, and the Samādhiśataka his peace of mind. Almost a similar account is repeated in a record of 1398 A.D. It also confirms the names Dēvanandi and Jinēndrabuddhi given to this Guru and the same derivation of the name Pūjyapāda.[2] The inscription of 1432 A.D. tells us that this Pūjyapāda was unrivalled in the power of healing and that he had visited the Jina in the Vidēha regions, while the touch of the water used for washing his feet indeed had the virtue of turning iron into gold.[3] Yet another record discovered in the Panca-basadi at Humacca in Nagar Taluka, and assigned to 15 30 A.D., attributes to Pūjyapāda the authorship of Nyāyakumuda-candrodaya, a Nyāsa on the Sūtrās of Śākaṭāyana, another Nyāsa named Jainēndra, also the great Nyāsa called the Śabdāvatāra on the Sūtras of Pāṇini, a Vaidya-śāstra for the good of mankind, and a Tīkā to the Tatwārtha.[4]

---

1. E. C, II, 64, p. 17.
2. E. C. II, 254, p. 110.
3. E. C., II, 258, p. 117.
4. E. C., VIII Nr. 46, p. 147; also My. & Cg., p. 197.

Pt Jugal Kishore Mukhtar, however, thinks (vide Swāmi Samantbhadra, p. 48) that this inscription ascribes Nyāyakumudcandrodaya and Śākaṭāyana Nyāsa to Prabhācandra and not to Pūjyapāda. But it is a mistake.

All these records are thus unanimous in making this Pūjyapāda Dēvanandi a very early Ācārya, a renowned Yogi, a great philosopher and a master grammarian. They also agree as to his being the author of the Jainēndra Vyākaraṇa and of a commentary on the Tatwārtha-Sutra of Umāswāmin.[5] But they differ as regards other works attributed to him. The last, as also the latest, of the four records mentioned above ascribes to this Pūjyapāda the authorship of several works which are known to have been written by later writers. In fact, by the time these later records were inscribed at least one more Pūjyapada (i.e. of A.D. 1300) is definitely known to have intervened, and he was also a great Yogi, a Vaidya and an author, as we have already seen.[6] Moreover, as we shall see later, there definitely lived yet another Pūjyapāda who was quite distict from and later than the first Pūjyapāda (alias Devanandi) and who long preceded the Pūjyapāda of A D 1300. Therefore, it is quite likely that the authors and scribes of these later records might have confused the achievements and other particulars relating to the different Pūjyapādas. There is, however, absolutely no other piece of evidence to show that Pūjyapāda Dēvanandi wrote any work called Nyāyakumud-candrodaya, or for the matter of that, any work on Logic proper. The only work of that name so far known and available is a commentary by Prabhācandra (11th century)[7] on an important logical treatise of Akalaṁka known as the Laghiyastriya and which has often been mentioned by the name of its famous commentary i.e. Nyāyakumud-candra.[8]

Same thing holds good with regard to the Nyāsa on Śakaṭāyana. Pūjyapāda Dēvanandi could certainly have written a Nyāsa on the Sutras of the original Śākaṭāyana who had preceded even Pāṇiṇi (5th century B C.); but so far there is absolutely no evidence to support the assertion of this record. There was,

5. This work is better known by the name of Sarvārtha siddhi.

6. J. A., XVI. 2. pp. 47-51.

7. See J. A. XVI. 2. p 50.

8 Valenkar—Jinaratnakosa. p. 219; Introd. to Nyāyakumud Candra, Pt. I, p 7. The real name of this vrtti was Nyāyakumud—Candra, but it has often been wrongly called Nyāyakumud—Candrodaya, probably on the basis of a wrong interpretation of a reference of Jainasena the author of Adipurāṇa.

however, another and a later Śākaṭāyana who was a Jaina scholar, and who wrote his Śabdānuśāsana along with his own commentary on it, which is known as the Amōghavṛtti, in the reign of Rāṣṭrakūṭa king Amōghavarśa I (815-867 A. D).[9] On this work Pūjyapāda I could obviously have not written any Nyāsa because he himself lived several centuries before this Śākaṭayana junior. Moreover, the first known Nyāsa on the Śabdānuśāsana of this later Śākaṭāyana is the Śabdānuśāsana-vṛtti-vivaraṇa by Prabhācandra, the above mentioned commentator of Akalaṃka,[10] who also wrote the Śabdāmbhōja-bhāskara-vṛtti on the Jainendra of Pujyapada I.[11] So if there was any such Nyasa on Śākaṭāyana written by a Pūjyapāda, it must have been either the work of the Pūjyapāda Yogi of circa 1300 A.D. or of some other Pūjyapāda not yet known, but who must have lived between the 11th and the 14th centuries A.D. The Bhaṭṭāraka of Karkala (circa 1500 A.D) is too recent a person to have been confused by this record of 1530 A.D., with the original Pūjyapāda. I am inclined to think that it was Prabhācandra who caused this confusion.

But the same thing cannot he said about the Vaidyasastra and the Nyāsa on Pāṇini. This inscription of 1530 A.D. is not the only piece of evidence which informs us that Pūjyapāda I had also written a Vaidyasastra for the good of mankind. That of 1432 A.D. also expressly speaks of him 'as unrivalled in the power af healing.' Further, the statement made in the same record that 'the water washed from his feet could turn iron into gold', seems to imply that

---

9. Belwalkar—Systems of Grammar, pp. 68-73; Jainaratnakosa p. 377.

10. Narsimhaehar—Jain Gazette, 1923, pp. 217-232;
K. B. Pathak—Ind. Ant., XLIII, p. 205.

Pathak was a victim of the common error in assigning this Prabhacandra to the end of the 8th century A.D. Even Dr. Upadhye seemed to hold the same view (see Annals BORI.). And the source of error appears to be the previouslv referred to verse of Adipurana (Ch I, vv. 47, 48). But the Prabhacandra referred to by Jinasena must have been an earlier author of the same name, and a work of his might also have been called 'Candrodaya', but it cannot be identified with Nyāyakumudchandra, nor its author with the scholar referred to by Jinasena (circa 140 A.D.).

11. Srawana-bel-gola inscription no. 40 (64); Anekant IV, 2, pp. 131-132, Swami Samantabhadra, p. 58.

sage's proficiency in alchemy. Moreover, Pārśwa Pandit in his Pārśwanāth Purāṇa composed in 1222 A.D. ascribes to Pūjyapāda the authorship of Kalyāṇakāraka, a work on medicine, alongwith the Jainēndra and the Tatwārtha-vṛtti.[12] Jagadalla Sōmanāth alias Citrakavi-Sōma wrote his Kannada Kalyāṇakaraka in about 1150 A.D., and he himself asserts that his work was simply a Kannada rendering of the original Kalyāṇakāraka of Pūjyapāda.[13] As we have already seen, Vijayanna Upadhyaya also, in the very opening verse of his Sārasaṇgraha attributes the authorship of Kalyāṇakāraka to Pujyapāda.[14] The first line of this verse is the same as the first line of the opening verse of Samantabhadra's Ratna-karaṇḍa-śrāvakācara. On pages 1-5 of this work the writer quotes certain passages from the Rasa-prakarṇa of a work on medicine alleged to have been written by Samantabhadra. And from page 6 to 32 he gives a number of medicinal formulae alleged to have been prescribed by Pūjyapāda. No doubt this Sarasangraha is of a very late origin, still it has some corroborative value. The name of Ugrāditya-ācārya's famous work on medicine in Sanskrit is also Kalyāṇakāraka.[15] It was written about the beginning of the 9th century A.D.[16], and the author seems also to have been associated with the court of Rāśtrakūṭa Amōghavarśa (815 867 A D.).[17] At the end of his work, Ugrāditya makes a mention of a number of prominent Jaina masters of medicine, who had preceded him, viz. Pūjyapāda, Pātraswāmi, Siddhasēna, Daśaratha guru, Mēghanāda, Simhanāda, and Samantabhadra. About Pūjyapāda, this author informs us that he was an authority especially on Sālākya (i.e. the diseases of the ear, nose and throat).[18] Now of these masters mentioned by Ugrāditya all those that are known, are known to have lived prior to A D. 800. The

12. Karnataka Kavicharite, I. p. 325, F n. 1.

13 Ibid I, pp. 164-165, II pp. 15-16.

14. Prasastisangraha (Arrah), p 149.

15. This work has recently been published from Sholapur by Shri G. J Dosi.

16 My article—'Ugraditya and Ramagiri', pub. in the Proceed. of Indian History Congress (Nagpur, 1950).

17. M. A. R., 1922, p 23; ibid 1906-7, p. 15; Medieval Jainism p. 267.

18. Prasastisangraha (Arrah), pp. 50-57.

name of Pūjyapāda occurs first in this account and he is made to precede Pātraswāmi (Pātrakeśarsi ?) and Siddhasēna both of whom belong to the 6th century A.D. Samantabhadra is mentioned last. But if it was the first and most celebrated Samantabhadra of the 2nd century A.D., he ought to have headed the list. Possibly, he was some other and later Samantabhadra who belonged to the 7th or 8th century A.D.[19] And if the original Samantabhadra is meant here, then the reason for his being mentioned last may be because he had a special superiority over all the others. Whereas everyone of the other masters mentioned herein is said to have been proficient in some one particular branch of the medical science, Ugrāditya describes Samantabhadra as the master of all its eight branches—the Aṣṭāṇga. But to come back to Pūjyapāda, Ugrāditya's testimony which is by far the most important and reliable one in this respect unquestionably makes him (Devanandi Pujyapada) a master medicinist. It is, however, curious that Ugraditya makes no mention of any medical work of Pujyapāda nor of any older Kalyāṇakāraka. But that there existed such a work there seems to be little doubt. Even the people of the Indianised kingdoms of the far east, like Kambuja (Combodia) were acquainted with such a work which according to Dr. B. R. Chatterjee was probably none else but the Jaina work Kalyāṇakāraka.[20] Thus there is no doubt that Pūjyapāda I Devanandi was certainly proficient in the science of medicine and there is every likelihood that he also wrote a work on medicine -a Vaidyaśāstra. But whether this work was known by the name of Kalyāṇakaraka or by some other name, cannot be said with certainty.

As regards the Nyāsa on Pāṇiṇi, the inscription of 1530 A.D. again is not the only evidence. Vṛttivilāsa, a Kannada poet of about 1160 A.D. also states that Pūjyapāda wrote the Śabdāvatāra Ṭīkā on Pāṇiṇi.[21] Prof. Keilhorn also believed that Pūjyapāda whose other name was Devanandi wrote a Nyāsa on the Sūtras of Pāṇiṇi.[22]

19. Vide Swami Samantabhadra.

20 Indian cultural Influence in Combodia (Calcutta, 1926).

21. R. Narsimhachar—Karṇāṭakaśabdānuśāsana
—Jain Gazette, Sep. Oct. 1923, pp. 217-232.

22. Keilhorn on Jainendra Vyākaraṇa—I. A, X (1811), pp. 75-79.—he also gives the legends about Pūjyapāda.

While Lewis Rice, on the basis of the Hiramatha copper plate grant from Hobburu in Tumkur Taluka, assigned to circa 700 A.D.[23] stated that not only was this Pūjyapāda Devanandi the author of the said Śabdāvatāra but that he was also the spiritual preceptor of Ganga king Durvinīta whom he assigned to A.D. 482-517.[24] And on the basis of this contemporaneity of Pūjyapāda I with Durvinīta Ganga, the former's date has consequently been fixed as the latter half of the 5th century A.D. Dr. Buhler[25] and R. Narsimhachar[26] al o supported this date of Pūjyapāda I, and this theory has since been generally accepted.[27]

But some scholars have later on disavowed this theory. They are, moreover, inclined to place Durvinīta in the first half of the 7th century A.D. Even Prof. R. Narsimhachar, although he believed that Pūjyapāda Devanandi himself lived in the later half of the 5th century or about the beginning of the 6th century A.D., refuted Rice's theory that he was also the author of the Śabdāvātāra and was the guru of Durvinīta. He took his stand on the basis of the Gummareddipur plates of Durvinita himself, issued in the latter's 40th reginal year.[28] According to his interpretation this record ascribes the authorship of the Śabdāvatāra alongwith that of the Sanskrit rendering of the Bṛahat-katha (of Guṇāḍhya) and a commentary on the 15th Sarga of Kirātarjuniya to Durvinīta himself. He also says that the record does nowhere imply that this king was

23. E. C., XII Tm 23, p 7

24. L. Rice—Mysore and Coorg, pp 35, 196. On the importance of this inscription of Ganga Durvinita in explaining away the connection between him and Pūjyapāda as also the work Śabdāvatāra, also see MAR, 1911-12, p. 35.

25. Ind. Ant., XIV, p. 355.

26. Formerly he also believed that Pujyapāda was the author of the Sabdāvatara and belonged to the close of the 5th century A.D. (see, Jaina Gazette, 1923, pp. 217-232), also that he was probably the Guru of Durvinita (see. J. A., XV, 2, p. 73 and Kavicharita pp. 5-6).

27. J. K. Mukhtar in Swami Samantabhadra pp. 142-143, JSB, I, 8; S. Srikantha Sastri (Proceed. of the 8th session of AIOC, p. 564); Dr. A. N. Upadhya (Pravacanasara, introd. p. 22), (JBHS, IV, pp 19-26, referred to in Proceed. 7th Session of AIOC; N. R. Premi (JSI, p. 116); Saletore (MJ, p. 23), etc.

28. MAR, 1912, pp. 31-32, 35-36;

associated with Pūjyapāda.[29] Whereas, relying on a statement made in the introductory chapter of the Avanti-sundarī-kathāsāra, the same scholar makes Durvinita a contemporary of poet Bharavi, of Pallava king Simhavisnu (c.575-600 A.D.) and of Eastern Chālukya king Kubja-Viṣnu-vardhana (615-633 A.D.). And thus Narsimhachar places Durvinita in about 600 A.D., and finally fixes his date as 605-660 A.D.[30] Bharavi's mention by Ravikirti in the Aihola inscription of 634 A.D. evidently proves that that poet could certainly have existed about the beginning of the 7th century A.D.

Now as regards Pūjyapāda's being the guru of Durvinīta, the Gummareddipur plates have got merely a negative value. Simply because they do not mention the fact does not necessarily mean that no such relationship existed between the two. And if there is no other more clear and decisive evidence in favour of this relationship, than the Hirematha copper plates as interpreted by Rice, there is at the same time nothing to contradict this interpretation. On the other hand, it is supported by a long standing tradition in Karṇāṭaka. There is no doubt that Durvinīta, like most other rulers of his dynasty was an ardent Jaina.[31] Later Ganga records affirm this fact and also attribute to him the building of many a Jaina basadi (temples). The Ganga dynasty itself was founded towards the close of the 2nd century A.D., with the help of an eminent Jaina Guru, Simhanandi, and the first king of this line, Daddiga Konguni had promised to his Guru that his line will ever be true to the religion of the Jina.[32] Durvinita's grandfather, Tadangala Mādhava or Mādhavavarma III (circa 400 A.D.) was also a patron of Jainism. His copper plate grant dated in his 13th reginal year and assigned by Rice to A.D. 370, discovered in the ruined basadi of Nonmangala, Malur Taluka, informs us that this king gave a grant of villages and

29. Kavicharite I, pp 12-13; also see Med. Jainism pp. 19-20.

30. MAR. for 1921, p. 28; for 1924, p. 70; also his Presidential Address to the 8th session of the AIOC.

31. 'That Durvinita was a good Jaina is proved by a record of 1055 A.D.' says Dr. Saletore (Med. Jainism p. 19). This record inscribed in the Chenna Parswa basadi at Kogali, and dated Saka 977 or A.D. 1055 (no. 37 of 1904) informs that this basadi was built by king Durvinita.

32. Vide Medieval Jainism, pp. 7-14.

lands to the Arhat temple, at the instance of Jaina Ācārya Vira-deva[33] Durvinita's father Avinita was likewise a good Jaina[34]. He is known to have given grants to the Jaina temples of Uvrur and Perur, and to have had for his preceptor the Jaina Guru Vijāyakirti.[35] His Nonmangala copper plate grant of his 1st reginal year and assigned by Rice to A.D. 425, says that this Śrimata Kouguṇivarma Mahārājādhirāj on the advice of his preceptor Vijāyakirti gave the Vennalkarni village etc. to the Kudluer Arhat temple which had been established by Candranandi and others of the Śri Mūla Sangha.[36] The Mercarra plates of Avinita, assigned to Saka 388 (i.e. 466 A.D.) associate him with the Jaina Guru Candranandi (or Vnadanandi ?) of the Deśīyagaṇa in the line of Kundakunda.[37] It is also said that he had appointed Devanandi Pūjyapāda as the preceptor of his son Durvinita.[38] This Guru also belonged to the above mentioned Sangha and gaṇa which for a very long time continued to be a most popular sangha in Karṇāṭaka. It is therefore quite likely that Durvinīta became a disciple and perhaps a pupil as well of Pūjyapāda I. He certainly had a Guru and one who was quite an eminent personage. His own Kadagathur plates, assigned by Rice to A.D. 482, describe him as one 'who followed the virtues of his own Guru (स्वगुरु गुणानुगामिनाः)[39] And the inscription of 1530 A.D. mentioned before, describes Pūjyapāda as 'the master who had the king for his devotee' (स्वामी भूपाल वन्द्यः)[40] These statements and traditions read alongwith the words "(the king who) follows the great path made noble by the literary achievements of Deva (Devanandi Pujyapāda)

33. E. C., X Mr. 73, pp. 172-173.

34. For his patronage of Jainism also see Ind. Ant., I, p. 136, and Krisna Rao's Gangas of Talkada, p. 22.

35. Rice—Mysore & Coorg from Inscriptions (London, 1909) pp. 34-35.

36. E. C., X Mr. 72, pp 171-172; Ramaswami Ayengar—Studies in SIJ, pp. 110-111.

37. E. C., I, Cg 1, p. 51. The genuineness of these plates has, however, been questioned (see Med Jain. p. 18). Still in so far as they confirm that Avinita was a staunch Jaina and was associated with the Jaina Gurus of the Nandi Sangha, it has its importance

38. At least Rice seems to imply as much.

39 E. C., XII Mi 110, p. 115.

40. E. C., VIII Nr. 46, p. 117.

the author of Śabdāvatara" (शब्दावतारकारदेव-भारती-निबद्ध-बृहत्पथाः) of the Hiramatha plates,[41] make the case for such a master-pupil relationship between Pūjyapāda I and Durvinita Ganga quite a strong one. Even if the Gummareddipur plates are taken to imply that Durvinita himself was the author of the Śabdāvatara, their statement could very likely mean, as Dr. Saletore rightly surmises, that king Durvinita who though himself had not been a great grammarian, might have put into Kannada the original Śabdāvatara (in Sanskrit) of Pūjyapāda, obviously as a mark of respect for his great Guru.[42] In fact, neither in his own Nallala plates[43] and other records nor in those of his successors there is any reference to his proficiency in grammar,[44] although they supply detailed information about his manysided scholarship and his achievements as a scholar, a devotee, an astute politician, a great ruler and brave warriar, and about his remarkable personality. Whereas Pūjyapada Devanandi has been a universally accepted master grammarian—one of the greatest eight, and mentioned just after Panini and Amara.[45] Tradition does ascribe to him a Nyāsa on Pāṇini. Hence it is quite probable that he might have written one and that it was called the Śabdāvatāra.

41. E. C., XII Im 23, p. 7.

42. Med Jainism, p. 23.

43. M AR, 1924, pp. 70-71. Although this record makes a mention of his knowledge of physiognomy and medicine. And this fact also indirectly supports his association with Pujyapada who, we know, was a great medicinist as well.

44. M. J., p. 23.

45. इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्न पिशली शाकटायनः ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः ॥—धातुपाठ ।

A SYLLOGISM PERTAINING TO AHIMSĀ.

By

Prof. Hiralal R. Kapadia M. A.

The doctrine of *ahimsā* has captured and enraptured the hearts of the Indians from the hoary antiquity. The *Jainas* are its unique votaries. The great vow of *ahimsā* occupies the central place in Jainism. The vows of refraining from untruth, stealth, unchastity and possession are as it were mere tributaries of this gigantic river of *ahimsā*, unsurpassable in holiness. The Jaina saints have spared no pains in expounding the details and intricacies regarding *ahimsā*. This has naturally led to the fact that *ahimsā* has become a synonym of Jainism, unrivalled in application.

Jainism assigns a due place toverbal testimony—authority known as *āgama*. It does not allow it to encroach upon the right province of reasoning (*tarka*). Such being the case, we find several tenets of Jaina metaphysics, ethics etc., dealt with from the logical—rational view-point.

Dasaveyāliya is a master-piece shedding ample light on the conduct of the Jaina clergy, whose goal is to cultivate *ahimsā* in full. This canonical treatise of the Śvetāmbaras, an exemplary monument of paternal love for an offspring, is furnished with a splendid versified Prākrit commentary named as 'Nijjutti'. Its author is said to be Bhadrabāhusvāmin, the last *śruta kevalin*, who died in Vīra Saṁvat 170. Some of the modern scholars attribute this *Nijjutti* to Bhadrabāhu, the junior, who is supposed to have flourished in the 5th century A. D. or thereabout. This *Nijjutti* is followed by *Bhāsa*, another Pāiya (Prākṛta) commentary in verse.

According to some of the Jaina writers, a syllogism of ten parts (*avayavas*) is the best, that of five parts mediocre, and that of two parts quite ordinary (*jaghanya*.)[1] Some say that a syllogism of one part viz. *sādhana* is *jaghanya*, that having two to nine parts mediocre, and one having ten parts excellent. This is not the place to dilate upon this topic. So I shall quote the following verse from *Dasaveyāliya-nijjutti* as it enumerates ten parts of a syllogism :—

"ते उ पइन्न-विभत्ती हेउ-विभत्ती विवक्ख-पडिसेहो ।
दिट्ठंतो आसंका तप्पडिसेहो निगमणं च ॥१३७॥"

Before proceeding further, I may give the Sanskrit equivalents of the ten names noted here and render them into English as under :

	Prākrit	Sanskrit	English
1	पइन्न(न्ना)	प्रतिज्ञा	Proposition
2	(पइन्न)विभत्ति	(प्रतिज्ञा)विभक्ति	Limitatoin of the Proposition
3	हेउ	हेतु	Reason
4	(हेउ)विभत्ति	(हेतु विभक्ति	Limitation of the Reason
5	विवक्ख	विपक्ष	Counteraction
6	(विवक्ख)पडिसेह	(विपक्ष)प्रतिषेध	Opposition to the Counteraction
7	दिट्ठंत	दृष्टान्त	Instance or Example
8	आसंका	आशङ्का	Question (about the validity) of the Instance
9	आसंकापडिसेह	आशङ्काप्रतिषेध	Meeting of the Question
10	निगमण	निगमन	Conclusion

A syllogism consisting of these ten parts has been utilized by Bhadrabāhusvāmin for demonstrating the truth expressed in the first foot of the following first verse of *Dasaveyāliya* :—

"धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो ॥१॥"

It means : *dharma* (religion) is the highest *maṅgala* (auspiciousness.) Its constituents are *ahiṁsā*, self-control and austerity. Even gods bow to him whose mind is always attached to *dharma*.

Really and strictly speaking, *dharma according* to Jainism is primarily nothig else but *ahiṁsā*. Self-control and austerity are included in *ahiṁsā* as understood in a wide sense. Even then they are here mentioned separately over and above *ahiṁsā* to point out their importance. So the syllogism in question may be interpreted as referring to *ahiṁsā*, the greatest of virtues, and the late Dr. Satis Chandra Vidyabhusan has already done so in 1921 A. D. in his splendid work named as *A History of Indian Logic*.

The syllogism in question is given in v. 138 ff. of *Dasaveyāliya-nijjutti*. This is expounded and elucidated by Haribhadra Sūri, a prolific writer (c. 700 770 A. D.) in his commentary on *Dasaveyāliya* and this *Nijjutti* of it. It may be represented as under :—

1 Proposition : *Dharma* is the highest *maṅgala.*

2 Limitation of the proposition : This *dharma* is expounded by the Jaina *Tīrthaṅkaras* only. The doctrine of "*Ahiṁsā*" is correctly explained in Jainism and nowhere else.

3 Reason : This *dharma* is worshipped by gods. The Jaina saints reside in the highest abode of religion, and they are adored by gods.

4 Limitation of the reason : The Jaina saints are free from deceit (anger, pride and avarice, too), and they sustain their life without resorting to *hiṁsā.*

5 Counteraction : But, people salute their fathers-in-law as an act of *maṅgala* (say) virtue, even though the latter despise Jainism and have no liking for religion. Further, those who perform sacrifices and thus kill animals, are worshipped by gods. Moreover, Buddha and other non-Jain personalities are looked upon by their followers, as objects of adoration by gods.

6 Opposition to the counteraction : The fruit of *dharma* is happiness, right-faith, joy and an excellent status of a Jaina *Tīrthaṅkara.*

It is as likely that fire will be cold as that those persons who take life, are crofty and do not control their senses, are indeed worshipped.

Buddha, Kapila and others are honoured for some of their miraculous sayings, but the Jaina *Tīrthaṅkaras* are honoured because they possess unique qualities like ommiscience, absolute freedom from untruth etc.

Worship of Buddha and others is merely nominal whereas that of the Jaina *Tīrthaṅkaras* real.

7 Instance : The Jaina *Tīrthaṅkaras* and the saints who follow their advice, do not cook food lest in so doing they should take life. They depend on householders for their meals.

8 Question : House-holders prepare food with a view to giving it to *Jaina* saints.

9 Meeting of the question : House-holders cook food in due course. It is their routine. The Jaina saints go to householders without giving notice or showing their least inclination to do so, and that, too, not at fixed hours. House-holders would naturally cook food, even if the Jaina saints were not there. So these saints have nothing to do with *hiṁsā* committed by house-holders.

10 Conclusion : *Dharma* is therefore the excellent *maṅgala* as it is an object of adoration to gods.

This very topic is succinctly dealt with, in this *Nijjutti* (v. 89-91) by Bhadrabāhusvāmin. Here he has resorted to a five-limbed syllogism, the limbs being (1) proposition, (2) reason, (3) instance, (4) application and (5) conclusion.[2] In v. 92 the topic viz. "the Jaina saints observe religion as expounded by the ommiscient *Tīrthaṅkaras*" is introduced. This proposition is upheld in the next verse. The corresponding verses of the *Bhāsa* and those of *Dasaveyāliya*, the text, furnish us wit.. a ... limbed syllogism. It has five members in common with the five-limbedsyllogism noted above, and the rest are as it were their limitations in asmuch as they are their *vis'uddhis*[3]

In short, Bhadrabāhusvāmin along with other pontiffs has repeatedly and rightly said that *ahiṁsā* is the only panacea for all evils and for all times.

---

1 See *Ratnākarāvatārikā* on *Pramāṇanayatattvāloka* (III, 42) and Siddharṣi's com. (p. 52) on *Nyāyāvatāra* (v. 20).

2 These are met with in *Nyāyasūtra* (I, i, 32). Praś-asta has however noted the following :—

(1) *Pratijñā*, (2) *apadeśa*, (3) *nidar-śanī*, (4) *anusandhāna* and (5) *pratyāmnāya*.

3 Thus this is another set of ten limbs. The third is given by yātsyāyana in his *Bhāṣya* on *Nyāyasūtra* Here he has enumerated the five limbs noted above, along with the following :—

(i) *jijñāsā*, (ii) *samaśya*, (iii) *śakya-prāpti*, (iv) *prayojana* and (v) *saṁśaya-vyudāsa*.

These may be rendered into English as (i) inquiry to the proposition. (ii) questioning the reason, (iii) capacity of the example to warrant the conclusion, (iv) purpose for drawing the conclusion, and (v) dispelling all questions.

The Jaina Chronology.

By
Kamta Prasad Jain, D.L., M R A.S.

(*Continued from Vol. XVI, pp. 34-38*)

No.	Period & Date.	Events.
287	938 A. D.	*Sūdi* Plates of Śaka 860 records the donation of Land by the crown prince Buṭuga of the Western Gangas, which he bestowed to the Jain temples of Sūdi built by his queen Dîvalambā. (JSS. II p. 172.)
288	945 A. D.	*Madanūr* (Df. Nellore) inscription of Chāḷukya Vijayāditya VI records the donation of land on the request of his Sāmant Durgarāja to the Kankābharaṇa Jinālaya of Dharmapuri, which was built by the latter. (*Ibid.* p. 182.)
289	945 A. D.	Friday, 5th December, Śaka era 867. Coronation of the Eastern Chālukya Amma II or Vijayāditya VI, Son and successor of Chālukya Bhīma II, King of Vengi. Ruled till 970 A.D. He patronised the Jainas. At the instance of Lady Chāmekāmbā of the Paṭṭavardhika lineage of the royal courtesans, he made a grant of a village to Arhanandin, (the disciple of Sakala Chandra-Siddhānta) belonging to the Aḍḍakali gachchha and Valahāri gaṇa for the benefit of the Sarvalokāśrya-Jinabhavana (Kaluchumbarru grant).

No.	Period & Date.	Events.
		Vijayāditya VI's military general Durgarāja (Son of the Kaṭākādhipati Vijayāditya) 'whose sword always served only for the protection of the fortune of the Chālukyas and whose renowned family served for the support of the excellent great country called Vengi," founded the Kaṭakābharaṇa Jinālaya near Dharmapuri and gave its charge to Śrīmandira-Deva, pupil of Divākara (who was the pupil of the Nandigachchha, Koṭimḍuvagaṇa and the Yāpanīya-Saṃgha). (Ref. D C 90 Ep. Ind. VII, 179 & IX 49-50)
290	949 A. D.	War between the Rashṭrakūṭas and the Cholas Hostility between the rival religions: Jainism and Hinduism in the Deccan leads to the introduction of much bitterness into the wars of this period; but Jainas were always cautious of their fundamental principle of Ahimsa. (Ref. EHI. (1914) p. 429).
291	950 A. D.	*Humucha* inscription of the Pārśvanātha basti records that Pāliyakka, wife of Tolāperruṣa-Sāntār caused to be erected a Jain temple known as 'Pāliyakka-basti' and made donations for it. (Ref. JSS. II. p. 188).
292	Ditto.	*Kumsi* grant records the donation of Jinadattarāya of the Kanakakula belonging to the linege of the Kings of Kalasa and his sāmant Bommarasa to the Jain temples of Polalu and Kumbsike. (Ibid. p. 189.)

No.	Period & Date.	Events.
293	955 A. D.	Vik. Saṃ. 1011 (Monday April 2nd) Khajuraho (Chhatarpur State) inscription. It records a number of gifts by Pāhila, (who was held in honour by Dhaṅga Chandella and was renowned, for his piety and pious character) made in favour of the temple of Jinanātha. (Ref. Ep. Ind I, 135-6.)
294	956 A. D.	Vik-Saṃ. 1013. Mahendra Chandra, son of Mādhava, possibly a King of Gwalior dedicates a Jaina image at Suhaniyā (near Gwalior). (Ref. J.A.S.B. XXXI, 399.)
295	959 A. D.	Śaka era 881. Somadevāchārya, pupil of Nemideva composes the *Yaśastilaka*. (Ref. P.R., I. p. 55; II, pp. 33-49; IV, Index CXXXV.)
296	967 A. D.	Vik. Saṃ 1023. Laksmichandra (45) succeeds Mādhavachandra (Variant, Māghachandra) (44) as pontiff in the Nandiśangha : enthronement at Chanderi (Bundelkhand.)
297	968 A. D.	Lakṣameśvara Sankhabasti inscription of Śaka 890. It records that Marsinghdeva of the Western Gangas caused a Jaina temple to be built at Puligere, which was called "Ganga Kandarpa Jinendra temple" and made donations for it. (Ref. ISS. II p. 196.)
298	969 A. D.	Vik. Saṃ. 1025. Śāmba Sādhu writes a pañjikā on the Jinashataka. (Ref. J.G. p. 279.)

No.	Period & Date.	Events.
299	971 A. D.	Saka 893 Kadur pillar inscription. It records that Pāmabbe, the senior queen of Padiyar Dorapayya and the disciple of the nun Nāuṇabbe-Kanti pulling out her hairs adopted the vows of a nun and performed asceticism for full thirty years. She was renowned for her austerity and penance. (Ref. JSS. II p. 198.)
300	973 A. D.	Overthrow of the Rāshṭrakūta's Kingdom of Malkhed. Tailap or Nūrmmadi Taila (A.D. 973-997), the founder of the Western Chālukya power of Kalyāṇa, defeats Kakka II Rāshtrakūta and marries his daughter Jakkabbe: loss caused to the Jaina cult in the Deccan by the misfortunes of its patrons the Rāshṭrakūṭas appears to have been compensated to some extent by the liberal policy of the succeeding dynasty. (Ref. *Rice*; "Mysore and Coorg from Inscriptions." p. 72.)
301	975 A D.	Date of a Sanskrit and Kanarese inscription: It records a panegyric of Western Ganga Mārasinha II; being engraved after his death. He died a religious death at Bankāpura, near Digambarāchārya Ajitasena. (Ref. Inscrips. at Sr. Bel. no. 38 p. 5 Ep. Ind. V, 176.)
302	977 A. D.	Vik: Saṃ. 1034 Jaina image inscription from Suhaniya of the time of Vajradaman Kachchhapaghāṭa. (Ref. JASB.. XXXI., pp. 393-411)

No.	Date & Period.	Events.
303	977 A. D.	Śaka era 900. Chāmundarāja, minister of the Western Ganga King Rāchamalla, completes his 'Purāna'. (Ref. Ind. Ant. XII 21.)
304	Ditto.	Śaka era 899. Peggūr stone inscription. Rakkasa, younger brother of the Western Ganga Rāchamalla II and governor of Beddoregare makes a gift in favour of Anantvirya, pupil of Guṇasena-pandita-bhaṭṭāraka of Śravanabelgola. (Ref. JSS. II. p. 200.)
305	979 A. D.	Bedure stone inscription: records, 'Bhānukirti Bhattāraka erected an epitaph when Trilokachandra Bhattār, disciple of Ravichandra, died observing the Sannyāsa.' —(Ref. JSS. II. p. 201.)
306	980 A. D.	Minister Chāmumḍarāja erects the famous colossal image of Gommaṭeshvara (ht. 57½ feet) at Śravanabelagola. (Rice: about 983.) "Nothing grander or more imposing exists out of Egypt."—Ferguesson. (Ref. Ghoshal, Dravya Saṃgrah Intro: p. 27; Rice, Mysore & Coorg fr. the Inscrips. p. 193 & Ep. Ind. VII p 108 f)
307	Ditto.	Varuṇa epitaph of a Jain Yati. (EC. III, 40.)
308	Ditto.	Saundatti inscription : records the gift of *Prithviram's grandson Shanti Varma and his mother Nijakabbe in favour of the Jain temple* of Sugandhavarti. —(*JSS. II. p. 204.*)

No.	Date & Period.	Events.
[illegible]	981 A. D.	Vik-Saṃ 1037. Guṇanandi (variant. Guṇakīrti) (46) succeeds Lakṣmichandra (45) as pontiff in the Nandi Sangha: enthronement at Chanderi (Bundelkhand.)
310	Ditto.	Swetāmbaras got constructed some images of the Tīrthankaras at Mathurā bearing inscriptions of this date.
311	982 A. D.	Vîrgal of Indrarāja from Hemavati bearing a Kannaḍa inscription, which records the deeds of valor and piety of this hero. (Ref. EC. XII No. 27)
312	990 A. D.	Angaḍi epitaph of Śrī Vimalachandra Panḍitadeva of the Dravila Saṃgha, which was erected in his memory by his layman disciple Habumabe's younger sister Śāntiyabbe. —(EC. VI, Mudgere tl, No. II.)

(*To be continued.*)

JAIN CULTURE IN SHAHABAD.

By

Pt. Nemi Chandra Shastri.

It would be no exaggeration to say that the district of Shahabad in Bihar is the land of physical prowess as well as of religious grandeur. Apart to other religions its contribution to Jainism is singularly profound and comprehensive. In this respect, Shahabad really makes a mark in Bihar. It has the proud privilege of inhabiting about one and half thousand Jains under its area which constitutes the modern district of Shahabad. Jains reside here in the towns of Arrah and Dalmianagar as the main centre. Historically speaking Jainism exists in this district from the 6th century A.D. About twenty images of Jain Nemi Nath, Rishabha Nath and others, the fabulous tree Kalpbriksha (a tree granting everything desired) the religion incarnate Dharmachakra excavated from Chousa, in Buxar sub-division, unmistakably vouchsafe the truth of the above statement. Archeologists have fixed the period of these images, to be from the 6th century A.D. to the 9th century A. D. The finding of Dharmachakra, originated by Rishabha Nath, is the symbol of the spread of Jainism in Shahabad dist. before the 6th century A. D., as it is undisputed that Dharmachakra has been excavated only from those places where Jainism had once its stronghold. All these relics excavated from Chousa have been kept safely in the Patna Museum. The sight of these in the museum vividly recalls the religious fervour, skill and artistic genius of that age. However the present existence of Jains in Shahabad is not traceable to earlier than four hundred years ago. The history of middle period is uncertain and is not available. Jains clearly come into picture here from year 1554. There are various images of year 1554 in the Chandra Prabhu Chaityalaya, built by Babu Chunni Lal. It is clear from the 'Murtilekha' of 'Mul Nayak Pratima' of Chandra Prabhu that it was built in Aram Nagar, in 'Sambat' 1562 'Baishakha sudi astami'. The front portions of the image have faded and are not easily read. In the same temple there is a little image of Chandra Prabhu bearing the date of its installation as Baishakha sudi tija 1533, established by

Jivaraj Papariwal. It seems, it is one of the one lakh images installed by Jivaraj Papariwal in the different parts of India. There is also a Jain temple in Village Masarh, 6 miles west of Arrah another place of antiquity which goes back to the time of Harsa. Its 'Murti lekha' bears the date Baishakha sudi chaudas 1876. Huen Tsang has referred to this place as Mo-no-so-lo or Mahasara, which was close to the Ganges at that time. Some Rathor Jains of Marwar settled there in the fourteenth century and an inscribed Jain image bearing the date 1386 A. D. is still to be found there. Babu Sankar Lal of Arrah completed a Jain temple 'Parshanath Mandir' there in Bikrama Sambat 1819 and an inscription reads that the image of Parasnath was dedicated by him, a citizen of Aram Nagar during the prosperous English rule over Karusha-desa. There are 44 temples in Arrah and its suburb and one in Dalmianagar. From the point of view of art and crafts all these reach the zenith and are certainly captivating. In fine the whole of this land of Shahabad is dotted, as it were, with places of historical interest and importance like these Jain temples. Shahabad is really great on account of its Jain temples and Jain community, whose ideal of non-violence is still a living faith with them.

The Murti lekha found in Masarah is as follows :—

संवत् १८७६ वर्षे भट्टारक महेन्द्र भूषणास्तदाम्नाये कासिलगोत्रे वखतावर सींघःतस्य पुत्रः शंकरलालः तस्य पुत्राश्चावारः श्रीरतनचन्द्रः कीर्त्तिचन्द्रः गुपालचन्द्रः प्यारेलालश्च आरामनगरवासीति। मसाढ नगरे जिनबिम्ब कररापिता। रतनचन्द्रेण रथयात्रा सोत्साहं कारापिता चेति।

A brief sketch of some of the well known Jain temples of Shahabad in a nut-shell is given below :—

1. Shree Samaveda Sikhar Mandir :—This was dedicated by Harprasad Das Jain, the true server of the cause of humanity. To satisfy the yearning of his heart he got erected in 1902 two palatial buildings and employed a highly paid sculptor from Jaipur to reproduce in marble the famous holy places like Parshwanath hill and the images of 24 Tirthankars. In the same year he executed a registered deed on the 10th March, making a free gift of the houses to the public-along with this temple. In the trust-deed executed on the 31st March 1918, he himself recounts with evident satisfaction "I have

got two houses built at a high cost adjacent to each other for Dharmasala in the Mahalla Mahajan Toli No. 1. at Arrah and on the upper storey of one of these houses I have got constructed in white marbles Sheekharjee and Shree Kailashjee in miniature. I have further got the temple of Pawapuri along with the tank constructed in white marble and also the temple of Shree Champapuri. In all these I have installed the 'Charans' of the Gods. In the houses are installed the God Shree Adinath, Parashnath, Mahabir Swami, the 24 Tirthankars and a few Pratimas." There is a glamour around these little splendid hills. It is a monumental building, historically important, aesthetically superb and humanly inspiring. It is indeed a triumph of art over God. Looked at from every point of view, it provides occasion for thoughts and ideas which uplift our hearts. Experts in the art of building have paid unstinted praise to the skill and genius of those who were responsible for its structure. The average sightseer too has waxed eloquent and become thrilled at the spectacle of this dream in marble. As one observes the grand monument one is reminded inevitably of the history behind the hills of this 'poem in marble'. Shahabad is proud of its architectural glories from time immemorial and these hills are a brilliant specimen of Jain art and imagination.

2. Shree Bahubali Jain Mandir. This temple built within the compound of Shree Jain Bala Vishram, Dharma Kunj, Arrah, was dedicated by Shree Nem Sunder Devi, pious wife of Late Babu Dhanendra Das Jain of Arrah. It is admitted on all hands that the 57 feet high, ancient image of Bahubali Swami, in Shrawan Bela Gola, in Mysore state, is a unique sight worth seeing in the world. Historians hold that its foundation was laid by general Chamund Roy of Ganga Bans in the tenth century. He was the commander-in-chief of Ganga dynasty. Becoming a deserving hero of the time he dedicated the famous statue of Gomatha Swami, the great hero and the second son of Rishabha Deo. This grand unparalelled image of Bahubali and Gomatha was copied in South India at Veñur and Karkal respectively. But the non-existence of a statue of Bahubali's was always striking in North India. So the honour of its first foundation in North India goes to Arrah. The statue is 15 ft. high and weighs 250 maunds. The temple is standing over an artificial

mountain amidst beautiful natural surroundings. One is struck dumb by the graceful and life-like engravings of flowers, creepers and fruits round the temple and it is a marvel how such microscopic items could have been done on stone. Equally impressive are the effects of the larger masses of stones and red stones over which this temple is built. The big domes, the huge gate and the vast and spacious garden are all done with supreme aesthetic skill.

3. The Jal Mandir :—This was laid by late Babu Abhay Kumar Jain of Arrah. Pawapuri has been said to be the expiration-place of the last Tirthankar Mahabir, where is a vast exquisite temple, situated in the heart of a big tank full of lotus flowers. The same is reproduced in this temple. This is also built in the middle of a little tank. To cross the tank there is a four feet wide and about 40ft long bridge. A magnificent image of Mahabir is installed in it. As one approaches the building sees first the grand gate of red-wood which is imposing in its effect. On entering this gate, one is presented with the spectacle of a lovely garden. Then comes the dais on which the main building of the monument is constructed. The whole scene is thrilling and worth seeing.

4. Nandiswar Dwip Mandir :—This is adjacent to Panchayati Mandir. In this temple 52 small Chailalya (चैत्यालय) have been set up in a very artistic way. The construction of the Nandiswar Dwip has been set on the basis of Jain-geography. From the point of art, religious instinct and minute details this temple also is of great importance.

5. Sahasrakut Chaityalaya :—This temple is under the Adinath temple in Dhanupura. In this temple, on the same storey are one thousand Jain Arhat images, carved with delicate skill and vision. This is religiously well famed in India, reviving as it does, the past glories of Arhat Pratimas and to see it in the moonlight is an unforgettable experience

6. Shree Adinath Mandir :—This was constructed by Late Babu Makhan Lal in Dhanupura. In this, grand, fascinating and shining images of the God Adinath, Parshwa Nath and others have been installed. People offer unstinted praise to its charm and fascination.

7. Panchayati Jain Mandir :—One thousand Jain images have been constructed in one stone piece. Many important relics of

Jainism are to be found here. The most recent addition to the site is a grand building. But even such of it as remains is enough to excite one's imagination for it is a huge structure built with so many images which are yet in a good condition. This is a holy place of pilgrimage. Thus it is historically important because it tells us of the glory of the Arrah Jain organisation.

8 Chaubishi Jain Mandir :—This was founded by late Babu Sukhanand. Its importance is due to the fact that all the 24 images of Tirthankaras are of similar colour as written in Jain Agam. It is also worth seeing.

Jain community in Arrah has also got publishing houses of international fame in the world of religion, which have popularised Jainism through famous publications. They are as follows : –

1. The Central Jain Publishing House, Arrah :—The first institution of the Jain 'Samaj' in India which has published Jain religion, philosophy and literature in English language. This was established in 1911. Kumar Davendra Prasad remained its life-long secretary. He was a man of great zeal and renunciation. This house has published magnificent and invaluable books like 'Drabya Sangrah', 'Key of Knowledge, Jain Law, Out lines of Jainism, Jain Jem Dictionary, Dictionary of Jain Biography, Jain Chronology, Tatwartadhi-gam Sutra and many other books of the Jain literature in english. These publications are reputed not only in India but also in England and Germany. Foreigners have realised the Jain aspect of religion only through these publications.

2. Shree Deo Kumar Jain Granthamala :—This Granthamala was started by Shree Nirmal Kumar Jain a worthy son of a worthy father in 1922 after the name of his well-known father, late Babu Deokumar Jain of Arrah. This has published eleven books up-till now, in which Jain Litrature in Tamil, Prasthai-Sangrah, Jain-Pratima-Lekha-Sangrah', 'Baidhya-Sar-Sangrah' and Muni Subrut Kabya are of much application and importance.

3. Syadwad Prakashan Mandir :—This house has translated Jain Books of Kanara Literature in hindi with a great zeal and enthusiasm. This has published up till now 'Dharmamrit', 'Ratnakar

Satka I and II part in a quite new and novel way. Ratnakar Satka part IIIrd is still in the press.

In this way Jain publications in Shahabad have justly gained a name and maintaining it in right earnest. Several journals and magazines have also appeared from here and one is still continuing. Few important from those are :

1. The Jain Gazette :—This was edited by illustrious late Babu Deo Kumar Jain from 1899 to the end of his life in 1907. This magazine was the torch bearer of the Jain religion, philosophy and literature in all walks of life. Now-a-days its files also are of great use to the Jains.

2. Shree Jain Sidhant Bhasker and Jain Antiquary :—This is a research paper of Jain Literature published under the auspices of Jain Sidhant Bhawan. This was issued in 1911 in the beginning but due to unfavourable circumstances it stopped its publication but from 1934 it has been regularly appearing up till now, This is a high class periodical which is subscribed by most of the intellectual aristocrats of the country and the centres of research works. Research works are published in this paper written by eminent scholars of the country. Before long it was tri-monthly but now it is published twice a year.

3. Jain Mahila Parishad.–Edited by Bidushi Ratna Pandita Chanda Bai from 1921. This is the only paper worth mentioning for women, in Jain community. This paper serves as a beacon light to social and religious reforms of the women. The editorial note is full of bristling gems of noble thoughts and constructive ideas.

This shows the literaray progress of Janism in Shahabad in brief. This is really a matter of great pride for Shahabad.

There are also several institutions popularising Janism in Shahabad. They are unique of their type a few among them being.

1. Shree Jain Sidhant Bhawan :—This was established by late Shree Deo Kumar in 1905 which is now housed in a beautiful up-to-date building built at a cost of thousands of rupees. The Library has now become a growing institution having 17000 high class books on different topics concerning all the religions and almost all the schools of philosophy of the world, eight thousand manuscript books of Jain Literature out of which two thousand and five hundred

are on palm leaves and the rest on paper. It has also got good collection of rare coins, stamps and antique sacred paintings. This is the only institution quite unique of this type in India. This Library won the approbation of Mahatama Gandhi, Pandit Madan Mohan Malviya and many other great personlities of India when they happened to visit this part of the country. It has also attracted scholars from Germany and America who specially come to this place in connection with research works. Its present secretary is Babu Chakreshwar Kumar Jain Ex-M. L. C. It is managed by Shree Deo Kumar Jain Trust.

2. Shree Jain Bala Vishram :—The only institution for advancing female education in India among the Jains was founded by Shree Chanda Bai Jain in 1921 and she has been conducting it with great success. It is the living monument of Jains for the purpose of female-education. Jain girls and also girls of other religions from every corner of India come to read here. Girls are instructed in subjects fit for making them good wives, good mothers as well as good citizens. It teaches religion and indian ideal of womanhood. From here girls appear at the examinations of high sanskrit stages like nyaytirth, shastri parikha, sahitya ratna, matriculation, intermediate and B. A. Provision for teaching subjects for those examinations have been amply made. It has got a big compound with three buildings, two hostels for girls and many classes decorated in a very artistic way. The whole institution is in the lap of nature. At present it contains 100 girls from the various States of India and Shree Braj Bala Devi manages all these as an assistant. Due to this institution to-day rarely an illiterate woman is found in Jain community.

In this way Jains in Shahabad have been making valuable contributions to Jain religion and are always alive to their religious duties. For the sake of preaching Jainism, 'Mahabir Jayanti', 'Shrut Panchami Parwa', 'Rakshabandhan Parwa', Mahabir Nirwan Diwash is celeberated by them on a large scale. Thousands of people come to listen to the aspects of Jainism on the eve of Mahabir Jayanti. There are many charitable dispensaries managed by Jains, two Dharamsalas, one Jain School and one Jain Degree College. In this way Jainism has got a great foot-hold in Shahabad.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में दो बार प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देश के लिये ३) है, जो पेशगी लिया जाता है। १॥) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं। मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो तो इसकी सूचना शीघ्र कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे, नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

PRINTED AT SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD.
ARRAH

जैन-सिद्धान्त भास्कर

भाग १९ | किरण २

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. XVIII | No II

Edited by
Prof. A. N. Upadhya, M. A., D. Litt.
Prof Jyoti Prasad Jain M. A., LL. B
Sri. Kamata Prasad Jain, M.R.A.S., D.L.
Pt. K. Bhujbali Shastri, Vidyabhushan.
Pt. Nemi Chandra Shastri, Jyotishacharya.

Published by
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAIN SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH (Bihar)

Annual Inland Rs. 3. | Single Copy Rs. 1/8

DECEMBER, 1952.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १९ | दिसम्बर १९५२ | किरण २

सम्पादक :

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट

प्रोफेसर ज्योति प्रसाद जैन एम. ए., एल. एल. बी.

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल.

श्री पं० के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

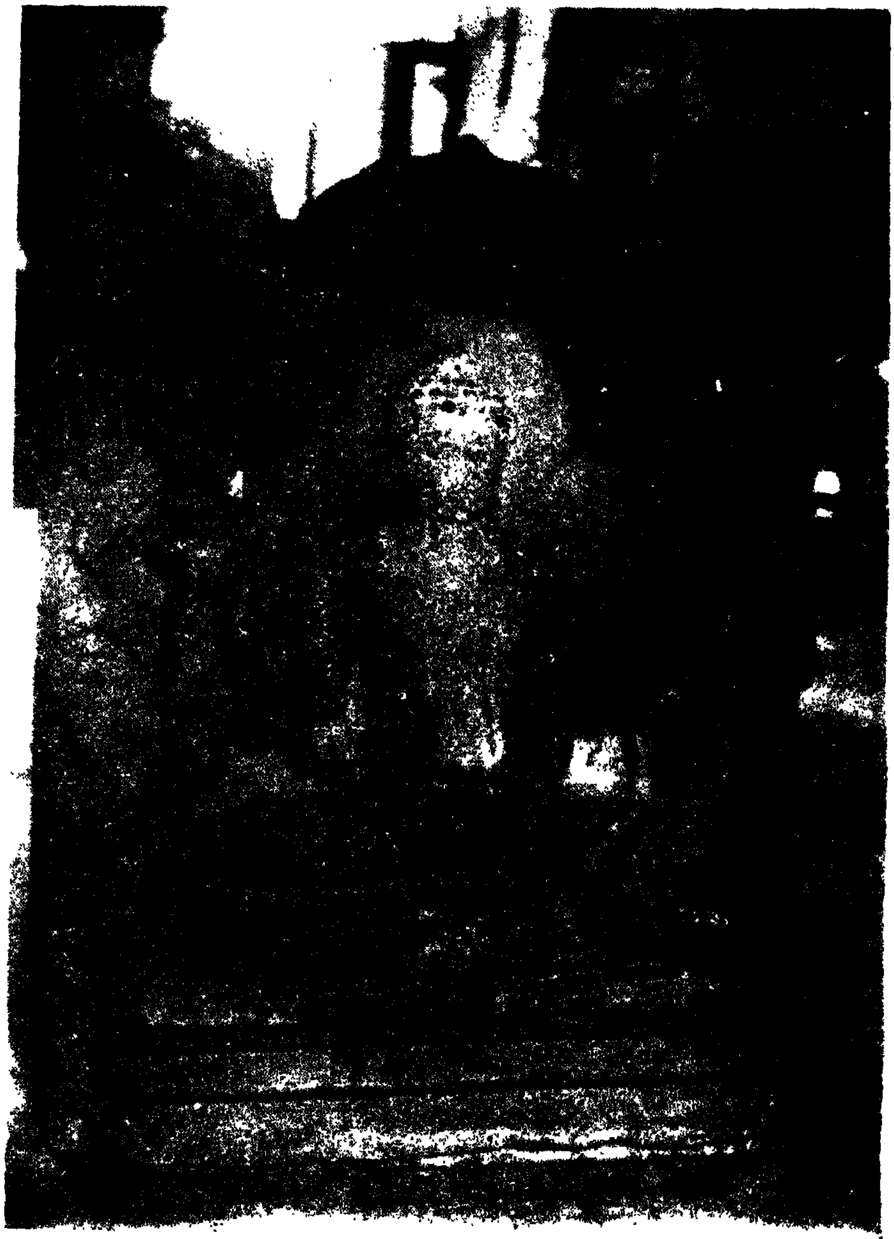
पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) एक प्रति का १॥)

विषय-सूची

—चक्रनेमि



योगेश्वर शिव

शिवजी की यह मूर्ति इन्दौर म्यूज़ियम में सुरक्षित है। यह प्रायः दिगम्बर जैन मूर्तियों जैसी है; केवल सफाई अधिक है।

श्रीजिनाय नमः

जैन सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १९ } दिसम्बर १९५२ । माघ, वीर नि० सं० २४७९ { किरण २

ऋषभदेव और शिवजी

[ले०—श्रीयुत् बा० कामता प्रसाद जैन एम० आर० ए० एस०, डी० एल०]

'इत्थं प्रभाव ऋषभोऽवतार शंकरस्य मे।
सतां गतिर्दीनबन्धुर्नवमः कथितस्तवनः ॥४७॥

—शिवपुराण

'शिवपुराण' के रचयिता कहते हैं कि इस प्रकार ऋषभावतार होगा, जो मेरे लिये शंकर (शिव) हैं। वह सत्पुरुषों के लिये सत्पथ रूप नवमें अवतार और दीनबन्धु होंगे।' इस उल्लेख से स्पष्ट है कि शिवजी का अलंकृत रूप मूलतः ऋषभदेवजी के तेज और तपस्या का काव्यमयी वर्णन है। वैदिक ऋषियों ने ऋषभदेव की उग्र तपस्या को मूर्तमयी बनाने के लिए एवं उसे ही अमृतत्व पाने का कारण जताने के लिए उसे 'शिव' के नाम से पुकारा है। वेदों में 'शिव' नाम के देवता का पता नहीं। यह अभाव इसीलिये कि ऋषभ अवैदिक श्रमण परम्परा के अग्रणी थे। जब वैदिक आर्यों ने श्रमणोपासिक जातियों से मेलजोल पैदा किया तब वैदिक परम्परा में नये नये देवता भी लिये गये। शिव, ब्रह्मा और विष्णु प्रतीकवाद के द्योतक हैं। उपरान्त क्षत्रियों के प्रभाव में अवतारवाद को वैदिक पुरोहितों ने अपनाया, जिससे राम और कृष्ण की पूजा प्रचलित हुई। प्रतीकवाद में ऋषभ को शिव का रूप दिया गया। यहाँ हमें यही देखना अभीष्ट है।

भ० ऋषभ ने कैलाश पर्वत पर उग्र तप तपा था। एक बार देवबालाओं ने उनकी तपस्या भङ्ग करने के लिये कामदेव के बाणों का प्रयोग किया था; किन्तु ऋषभदेव अचल रहे और अन्त में उन्होंने काम को ही नष्ट कर दिया। उसके साथ ही मन-वचन-काय दण्ड द्वारा उन्होंने त्रिग्रन्थियों का पूर्ण नाश कर दिया कि वह 'निर्ग्रन्थ' हो गये। पूर्वसंचित कर्म जो शेष

रहे थे, उनको भी उन्होंने भस्म कर दिया था। परिणामस्वरूप वह वल्यपति, कैवल्चिदानन्द, जीवन्मुक्त परमात्मा शिव होकर चमके। उन्होंने धर्मतीर्थ की स्थापना की—इसलिये 'वृष' (बैल) उनका चिन्ह माना गया! संक्षेप में ऋषभदेव जी की तपस्या की यह तालिका है।

अब पाठक, आइये शिवजी के चरित्र चित्रण पर दृष्टिपात कीजिये। वह देव हैं—आप्त हैं और हैं पूज्य। अतः उनके चरित्र में ऐसी बात तो नहीं आ सकती जिसे साधारणतः मानव समाज में दुराचार माना जाता है। शिव देव हैं—आराध्य हैं, तो वह एक सामान्यलम्पटी पुरुष की तरह कामी नहीं हो सकते; इतने उग्र कामरत कि उनके शिश्न की उत्तेजना को शान्त रखने के लिये पूर्ण कुम्भ से शीतल जलविन्दु हर समय टपकती रहे! इसके साथ कोई भी समझदार पुरुष यह नहीं मान सकता कि शिव मद्यपेयी और भंगड़ी थे। वह इतने क्रोधी थे कि उन्होंने भस्मासुर को नगरों सहित भस्म कर दिया और पार्वती जी को संग लिये फिरे! न वह इतने भयंकर थे कि विष खा जाते! उनके देवत्व के समक्ष ये बातें अशोभन दिखती हैं। फिर एक अचंभे की बात है कि रेणुका मरकर जीवित हुई भी उनके प्रसंग में कही गयी है! इस बुद्धिवादी युग में अन्धश्रद्धा के लिए कोई स्थान नहीं है। अतएव शिवजी के विषय में उक्त बातें जो कही गयी हैं उनको शब्दार्थ में ग्रहण नहीं किया जा सकता। उनसे शिवजीकी महत्ता में बट्टा आता है। वे अलंकार हैं और अलंकार का घूँघट उठाकर हमें उनके मूलस्वरूप का दर्शन करना उचित है।

लगभग दो हजार वर्ष पहले का लिखा हुआ एक पत्रक (Letter of Aristeas) विद्वानों को मिला है। उसमें लिखा है प्राचीनकाल में एक चित्रशैली (Symbolic) की भाषा और लिपि (Pictographic language and Script) का प्रचलन था। विद्वान् ऋषि लोग उस शैली का आश्रय लेकर अध्यात्मवाद का निरूपण किया करते थे, जिसे वह अपने शिष्यों को बता देते थे। गुरु-शिष्य-परम्परा से यह रहस्यवाद मौखिक—प्रणाली द्वारा धारावाही चलता रहा! किन्तु एक समय आया जब इस रहस्य को लोग भूल गये! 'अनर्थकाहि मंत्रः' की बात वैदिक टीकाकारों को बरबस कहनी पड़ी! बाइबिल में विद्वानों को इसीलिए धिक्कारा गया कि उन्होंने 'ज्ञान की कुँजी' को खो दिया। (Woe into ye lawyers. Ye have lost the 'Key of knowledge !') इस साक्षी से शिवजी का अलंकृतरूप स्पष्ट भासता है और 'शिवपुराण' के रचयिता उन्हें ऋषभावतार कहते हैं! वह इसीलिये कि ऋषभ आदिकाल से एक महान् तपस्वी रहे और वैदिक ऋषियों को उनकी तपस्या का बखान अलंकृत भाषा में करना अभीष्ट रहा! किन्तु उनके इस रहस्यपूर्ण स्वरूप को जाननेवाले लोगों का अभाव एक बहुत पहले जमाने से हो गया। महाकवि कालिदासजी इस सत्य से परिचित थे। इसलिये ही उन्होंने कहा कि 'शिवको यथार्थरूप से जाननेवाले और अनुभव करनेवाले

मनुष्य कम हैं !' (न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः ।—कुमारसंभव ५ । ७७) प्रतीकवाद को समझ लेना हरएक का काम नहीं । प्रतीक अथवा अलंकार का सहारा इसीलिए लिया गया प्रतीत होता है कि अध्यात्मिक सत्य की ओर हर किसी की रुचि नहीं होती । वैदिक क्रियाकाण्ड में व्यस्त लोगों में जिनको पात्र पाया उन्हीं को यह रहस्य बताया गया ।

जैन शास्त्रकारों ने स्पष्ट लिखा है कि ऋषभदेव ने कैलाश पर्वत पर घोर तपस्या की थी । जिस समय वह तपस्यारत हो आत्मध्यान में मग्न थे उस समय सुराङ्गनाओं ने उनके शील की परीक्षा ली थी; परन्तु ऋषभ तो वासना को जीत चुके थे और समाधि में लीन थे । कामदेव के बेधक बाण उन्हें समाधि से च्युत न कर सके—उल्टे उन्हें शरीर मंदिर में स्थित परमात्मतत्व के दर्शन कराने में वह साधक बने[1] । वैदिक परम्परा में स्पष्ट कहा गया है कि शिवने कामदेव को भस्म कर दिया था । पार्वती ने जब रतिवल्लभ को यों नष्ट होते देखा तो उन्होंने माना कि शिव को पाने के लिए सुन्दरता पर्याप्त नहीं है । अतएव उन्होंने तप द्वारा आत्मसमाधि लगाना निश्चित किया; क्योंकि समाधि की पूर्णता ही शिवतत्त्व को प्राप्त कराती है[2] । डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल ने 'पार्वती' को प्रतीक मानकर उसके रहस्य को स्पष्ट किया है[3] । उन्होंने लिखा कि मानव शरीर में मेरुदण्ड की रचना तैंतीस पर्वों के संयोग से हुई है । 'पर्व' जिसमें हों उसीको 'पर्वत' कहते हैं । 'पर्वाणि सन्ति अस्मिन्निति पर्वतः ।' इसीलिये मेरुदण्ड पर्वत हुआ और इसके भीतर रहनेवाली शक्ति को उपचार से 'पर्वतराज-पुत्री' या 'पार्वती' कहा जाता है । इस पार्वती की स्वाभाविक गति शिव की ओर है । पार्वती शिवको छोड़कर और किसी का वरण कर ही नहीं सकती । परन्तु पार्वती को शिव की सम्प्राप्ति तपके द्वारा ही हो सकती है, भोग के मार्ग से नहीं । अर्थात् छद्मस्थावस्था में जब 'शिवत्व' पाने के लिये उन्मुख थे उस समय काययोग की साधना के लिये उन्होंने तप का आश्रय लिया था । कायगुप्ति का पालन करके काया जनित कमजोरी को जीतकर उन्होंने पार्वतीय (मेरुदण्ड में सुप्त) शक्ति को जागृत किया

१ 'चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदिशाङ्गनाभिर्नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम् ।
कल्पान्तकाल मरुताचलिताचलेन किं मन्दिराद्रिशिखरं चलितं कदाचित् ॥१५॥

—भक्तामरस्तोत्र

२ 'तथा समक्षं दहता मनोभवं, पिनाकिना भग्नमनोरथा सती ।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती, प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ॥
इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां, तपोभिरास्थाय समाधिमात्मनः ।
अवाप्यते वा कथमन्यथाद्वयं, तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ।'

३ डा० सा० ने 'कल्याण' में शिवका स्वरूप' शीर्षक लेख प्रकट करके शिव-प्रतीक का रहस्योद्घाटन किया है । उनके इस लेख आधार से ही यह विवेचन किया जा रहा है, एतदर्थ हम उनके आभारी हैं ।

था। इसीलिये अलंकृत भाषा में कहा जाता है कि शिव-पार्वती का विवाह हुआ था! वस्तुतः वह उक्त प्रकार का एक रहस्यपूर्ण प्रतीक ही है!

शिव का मुख्य कर्म संहार माना है। निस्सन्देह सांसारिक प्रवृत्ति का संहार किये बिना निवृति मार्ग का पर्यटक नहीं बनाया जा सकता। ऋषभदेव ने प्रवृत्ति का मार्ग त्यागा था और योगचर्या को अपनाया था। कर्म-प्रकृतियों का सम्पूर्ण संहार करके ही वह शिवत्व को प्राप्त हुए थे। इसलिये उन्हें शिव कहना ठीक है।

शिवलिङ्ग पूजा का अर्थ अध्यात्मरूप में अमृतत्व को पा लेना है; किन्तु आज कोई भी तो इस गूढ़ार्थ को नहीं समझता—विषयी लोग उसमें वासना की छाया देखते हैं। वस्तुतः वह अमृत आनन्द का बोधक हैं। प्राचीन भारतीय मान्यता में मस्तिष्क को कलश या कुम्भ कहा गया है। मस्तिष्क से निरन्तर अमृत का क्षरण होता रहता है, जिसे योगीजन पीकर अध्यात्मिकता में निमग्न हो जाते हैं और विषयी पुरुष वासना में फँसकर उसका दुरुपयोग कर डालते हैं। इस उल्लेख से ब्रह्मचर्यमय योगनिष्ठा की पुष्टि होती है। ऋषभ पूर्ण ब्रह्मचारी रहकर अमृतत्व को पान करके ही शिव रूप बने थे। रेणु-वीर्य के दुरवस्थित होनेपर उसको ब्रह्मचर्य द्वारा ही ऊर्ध्वरेत करके जीवित बना दिया जाता है। ऋषभ अनन्तवीर्य के भोक्ता इसी प्रकार हुए थे। रेणुका के पुनर्जीवन पाने का रहस्य यही है।

शिव के विषपानका रहस्य भी ऋषभ की योगचर्या में छिपा हुआ है। निघण्टु में जलके १०१ नाम दिये गये है। उनमें विष और अमृत भी जलके पर्यायवाची शब्द हैं एवं वीर्य या रेत भी जलका ही रूप है। अतः वीर्य से दैवी और आसुरी अर्थात् अमृत रूप और विषरूप शक्ति प्रकट होती है। आत्मविनाश की प्रवृत्ति आसुरी शक्ति विषरूप की द्योतक है। शिवने उसे जीत लिया था। पुण्य और पाप रति और अरति—सब पर ऋषभ ने विजय पायी थी। अतः शिवका विषपान प्रसंग उनकी समवृत्ति का द्योतक है, जिसमें आसुरी वृत्ति पछाड़ दी गयी थी।

भस्मासुर के त्रिपुर शरीर के बाहर नहीं थे। वह मानव की मन-वचन-कायिक योगक्रियाएँ थीं, जिनपर अधिकार पाये बिना कोई भी योगी जीवन्मुक्त परमात्म दशाको नहीं पा सकता। ऋषभदेव ने मनदंड, वचनदंड और कायदंड द्वारा इन त्रिपुरियों को जीत लिया था—उनकी अधोवृत्ति को नष्ट कर दिया था। इसीलिये उन्हें शिव कहकर याद किया गया है।

ऋषभ की तरह ही शिव दिगम्बर कहे गये हैं। शिव त्रिशूलधारी थे। भारतीय पुरातत्त्व में त्रिशूल चिन्ह का प्रयोग पहले पहले जैनों ने किया था[1]। ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दि के हाथी

---

१ श्री रविषेणाचार्य ने जिनेन्द्र के लिए लिखा था कि शुक्ललेश्यारूपी त्रिशूल से मोहरिपु को नष्ट कर दिया है। ('शुक्ललेश्यात्रिशूलेन मोहनीयरिपुर्हतः।')

गुफालेख में वह मिलता है और कुशाणकालीन जिनमूर्तियों के आसन में त्रिशूलपर ही धर्मचक्र का चित्राङ्कण किया गया है[१]। अतः त्रिशूल—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप रत्नत्रय धर्म का प्रतीक है, जिसके द्वारा संसार व्याल को छेद दिया जाता है। शिवके रूप में सर्पों का प्रयोग मिलता है। जैन परम्परा में सर्प का विशिष्ट स्थान है। प्राचीन काल में कुछ लोग उसे ज्ञान का प्रतीक मानते थे, जो अज्ञान के लिए कालरूप था। ऋषभदेव अनन्त ज्ञान के भोक्ता थे जिसके फलस्वरूप ज्ञानगंगा प्रवाहित हुई थी। शिवजी की जटा में गंगा का वास माना ही जाता है। ऋषभमूर्तियों की यह एक विलक्षणता है कि उनके कंधों पर जटायें उत्कीर्ण की जाती है। शिववाहन वृष (बैल) ही ऋषभ का भी चिन्ह है। इस प्रकार 'शिवपुराण' के उक्त श्लोक में जो ऋषभ को शिव कहकर उल्लेखित किया है, वह सार्थक है। भारतीय परम्परा में यह विश्वास एक समय प्रचलित रहा प्रतीत होता है कि ऋषभ ही शिव हैं; क्योंकि साहित्य के साथ साथ शिवकी ऐसी मूर्तियाँ भी बनाई गयीं, जो बिल्कुल ऋषभमूर्ति से मिलती-जुलती हैं। इन्दौर संग्रहालय में इस प्रकार की एक मूर्ति है। उसका चित्र यहाँ मध्यभारत पुरातत्त्व विभाग के सौजन्य से उपस्थित किया जाता है। पाठक उसे देखकर यह भ्रम न करें कि वह जैन मूर्ति है। वह शिव की मूर्ति है, परन्तु उसका परिवेष जिनमूर्ति के अनुरूप है। यह होना कुछ विचित्र नहीं; क्योंकि ऋषभ को ही ब्राह्मणों ने शिव और जैनों ने पहला तीर्थङ्कर माना था।

---

१ "बंगाल बिहार ओड़ीसा के जैनस्मारक" और "श्री महावीर स्मृति ग्रन्थ" (पृष्ठ २२७-२२६) में देखें।

जैनागम और स्थापत्य

[लेखक—श्रीयुत डा० मोतीचन्द्र, एम० ए०, पीच० डी०
Prince of Wales Meseum, Bombay.]

भारतीय शिल्पकला-प्रधानतः धार्मिक शिल्पकला से देश विदेश के विद्वान् बहुत अधिक प्रभावित हुए हैं। भारतीय शिल्पकला में बहुत बड़े-बड़े और भव्य स्मारक जो देश के विभिन्न भागों में आज भी मन्दिर, स्तूप, तोरण के रूप में खड़े हैं तथा मुगलकाल के राजप्रासाद, किला और मसज़िदें आदि प्राचीन शिल्पकलाओं का विदेशीय विद्वानों द्वारा अनुसन्धान हुआ है। पर अभाग्यवश भारतीय विद्वानों का ध्यान इस तरफ कम गया है। कुछ विदेशी विद्वानों ने परिश्रम से इस कार्य को सफलतापूर्वक किया है। इसका कारण कहीं दूर ढूढ़ना नहीं है। पहला कारण तो यह है कि धार्मिक स्मारक आज भी मौजूद खड़े मिलते हैं और हमारे विशेष निरीक्षण, जाँच पड़ताल के लिए सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं; साथ-साथ प्राचीन काल के राजभवन तथा अन्य प्रकार के भवनों के चिन्ह भी दृष्टिगोचर होते हैं। इसके अतिरिक्त हमारे धार्मिक ग्रन्थ या इसी प्रकार के अन्य ग्रन्थों में भी विभिन्न कालों के स्थापत्य पर काफी प्रकाश डाला गया है। पर अभाग्यवश हमारे देश में वैज्ञानिक आविष्कार के कार्य तथा खुदाई विशेषरूप से नहीं हुई है। तक्षशिला आदि स्थानों की जो थोड़ी बहुत खुदाई हुई है, वह प्राचीन काल के शिल्प विद्या के ज्ञान के लिये पर्याप्त नहीं है। सामग्रियों का यह अभाव साँची, अमरावती और मथुरा आदि शहरों का जो वर्णन प्राचीन धर्मग्रन्थों में मिलता है उससे बहुत दूरतक पूरा किया जा सकता है।

डा०[1] कुमार स्वामी ने उपर्युक्त दोनों प्रकार के विषयों पर विस्तृत और गंभीर अध्ययन किया है। उनके अध्ययन और खोज से—प्रधानतः बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन से हमें प्राचीन भारतीय राजभवनों, किला, बगीचा आदि का स्पष्ट चित्र दृष्टिगोचर होने लगता है। उन्होंने बौद्ध ग्रन्थों से ऐसे बहुत से शब्दों को ढूढ़ निकाला है, जो भारतीय शिल्प विद्या के पूर्णज्ञान में बड़े सहायक सिद्ध हुए हैं। इस लेख में डा० कुमार स्वामी ने जैन ग्रन्थों का व्यवहार नहीं किया है, क्योंकि इधर थोड़े दिनों से वे ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं; जैनागम-ग्रन्थ जिनमें सूत्र, भाष्य, चूर्णिका, टीका आदि जो संस्कृत भाषा में अंकित हैं, उनसे हमें प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता का पर्याप्त ज्ञान होता है। इसमें सन्देह नहीं कि जैन ग्रन्थ प्राकृत भाषा में होने और अच्छी तरह से सम्पादित न होने के कारण हमारे मार्ग में बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ आ जाती हैं। पर इन अभावों के वर्त्तमान में रहने पर भी यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि जैन साहित्य

1 Early Indian Architecture, Eastern Art 1930-31

में ऐसे ऐसे भाण्डार भरे पड़े हैं जो किसी अन्य साहित्य में उपलब्ध नहीं हैं। और प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के लिये सर्वोत्तम साधन हैं। गृह निर्माण कला और शिल्पकला का विस्तृत वर्णन जो हमें जैन साहित्य में मिलता है, उससे हमें प्राचीन नगरों, गाँवों, राजभवनों, मन्दिरों तथा किलों के निर्माण का विशेष ज्ञान होता है। जैन साहित्य केवल निर्माण कला के टेकनिक (विधान) पर ही नहीं बल्कि उन दिनों की सजावट, बनावट आदि बातों पर बहुत बारिकी से प्रकाश डालता है। जब जैन साहित्य की अन्य साहित्यों से तुलना करते हैं तो देखते हैं कि जैन साहित्यकारों ने जिस ढंग से तत्कालीन सजावट, बनावट, गृह निर्माण कला का विस्तृत और विश्वसनीय वर्णन दिया है वह अन्यत्र नहीं मिलता। साहित्यकारों के इस प्रकार धैर्य, अनुशीलन और परिशीलन को देखकर दंग रह जाना पड़ता है। जैन आगम ग्रन्थों में तो शिल्पकला पर प्रकाश मिलता ही है, पर राजप्रश्नीय सूत्र और बृहत्कल्प-सूत्र भाष्य में धार्मिक और नागरिक दोनों प्रकार की शिल्पकला का वर्णन सबसे अधिक मिलता है। बृहत्-कल्प-सूत्र में ठीक ठीक और सुन्दर ढंग से शिल्पकला का वर्णन दिया गया है, पर राजप्रश्नीय में देव-नगरों के वर्णन में अतिशयोक्ति से काम लिया गया है। लेकिन इन अतिशयोक्तियों के वर्त्तमान रहते हुए भी यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ अद्वितीय है और इससे प्राचीन काल के भारतीय शिल्पकला के इतिहास पर विशेष प्रकाश मिलता है। इसके वर्णनों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इसके लेखक ने विस्तृत और पूर्ण ढंग से तत्कालीन शिल्पकला का अध्ययन किया है। जिसके प्रमाण स्वरूप मथुरा का जैनस्तूप है, जिसका अवशेष डा॰ फुहरेर (Führer) ने अभी हाल ही में प्राप्त किया है।

भवन निर्माण की प्रारम्भिक बातें

बृहत्[1]-कल्प-सूत्र भाष्य से हमें पता चलता है कि पहले भूमि की परीक्षा होती थी। (समभूमि विरेचन) फिर सर्वे करने वाला (अक्षर विधिज्ञ) जमीन की पैमाइश करता और फिर भवन की दिशा निर्धारित करता था, तब इसके बाद नींव पड़ती थी। (कोरम् खननम्) फिर पिलपाये की की कुरसी ईंटों द्वारा बनायी जाती थी। अन्त में भवन निर्माण का कार्य आरम्भ किया जाता था।

एक साधारण मकान के लिये एक धरण या बड़ेरी (प्रिस्थावमसा) दो कोरी या चार मुल्लावेलिट (लाठ) की आवश्यकता होती थी। इसके अतिरिक्त बांस, चटाइयां, लकड़ी के तख्ते (उकांचन) छावनी, लेवन (Plasting) होने के बाद जमीन समतल बनायी जाती थी।

जब[2] भवन बनकर तैयार हो जाता था, तब चूना फेरना (दुमिय) फिर गर्म करके सुगन्धित (धुविय) और (वासिय) किया जाता था। इसके बाद प्रकाशित (उज्जोविय) किया जाता था।

1 Brihat Kalp Sutra Bhasya, by muni Punya Vijay, Patan 1933-1938, 1,332-333 to be referred in future as B. K. S. B.

2 Lb-582-583

गृह निर्माण के विधान में गृह को तीन भागों में बांट दिया जाता था। भुइँवरा या तलघर (Under ground), समतल जमीन पर का भाग और ऊपर का भाग। भारतीय[1] जलवायु के लिए जमीन के नीचे भाग की भी बड़ी आवश्यकता होती थी।

भवन[2] में लकड़ियों के अतिरिक्त पकी ईंटों (कनित्त लोहमय इष्टक) की आवश्यकता पड़ती थी। पकी ईंट (पक्व इष्टक) और घास, फूस (तनचर) भी लगता था। प्राचीन जैन सूत्रों में भिन्न भिन्न प्रकार के नगरों का वर्णन मिलता है और उसीसे पता चलता है कि प्रत्येक नगर जन संख्या, रोजगार धन्धों के हिसाब से कई भागों में विभाजित रहता था।

ग्राम[3], नगर, खेट, करवट, मटम्ब, पट्टन, आकर, द्रोणमुख, निगम, राजधानी, आश्रम, निवास, समवाह, घोष, अमसिका और पुत्तभेदन।

इन छोटे छोटे भागों की भाष्यों द्वारा परिभाषायें भी बतलायी गयीं हैं। परन्तु यह कहना कुछ कठिन प्रतीत होता है कि किस हद तक प्राचीन परिभाषाओं की व्याख्या भाष्यों में दी गयी। पर यह तो सुनिश्चित कहा जा सकता है कि भाष्यकारों ने प्राचीन ढंग पर ही परिभाषाओं को निश्चित किया है। उनकी सचाई की परीक्षा बौद्ध और ब्राह्मण ग्रन्थों से की जा सकती है।

प्राचीन भारत में ग्राम एक छोटी सी बस्ती हुआ करता था। बृहत्कल्पसूत्र भाष्य में बहुत मनोरंजक ढंग से इसका वर्णन मिलता है। यह कहा जाता है कि गांव की सीमा वहीं तक समझी जाती थी, जहां तक उस गांव की गायें चरने जाया करती थीं। पर गाय दूसरे गांव में भी जा सकती थी, अतः यह परिभाषा भ्रममूलक है[4]। दूसरे स्थान पर कहा गया है कि एक लकड़हारा या घासगाढ़ा जहां तक जाकर फिर काम करके सूर्यास्त तक लौट आता था, वह गांव की सीमा समझी जाती थी। पर यह परिभाषा भी विवादास्पद है, क्योंकि लकड़हारा या घासकट्टा दूसरे गांवों में भी जा सकते थे। ग्राम[5] की शुद्ध परिभाषा यही समझी जाती थी कि वह प्रत्येक गांव में अपने अपने सीमा चिन्हों द्वारा निर्धारित की जाती थी। यह सीमा किसी बगीचे, कुवों, या बच्चे जहां तक खेलने जाते थे या जहाँ दो प्रेमी मिलने का स्थान निश्चित कर देते थे, वही निर्धारित कर दी जाती थी।

गांव का चौक (मध्य स्थान) वहां बनाया जाता था जहां एक मन्दिर, विश्राम भवन (देवकुल) सभाभवन (मध्य गोस्थ) और पनशाला (पंपा) रहती थी।

---

1 Lb. 584, bb 826

2 B. K. S. B., 3502

3 BKSB. P. 34, Bhagawati 1-16 L B 1097 Acārānga 1.7, 6, 4

4 Ib, 1098

5 Ib 0011

गांव[1] भी भिन्न प्रकार के होते थे (क) उत्तान मल्लकाकार (Open boul) (ख) अवांमुख (Unverted) (ग) खण्ड (Broken boul) (घ) सम्पुटक (Box or hemispherical) खण्ड भी कई भागों में विभाजित रहता था। इसके भाग निम्नलिखित हैं। उत्तान आखण्ड मल्ल समस्थित (Open broken boul) भीत्ति समस्थित, अवांमुख, सम्पुटक, पदालिका (Avenue) वल्लभी (Turret) अक्षवात (Wrestling ground) तथा रुचक और काश्यप यह एक भिन्न प्रकार का मकान था जिसके चारों तरफ चबूतरा है और उत्तर तरफ से बन्द रहता है।

उत्तान[2] मल्लकाकार (Open boul) गांव गोलाकार बसा होता था, जिसके केन्द्र में एक कुवां रहता था। अवांमुख (Inverted) के मध्य में एक मन्दिर या वट वृक्ष होता था। सम्पुटक गांव के मध्य में मन्दिर के अतिरिक्त एक कुवां भी रहता था और खण्ड गांव के अगल बगल कुवां और बहुत से वृक्ष होते थे। भीत्ति समस्थित गांव में एक समानान्तर में पूर्व दिशा में पेड़ लगे रहते थे। पदालिका (Avenue) गांव में सभी पेड़ सुन्दर ढंग और एक सिलसिले से लगाये जाते थे। वल्लभी (Turret) गांव में गांव के चारों तरफ चारों कोनों पर बहुत लम्बे लम्बे पेड़ लगाये रहते थे। इसी प्रकार से शेष गांवों में किसी न किसी प्रकार के विशेष चिन्ह पाये जाते थे।

बृहत्कल्पसूत्र भाष्य में भी कुछ दूसरे सरे प्रकार के गांव का वर्णन मिलता है। 'खेत' ग्राम चारों ओर से मिट्टी की दीवाल से घिरा होता था। धूलिप्राकार भी इसी प्रकार[3] का होता था। मटम्ब ऐसा गांव होता था जिसके ३½ गव्यूतिज या ७ कोस (१४ मील) में कोई दूसरा गांव नहीं होता था। इस चौदह मील के अन्दर दूसरे गांव का चारागाह भी नहीं रहता था। आकर गांव में खनिज द्रव्य पाये जाते थे। 'घोष'[4] गाँव चरवाहों या गड़ेरियों के गाँव को कहा जाता था। अमसिका गाँव के आधे या तृतीय भाग को कहा जाता था।

जैन साहित्य से भी भारतीय गाँवों का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ गाँव के प्रधान ऑफिस को ग्राम समस्थान कहा जाता था। वहाँ नीमा, निस्सा और थुमीवा की स्थापना एक सिलसिला से रहती थी। इसके अतिरिक्त ग्राम की रक्षा के लिये बड़े बड़े द्वार, फाटक बने रहते थे। बगद भी बना रहता था। बगद का पूरा वर्णन नहीं मिलता, पर मालूम होता है कि ये भी बड़े बड़े फाटक ही होते थे[5]। गाँव बड़े-बड़े तालाबों और खाइयों से घिरे हुए होते थे, जिनमें सदा कमल के फूल खिले रहते थे। बहुत घरों के सामने सुन्दर सुन्दर

1 Ib 1103
2 Ib 1104, 1105, 1106
3 BKSB 1089
4 BKSB 1174
5 BKSB 3446

फुलवारी लगी रहती थी। गाँव के चारों ओर घने बाँस भी लगाये रहते थे, जो प्राकृतिक शोभा और रक्षा दोनों के लिये लाभप्रद होते थे[1]। गाँवों में पानीशाला, भण्डशाला जहाँ कुम्हार घड़े आदि बेचते थे, अलग बने रहते थे। कुम्भशाला में वे वर्त्तन बनाते थे और पचनशाला में वर्त्तन पकाये जाते थे। अतिथिशाला (guest house) आगमनगृह जहाँ यात्री ठहरते थे। आचारांग से पता चलता है कि सभा और प्रपा नामके दो स्थान भी गाँव में बने रहते थे। जहाँ गाँव के लोग आराम और मनोरंजन के लिए इकट्ठे होते थे। इसको मनोरंजन गृह भी कहा जाता था।

गाँवों[2] में अन्न जमा करने के लिये भी स्थान बने रहते थे। सबसे सुन्दर और सहज तरीका था कि एक ऊँचे चबूतरे पर पुआल और बाँस की सहायता से एक गोल घेरा बना दिया जाता था और फिर मिट्टी और गोबर से लीप-पोत दिया जाता था। इसमें अन्न सुरक्षित रहता था। इसके अतिरिक्त अन्न रखने के लिये कटुहशालाएँ, अवपूरक तथा कोषथक जिसको हिन्दी में कोठिला और कोथरा कहते हैं, ईंट और मिट्टी की सहायता से बने रहते थे। वर्षाऋतु में बाँस से बने हुए 'मानका' जो ऊँचे ऊँचे खम्भों के सहारे कुछ ऊँचाई पर बने होते थे, उसीमें अन्न रखा जाता था। अन्न बड़े बड़े घड़ों में भी, जिसे कुम्भी कहा जाता था, रखा जाता था। इस प्रकार से ग्राम की बहुत सी वस्तुओं का वर्णन हमें प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न प्रकार के मनुष्यों के वासस्थानों, शहरों, नगरों का भी वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है। नगर अठारह प्रकार के करों से वंचित रहता था। 'करबन' एक शहर का छोटा रूप समझा जाता था। 'निगम' नामक स्थान में केवल व्यापारी रहते थे। 'जलपट्टन' जहाँ बोटों या नावों द्वारा सामान लाकर रखा जाता था। 'स्थलपट्टन' जहाँ बैलगाड़ियों द्वारा सामान लाकर इकट्ठा किया जाता था। 'द्रोणमुख' जहाँ स्थल और जल दोनों से सामान लाकर रखा जाता था। इसी प्रकार एक 'पत्रभेदन' नामक स्थान रहता था, जहाँ सभी ओर से सामान मंगाकर रखा जाता था और फिर वहीं से छोटे-छोटे व्यापारियों में सामान का वितरण किया जाता था। 'राजधानी' में राजा रहता था।

उपर्युक्त 'निगम' के भी दो भाग होते थे। एक 'सांग्राहिक' जहां बैंक और Whole sale वाले रहते थे और दूसरा 'असाग्राहिक' यहां बैंक के अतिरिक्त दूसरे दूसरे भी कारोबार होते थे।

पहली खाई में पानी, उसके बाद की खाई में कीचड़ और तीसरी खाई सूखी रह जाती थी। नगर की दीवार एक ऊँचे चबूतरे से आरम्भ की जाती थी। दीवाल ईंट की बनी होती थी, पर कहीं कहीं लकड़ी भी व्यवहार में लायी जाती थी। प्रधान फाटक पर दो बड़े बड़े गुम्बज

1 BKSB III P. 611.
2 BKSB IV 3298, 3299, 1089

बने रहते थे। प्रत्येक फाटक पर ही अन्दर जाने के लिये प्रवेश द्वार पर पुल बना रहता था। यों तो गुम्बज दीवाल पर एक सिलसिले मे बने ही रहते थे, पर प्रधान फाटक के गुम्बजों में सीढ़ियाँ लगी रहती थीं, जिनसे होकर गुम्बज या दीवाल पर कोई जा सकता था। गुम्बज आगे निकले हुए भाग को मुख कहते थे। चहारदिवारी में छोटे छोटे छिद्र होते थे। ये छिद्र प्रधानतः दो काम में आते थे, एक तो रोशनी करने के लिये और दूसरे शत्रुओं पर गोलियों की बौछार करने के लिये। छिद्रों के ऊपरी भाग में जगह जगह पर कोठरियाँ बनी रहती थीं, जिनको एटिक या उनमागार कहते थे। उनके सिरे पर घट या कलश रखे रहते थे। फाटक मजबूत लकड़ी का बना रहता था। जिसे कपाट कहा जाता था। कपाट को मजबूती से लोहे द्वारा बाँधा जाता था। कपाट का ऊपरी भाग धनुषाकार बना रहता था और नीचे चौखूंटा होता था।

जैनागम में भी ठीक इसी प्रकार से गृह निर्माण या पुर निर्माण का वर्णन मिलता है। बौद्ध ग्रन्थों की अपेक्षा जैन ग्रन्थों में किसी किसी का वर्णन बहुत विस्ताररूप में मिलता है। नगर और ग्रामों का वर्णन औपपादिकसूत्र में हर स्थान पर मिलता है। आचारांग, बृहत्कल्पसूत्र राजप्रश्नीय और णायधम्म में भी स्थापत्यकला का बड़ा ही सुन्दर चित्रण हुआ है।

औपपादिक सूत्र द्वारा पता चलता है कि शहर या नगर के चारों ओर की खाइयाँ ऊपर चौड़ी और नीचे पतली होती थीं। इनकी गहराई बहुत हुआ करती थी। इसके अतिरिक्त इसमें भी नगर में प्रवेश करने के लिये पथ बने रहते थे।

जैन[1] साहित्य में आये हुए भवन निर्माण कला सम्बन्धी उद्धरणों के साथ साथ बौद्ध ग्रन्थों में भी आये हुए भारतीय नगरों का वर्णन भी किया जाय तो यह विषय बहुत अच्छी तरह समझ में आ सकता है और दोनों की तुलना करने में भी सहायता मिलेगी।

नगर या पुर सबसे बड़े निर्माण कर्त्ता द्वारा बनाये जाते थे (Master Architect) जिसको नगर वद्दिकी कहा जाता था। वह अनेक बढ़इयो, थवइयों (राज) द्वारा सहायता लेता था। नगर में परिखा, चहारदिवारी (प्रकार) फाटक, द्वार, कोठा और रक्षा के लिये ऊँचे स्थान (द्वार अटालक) बने रहते थे। रक्षा की दीवाल के अतिरिक्त ऐसे ऐसे स्थानों का भी निर्माण होता था जिनसे किसी प्रकार का अभाव न हो। इसके बाद राजभवन बना रहता था, फिर इसके अतिरिक्त मन्दिर, अन्न रखने की जगह (कोठक), बड़े बड़े हाल, खेलने की रंगभूमि (किलशाला या किल मण्डल), विश्राम गृह, पनशाला, दानशाला, हाथीशाला, दुकान (आपान) बाजार (अन्तरापन) तथा पानागार (सैलून), ओरनीय, बुचड़खाना (slaughter house) बने रहते थे। फाटक या प्रधान द्वार पर बाग-बगीचे, फुलवारी, कमल से भरे हुए तालाब, स्नान करने के तालाब और उत्तम उत्तम पेड़ पौधे लगे रहते थे। नगर में एक प्रधान सड़क

1 Dr. Coomar Swami, Early Indian Architecture 209 F.F, Eastern Art 1930 PP.

बनी रहती थी, जिसको राजमार्ग, महापथ या तारण मग कहा जाता था। इसके अतिरिक्त साधारण सड़कें और गलियाँ भी बनी रहती थीं। चौक, सन्धि (crossing) और निघमनमग (drains) भी बने होते थे।

नगर कई भागों में बटा रहता था। सभी नगरों के निर्माण के लिये प्रधानतः एक ही नियम लागू किया जाता था। नियम था कि नगर वर्गाकार बसाया जाय, नगर के चारों ओर चाहरदिवारी और फाटक बने। फाटक रात में या लड़ाई के अवसर पर बन्द रखे जायँ आदि।

नगर के चारों ओर खाइयाँ बनी रहती थीं जो सदा पानी से भरी रहती थीं। कहीं कहीं खाई तिहरा अर्थात् नगर निर्माण के विषय में बौद्धग्रन्थों का अवलोकन करना भी हमारे लिये उत्तम होगा। क्योंकि जैन साहित्य से मिलान करने में सुगमता होगी।

हमारा अनुसन्धान डा० कुमार स्वामी के ही आधार पर अवलम्बित है। जातक में राजभवन के निवेश, प्रासाद, राजभवन, राजगेव, रान्नोवास, और विमान आदि कहा गया है।

राजभवन नगर के केन्द्र में स्थित रहता था, जिसका प्रधान फाटक नगर के प्रधान फाटक के सामने रहता था। अन्तःपुर से राजभवन के उस गुप्त भवन से मतलब था, जहाँ भद्र महिलाओं द्वारा पहरा रहता था। इसमें एक रक्षक घर (आरकथान) होता था, जहाँ अन्तःपुर पालक रक्षाहित रहते थे। एक संकीर्ण और गुप्त मार्ग बना रहता था, जो प्रधान फाटक से संबंधित रहता था, उसको अन्तर विधि कहा जाता था। राजभवन भी चारों ओर चहारदिवारियों से घिरा हुआ रहता था। जिसमें एक से लेकर चार फाटक बने रहते थे। बाहर का फाटक (बाहिर द्वार) राजभवन से कुछ दूरी पर बना रहता था। बाहिर द्वार से चलकर कोई राजभवन के प्रधान आँगन में पहुँचता था। यहाँ तक तो साधारण जनता का भी प्रवेश था, जहाँ न्याय भवन, फुलवारी, तालाब तथा राजा के टहलने घूमने के लिये सुन्दर सुन्दर पथ और मकान सजाये रहते थे।

राजभवन की नींव बहुत मजबूत बनी होती थी। जिसमें थम्भ (Pillars), तुला आदि लगे रहते थे। थम्भ अधिकतर आठ पहला होते थे[१]। इनोई में आज भी इस प्रकार के राजभवन खड़े पाये जाते हैं। राजभवन में कई द्वार होते थे जैसे प्रासाद द्वार, राजनिवास द्वार आदि। राजभवन कई तल्लों का होता था और भिन्न भिन्न तल्लों के नाम भिन्न भिन्न होते थे। (१) भूमिक (२) भूमक (३) तल (४) नियूह। राजभवन प्रधानतः दो भागों में बँटा रहता था। हेठ पासाद अर्थात् नीचे का तल्ला और ऊपरि पासाद अर्थात् ऊपर का तल्ला। नीचे के तल्ले पर भोजनशाला आदि होता था जिसको महानस या पचनागार कहा जाता था।

राजभवन में अलग अलग भिन्न भिन्न नामों से कोठरियाँ होती थीं। कोठरियों को गन्ध

(1) Ib P. 185

कहा जाता था। राज गब्ब (Kings chamber) कुटाधार, सिंह पंजर, चन्द्रशाला आदि नाम थे। प्रत्येक गब्ब में जाने के लिये सोपान बने होते थे, उनके भी नाम भिन्न भिन्न होते थे। धुरा सोपान, सोपान सीसा, सोपान कलिगर आदि। नीचे की छतों में सुन्दर सुन्दर कपड़े लगे रहते थे, जिन्हें चेल वितान कहा जाता था। प्रधान राजभवन सुगन्धित रखा जाता था। जगह जगह पर सुन्दर सुन्दर पुष्प मालाएँ लटकायी रहती थीं। राजभवन के भी अगल बगल मे भिन्न भिन्न नामों से अनेक कोठरियाँ बनी रहती थीं। कुमार स्वामी सभी भागों की परिभाषा सहित नाम देते हुए इस सारांश पर पहुँचते हैं कि कुटागार और उतमागार जिन पर गुम्बज बने रहते थे, सर्वोत्तम समझे जाते थे। चन्द्रशाला तो एक साधारण भवन समझा जाता था। कनिका की छत लम्बाई चौड़ाई लिए हुए और कुटागार का गोल होता था। अलिन्द और कुटागार कनिका के बाहर बने रहते थे, जिनमें बड़े-बड़े खम्भे लगे रहते थे और वहाँतक साधारण जनता का भी प्रवेश था। खिड़कियाँ भी भिन्न भिन्न प्रकार की भिन्न भिन्न नामों से पुकारी जाती थी। गवाक्ष, तामील, केकुदु और मथुरा तथा आगरा के गोल के समान होता था। सिंहपंजर भी एक प्रकार की खिड़की ही होती थी, जो फ्रान्स की खिड़कियों से मिलती जुलती है।

हमलोग ऊपर देख चुके हैं कि बौद्ध ग्रन्थों में भिन्न भिन्न प्रकार के भवनों के निर्माण तथा नामों के वर्णन आये हैं। जैनागम में भी इसी प्रकार के पूर्ण विवरण हमें मिलते हैं। इसके अतिरिक्त जैन ग्रन्थों में बहुत नवीन नवीन नाम भी दिये गये हैं। राजभवन[१] के मकानों को जिन्हें जैन ग्रन्थों में पासाए कहा गया है, क्षत्रिय राजकुमारों के लिये भिन्न भिन्न नामों से बने रहते थे। जिनमें वद्धमान, गिहानी, बल्लग, परियायों, गुम्बज, भव्य भवन आदि नाम मुख्य माने गये हैं; प्रासाद[२] केवल राजभवनों को ही कहा जाता था। कहीं कहीं समीक्षक इसको दो तल्लेवाले मकान के ऊपरी भाग को भी कहते हैं।

हमें[१] स्पष्ट और सुन्दर ढंग से राजभवनों का वर्णन नायधम्म कहाओ में मिलता है। पर नाम भिन्न भिन्न मिलते हैं। चक्कथा (बाहर का चबूतरा) बड़े ही सुन्दर पत्थरों से बना रहता था। लस्त (अत्यन्त सुन्दर) मसर्न (सुन्दरता से पालिश किया हुआ और साहित्य (उत्तम स्थान पर बने हुए) चबूतरों का अलग नाम दिया गया है। इन राजभवनों की खिड़कियों (गवाक्षों) के नाम भी भिन्न भिन्न हैं। (Pigeon hole) कपोत पाली भी बने रहते थे। नालियों (निरपुहकन्तर) आदि सबके अलग अलग नाम थे।

(१) उत्तराध्ययन IX 28 (२) आचारांगसूत्र II 2, 9

(१) नायधम्म कहा, १, ९, १, २३

(2) Raya, PP, 76 f, f.

इसके अतिरिक्त इससे यह भी पता चलता है कि सभी राजभवन भिन्न भिन्न रंगों में रंगे रहते थे। अन्दर का भाग बहुत सुन्दर ढंग से रंगा रहता था और उस पर चित्रकारी भी रहा करती थी, जिसको (पसत्त-सुविलिहिय-सित्त-कम्भ) कहते थे। अवस्थानगृह (Drawing room) एक उस समय के प्रधान और सब से सुन्दर गृह-निर्माण-कला में उत्तम समझा जाता था। हीरा, लाल और जवाहरात के भी काम किये रहते थे। विद्याधरों के चित्र भी उस पर नाचते हुए दिखाये गये हैं। मान विमान एक खास तरह का भवन होता था। इसकी भी दीवालों पर तरह तरह के चित्र बने रहते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन ग्रन्थों और बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित वस्तु निर्माण कला में बहुत कुछ समानता है। पर जैन ग्रन्थों में विशेषता यह है कि उसमें बहुत ही विस्तृत वर्णन दिया गया है। मथुरा के वास्तुकला और स्तूपों से बहुत प्रमाण मिलते हैं।

कर्मों का रासायनिक सम्मिश्रण

[लेखक—श्रीयुत प्रो० अनन्त प्रसाद जैन B. Sc (Engineering)]

भगवान महावीर ने मानवता को कौनसी नयी बात बतलायी। जिसके बिना सारा ज्ञान अधूरा था—इस पर प्रायः लोगों का ध्यान कम जाता है। जैन धर्म के प्रशंसक भी केवल उन्हीं विशेषताओं का वर्णन करते रह जाते हैं जो प्रायः भारत के सभी अच्छे तर्क-न्याय-संयुक्त धर्मों या धर्म सिद्धान्तों में हीनाधिक सन्निहित हैं। अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह इत्यादि तो सभी धर्मों के व्यावहारिक आदर्श हैं। यदि जैन गुरुओं ने इन्हें थोड़ा और अधिक या विशेष महत्व दे दिया तो मैं तो इसे नयापन नहीं समझता। "अनेकान्त" या "स्याद्वाद" जैन दर्शन (Jain philosophy) की एक सबसे बड़ी विशेषता अवश्य है और कई हजार वर्षों के बाद भी इसमें अब भी वही नयापन है जो उस समय था। जब भगवान महावीर ने इस पर प्रकाश डाला था और उनके बाद में परंपरागत गुरुओं एवं विद्वानों ने इसकी विशिष्ट-रूप से विशद विवेचना की। परन्तु "स्याद्वाद" या अनेकान्तवाद" तो ज्ञानरूपी महासागर को मथने के लिए एक साधन, यन्त्र या मथानी मात्र ही है। जैसे महाभारत की कथाओं में "देवताओं" ने और "राक्षसों" ने मिलकर महासागर को मथने के बाद चौदह रत्न पाए, उसी तरह ज्ञान-महासागर को "स्याद्वाद" रूपी इस महान् मथानी से मथने से कितने अपूर्व रत्न निकले ? जिनपर पूर्ण व्यावहारिक प्रकाश या जिनकी अनन्य उपादेयता का मान वर्तमान समय में बहुत कम रह गया है। अजैन विद्वानों को कौन कहे जैन सिद्धान्त के बड़े बड़े पंडित और विद्वान् भी जो जैन सिद्धान्त के सुविज्ञ अधिकारी समझे जाते हैं और जिन्होंने बड़े बड़े गूढ़ शास्त्रों की टीकाएँ की हैं; वे भी या तो इससे अनभिज्ञ रहे हैं या उन्होंने भी इधर ध्यान कम दिया है। सच पूछिए तो "स्याद्वाद" या "अनेकान्त" है क्या चीज और इसका मूल लाभ या आवश्यकता या काम क्या है यही अभी बहुत कम लोग ग्रहण कर पाते हैं। स्वभावतः विद्वत्ता के बल पर लोग टीकाएं बना देते और विवेचनात्मक टिप्पणियां या आलोचना प्रत्यालोचना वगैरह लिख देते और पांडित्य पूर्ण व्याख्यान भी दे डालते हैं; पर विषय के मूल तक विरले ही पहुँच पाते हैं। इसके अतिरिक्त भी 'स्याद्वाद" साधारण जन की वस्तु न होकर विद्वानों की निधि बनकर ही रह गया, जिसने समझा उसने लाभ उठाया; जिसने नहीं समझा वह वंचित रह गया। जैन धर्म का उत्थान इसकी जानकारी के बढ़ने से हुआ और पतन इसकी समझदारी का अभाव होने से होता गया। आज भी ज्ञान का इतना विकास हो जाने पर भी हालत आन्तरिक रूप से कुछ सुधरी नहीं है। बहुत कम लोग मिलेंगे जो इसकी व्यावहारिक महत्ता का सच्चा ज्ञान या मान रखते हों। स्याद्वाद को जैनियों ने शास्त्रचर्चा या उच्च दर्शन सिद्धान्तों तक ही सीमित कर

दिया और यह केवल पुस्तकों का विषय होकर रह गया और सर्व साधारण के नित्य नैमित्तिक सांसारिक एवं सामाजिक उपयोग से दूर होते होते एक विचित्रता या विशेषता (Speciality) बनकर केवल विशेष अवसरों पर ही व्यवहृत होने वाली वार्ता या चीज में परिणत हो गया है; जिससे लोक कल्याण का मूल स्रोत न होकर केवल वाद-विवाद का शृंगार मात्र रह गया।

स्याद्वाद की महत्ता का गुणगान तो सभी जगह सभी शास्त्र या पंडित करते हैं पर वे गुणगान करके ही संतुष्ट हो जाते हैं; संसार के सामने आधुनिक रूप में कुछ ऐसा सुझाव नहीं रखते कि दूसरे भी इसकी व्यावहारिक उपयोगिता और नित्य नैमित्तिक कार्यों (Every day life & living) में सक्रिय रूप से लाभ लेना जान जायें। इतना ही नहीं इस "मथानी" द्वारा ज्ञान सागर से जो रत्न निकले वे शास्त्रों में तो विशद रूप से वर्णित हैं पर उनका प्रतिपादन प्राचीन पद्धति से किया गया है। उन्हें वर्तमान संसार में पूर्ण रूप से प्रकाशित करने के लिए आधुनिक तम तरीकों और वर्तमान भौतिक विज्ञान के आधार पर व्याख्या, समन्वय एवं प्ररूपण या प्रतिपादन करने की परम आवश्यकता है। स्याद्वाद या अनेकान्तवाद किसी भी प्रश्न या वस्तु को अनेक रूप से, हर दृष्टि कोण से, हर पहलू से देखते हुए एवं संबन्धित सभी बातों का ऊहापोह, सभी शंकाओं का समाधान और द्वन्द्वों का निराकरण करते हुए; गुत्थियों को सुलझाते हुए एक ऐसे अंतिम समन्वयात्मक निर्णय पर पहुँचाता है जो पुनः दूसरे प्रश्नों या विषयों या वस्तुओं के विवेचनात्मक विश्लेषण, विवक्षा या समीकरण में सर्वदा युक्तियुक्त, ठीक और विभेद रहित पाया जाता है। किसी वस्तु की "अनेकान्तात्मक" या स्याद्वाद की प्रणाली से जांच करने से ही उसके सच्चे मूल रूप को जानना या असल तत्त्व तक पहुँचना संभव हो सकता है। जैसे किसी ने एक मिट्टी का घड़ा देखा और जानना चाहा कि वह क्या वस्तु है—इधर उधर पूछ ताछ की और तर्क करना आरम्भ किया। यों तो सांसारिक या व्यावहारिक जानकारी के लिए केवल इतना मात्र जानना ही काफी है कि यह एक मिट्टी का पकाया घड़ा है, जिसमें जल रखा जाता है। पर विशिष्ट जानकारी के लिए और अधिक ऊहापोह करने के लिए स्याद्वाद पद्धति में प्रश्नों की सात शृंखला बना दी गई हैं, उन्हीं के अन्तर्गत सारे प्रश्न सन्निहित हो जाते हैं। इसीसे इसको "सप्तभंगी" भी कहते हैं; आत्मा का शुद्ध विस्तृत पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए तो केवल मात्र स्याद्वाद की प्रणाली, पद्धति या मार्ग ही ऐसा है जिससे सच्ची और पूर्ण जानकारी प्राप्त की जा सकती है। जैन दर्शन ने इसी मार्ग को अपनाया और इस कारण आत्मा और दूसरे द्रव्यों या तत्त्वों का मूल रूप सही सही, विभेद रहित, यथार्थ पाने और प्रतिपादन करने में समर्थ हुआ।

स्याद्वाद क्या है और किसी प्रश्न का समाधान इसकी सहायता से कैसे किया जाता है, इसका वर्णन मुझे यहाँ नहीं करना है। यहाँ तो मुझे यह बतलाना है कि इस

स्याद्वाद की मथानी द्वारा ज्ञान सागर को मथने से जो रत्न निकले वे रत्न कौन हैं और उनका आधुनिक वैज्ञानिक निरूपण कैसे किया जाय—भगवान महावीर ने या जैन दर्शन ने संसार को जो सबसे बड़ी निधि दी; वे यही रत्न हैं—पर धर्मांधता, धर्मद्वेष, कट्टरता और ज्ञान या शिक्षा की कमी तथा स्वार्थादि के वशीभूत लोगों ने इनकी कद्र कम की या इनकी महत्ता को पूरा समझ या जान नहीं सके अथवा जानबूझ कर पर्दा डालते रहे। इन रत्नों के बिना संसार का सारा बाकी ज्ञान अधूरा ही रह जाता है। मनुष्य संसार की बहुत सी बातों और विषयों की जानकारी तो रखे पर स्वयं अपने बारे में या अपने चारों तरफ जो कुछ है और उनसे उसका क्या सम्बन्ध है—यदि इन विषयों की जानकारी न रखे तो उसका सारा ज्ञान अधूरा, ऊपरी और खोखला रह जाता है। आज संसार में यही बात हो रही है। भौतिक विज्ञान का विकास इतना अधिक हो गया कि लोग इनके करिश्मे देखदेख कर चकित रह जाते हैं और आगे आगे इनका विकास और जोरों में होता जा रहा है, पर चूंकि आत्मज्ञान की भारी कमी अभी भी सभी जगह है, इसलिए यह भौतिक ज्ञान जहाँ एक तरफ निर्माण करता है वहीं दूसरी तरफ विनाश का भयानक भय या कारण भी उपस्थित करता और बढ़ाता जाता है। यह भय केवल भगवान महावीर द्वारा निरूपित एवं निर्दिष्ट उन रत्नों की जानकारी द्वारा ही निर्मूल हो सकता है जो स्याद्वाद रूपी मथानी द्वारा ज्ञानमहासागर को मथने से मिले और जिनका प्रकाश आजकल बहुत कम रह गया है। संसार का सारा रगड़ा झगड़ा, रक्तपात, आपसी मनोमालिन्य, घृणा एवं वैमनस्य का मूल कारण सच्चे या विशुद्ध ज्ञान का अभाव ही है। विभिन्न धर्मों और दर्शनों ने अपनी अपनी अलग अलग एक दूसरे की विरोधी पद्धतियाँ निकाल निकाल कर बड़ा गड़बड़ झाला मचा रखा है। ऐसे गड़बड़झाले में बड़े बड़े विद्वान् चक्कर खा जाते हैं तो साधारण मानव का कहना ही क्या। जबतक शुद्ध ज्ञान का विकास संसार में व्यापक रूप से नहीं होगा, स्थायी शान्ति का होना कठिन ही नहीं असंभव है। इस शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति के लिए जैन दर्शन में वर्णित कर्मसिद्धान्त का मनन और अनुशीलन करना आवश्यक है। इसी सिद्धान्त में इन रत्नों के विशुद्ध रूप का दर्शन प्राप्त होगा जिनके बिना सारा ज्ञान अधूरा रह जाता है। वे रत्न हैं जैन दर्शन में वर्णित षट् द्रव्य (छः द्रव्य,) और सप्त तत्त्व। षट् द्रव्य हैं :—

जीव (आत्मा, Soul), अजीव (पुद्गल, Matter), धर्म (ether), अधर्म (counter ether), आकाश (Space) और काल (time); सप्त तत्त्व हैं जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। पहले षट् द्रव्य तो यह बतलाते हैं कि विश्व में मूल द्रव्य वस्तु कौन कौन हैं जिनसे इस विश्व की रचना हुई है और पिछले सप्त तत्त्व यह बतलाते हैं कि आत्मा या मनुष्य का उसके चारों तरफ की वस्तुओं से क्या सम्बन्ध है एवं आत्मा (Soul)

और पुद्गल (Matter) मिलकर मानव कैसे बनता है या कैसे बना है और उसके कार्य व्यवहार क्यों और कैसे संचालित होते रहते हैं तथा इन सबका अंतिम ध्येय क्या है।

मानव क्या है ? कैसे बना है ? कैसे क्या करता है ? मानव जन्म का ध्येय क्या है ? ये या ऐसे सभी प्रश्नों का शुद्ध समाधानात्मक उत्तर इन द्रव्यों और तत्त्वों के यथार्थ—शंकारहित ज्ञान (जानकारी) द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। संसार के अधिकांश लोग इन बातों को नहीं जानते इसलिए वे जो कुछ इस विषय में कहते हैं वह अधूरा, अपूर्ण, अशुद्ध या गलत या आधा सच्चा होता है। अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह की महत्ता मूलतः क्यों और कैसे है यह तो केवल इन द्रव्यों और तत्त्वों की जानकारी द्वारा ही मालूम हो सकती है। यों अहिंसा और सत्य इत्यादि का केवल गुणगान करने से लोग भले ही व्यक्तित्व के प्रभाव में आकर या युगों से इन बातों के कहे जाते रहने के कारण या दूसरे कटु अनुभवों के डर से या कानून और सामाजिक नियमों एवं पाबन्दियों के बन्धन में भले ही इन्हें स्वीकार किये रहें और आचरण में भी लाते रहें पर वह न स्थायी है न सुदृढ़रूप से स्थापित ही। वह तो अहिंसा और सत्य का पालन अवश्य क्यों करना चाहिए इसके वैज्ञानिक मूल कारणों के विश्लेषणात्मक (analytical) रूप से स्पष्टीकरण द्वारा ही संभव है। पहले का मानव चुपचाप कोई बात या सिद्धान्त बिना पूछताछ किए, बिना शंका उठाए मान लेता था पर अब तो आधुनिक भौतिक विज्ञान के विकास ने और शिक्षा की वृद्धि ने एक तर्क-बुद्धि-सत्य का युग बना दिया है, जिसमें सब कुछ जाँच पड़ताल कर ही स्वीकृत की जाने की रीति बढ़ती जाती है। यही ठीक भी है। आँख मूँदकर धर्मांधतापूर्वक कुछ मानकर बर्तते रहना हानिकारक है। आज धार्मिक द्वेष विद्वेष भेदभाव और विभिन्नताएँ, व्यक्तियों एवं देशों में द्वेष विद्वेष, रगड़े झगड़े, विरोध और एक दूसरे के विरुद्ध प्रचार तथा युद्ध इत्यादि केवल इसी कारण रह गये हैं या होते हैं क्योंकि लोगों ने धर्म का अर्थ ठीक नहीं समझा और उसका भी मूल कारण है "वस्तुओं" अथवा "तत्त्वों" या "द्रव्यों" के शुद्ध रूप की जानकारी या ज्ञान का अभाव। अनादि काल से अबतक जो भयंकर युद्ध, रक्तपात और लूटपाट इत्यादि होते रहे हैं उनका मूल कारण इन "तत्वों" या 'पदार्थों'' के विज्ञान की भारी कमी ही रही है और है। भगवान् महावीर ने इस ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि की थी तो उनके बाद कई सौ वर्षों तक इस देश में एकता और शान्ति का बहुत बड़ा विस्तार रहा।

मनुष्य कर्म क्यों करता है, कैसे करता है और उनके फल उसे कैसे मिलते हैं ? इन प्रश्नों का पूर्ण समाधानात्मक उत्तर केवल सप्ततत्वों जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष की जानकारी (सैद्धान्तिक ग्रन्थों से) ही मिल सकता है, अन्यथा नहीं[१]।

---

१ कर्मों के सम्बन्ध तथा विश्व के परिवर्तनों को अवगत करने के लिए देखें—(१) "जीवन और

जैन दर्शन में जीव (आत्मा Soul) और अजीव (पुद्गल, Matter) ये ही दो मुख्य तत्त्व माने गए हैं। जीव "चेतना" युक्त है और पुद्गल "जड़"। जीव और पुद्गल अनादि काल से साथ साथ चले आते हैं। किसी जीव धारी में चेतना आत्मा के कारण है और कार्य क्षमता या कार्य शीलता पुद्गल निर्मित रूपी शरीर के कारण। जीव अकेला कर्म नहीं कर सकता है। पौद्गलिक शरीर भी जीव की चेतना बिना चेतना युक्त कोई कार्य नहीं कर सकता। संसार या विश्व में हम जो कुछ भी देखते हैं इन्हीं दोनों (जीव और पुद्गल) की रचनाएं हैं। जीव (आत्मा) शुद्ध, अशरीरी, अरूपी है जबकि पुद्गल रूपी, शरीरी वस्तु है। जीव को हम देख नहीं सकते पर पुद्गल के रूप हम देखते हैं। मनुष्य का शरीर भी पुद्गल निर्मित ही है।

जैन दर्शन का "पुद्गल" ठीक वही चीज है जिसे हम परमाणु कहते हैं और आधुनिक विज्ञान जिसे इलेक्ट्रन, प्रोटन, न्यूट्रन, पोजीट्रन इत्यादि (Electric particles) कहता है। इन पुद्गलों (पुद्गल-परमाणुओं) के मिलने से "एटम" अथवा अणु बनते हैं और पुनः अणुओं के मिलने से "मौली क्यूल" या "वर्गणा" का निर्माण होता है। मानव या किसी भी जीवधारी का शरीर या किसी भी जड़ वस्तु का रूप आकार या शरीर इन पुद्गल वर्गणाओं की ही रचना है। ये वर्गणाएं अनन्त प्रकार की भिन्न गुण और प्रकृति वाले अणुओं और परमाणुओं के मिश्रण और बन्ध की विभिन्नतानुसार होती हैं। मौली क्यूलों या वर्गणाओं और एटमों या अणुओं के अंदर पुद्गलों या परमाणुओं का सतत प्रवाह या एक दूसरे में अदला बदली होती रहती है। यह पुद्गल-परमाणुओंका प्रवाह धारा या किरणों (Rays & Waves) के रूप में किसी भी तरह इन पुद्गलनिर्मित रूपी शरीरों या वस्तुओं से बगैर किसी व्यवधान के सर्वदा बाहर भी निकलती ही रहती हैं, ये धाराएँ या किरणें वस्तु के हर तरफ तेजी से प्रवाहित होती और फैलती हैं और अपने मार्ग में आने वाली हर दूसरी वस्तु या शरीर पर भी अपनी हीनाधिक प्रभावकारी शक्ति के अनुसार कार्य करती रहती हैं किसी जीवधारी के शरीर या किसी वस्तुके हिलने डुलने और चलने फिरने से भी परमाणुओं का प्रवाह विभिन्न रूपों और संगठनों में निकलता रहता है। मानव के शारीरिक क्रियाकलाप के अलावे मानसिक हलचलों द्वारा भी इस तरह की धाराएँ मानव शरीर से निकलती हैं और बाहर से आनेवाली धाराएँ भी शरीर के आन्तरिक पौद्गलिक अथवा वर्गणात्मक निर्माण में अपना असर और प्रभाव करके तबदीलियां या परिवर्तन (Changes) पैदा करती हैं। ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र, पृथ्वी, सूर्यादि भी विभिन्न गतियों और कंपन-प्रकंपनों के कारण इस तरह की पुद्गल निर्मित धारा और किरणें प्रसारित करते हैं जिनका असर हर ग्रह उपग्रह इत्यादि पर

विश्व के परिवर्तनों का रहस्य" सम्पादक "अनेकान्त', अहिंसा मंदिर, १, दरियागंज, देहली; (२) **"विश्व एकता और शान्ति"** (३) **शरीर का रूप और कर्म**, (४) 'Soul, Consciousness, Life' (५) The Three Jewels'

और उनपर अवस्थित किसी वस्तु या जीवधारी पर अक्षुण्ण रूप से पड़ता है। इस तरह सभी जगह सभी समय सभी वस्तुओं में सतत निराबाध परिवर्तन होता रहता है।

मनुष्य जो कुछ भोजन पान करता है अथवा श्वास निश्वास लेता छोड़ता है। अथवा जो कुछ देखता सुनता है वह सब कुछ पुद्गल निर्मित ही होता है। हवा और प्रकाश (रोशनी-Light) भी पुद्गल की ही रचनाएं हैं। तस्वीर, फोटो या रूप आकृतियों का बनना या भान होना भी पुद्गल की धाराओं के कारण ही है। हमारे शरीर में और हमारे हर तरफ पुद्गल भरा हुआ है। हम जो कुछ भी शारीरिक या मानसिक कर्म करते हैं उसके द्वारा बाहरी वायुमंडल या ईथर (Ether अथवा धर्म द्रव्य) से भरे हुए आकाश (Space) में हलचल पैदा होती है और हर मानव से पैदा हुई पौद्गलिक धारा या हलचल हर दूसरे मानव के ऊपर अपना प्रभाव या असर हीनाधिक डालती है। इस तरह हमारे अपने भोजन पान, कर्म, गति और मनोविचारों का असर या प्रभाव हमारे शरीर का निर्माण करने वाली पुद्गल वर्गणाओं की रचना में परिवर्तन तो लाता ही है दूसरे व्यक्तियों के कर्मों और विचारों का भी असर इन परिवर्तनों को परिवर्तित करने में पड़ता रहता है।

जैन दर्शन में मानव शरीर को निर्माण करने वाली वर्गणाओं को प्रधानतः तीन भागों में विभक्त किया गया है—१ औदारिक वर्गणा–यह रक्त मांस मय वह बाहरी शरीर है जिसे हम देखते हैं इसीमें मन, हृदय और मस्तिष्क भी होते हैं। २—तैजस वर्गणा–यह शरीर है जो पारदर्शक और शुद्ध हीरे के समान प्रकाश युक्त है इसे हम नहीं देख सकते। ३—कार्माण वर्गणा–यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं द्वारा निर्मित सुदृढ़ बंधमय (Compounded) वह अदृश्य (Invisible) शरीर है जो हमारे अपने कर्मानुसार हमारी आत्मा के साथ बराबर लगा रहता है और एक जन्म से दूसरे जन्म या योनि में आत्मा को ले जाने का कारण भी यही है और हर योनि में सर्वदा साथ रहता है जब तक मुक्ति या मोक्ष न मिल जाय। हां इन तीन वर्गणात्मक शरीरों में भी सर्वदा, सतत निर्बाध परिवर्तन होता ही रहता है। परिवर्तन कभी भी एक क्षण या क्षण के शतांश, सहस्रांश या लक्षांश में भी नहीं रुकता, न बंद होता है। विश्व की सारी वस्तुओं की गतियां और हलन चलन तथा कम्पन प्रकम्पन होते ही रहते हैं और इनके कारण उनसे पौद्गलिक धाराएँ निकलती ही रहती हैं जो इन गतियों को भी गतिशील रखती हैं और हर शरीर या वस्तु से निकलने वाले पौद्गलिक प्रवाह को भी सतत जारी रखती हैं, जिनका असर या प्रभाव एक दूसरे पर पड़कर क्रिया प्रक्रिया द्वारा परिवर्तन होते ही रहते हैं और होते ही रहेंगे। इस तरह विश्व में जो कुछ भी उत्पादन, सृष्टि, विनाश, या परिवर्तन होता हुआ हम पाते हैं वह सब कुछ स्वयं इन पुद्गलों के आदान प्रदान द्वारा वर्गणात्मक निर्माण में हेर फेर लाकर अपने आप ही स्वभाववश होता रहता है। न कोई बाहरी शक्ति सृष्टि करती है न विनाश;

विनाश और सृष्टि का अर्थ है किसी वस्तु का बाह्याकार बदलकर उसको निर्माण करनेवाली वर्गणाओं में रासायनिक परिवर्तन होकर एक नई वस्तु या रूप का बन जाना; विश्व में जितनी संख्या पुद्गलों की है उतनी ही बराबर से है और वही रहेगी; न नये का निर्माण हो सकता है न पुराने का विनाश –केवल उनके संगठनों में परिवर्तन होते रहते हैं। इन पुद्गलों की संख्या अनंतानंत अथवा अगणित, असीम और अनंत है। इसी तरह आत्माओं की संख्या भी अगणित, असीम और अनंत है और इनकी भी जो संख्या पहले थी या अब है वही सर्वदा, बराबर से थी और सतत रहेगी–न घटेगी न बढ़ेगी–न नये का निर्माण होगा, और न जो है उसका विनाश।

आत्मा और पुद्गल दोनों के मिलने से ही मनुष्य या किसी भी जीवधारी का निर्माण हुआ है। आत्मा का स्वभाव है "चेतन" और सर्वदा विकाश करना (उर्द्ध्व गति evolution) पुद्गल अचेतन या जड़ है। बगैर पुद्गल के रूपी शरीर के आधार के आत्मा स्वयं कुछ नहीं कर सकता है और पुद्गल के रूपी शरीर में मानव या किसी भी जीवधारी के कर्मों का प्रभाव हर समय परिवर्तन लाता रहता है। यह परिवर्तन औदारिक, तैजस और कार्माण—तीनों शरीरों में ही होता रहता है और सब एक दूसरे के अनुरूप कारण और फल (Cause and effect) की तरह एक दूसरे से अभिन्नरूप से संबन्धित एवं गुण गुणी की तरह एक दूसरे में सन्निहित और मिले हुए तथा एक दूसरे के बराबर ही आकार प्रकार में हैं।

मनुष्य जो भी कर्म करता है वह कर्माण-शरीर का निर्माण करनेवाली वर्गणाओं के सक्रिय प्रभाव से प्रचालित होकर ही करता है। परिस्थितियों और चहुँ ओर के वातावरण का भी असर पड़ता है पर यह बाहरी असर भी आन्तरिक वर्गणाओं में रासायनिक सम्मिश्रण और क्रिया प्रतिक्रिया द्वारा परिवर्तन होने से ही होता है। न जाने किस अनादि काल से अबतक इकट्ठी हुई कितनी वर्गणा विशेष का पुंजीभूत रूप समन्वयात्मक आन्तरिक प्रभाव या प्रेरणा जो बाहर से आने और शरीर के अन्दर घुसकर आन्तरिक वर्गणाओं के साथ मिल बिछुड़ कर क्रिया प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न होती है, इनके द्वारा मानसिक और शारीरिक हलन चलन परिचालित कराकर मानव से कोई विचार या कर्म कराता है! अनादि काल से इस क्षण तक "कर्मों"[१] (कर्माण शरीर को निर्माण करनेवाली पुद्गल वर्गणाओं) का आदान प्रदान—परिवर्तन होता चला आता है। अब से एक क्षण पहले किया हुआ शारीरिक कर्म या मानसिक कर्म (भाव या विचार) भी अपना प्रभाव अगले होनेवाले कर्म के निर्माण में कमवेश छोड़ते जाते हैं। जैसे बिजली, प्रकाश

१ यहाँ कर्म शब्द का अर्थ है कार्माण शरीर का निर्माण करने वाली पुद्गल वर्गणाएं। साधारणतः कर्म का मतलब है शारीरिक या मानसिक कार्य अथवा प्रसंगानुसार जहां कोई दूसरा अर्थ हो जैसे—भाग्य।

(light) अथवा शब्द (Sound) में रेजोनेन्स (सहसमानवृद्धि) होती है वैसे ही "कर्मों" के भी रेजोनेन्स (resonance) एवं तारतम्यताएँ होती हैं। ऐसे विभिन्न "कर्म" (पुद्गल वर्गणाएँ) जो रासायनिक क्रिया प्रक्रिया द्वारा मिलकर एक हो सकते हैं वे बाहर से आनेवाली वर्गणाओं और अन्दर की वर्गणाओं में शारीरिक या मानसिक हलचल द्वारा उथल पुथल होते रहने के कारण (उनके) पारस्परिक सम्मिलन अथवा क्रिया-प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न प्रभाव से जो नये कर्म कराते हैं, उनकी तीव्रता या मंदता उनके रासायनिक मिश्रण की तेजी और मंदी पर ही निर्भर करती है। अथवा दो समान "कर्म" एक दूसरे की काल परिवर्तन (frequency) की समानता के कारण एक दूसरे से संयुक्त होकर अपना प्रभाव या असर कई गुना बढ़ा देते हैं। मानव में यह रेजोनेन्स उस समय पैदा हो सकता है जब उसके मानसिक और शारीरिक कार्य समान हों अथवा किसी समय जैसा वह मानसिक विचार करता हो या शारीरिक कार्य करता हो उसी समय बाहर से आनेवाली वर्गणाओं की रचना भी समानता लिए हुए हो तो विचार या कार्य में अधिक तीव्रता आ जायगी। "कर्मों" की स्थिति अथवा उनके फलीभूत होने का समय एवं परिमाण भी उनके आपसी रासायनिक सम्मिश्रण की कमीवेशी और दूसरे ब्योरों (details) पर ही निर्भर करते हैं। बाहर से आनेवाले "कर्म" [कर्म पुद्गल, या कर्माणु या कर्म वर्गणाएँ—या कार्माण शरीर का निर्माण करनेवाली वर्गणाएँ—अथवा वे पुद्गल वर्गणाएँ जो मनुष्य के कर्मों या कामों को कराने में प्रेरक रूप या शरीर रूपी यन्त्र के संचालन में किसी बैटरी (Cell or Battery) में रासायनिक प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न विद्युत की तरह किसी बिजली के यन्त्रों को चलाने में शक्ति रूप या कारण रूप हैं भीतर के "कर्मों" से मिलकर "एकमेक" न हो जायँ इसके लिए अपनी भावनाओं और शारीरिक कर्मों में परिवर्तन न लाकर या चेष्टापूर्वक एक ही तरह के भाव या कर्म करते हुए हम अपने आन्तरिक "कर्मों" के निर्माण पर शासन (control) रखकर बाहर से आनेवाले "कर्मों" का भीतर के 'कर्मों" से मिलकर एकमेक हो जाने से रोक सकते हैं। "योग" या "तपस्या" में भी यही बात होती है। मानव का मन जब किसी एक विषय या कर्म या कार्य में एकाग्र हो तो उस समय दूसरा बाहरी कोई दृश्य या कार्य या कुछ भी उस पर पूरा असर नहीं करता। यदि मनुष्य अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप में एकाग्र ध्यान लगा ले तो उस समय बाहरी "कर्म" भी असर नहीं करते और आन्तरिक कर्म भी उदय तो होते हैं (उनकी रासायनिक क्रिया प्रक्रिया तो चलती ही रहती है); पर उनका असर या फल स्थायी नहीं होता या अनुभूत नहीं होता इसके अतिरिक्त भी आत्मा का शुभ्र, शुद्ध, निर्मल स्फटिक या हीरे के समान सारे अंग में व्याप्तरूप में ध्यान लगाने से अंतर् में "कर्मों" में रासायनिक मिश्रण होते समय उनमें परिवर्तन होकर भी शुभ्र वर्गणाएँ ही बनती जाती हैं। इत्यादि।

जैन दर्शन में "कर्मों" की विवेचना के प्रकरण में आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का विशद वर्णन किया है। आश्रव का अर्थ है बाहर से आनेवाली पुद्गल वर्गणाएँ, जो हमारे शरीर में सर्वदा आती ही रहती हैं जब हम कुछ देखते हैं, सुनते हैं, पढ़ते हैं, हवा द्वारा श्वासोच्छ्वास द्वारा अथवा प्रकाश किरणों द्वारा या रेडियो और कौसमिक किरणों और धाराओं द्वारा अथवा दूसरे व्यक्तियों के शरीरों से निकलनेवाली पुद्गल वर्गणाओं द्वारा जो उन व्यक्तियों के भावों और कर्मों के अनुसार उनके शरीरों से निकलती ही रहती हैं अथवा ग्रहों इत्यादि से आनेवाली धाराओं द्वारा अथवा और किसी भी तरह; बंध का अर्थ है जब ये बाहर से आनेवाली पुद्गल वर्गणाओं की धाराएँ किसी मानव के मन और शरीर के भाव अथवा कार्य द्वारा उत्पन्न होनेवाली अन्तर् की वर्गणाओं से मिलकर रासायनिक सम्मिश्रण (chemical compound) बनकर स्थायित्व प्राप्त कर लेना।

संवर—का अर्थ है अपनी प्रवृत्तियों पर शासन (control) रखकर या किसी खास विषय या काम में एकाग्रता लाकर योग निरोध और तप द्वारा बाहर से आनेवाली वर्गणाओं का आन्तरिक वर्गणाओं से सम्मिश्रण न होने देना।

निर्जरा—का अर्थ है जो कुछ "बंध" तुरन्त का या बहुत समय पहले का या अनादि काल से अबतक का—हो चुका है उसका शुक्ल ध्यान द्वारा विनाश करते जाना।

मोक्ष—का अर्थ है सभी "कर्म बन्धों" से पूर्ण छुटकारा पाकर आत्मा पुद्गल से सर्वदा के लिए छुटकारा पा जाय और अपने शुद्ध रूप को पाकर परम विशुद्ध आत्मा या परमात्मा हो जाय—तब उसमें केवल चेतना या ज्ञानमात्र ही रहेगा विकार नहीं रहेंगे। विकार तो पुद्गल के संबन्ध से ही होते हैं।

इन विषयों पर जैन शास्त्रों में बहुत विस्तार के साथ विशद विवेचना की गई मिलेगी। मुझे यहाँ उन्हें पुनः दुहराना नहीं है—वे तो शास्त्रों में हैं ही; कोई भी जिज्ञासु उन्हें पढ़ और मनन-अनुशीलन कर सकता है। मेरा ध्येय तो अपने संसार के विद्वानों, जिज्ञासुओं और दर्शन के पंडितों (Philosophers) के सन्मुख इस विषय को आधुनिक रूप में मनन अनुशीलन करने के लिये नये दृष्टिकोण से उपस्थित करना है। इसी कमी के कारण विश्व के भौतिक विज्ञान की वृद्धि होने से एक वैज्ञानिक बहुत कुछ जानते हुए भी स्वयं अपने बारे में ठीकठीक जानकारी नहीं रखता कि वह क्या है—मनुष्य क्या है—मनुष्य कैसे बना है—मनुष्य कैसे कर्म करता है—इत्यादि? यह जानकारी या ज्ञान केवल जैन दर्शन में वर्णित कर्म सिद्धान्त (Karma Philosophy) की जानकारी द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। अन्यत्र कहीं भी किसी भी दूसरे दर्शन या सिद्धान्त में इस विषय का प्रतिपादन वैज्ञानिक ढंग से या सच्चे रूप में जैसा होना चाहिए, वैसा है ही नहीं। लोगों ने अपनी विद्याबुद्धि या पांडित्य के बलपर न जाने कितनी नयी नयी थियरी या विचारधाराएँ

या सिद्धान्त गढ़ लिए और जोरदार तर्कों द्वारा उन्हें ही ठीक साबित करके दूसरों से मनवा लिया। धर्मों की विभिन्नताओं और आपसी मतभेदों या विरोधों का प्रधान कारण यही है। दूसरों ने स्याद्वाद या अनेकान्त का व्यवहार नहीं किया जबकि जैन धर्म संस्थापकों ने इस अद्वितीय, अपूर्व और विलक्षण "मथनी" का प्रयोग करके ज्ञान महासागर का मंथन करके इस सत्य दृष्टि या रत्न को प्राप्त किया और लोगों के सामने रखा। परन्तु धार्मिक द्वेष, प्रमाद, अहंकार इत्यादि ने लोगों को इस सत्य दृष्टि सुज्ञान, और महान रत्न से वंचित रखा। नतीजा यह हुआ कि सारा संसार (कुछ इने गिने लोगों को छोड़कर) इस परम आवश्यक ज्ञान या जानकारी से परिचित नहीं होने के कारण अधूरे ज्ञान अथवा गलत ज्ञान को लिए हुए भटकता रहा और सारी अव्यवस्थाएँ और गड़बड़ियाँ हर तरह ही हर जगह हर समय होती रहीं। अब तो विज्ञान या तर्क सम्मत सत्य के प्रचार का युग है—और इस ज्ञान बिना सारा बाकी ज्ञान अधूरा होने से मनुष्य का पूरा या स्थायी कल्याण नहीं हो पाता। आवश्यकता यह है कि इस सच्चे ज्ञान का या भगवान् महावीर द्वारा दिए गए इस महान रत्न का परिचय और विस्तार उपयुक्त प्रचार द्वारा संसार और मानवता के कल्याण के लिए ही व्यापकरूप में किया जाय। इसके लिए पुरानी पद्धति में नये विचारों का और तरीकों का उपर्युक्तरूप से समावेश करके उन्हें आजकल के प्रबुद्ध वैज्ञानिक समाज और काल के योग्य बनाया जाय, ताकि सब कोई उसे ठीक, सत्य, तर्कयुक्त, बुद्धिगम्य, यथातथ्य, और वैज्ञानिक समझ एवं पाकर स्वीकार कर सकें; जिससे उन प्रश्नों का हल निकल सकें जिन्हें संसार के वैज्ञानिक अबतक नहीं निकाल पाये हैं और इसीलिए रगड़े झगड़े, युद्ध, रक्तपात इत्यादि होते ही रहते हैं।

जो लोग आत्मा की अवस्थिति में विश्वास नहीं करते उनके लिए भी 'कर्मों' का इस तरह रासायनिक सम्मिश्रण होकर किसी जीवधारी से या मानव से कर्म कराने और फल देने का वैज्ञानिक विचार पूर्णरूप से स्वीकार करना आसान है और उनकी तथा संसार की भलाई और कल्याण का जनक है।

मनुष्य का सब कुछ इन पुद्गल वर्गणाओं द्वारा ही बनता, बिगड़ता या परिवर्तन होता और संचालित होता रहता है। मनुष्य एक योनि से दूसरे योनि में अथवा शरीर छोड़कर मृत्यु होने पर दूसरा शरीर किस जगह, किस तरह, किस रूप का ग्रहण करता है और क्यों इसका मूल कारण कर्माणशरीर का निर्माण ही है, जो सर्वदा बदलता रहता है और मृत्यु समय जैसी उनकी प्रवृत्ति रहती है वैसा ही उनका रूप होकर वह वैसी ही योनि आदि में जन्म लेता है। मनुष्य का उत्थान पतन भी इन पुद्गल वर्गणाओं की रचना या संगठन के ऊपर ही निर्भर करता है। मानव का भाग्य भी इन संचित कर्म पुद्गलों द्वारा ही बनता है, इसीलिए भाग्य को कर्म भी कहते हैं। मानव के पहले किए हुए कर्म उसके अगले भाग्य का निर्माण करते हैं। अनादि काल से लेकर

अबतक एक क्षण पहले किया हुआ कौन सा मानसिक और शारीरिक कर्म कब कैसा भाग्यफल उत्पन्न करेगा, कहना कठिन है। व्यक्ति से समाज, समाज से देश और देशों से संसार बन हुआ है। जैसे व्यक्तियों का पूर्व संचित कर्म ही उसका भाग्य है उसी तरह सारे व्यक्तियों के सम्मिलित भाग्यों या कर्मों का सामूहिक परिणाम (result) जो होता है वही देश के भाग्य की सृष्टि करता है और देशों के संचित कर्म या भाग्य संसार के भाग्य का निर्माण करते हैं। कोई व्यक्ति या कोई देश अकेला नहीं है। सबके कर्मों का अन्तिम परिणाम सबको भोगना पड़ता है। संसार में सुख शान्ति की वृद्धि करने के लिए सारे संसार को एक इकाई या एक बड़ा कुटुम्ब समझ कर सबकी भलाई और प्रेम एवं व्यवस्था द्वारा ही सामूहिक उद्योग करने से कुछ सफलता प्राप्त होने की संभावना हो सकती है। अमेरिका और रूस अथवा दूसरे देश एवं वहाँ के देशवासी व्यक्तिगत स्वार्थ आदि अपना अपना एकदम दूसरे से अलग अलग समझते रहेंगे तो संसार में अशान्ति और दुःख बने ही रहेंगे। सबका स्वार्थ सब दूसरे के स्वार्थ में सन्निहित हैं सम्बन्धित हैं। अपनी उन्नति करने के लिए संसार की उन्नति आवश्यक है। जबतक अपने चारों तरफ का वातावरण शुद्ध नहीं होता; बाहर से आनेवाली वर्गणाओं में शुद्धता नहीं हो सकती और वे आन्तरिक वर्गणाओं से मिलकर सचमुच अशुद्धता उत्पन्न करती ही रहेंगी। इसलिए मनुष्य का अपना कर्म और भाग्य उत्तम हो इसलिए संसार का कर्म और भाग्य उत्तम होना भी परम आवश्यक है। अमेरिका और रूस को भी इन बातों की महत्ता समझकर सारे संसार में युद्ध की विभीषिका बनाये रखने के बजाय शान्ति और प्रेम का वातावरण बना कर अपने देशवासियों का और बाकी सभी लोगों के कल्याण का भी उद्योग इस प्रकार करना चाहिए। दूसरा कोई भी मार्ग स्थायी सुख शान्ति का जनक व्यक्ति, देश या संसार किसी के लिए भी नहीं हो सकता है। केवल भगवान महावीर का बतलाया मार्ग ही स्थायी सुख शान्ति और सच्चे कल्याण का जनक एवं शुद्ध पूर्ण ज्ञान का दाता है। आशा है कि देश, विदेश और संसार के विद्वान् इधर अवश्य ध्यान देंगे।

नोटः—*जैनागम में पुद्गल के २३ भेद बताये हैं—अणुवर्गणा, संख्याताणुवर्गणा, असंख्याताणुवर्गणा, अनन्ताणुवर्गणा, आहारवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, तैजसवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, भाषावर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, मनोवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, कार्माणवर्गणा, ध्रुववर्गणा, सान्तरनिरन्तरवर्गणा, शून्यवर्गणा, प्रत्येक शरीरवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, बादरनिगोदवर्गणा, शून्यवर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, नभोवर्गणा और महास्कन्धवर्गणा।*

इन तेईस प्रकार के पुद्गलों में से आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा और कार्माणवर्गणा ये पांच प्रकार के पुद्गल ग्राह्य माने गये हैं अर्थात् ये जीव के उपयोग में आते हैं। आहारवर्गणा से शरीर, तैजसवर्गणा से ओज, भाषावर्गणा से वचन प्रवृत्ति, मनोवर्गणा से मन और कार्माणवर्गणा से कर्म का निर्माण होता है।

—संपादक

कुंदाद्रि या कुंदपर्वत

[ले०—श्रीयुत् पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण, मूडबिद्री]

आगुम्बा-शिवमोग्ग रास्ते में आगुम्बा से पाँच मील पर गुड्डेकेरे गाँव है। इस गाँव से साढ़े तीन मील पर कुंदाद्रि की तलहटी है। हाँ, गुड्डेकेरे से तीन ही मील पर कुंदपुर नामक एक स्टेट है। इसके मालिक श्री शंकरप्प गौड एन० जी० हैं। आप बड़े ही मिलनसार, निगर्वी, धर्मश्रद्धालु, सहृदय व्यक्ति हैं। कुंदाद्रि जानेवाले यात्रियों को हर समय हर प्रकार का सौकर्य प्रदान करने के लिये आप कटिबद्ध रहते हैं। वस्तुतः आपकी धर्मश्रद्धा प्रशंसनीय ही नहीं, प्रत्युत अनुकरणीय भी है। तलहटी से पर्वत के मस्तक पर पहुँचने का रास्ता डेढ़ मील का है। पर्वत भूतल से १२०० और समुद्र से ३२०७ फुट ऊँचा है। पर्वत के ऊपर पापविच्छेदन नामक एक छोटा सरोवर है, जिसका पानी आरोग्यप्रद माना जाता है। सुना है कि सरोवर का पानी गंधक-मिश्रित है और इसके पान से अनेक कष्टसाध्य चर्मरोग आसानी से दूर हो जाते हैं।

यहाँ का सूर्योदय और सूर्यास्त का दृश्य बड़ा सुन्दर है। वहाँ पर की एक विशेषता यह है कि सूर्योदय और सूर्यास्त का दृश्य एक ही स्थान से सुलभता पूर्वक देखा जा सकता है। वह सर्वत्र साध्य नहीं है। प्रातः काल सूर्योदय के पूर्व पहाड़ के ऊपर से देखने से उसके चारों ओर विशाल क्षीरसागर की तरह दीखता है। जनश्रुति है कि आचार्य कुंदकुंद की तपोभूमि होने के कारण ही इस पर्वत का नाम कुंदाद्रि पड़ा है। बल्कि पर्वत के ऊपर जो चरणचिन्ह अंकित है, वह कुंदकुन्द का ही कहा जाता है। इस पर्वत पर एक गुफा भी है जिसमें पूर्व में जैन मुनिगण तपस्या किया करते थे। कुन्दाद्रि के ऊपर एक शिलामय दिगम्बर जैन मंदिर भी है। शालिवाहनशक १०२५ (ई० सन ११०३) सुभानु संवत्सर, चैत्र शु० पूर्णिमा बुधवार के दिन महाराजा तैलपने इसे निर्माण कराया था। मंदिर में तीन खण्ड हैं—गर्भगृह, सुखनासि और मुखमण्टपा जिनालय सुदृढ़ एवं सुन्दर है। यह मन्दिर होयसलेश्वर मन्दिर हलेबीडु और चैत्रकेशव मंदिर वेलूरु का समकालीन है। हिन्दू-पुराणों के कथनानुसार मुचुकुन्द मुनि को भगवान् श्री कृष्ण ने यहीं पर मोक्ष प्रदान किया था। मंदिर निर्माता महाराजा तैलप सांतरवंशी है। इस वंश के शासकों की राजधानी पोंबुच्च थी। यह राजवंश शुद्ध जैन धर्मानुयायी रहा। तैलप का विशेष परिचय यत्र तत्र उपलब्ध यहाँ के अन्यान्य शिलालेखों में पाया जाता है। मालूम होता है कि महाराज तैलप इस कुन्दाद्रि पर भी रहा करता था। बहुत कुछ संभव है कि गुरुतर राज्यकार्यों से थका हुआ महाराज अपनी थकावट को दूर करने के लिए कभी कभी यहाँ पर आया करता था। पहाड़ को

घेरे हुए दुर्गों के कई ध्वंशावशेष आज भी यहाँ पर मौजूद हैं। इसमें कुछ भी संदेह नहीं है कि एक जमाने में यह पर्वत जैन मुनियों की पवित्र तपोभूमि रहा है। स्थान बहुत ही सुन्दर एवं आकर्षक है। यों तो श्रद्धा सुभक्त इस पर्वत के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा करते हैं। परन्तु श्रद्धागम्य उनकी इन सब बातों पर जनता सहसा विश्वास नहीं करेगी।

१६ वीं शताब्दी के कन्नड कवि बाहुबली ने अपने 'नागकुमार चरित' में इस कुन्दाद्रि की बड़ी प्रशंसा की है। बाहुबली का कहना है कि कर्णाटक के भूषणतुल्य इस कुन्दाद्रि ने मानो ज्योतिर्लोक को ही अपने मस्तक पर धारण कर लिया है। कवि यह भी कहता है कि यह पर्वत मुनिगण, भूतवृन्द, क्रूर सर्प, नाना जाति के वन्य मृग एवं वृक्षसमूह से भले प्रकार सुशोभित है। बाहुबली ने खासकर पापविच्छेदन सरोवर की बड़ी तारीफ की है। कवि कहता है कि इसका दर्पणतुल्य निर्मल जल वर्षाकाल में न बढ़ता है और ग्रीष्मकाल में न घटता है। साथ ही साथ इसमें किसी प्रकार के जलचर पैदा नहीं होते। बाहुबली सरोवर के दक्षिण में विराजमान श्री पार्श्वनाथ जिनालय एवं उसके सामने वर्तमान मानस्तम्भ तथा तत्रस्थ ब्रह्मयक्ष की मूर्ति का भी उल्लेख करता है। फिर भी कवि यह नहीं कहता है कि आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द की तपस्या के कारण ही इस पर्वत का नाम कुन्दाद्रि पड़ा है। बल्कि कतिपय विद्वानों की स्पष्ट राय है कि कुन्दकुन्द की तपोभूमि तामिल प्रान्त में होनी चाहिये। ऐसी दशा में पुष्ट प्रमाणों के अभाव में कुन्दाद्रि का नाम आचार्य कुन्दकुन्द की तपस्या के कारण ही पड़ा है यों नहीं माना जा सकता। हाँ, इसका कारण खोजना परमावश्यक है।

कुन्दाद्रि की चारों ओर गौड उपनामवाले वैष्णव क्षत्रियों के बहुत से घराने हैं। वे सब पूर्व में शुद्ध जैन धर्मानुयायी थे। इनमें शंकरप्प गौड, नागप्प होडे, तम्मण्ण हेग्डे और श्रीमती काडम्म आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्हें जैन धर्म में बड़ी श्रद्धा है। हाल ही में पोंबुच्च या हुंबुज के सुयोग्य मठाधीश श्री देवेन्द्रकीर्ति जी ने इस कुन्दाद्रि के जिनालय का जीर्णोद्धार कराया है। इस जीर्णोद्धार कार्य में भी उपर्युक्त शंकरप्प गौड आदि धर्मश्रद्धालु आसपास के भक्तों ने विशेष सहयोग प्रदान किया है। इस मार्ग से जानेवाले प्रकृति प्रेमी यात्रियों को एकबार इस पर्वत का दर्शन अवश्य कर लेना चाहिये। यहाँ का प्राकृतिक दृश्य वस्तुतः दर्शनीय है। पर्वत तो पवित्र है ही। मार्च माह में सम्पन्न इसके प्रतिष्ठा कार्य में मैं भी सम्मिलित रहा। उत्सव धूमधाम से बहुत सुन्दर सम्पन्न हुआ था।

क्या श्रीस्तम्भ केवल श्वेताम्बर तीर्थ है ?

[लेखक—श्रीयुत बा० रामचन्द्र जैन]

पं० नाथूराम जी प्रेमी तथा प्रो० हीरालाल जी ने अपने लेख "हमारे तीर्थ क्षेत्र" की भूमिका लिखते हुए लिखा है कि "फलोधी" "आबू" तथा "स्तम्भ" आदि तीर्थ हैं, जिन्हें दिगम्बर सम्प्रदाय नहीं मानता और न दि० साहित्य में इनका कोई उल्लेख मिलता है।

परन्तु खोज बीन करने पर पता चलता है कि ये बातें ठीक नहीं, क्योंकि इन तीनों ही तीर्थों को श्वे० सम्प्रदाय की तरह ही दिगम्बर सम्प्रदाय बराबर से ही पूजता चला आ रहा है। इसमें फलोधी तथा आबू तो राजस्थान प्रांत के ऐसे हिस्से में स्थित हैं जहाँ श्वे० सम्प्रदाय का जोर ज्यादा है तथा श्री स्तम्भ तो सौराष्ट्र देश में स्थित है जो श्वे० सम्प्रदाय का गढ़ ही है।

जहाँ जैनियों का जोर कम रहा है वहाँ के अनेक तीर्थ वैष्णवों के कब्जे में चले गये हैं। इसके एक नहीं अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। तब इसमें आश्चर्य ही क्या; एक ही जाति के दो फिरके एक दूसरे के मन्दिरों पर कब्जा न जमा लेवें। इस काम में हमारे श्वे० भाई बहुत होशियार होते हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण धुलेव के दिगम्बर जैन क्षेत्र केशरिया नाथ से भी मिल सकता है। अब हम श्री स्तम्भ क्षेत्र के ऊपर विचार करते हैं तथा आबू और फलोधी के बारे में अगले अङ्क में विचार प्रकट किये जायँगे।

श्री स्तम्भ तीर्थ को श्वे० सम्प्रदाय वाले भगवान पार्श्वनाथ से सम्बद्ध एक अतिशय क्षेत्र मानते हैं। और दि० समाज इस तीर्थ को बिल्कुल भूल चुका है। वहाँ के दिगम्बर सम्प्रदाय के मन्दिर या तो श्वे० सम्प्रदाय वालों ने अपनी आम्नाय में परिणत कर दिये हैं अथवा धराशायी हो गये हैं। लेकिन यह बात सिद्ध है कि वहाँ पर भगवान् आदिनाथ का दिगम्बर जैन मन्दिर १८ वीं शदी तक था। तथा १६ वीं शदी में ईडर तथा सूरत गद्दी के भट्टारकों द्वारा वहाँ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा भी हुई थी।

सूरत में खापटिया चकला मुहल्ले के श्री बड़े दि० जैन मन्दिर में पद्मावती की पाषाण की खड्गासन प्रतिमा है, जिस पर इस आशय का एक शिला लेख है:—

सं० १५४४ वर्षे वैशाख सुदी ३ सोमे ॥ श्री मूलसंघे सरस्वती गच्छे बलात्कार-गणे भट्टारक श्री विद्यानंदी देवः तत्पट्टे भट्टारकमल्लिभूषणः ॥ श्री स्तम्भ तीर्थे ॥ हुँबड़ ज्ञातीय श्रेष्ठी चांपा भार्या रूपिणी तत्पुत्री आर्जिका रत्न सिरी क्षुल्लिका जिनमती श्री विद्यानंदी दीक्षिता आर्जिका कल्याण सिरी ॥ अग्रोत का हि ज्ञाती साह देवा भार्या नारिंगदे पुत्री जिनमती करापिता प्रणमति श्रीपार्श्वम् ।

इस लेख से साफ साफ मालूम पड़ता है कि श्रीस्तम्भ तीर्थ पर सं० १५४४ में सूरत गद्दी के मूलसंघीय भट्टारक मल्लिभूषण तथा आर्जिका जिनमती तथा कल्याणश्री के उपदेश से अग्रवाल वंशी साह देवा ने इस पद्मावती की प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराई थी।

सूरत के उसी मन्दिर में एक चौबीस पट्ट भी है, जिसकी भी प्रतिष्ठा संवत् १५४४ के वैसाख सुदी ३ सोमवार को ईडर के मूलसंघीय भट्टारक श्री भुवन कीर्त्ति के शिष्य भट्टारक ज्ञान भूषण जी द्वारा हुँबड़ वंशी साह रामा ने कराई थी। लेख इस मुताबिक हैः—

सम्वत् १५४४ वर्षे वैसाख सुदी ३ सोमे ॥ श्री मूलसंघे भट्टारक श्री भुवनकीर्त्ति तत्पट्टे भट्टारक श्री ज्ञानभूषण गुरु उपदेशात् हुँबड़ साह रामा भार्या कर्मी सुत कर्मा-भार्या हासी सुत माना एते नित्यं प्रणम्य श्री महावीर जिनम् ॥

यद्यपि इन दोनों प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा भिन्न २ भट्टारकों ने कराई है, परन्तु पहले बहुधा ऐसा होता था। किसी भी पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर पर कई विद्वान् मुनियों तथा भट्टारकों का समागम हो जाता था तथा वे अपने २ भक्त श्रावक को उपदेश तथा उत्साहित करके नयी प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करा देते थे।

करमसद के भट्टारकीय मन्दिर में एक गुटका है, जिसमें सिद्ध आदि १८ भक्तियाँ तथा विविध प्रतिष्ठा विधि आदि हैं। यह गुटका २७९ पत्रों का है। इसे सं० १७४३ चैत्र सुदी १४ रविवार के दिन गोपीपुरा सूरत के भट्टारक सुरेन्द्रकीर्त्ति जी ने अपने खास पढ़ने के लिये श्रीस्तम्भपुर के श्री आदिनाथ भगवान के मन्दिर में लिखवाया था। सूरत से यह गुटका करमसद कैसे गया, इसका कारण यह था कि सं० १७९० में भट्टारक सुरेन्द्र कीर्त्ति जी की मृत्यु के पश्चात् सूरत गद्दी पर बैठने के लिये भट्टारक जी के दो चेलों में झगड़ा हुआ। पीछे बड़े चेले भट्टारक विजयकीर्त्ति जी तो सूरत गद्दी पर बैठे तथा छोटे चेले भट्टारक सकलकीर्त्ति जी करमसद की गद्दी पर बैठे। और शायद उसी समय वह गुटका सूरत से करमसद चला गया। भट्टारक सकलकीर्त्ति जी बड़े विद्वान् तथा मंत्र शास्त्र के ज्ञाता थे। सूरत का नवाब इनका बड़ा भक्त था। इन्हीं भट्टारक जी ने सूरत के श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ का मन्दिर बनवा कर प्रतिष्ठा करायी थी।

इन सब बातों से पता चलता है कि १८ वीं शदी तक दिगम्बर सम्प्रदाय वाले तथा इनके भट्टारक श्रीस्तम्भतीर्थ की यात्रा के लिये जाया करते थे तथा वहाँ रह कर शास्त्र रचना वगैरह किया करते थे। लेकिन पीछे किस कारण से दिगम्बरियों ने इस क्षेत्र

की वन्दना छोड़ दी, सो अन्धकार में है। लेकिन यह बात अवश्य हुई कि पिछले भट्टारक लोग बड़े शिथिलाचारी हो गये थे तथा अपना समय धार्मिक कार्यों में न व्यतीत करके आमोद प्रमोद में बिताया करते थे। जब गुरुओं का यह हाल रहा तो उनके भक्त श्रावकों का तो पूछना ही क्या ? और इस तीर्थ को भूल जाने का एक सबसे बड़ा कारण यही था। मौका पाकर श्वे० सम्प्रदाय वालों ने हमारे मन्दिर आदि पर कब्जा कर लिया।

आशा है कि विद्वान् लोग इस सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। खास कर सौराष्ट्र प्रान्त में रहने वाले विद्वानों को इस क्षेत्र पर जाकर पूरी पूरी खोज बीन करनी चाहिये, जिससे कि इस भूले हुए क्षेत्र का उद्धार हो सके।

प्रमेयरत्नमाला की टीकाएँ

[ले०—श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य आरा

जैन न्यायशास्त्र में प्रमेयरत्नमाला का महत्वपूर्ण स्थान है। आचार्य माणिक्यनन्दी ने 'परीक्षामुखम्' में गागर में सागर भर देने की कहावत चरितार्थ की है। इस सूत्र ग्रन्थ पर अद्यावधि अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं। यशस्वी तार्किक अनन्तवीर्य ने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदि ग्रन्थों का सार लेकर 'परीक्षामुखम' पर प्रमेयरत्नमाला नामक टीका लिखी है; इस टीका पर श्रवणबेलगोला गद्दी के पट्टाधीशों ने कई टीकाएँ लिखी हैं, जो स्वतन्त्र ग्रन्थ बन गयी हैं। इन समस्त टीकाओं का रचनाकाल १६ वीं शती से १८ वीं शती तक माना गया है।

प्रमेयरत्नमाला में प्रमाण, प्रमेय का विस्तृत विवेचन है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड जैसे गम्भीर ग्रन्थों के अध्ययन के लिए जिनके पास समय और शक्ति नहीं है, वे इस लघुग्रन्थ के अध्ययन से जैन न्याय के तथ्यों को अवगत कर सकते हैं। इस ग्रन्थ में छः उद्देश्य हैं। प्रथम उद्देश्य में प्रमाण का स्वरूप, उसकी निर्दोषता, उत्पत्ति, ज्ञप्ति एवं प्रमाणता प्रभृति का निरूपण अन्यमतों के निराकरणपूर्वक किया गया है। इस रचना की शैली तार्किक है, मीमांसात्मक विवेचनपद्धति द्वारा पूर्वाचार्यों के सिद्धान्तों का समर्थन किया है। जैन न्याय के व्यवस्थापक आचार्य अकलंकदेव द्वारा प्रतिपादित स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान को ही प्रमाण सिद्ध किया है। यह ज्ञान प्रदीप की तरह स्वपर प्रकाशक है, अपने आप प्रत्यक्षरूप से भासित होता है और अन्य घटपटादि पदार्थों को प्रतिभासित करता है।

दूसरे परिच्छेद में प्रमाणों का वर्गीकरण किया गया है। मूलतः प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्षज्ञान इन्द्रिय निरपेक्ष विशिष्ट आत्म शक्ति से उत्पन्न होता है और परोक्षज्ञान ज्ञानावरणीयकर्म के क्षयोपशम होने पर विषयेन्द्रिय सन्निपात से। यों तो आत्मशक्ति दोनों ही प्रकार के ज्ञानों की उत्पत्ति में सहायक है, पर परोक्ष में इन्द्रियों की सहायता अपेक्षित है और प्रत्यक्ष में नहीं। आचार्य अनन्तवीर्य ने इस द्वितीय परिच्छेद में "प्रत्यक्षेतरभेदात्" सूत्र की व्याख्या में प्रत्यक्षैक प्रमाणवादी चार्वाक के प्रति अनुमान की सिद्धि प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणवादी बौद्ध के प्रति प्रत्यभिज्ञान की सिद्धि: तीन प्रमाणवादी सांख्य के प्रति तर्क की सिद्धि एवं दो प्रमाणवादी वैशेषिक, चार प्रमाणवादी नैयायिक और छः प्रमाणवादी मीमांसक के प्रति स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञान की सिद्धि कर प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों की स्थापना की है।

विशदज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है। प्रत्यक्ष के सांव्यवहारिक और पारमार्थिक ये दो भेद हैं। इन्द्रिय और मन के निमित्त से जो एक देश विशदज्ञान होता है, उसे सांव्यवहारिक[1] और

---

1 समीचीनः प्रवृत्तिनिवृत्ति रूपो व्यवहारः तत्र भवं सांव्यावहारिकम्। भूयः किंभूतमिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्। इन्द्रियं चक्षुरादिः, अनिन्द्रियं मनः ते निमित्तं कारणं यस्य।

इन्द्रियों के साहाय्य बिना केवल आत्मा से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे पारमार्थिक या मुख्य प्रत्यक्ष माना है। सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद हैं। अवग्रह के दो भेद हैं—व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह। व्यञ्जनावग्रह चक्षु और मन से नहीं होता; अतः व्यञ्जनावग्रह की उत्पत्ति स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन चार इन्द्रियों से होती है। व्यञ्जनावग्रह जहाँ होता है, वहाँ ईहादि अन्य तीन ज्ञान उत्पन्न नहीं होते। प्रत्येक इन्द्रियज्ञान बहु, अबहु, बहुविध, एकविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, अनिसृत, निसृत, उक्त, अनुक्त, ध्रुव और अध्रुव इन बारह प्रकार के विषयों को ग्रहण करता है, अतः व्यञ्जनावग्रह के कुल ४८ भेद हुए। अर्थावग्रह के साथ ईहादि ज्ञान होते हैं, अतः इनके ४ × ६ × १२ = २८८ भेद हुए। समस्त मतिज्ञान के २८८ + ४८ = ३३६ भेद हुए। इस परिच्छेद में ज्ञान मीमांसा के साथ तादूप्य, तदुत्पत्ति और तदध्यवसाय का निराकरण कर योग्यता—क्षयोपशम शक्ति को ही ज्ञान व्यवस्था में कारण माना है।

इस परिच्छेद के अन्तिमसूत्र में सर्वज्ञसिद्धि, ईश्वरसृष्टिकर्तृत्वनिराकरण तथा ब्रह्माद्वैत का निराकरण पुष्ट प्रमाण और तर्कों के आधार पर किया गया है।

तृतीय परिच्छेद में परोक्षज्ञान के भेद—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम की परिभाषाएँ परमत निराकरण पूर्वक दी गयी हैं। हेतु की व्यवस्था बतलाते हुए त्रैरूप्य—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्ष से व्यावृत्तित्व तथा नैयायिकाभिमत पञ्चरूप्य का खण्डन किया गया है। स्वार्थानुमान, परार्थानुमान के लक्षणों के पश्चात् उपलब्धि और अनुपलब्धिरूप हेतुओं के भेद प्रभेदों का सविस्तार वर्णन है। अन्त में आगम का लक्षण निर्धारित करते हुए वेद के अपौरुषेयत्व और शब्द के नित्यत्व की सुन्दर विवेचना की है। यह प्रकरण दार्शनिकों के लिए मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक है। इसी प्रकरण में बौद्धाभिमत अन्यापोह का भी खण्डन किया है।

चतुर्थपरिच्छेद के आरम्भ में सामान्यविशेषात्मक पदार्थ को सिद्ध करते हुए बौद्धाभिमत निरपेक्षविशेष, और सांख्याभिमत निरपेक्ष सामान्य का अनेक तर्क और युक्तियों द्वारा खण्डन किया है। इस प्रकरण में सांख्याभिमत सृष्टि के आरम्भ और प्रलय की प्रक्रिया का दिग्दर्शन भी कराया गया है। इसी सूत्र की व्याख्या में समस्त वस्तुओं को अनेकान्तात्मक सिद्ध करते हुए अनेकान्तात्मक वस्तुव्यवस्था में पर प्रदत्त विरोध, वैयधिकरण, अनवस्था, संकर, व्यतिकर, संशय, अप्रतिपत्ति और अभाव इन आठ दोषों का परिहार कर वास्तविक वस्तु व्यवस्था सिद्ध की है। सामान्य के तिर्यक् और ऊर्ध्व एवं विशेष के पर्याय और व्यतिरेक भेदों का लक्षण

व्यस्तं च कारणमभ्युपगन्तव्यम्। इन्द्रियप्राधान्यादनिन्द्रियबलाधानादुपजातमिन्द्रियप्रत्यक्षम्, अनिन्द्रियादेव विशुद्धिसव्यपेक्षादुपजायमानमनिन्द्रियप्रत्यक्षम्— प्रमेयरत्नमाला पृ० ४४

सहित विवेचन किया है। इस अनेकान्त दृष्टि द्वारा एकान्तों की पारस्परिक वादलीला का अन्त आचार्य ने बड़े सुन्दर ढंग से किया है। समस्त विरोधों का समाधान एवं पूरे सत्य का दर्शन अनेकान्तवाद की भूमिका पर ही संभव है। यद्यपि यह विचारसरणी अनन्तवीर्य की नयी नहीं है, आचार्य अकलंक, समन्तभद्र और प्रभाचन्द्र जैसे तार्किकों का अनुकरणमात्र है, तो भी थोड़े में तथ्यांश का दर्शन करा देना ही इनकी मौलिकता है।

पाँचवें परिच्छेद में प्रमाण का फल और उसके भिन्नाभिन्नत्व का विश्लेषण किया है। छठवें परिच्छेद में प्रमाणाभास, हेत्वाभास, नय, नयाभास आदि का विवेचन है। हेत्वाभास संख्याविषयक जो अनेक परम्पराएँ प्रचलित हैं, उन सबकी मीमान्सा इस प्रकरण में मुख्यरूप से की गयी है। इसी परिच्छेद में आत्मा का व्यापकत्व और अणुपरिमाणाधिकरणत्व का भी खण्डन कर शरीर प्रमाण आत्मा को सिद्ध किया है।

टीकाएँ:— प्रमेयरत्नमाला की अबतक छः-सात टीकाएँ उपलब्ध हैं। इनमें निम्न टीकाएँ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें विषयनिरूपण स्वतन्त्ररूप से किया है तथा दार्शनिक तथ्यों की मीमान्सा प्रमेयरत्नमाला के क्षेत्र में रहकर भी सुस्पष्ट और विस्तृतरूप से की है। (१) अर्थ-प्रकाशिका (२) न्यायमणिदीपिका (३) प्रमेयकण्ठिका (४) प्रमेयरत्नमालालंकार (५) प्रमेयविवृत्ति और (६) प्रमेयरत्नमालालघुवृत्ति।

अर्थप्रकाशिका:—इस टीका के रचयिता पंडिताचार्य चारुकीर्ति हैं। यह श्रवणबेलगोला के पट्टाधीशों का उपाधि नाम रहा है। अतः निश्चित प्रमाण के अभाव में इस टीका का समय निर्धारण करना कठिन है। परन्तु इस टीका में सम्बन्धादित्रय का विवेचन करते हुए स्वयं ग्रन्थकर्ता ने लिखा है—

"लभ्यते एव विषयत्वं नाम शास्त्रजन्यबोधविषयत्वमिति। अत्र वक्तव्यांशः न्यायमणिदीपिकाप्रकाशे एतत्सूत्रव्याख्यायां च विस्तरेणास्माभिरभिहितो वेदितव्यः"[१]।

इससे स्पष्ट है कि न्यायमणिदीपिका टीका भी इन्हीं पण्डिताचार्य की है। A Descriptive Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the Government Oriental Manuscripts Library, Madras में न्यायमणिदीपिका की प्रशस्ति देते हुए संपादक ने लिखा है—

"The transcription of this manuscript is said to have been completed by Janardan-Vijaya of Vasistha gotra and pupil of Carukirti Panditacarya on monday the 1st of the bright half of the month Ārani in the year Plave in the Salivahana year 1763"[२]

१ अर्थप्रकाशिका ९ वें पृष्ठ का पूर्वार्ध

२ DCSM पृष्ठ ३९७६

अर्थात् इस टीका को शक संवत् १७६३ में वैशाख शुक्ला प्रतिपदा सोमवार को प्लव नामक संवत् में पंडिताचार्य चारुकीर्त्ति के शिष्य वशिष्ठगोत्रीय जनार्दन विजय ने पूर्ण किया। इससे स्पष्ट है कि न्यायमणिदीपिका का आरम्भ भी पंडिताचार्य चारुकीर्त्ति ने ही किया था, पर वे किसी कारण से इसकी समाप्ति नहीं कर सके, अतः इसे उनके शिष्य जनार्दन विजय ने समाप्त किया। अर्थप्रकाशिका में भी स्वयं ग्रन्थकर्त्ता ने न्यायमणिदीपिका की बात ऊपर कही है, अतएव उक्त टीका का रचनाकाल शक संवत् की १८ वीं शती है। मालूम होता है कि न्यायमणिदीपिका अर्थप्रकाशिका से पहले लिखी गयी थी, पर समाप्ति उसकी पीछे हुई।

शैली और भाषा—अर्थप्रकाशिका टीका की शैली में जहाँ-तहाँ नव्यन्याय पद्धत्ति का आश्रय लिया गया है। यथा—"अनुवादो नाम अत्र न निष्ठप्रकारताशालिबोधजनकशब्दप्रयोगः"[१]। "प्रतिज्ञा हि स्वकर्त्तव्यत्वप्रकारकबोधजनकशब्दप्रयोगरूपा। यथा मया इदं क्रियते इति प्रतिज्ञायां निरुक्तलक्षणं वर्तते। एवं वक्तृपुरुषः तत्कर्त्तव्यत्वं कर्तृविषयत्वं तत्प्रकारको यो बोधः मया क्रियते इति वाक्यजन्यमन्निष्ठकृतिविषयाभिन्नमिदमित्याकारको बोधः। तादृशबोधे हि स्वकर्त्तव्यत्वं हि प्रकारः"[२]। विषय का स्पष्टीकरण इतने अच्छे ढंग से किया है, जिससे मूल विषय को समझने में बड़ी सरलता होती है। बीच-बीच में पूर्वपक्षों को स्पष्ट करने के लिए मीमान्साश्लोकवार्त्तिक, सांख्यकारिका, न्यायसूत्र, छान्दोग्योपनिषद्, प्रमाणसंग्रह प्रभृति ग्रन्थों के उद्धरण भी दिये हैं। निरूपण शैली एक अध्यापक के पाठन के तुल्य है। विषय का प्रवेश हृदय में सीधे और तीक्ष्णरूप से होता है। उदाहरणार्थ—'प्रदीपवत्' सूत्र की व्याख्या उद्धृत की जाती है। पाठक देखेंगे कि टीकाकार ने अपने शब्दों में एक सुयोग्य व्युत्पन्न अध्यापक के समान विषय का स्पष्टीकरण किया है। पाठकों की सारी कठिनाइयाँ, जो प्रमेयरत्नमाला के अध्ययन में उत्पन्न होती थीं, दूर हो जाती हैं।

"यथा प्रदीपस्य प्रत्यक्षतां विना तत्प्रतिभासितस्यार्थस्य प्रत्यक्षता न घटते, तद्वत् ज्ञानस्य प्रत्यक्षतां विज्ञानविषयीभूतार्थस्य प्रत्यक्षता न घटत इति भावः। अत्र स्वव्यवसायात्मकत्वसमर्थकप्रकरणोपसंहारे प्रदीपदृष्टान्तं वदतो आचार्यस्यायमाशयो लभ्यते। ज्ञानं स्वतः प्रकाशकत्वाभाववत् प्रमेयत्वात्, घटादिवदिति नैय्यायिकाः। तदसत् तदीयपक्षस्य प्रत्यक्षानुमानबाधितत्त्वात्। तथा च प्रयोगः ज्ञानं स्वविषयीकरणे स्वभिन्नस्वसजातीयपदार्थान्तरानपेक्षं प्रत्यक्षविषयीभूतपदार्थसमवेतगुणत्वे सति अदृष्टरूपसहकारिविशिष्टकारणत्वात्। प्रदीपनिष्ठभासुराकारवत्, यथा प्रदीपनिष्ठभासुराकारः प्रत्यक्षविषयीभूतो योऽर्थः प्रदीपादिरूपः तद्गुणोऽपि भवति। अदृष्टरूपसहकारिविशिष्टकरणमपि भवतीति कृत्वा स्वावभासने स्वसजातीयपदार्थान्तरं स्वभिन्नदीपादिकं नापेक्षते। तद्वत्

१ पृ० १३

२ ह० पु० पृ० ३ उ. ४ पृ०

ज्ञानमपि प्रत्यक्षविषयीभूतो योऽर्थः तद्गुणोऽपि भवति, अदृष्टानुयायिकरणं च भवति। स्वावभासने स्वातिरिक्त स्वसजातीयार्थान्तरंनापेक्षते इति"[1]।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि शैली आशुबोधगम्य है। जिज्ञासु थोड़े श्रम से ही प्रमेयरत्नमाला के हृदय को अवगत कर सकता है। इसके अतिरिक्त व्याख्या में अलंकारों और ध्वन्यर्थों का भी प्रयोग किया है, जिससे शैली में सरसता आ गयी है। आरम्भ में मंगलाचरण के श्लोकों की व्याख्या करते हुए "नतामरेति अस्मिन् श्लोके वृत्यनुप्रासशब्दालंकारः। रेफादिवर्णानामावृत्तेः। एकद्वयादिवर्णानामावृत्तौ वृत्यनुप्रासस्य अभिहितत्वात्[2]। तदुक्तं—एकद्विप्रमुखावर्णाः व्यवधानेन यत्र वै आवर्तन्ते तदा तत्र वृत्यनुप्रास इष्यते "इतिपदार्थ हेतुकं काव्यलिंगमर्थालंकारः। हेतोवाक्यपदार्थ-त्वेकाव्यलिङ्गमुदाहृतम् इति लक्षणात्। अकलंकेति—अत्र रूपकालंकारः। वचसि अम्भोधित्वस्य-रूपणात्, उपमानोपमेययोरभेदकथनं हि रूपकम्"[3]।

भाषा सरल और प्रवाह युक्त है। न्याय जैसे कठिन विषय को सरल संस्कृत में समझाने का आयास प्रशंसनीय है। समस्यन्त प्रयोगों का प्रायः अभाव है। टीकाकार ने विषय को बलपूर्वक लादने का प्रयास नहीं किया है, बल्कि सुगमरीति से पाठकों के अन्तःकरण में प्रविष्ट कराने की चेष्टा की है। जैसा प्रायः देखा जाता है कि कतिपय टीकाकार विषय को इतना उलझा देते हैं कि मूल ग्रन्थ समझ में आजाय, पर टीका नहीं आती। परन्तु इस अपवाद से यह टीका रहित है। प्रत्येक कठिन विषय को स्पष्ट किया गया है। प्रसादगुण युक्त भाषा शैली पाठकों का ध्यान सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।

विषय विवेचन—यों तो प्रमेयरत्नमाला में निरूपित विषयों की विवेचना ही इसमें की गयी है तथा उन्हीं विषयों का स्पष्टीकरण है, परन्तु तो भी इसमें कतिपय नवीन बातों का समावेश टीकाकार ने किया है। इस टीका में स्वतन्त्ररूप से उपन्यस्त विषयों में शून्याद्वैत, तत्त्वोपप्लव, प्रमाणसम्प्लव, हेत्वाभासों का विस्तृत विवेचन प्रभृति हैं। जिन सूत्रों की व्याख्या प्रमेयरत्नमालाकार ने संक्षेप और अस्पष्टरूप से की है, उन सूत्रों की व्याख्या इस टीका में स्पष्ट और विस्तृत है। प्रमेयरत्नमाला में अन्यापोह का विषय कुछ क्लिष्ट है जिससे सर्वसाधारण उसे हृदयंगम नहीं कर पाते; परन्तु इस टीका में इस विषय को इतने सरल और सीधे ढंग से रखा है, जिससे एक साधारण न्याय का विद्यार्थी भी इसे समझ सकता है। यद्यपि विषय निरूपण में जहाँ तहाँ नव्यन्याय पद्धत्ति को अपनाया है, तो भी विषय को दुरूह नहीं होने दिया है। अनेकान्तात्मक वस्तु की सिद्धि में नवीन अनुमानों का भी प्रयोग किया है तथा विस्तारपूर्वक उदाहरण देकर इस

१ अ० पु० पृ० १८, २९
२ अ० पु० पृ० १
३ अ० पु० पृ० २

विषय को समझाया है। अन्यमतावलम्बियों ने जो अनेकान्त में आठ दूषण दिये हैं, उनका निराकरण भी बड़ी दृढ़ता और प्रौढ़ता के साथ किया है। उत्पाद-विनाश-ध्रौव्यात्मक वस्तु की साधना कर ईश्वर के नित्यज्ञान का निराकरण किया है तथा सिद्ध किया है कि समस्त वस्तुओं की वास्तविक स्थिति त्रयात्मक दृष्टि से देखने पर ही अवगत हो सकती है। संसार में प्रतिक्षण जो परिवर्तन हो रहे हैं, उनका मूल कारण वस्तु स्वभाव है। द्रव्यदृष्टि से वस्तु नित्य है और पर्यायदृष्टि से अनित्य।

ग्रन्थ परिमाण—इस टीका में कुल २४६ पृष्ठ हैं, प्रतिपृष्ठ ११ पंक्तियाँ और प्रतिपंक्ति १८ अक्षर हैं। पृष्ठ की लम्बाई ८॥ इंच और चौड़ाई ६॥। इंच है। इस टीका की अन्तिम प्रशस्ति निम्न प्रकार है।

"स्वस्तिश्रीमत्सुरासुरवृन्दवन्दितपादपाथोजश्रीमन्नेमीश्वरसमुत्पत्तिपवित्रीकृतगौतमगोत्रसमुद्भूतार्हतद्विजश्रीब्रह्मसूरिशास्त्रितनुजश्रीमद्दोर्बलिजिनदासशास्त्रिणामन्तेवासिना मेरुगिरिगोत्रोत्पन्न वि० विजयचन्द्राभिधेन जैनक्षत्रियेण लेखीति। भद्रं भूयात्। श्री श्री० श्री० श्री०"

न्याय मणिदीपिका—इस टीका के रचयिता पंडिताचार्य चारुकीर्तिजी ही हैं; इसका उल्लेख अर्थप्रकाशिका में स्वयं ही आचार्य ने किया हैं। यद्यपि प्रशस्तिसंग्रह में श्री पं० के० भुजबली शास्त्री ने इसके रचयिता का नाम अजितसेनाचार्य ने लिखा[1] है, और अपने इस कथन का समर्थन Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts in the Central Provinces and Berar by R. B. Hiralal B. B. (Appendices) से किया है। पर इस कथन में कोई सबल युक्ति नहीं है; अतः पूर्वोक्त प्रमाणों के आधार पर इसके आरम्भ करनेवाले पंडिताचार्य चारुकीर्ति और समाप्ति करनेवाले उनके शिष्य जनार्दन विजय हैं। इस टीका की समाप्ति शक संवत् १७६३ में हुई है।

शैली और भाषा—इस टीका की शैली समस्यन्त है तथा प्रौढ़ गद्यात्मक है। रचयिता ने भाषा सम्बन्धी पाण्डित्य का प्रदर्शन सर्वत्र किया है। विषय निरूपण की अपेक्षा श्रेष्ठ गद्यशैली में उलझाने का आयास अधिक है। आरम्भ में ही संस्कृत की छटा दिखलाते हुए कहा है—

"इह हि खलु सकलकलङ्कविकलकेवलावलोकनविमललोचनलोकितलोकपरमगुरुवीरजिनेश्वररुचिरमुखसरसीरुहसमुत्पन्नसरस्वतीरसानवरतस्मरणावलोकनसल्लापदत्तचित्तवृत्तिः सकलराजाधिराज परमेश्वरस्य हिमशीतलस्य महाराजस्य महास्थानमध्ये निष्ठुरकष्टवादसौष्ठवदुष्टसौगतान् चटुलघटवावादिपटिष्ठतयातारादेवताधिष्ठितदुर्घटघटवादविजयेन विघट्य तेन राज्ञा सभ्यैस्सभासदैश्च परिप्राप्तजयप्रशस्तिः सकलतार्किकचूडामणिमरीचिमेचकितरुचिररुचिचकचकायमानचरणनखरो

१ प्रशस्ति संग्रह—जैन-सिद्धान्त-भवन आरा, पृ० १—३

भगवान् महाकलङ्कदेवो विश्वविद्वन्मण्डलहृदयाह्लादियुक्तिशास्त्रेण जगत्सद्धर्मप्रभावमबबूतमाम् ।"

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि इस टीका में पूर्णतया पाण्डित्य प्रदर्शित किया है। विवेचन करते हुए बीच-बीच में प्रश्नोत्तर शैली का भी आलम्बन लिया गया है। परिभाषाओं का स्पष्टीकरण भी उलझे हुए ढंग से किया है। शब्दजाल इतना अधिक है, जिससे वास्तविक विषय छिप-सा गया है। अर्थप्रकाशिका की शैली से इसकी शैली बिल्कुल भिन्न है। यद्यपि अलंकार ध्वन्यर्थों का प्रयोग दोनों में समानरूप से हुआ है। आलंकारिक पाण्डित्य दिखलाते हुए लिखा है—"परीक्षामुखमादर्शमितिरूपकालंकारेणालंकृतत्वात्तमलङ्कारं तदेवं रूपयतीत्येननाभि- व्यज्य उपमैव तिरोभूतभेदारूपकमिष्यत इति रूपकालङ्कारलक्षणसद्भावस्तन्दलङ्कारतिरोहितामुपमां दर्शयति"[1] ।

भाषा प्रौढ़ और परिमार्जित है। न्यायशास्त्र में भी काव्यशास्त्र का आनन्द प्राप्त होता है। कई स्थानों पर तो गद्य में उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक और काव्यलिंग अलंकारों की झड़ी लगा दी है। ऐसा मालूम होता है कि टीकाकार यह भूल ही गया है कि उसे प्रमेयरत्नमाला का स्पष्टीकरण करना है, अतः अनेक स्थानों पर व्यर्थ के पाण्डित्य प्रदर्शन में समय लगाया है।

विषय विवेचन—विषय विवेचन की दृष्टि से दो चार स्थलों पर विशेषता पायी जाती है। इस पीनकाय पुस्तक में प्रमाण और प्रामाण्य, उत्पत्ति और शप्ति, अर्थापत्ति और अनुमान, उपमान और प्रत्यभिज्ञान, आदि के अन्तरों का अच्छा स्पष्टीकरण किया है। विषयों के विश्लेषण के लिए जैनागम के प्रमाण स्थान-स्थान पर उद्धृत किये गये हैं। बन्ध व्यवस्था का निरूपण करते हुए बताया है—"जहण्ण वज्जे इत्युक्तत्वात् तेनैकगुणस्य स्निग्धस्यरूक्षस्य वाणोः परेण स्निग्धरूक्षेण वैकगुणेन द्वित्रिसंखेयासंखेयानन्तगुणेन वाणुना बन्धो नास्ति । तथा द्वयादिभि- रपि परमाणुभिर्द्व्यादि गुणैरेकगुणैश्च न बन्धः । ततो जघन्यवर्जानामिवमेवद्विगुणादिकानामेवतुल्य- जातीयानां चेति बन्धः । तद्यथा द्विगुणस्निग्धस्यपरमाणोरेकगुणस्निग्धेन द्वित्रिगुणस्निग्धेन वा नास्ति सम्बन्धः । चतुर्गुणस्निग्धेनत्वस्ति सम्बन्धः । तस्यैव पुनर्द्विगुणस्निग्धस्य पंचगुणस्निग्धेन षट्सप्ताष्टसंखेयासंखेयानन्तगुणस्निग्धेन च बन्धो नास्ति । एवं त्रिगुणस्निग्धस्य पञ्चगुणस्निग्धेन बन्धोऽस्ति शेषैः पूर्वोत्तरैर्न भवति"[2] । आदि—

इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक विषय को पर्याप्त विस्तार दिया गया है। परमतों का निराकरण भी दृढ़ता और पुष्ट तर्कों से किया है।

परिमाण—इस ग्रन्थ में ३१० पत्र हैं, प्रतिपत्र एक ओर १० पंक्तियाँ हैं और प्रतिपंक्ति २८ अक्षर हैं।

---

१ न्यायमणिदीपिका पत्र ११९—२१०

२ न्यायमणिदीपिका पत्र २११

प्रमेयरत्नमालालंकार—इस टीका के रचयिता पण्डिताचार्य चारुकीर्ति हैं। यह रचना अर्थप्रकाशिका टीका की पूर्ववर्ती मालूम होती है। अनुमानतः शक संवत् १७ वीं शती में इसका प्रणयन हुआ है।

इस टीका की शैली नव्यन्याय पद्धति पर है। अवच्छेदक, अवच्छिन्न, तन्निष्ठता आदि शब्दों का प्रयोग स्थल-स्थल पर हुआ है। शैली स्वच्छ, प्रौढ़ और परिमार्जित है। नव्यन्याय पद्धत्ति पर ब्रह्माद्वैतवादी का पूर्वपक्ष स्थापित करते हुए लिखा है—"ब्रह्माद्वैतवादिनस्तु—सत्तारूपं ब्रह्मैव सर्वसाक्षात्कारि सर्वावच्छिन्न चैतन्याभिन्नत्वात्। चैतन्यस्य घटादिसाक्षात्कारित्वं हि घटावच्छिन्न चैतन्याभेद एव घटसाक्षात्कारकाले इन्द्रियद्वारा अन्तःकरणवृत्तेर्घटादिविषयदेशगमनेन घटावच्छिन्न चैतन्यस्य रूपान्तःकरणावच्छिन्नचैतन्येनाभेदोत्पत्तेः एकदेशस्थयोपाध्योः भेदकत्वायोगात् गृहावच्छिन्नाकाशे घटावच्छिन्नाकाशे घटावच्छिन्नाकाशभेदवत्। मायावच्छिन्नचैतन्ये घटावच्छिन्न-चैतन्याभिरूपं सर्वसाक्षात्कारित्वं च घटस्सन् पटस्सन् इत्यादि प्रत्यक्षेण गृह्यते"[1]।

इससे स्पष्ट है कि इस टीका में नव्यन्याय की शैली पर विषय विवेचन किया गया है। विषय का स्पष्टीकरण जितना भी संभव हुआ है, किया है।

विषय प्रमेयरत्नमाला का ही है, उसीमें थोड़ा विस्तार किया गया है।

परिमाण—इस पुस्तक में कुल ३७६ पत्र हैं, प्रतिपत्र एक ओर ११ पंक्तियाँ और प्रति पंक्ति १७-१८ अक्षर हैं।

प्रमेयकण्ठिका—इस टीका के रचयिता शान्तिवर्णी हैं। इसका रचनाकाल १६-१७ वीं शती के मध्य का है। ग्रन्थ की रचनाशैली से प्रतीत होता है कि यह प्रमेयरत्नमाला पर आरम्भिक टीका है। यद्यपि विषय का स्पष्टीकरण पूर्णरूप से नहीं हो पाया है, तो भी प्रकरणों के स्पष्टीकरण का आयास प्रशंसनीय है। रचयिता के सम्बन्ध में इस टीका से कुछ भी पता नहीं चलता है।

शैली और भाषा—इस टीका की भाषा सरल है। शैली परिष्कृत और स्वच्छ है। विषय को समझाने का प्रयास भी किया गया है। रचयिता ने स्वयं ही अपनी टीका की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

प्रमेयकण्ठिका जीयात्प्रसिद्धानेकसद्गुणा।
लसन्मार्त्तण्डसाम्राज्ययौवराज्यस्यकण्ठिका॥
सनिष्कलङ्कां जनयन्तु तर्कं वा बाधितर्को मम तर्करत्ने।
केनानिशं ब्रह्मकृतः कलङ्कारचन्द्रस्य किं भूषणकारणं न॥

इससे स्पष्ट है कि इनकी टीका में तर्क, युक्तियाँ और प्रमाणों की बहुलता है। शैली में प्रवाह और प्रसाद दोनों गुण है।

---

1 प्रमेयरत्नमालालंकार पत्र १३९

प्रमेयरत्नमाला में आगत विषयों का स्पष्टी करण ही इस टीका में किया गया है। टीकाकार ने अपनी ओर से नवीन विषयों को उठाने का प्रयास नहीं किया है।

परिमाण—इसमें कुल ३८ पत्र हैं, प्रत्येक पत्र ८॥"×७" है।

प्रमेयरत्नमाला लघुवृत्ति[1] — इस टीका के रचयिता के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस टीका का रचनाकाल १७ वीं शती है।

शैली, भाषा और विषय निरूपण की दृष्टि से भी इस टीका में नवीनता बहुत कम अंशों में दिखलायी पड़ती है। प्रमेयरत्नमाला में आये हुए कठिन पदों का विश्लेषण भर कर दिया है। शैली स्वतन्त्र भाष्य या विवेचन की नहीं है, किन्तु टिप्पणात्मक है। पाठक जिन कठिन पदों को यथार्थरूप से हृदयंगम नहीं कर पाते हैं, उन पदों का स्पष्टीकरण किया है। नयी बातें इस टीका में नहीं मिलेगीं।

ग्रन्थ समाप्त करते हुए परीक्षामुखसूत्र और प्रमेयरत्नमाला के रचना के कारणों पर प्रकाश डाला गया है।

> श्रीमान् वैजयनामाभूदग्रणीगुणशालिनाम्।
> बदरीबालवंशालीव्योम्निद्युमणिरूर्जित ॥
> तदीयपत्नी भुवि विश्रुतासीन्नाणाम्बनामा गुणशीलधामा।
> यां रेवतीति प्रथिताम्बिकेति प्रभावतीति प्रवदन्ति सन्तः॥
> तस्मादभूद्विश्वजनीनवृत्तिर्दानाम्बुवाहो भुवि हीरपाख्यः।
> स्वगोत्रविस्तारनभोंऽशुमाली सम्यक्त्वरत्नाभरणार्चिताङ्गः॥
> तस्योपरोधवशतो विशदोरुकीर्तेर्माणिक्यनन्दिकृतशास्त्रमगाधबोधम्।
> स्पष्टीकृतं कतिपयैर्वचनैरुदारैर्बालप्रबोधकरमेतदनन्तवीर्यैः॥

टीकाकार ने स्वयं अपने सम्बन्ध में इतना ही लिखा है कि आचार्य अकलंक देव के वचनों का सारांश लेकर मैं विवृत्ति लिखता हूँ। ग्रन्थ में सूत्रों का व्याख्यान भी प्रमेयरत्नमाला के समान ही किया है। यद्यपि भाषा शैली में अन्तर है तथा टीकाकार ने सूत्रार्थ को कुछ विस्तृत कर देने की चेष्टा की है। जिन सूत्रों का विशेषार्थ प्रमेयरत्नमालाकार ने नहीं लिखा है, उन सूत्रों का अर्थ इसमें भी छोड़ दिया गया है।

इन समस्त टीकाओं में अर्थ प्रकाशिका, न्यायमणिदीपिका और प्रमेयरत्नमालालंकार तो शीघ्र प्रकाशित करने योग्य हैं। इन तीनों टीकाओं से जैन न्याय शास्त्र के जिज्ञासुओं को विशेष लाभ होगा। अच्छा हो कि तुलनात्मक टिप्पण देते हुए प्रमेयरत्नमाला का एक सुन्दर संस्करण निकाला जाय। प्रकाशक संस्थाओं को इस ओर ध्यान देना चाहिये।

---

१ देखें—A Descriptive Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the Government Oriental Manuscripts Library, Madras, PP. 3975

गायत्री मन्त्र का जैन व्याख्यान

वैदिक दर्शन एवं धर्म में गायत्री मन्त्र को अत्यधिक प्रधानता दी गयी है। जो द्विज तीनों सन्ध्याओं में इस मन्त्र का जप नहीं करता है, वह पतित माना जाता है। ऋक् ३। ६२। १०, साम २। ६। ३। १०। १ और वाजसेनय ३, ३५। २२। ९ में यह मन्त्र आया है। छान्दोग्योपनिषद् ३। १२। १ में गायत्री की उपासना को सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है। ऋक् ३। ६२। १० तथा साम ६। १०। १ के भाष्यानुसार इस मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार है—

"जो सविता हमारी धी शक्ति को प्रेरणा करते हैं, हमें उन्हीं सविता देव के प्रसाद से प्रशंसनीय अन्नादिरूप फल मिलते हैं।" वाजसनेय संहिता ३। ३५ महीधरभाष्य के अनुसार इस मन्त्र का अर्थ निम्न है—

द्योतमानप्रेरक, अन्तर्यामी, विज्ञानानन्दस्वभाव, हिरण्यगर्भ या आदित्यरूप उपाधिधारी ब्रह्म के प्रार्थनीय; पाप तथा संसारबन्धननाशक तेज की चिन्ता करते हैं। वह सविता हमारी बुद्धि—सत्कर्मानुष्ठान को प्रेरणा करते हैं।

जो सवितृदेव हमें कर्म—कर्मेन्द्रिय अथवा धर्मादि विषयक बुद्धि की प्रेरणा करते हैं, हम उन्हीं सर्वान्तर्यामी, जगत्स्रष्टा, परमेश्वर, सबके सेवनीय, अविद्या तथा तत्कार्य नाशक और परब्रह्मस्वरूप ज्योति की चिन्ता करते हैं।

हम सवितृदेव की अविद्या और तत्कार्यनाशक उस ज्योति की चिन्ता करते हैं, जो हमारी कर्म या धर्मादि विषयक बुद्धि को चलाते रहते हैं।

जो सविता—सूर्यदेव हमलोगों के समस्त कार्यों में प्रेरणा किया करते हैं, उन्हीं जगत्प्रसिद्ध, द्योतमान्, पापनाशक, उपास्य तेजोमण्डल सूर्यदेव की उपासना या ध्यान करते हैं।

गायत्री मन्त्र के सम्बन्ध में काशीखण्ड एवं पद्मपुराण में कथाएँ भी उपलब्ध हैं। गायत्रीतन्त्र में इस मन्त्र की उपासना की विभिन्न मुद्राएँ बतलायी गयी हैं। जप-प्रणालियों का विस्तृत विवेचन भी इसी तन्त्र में किया गया है।

वैदिक ऋषियों के समान जैनाचार्यों और जैन विद्वानों ने भी इस मन्त्र का व्याख्यान किया है। जैन-सिद्धान्त-भवन आरा के एक गुटके में इस मन्त्र की निम्न-प्रकार व्याख्या उपलब्ध है। पाठक देखेंगे कि व्याख्याकार ने प्रत्येक शब्द का अर्थ कितने अनूठे ढंग से निकाला है तथा वैदिक देवों के स्थान पर इसे भगवान् आदिनाथ का स्तुतिपरक सिद्ध किया है।

मन्त्र—

ओं भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्
आपो ज्योतीरसोमृतं ब्रह्मः। गायत्री मन्त्रोऽयम्।

ओं भूः भुवः स्वः सवितुः वरेण्यम्, भर्गः, देवस्य, धीमहि, धियः यः नः प्रचोदयात्, आपः ज्योतिः, रसः, अमृतं, ब्रह्मः, इति पदविशेषः।

भर्गः भृज्यति पचति दहति विनाशयति घातिकर्माणीति भर्गः—आदिपरमेश्वर-इत्यर्थः। तदानीं तद्व्यतिरेकेणान्यस्य तथाविधसामर्थ्यासंभवात्।

स किं विशिष्ट इत्याकांक्षायामाह:—

आपो ज्योतीरसोमृतमिति—

जगज्जीवनहेतुत्वात् परमशान्तत्वाच्च आप इति विशिष्यते। निखिलकर्मनिर्दहन-दक्षत्वात् लोकालोकप्रकाशकत्वाच्च ज्योतिरिति प्रशस्यते।

लौकिकानां शास्त्रीयाणां च रसानां च प्रवर्तकत्वात् रस इति समाख्यायते। कारणे कार्यस्योपचारात् अथवा लोकोपकारकत्वात्। निष्कलङ्कत्वाच्च रस इति प्रस्तूयते।

जन्मजरामरणान्तकादिनिवारणनिपुणत्वात् जगदानन्दहेतुत्वाच्च अमृतमित्य-भिधीयते। आविष्टलिङ्गवचनाश्चैते शब्दाः तस्मात् सोपात्तलिङ्गवचनेन मुञ्चति। तथाचोक्तम्—शृङ्गारप्रकाशिकायां षष्ठप्रकाशे लिङ्गभेदनिरूपणप्रस्तावे—"विशेषणत्वेपि नियतसंस्काराद्दमाविष्टलिङ्गमिति"।

आपो ज्योतीरसोमृतं ब्रह्मेत्येतेषां पञ्चविशिष्टपदानां पाठक्रमः।

तथाहि भगवान् प्रथममपां सृष्टिमकरोत्—"अप एव ससर्जादौ" इति वचनात्। अपां स्नानपानादि उपयोगप्रकारं उपदिष्टवानित्यर्थः।

तदनन्तरमग्निः उपयोगप्रकारं ततो मधुरादिरसोपयोगोपायं तदनु गोदोहादिना क्षीरघृतादिसम्पादनम् तदनुभवप्रकारं च। तदनन्तरं अन्नखाद्याद्युत्पादनं तत्सेवनविधानं चोपदिष्टवान्निति ब्रह्मशब्देनात्र अन्नखाद्यादिकमुच्यते। अन्नं ब्रह्मेति श्रुतिः।

एवं गुणविशेषणविशिष्टो यो भर्गः। अस्माकं युगादौवर्तमानमिति यावत्। धियः बुद्धिविशेषान् संसारिणां मुमुक्षूणां च संसारमोक्षविषयप्रवृत्तिनिवृत्तिनियमरूपान्नित्यर्थः।

प्रचोदयात् उपादिशदित्यर्थः। "छन्दसि व्यत्ययो बहुलम्" इत्याख्यातव्यत्ययः।

अत्र यत्तदोर्नित्यसम्बन्ध इति यच्छब्दस्तच्छब्दमपेक्षते। सचार्थवचनषष्ठ्यन्तः सम्बध्यते। तस्येति तस्य भर्गस्य, किं विशिष्टस्य भूर्भुवस्स्वस्सवितुः अधोमध्योर्ध्व-लोकानां प्र………। पुनः किं विशिष्टस्य देवस्य दीव्यति प्रकाशते पञ्चभिः कल्याणैः अष्टभिः प्रातिहार्यैश्चतुस्त्रिंशतातिशयैरिति देवः। तीर्थंकरपरमदेव इत्यर्थः। तस्य

देवस्य एतद्विशेषणद्वयेन भगवान् प्रथमं लोकसृष्टिं विधाय पश्चादार्हन्त्यपदं प्राप्तवानिति क्रमः सूचितो भवति। तस्य देवस्य वरेण्यं श्रेष्ठं ओं ओंकारात्मकं ब्रह्मस्वरूपमिति यावत्।

"ओं" इत्येकाक्षरं ब्रह्म इति श्रुतेः। अथवा ओं सद्यो जातः वामदेवः अघोरः ईशानः तत्पुरुषात्मना वा आचार्योपाध्यायसाध्वर्हत्सिद्धात्मना वा पञ्चपरमेष्ठ्यात्मकं स्वरूपम्। उक्तं च परमागमे—

"अरहंता असरीरा इति" पुनः किं विशिष्टं तत्स्वरूपमित्याहुः—ब्रह्मेति वेदमयं—ज्ञानमयं, तत्त्वमयं, तपोमयं चेत्यर्थः।
"वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्मः" इत्यभिधानात्।

अथवा ब्रह्मेति परमोत्कर्षं गच्छन्त्यनन्तज्ञानादयो गुणा यस्मिन् परमात्यं तद्-ब्रह्मेत्युक्तलक्षणम्। ब्रह्मः परमात्मस्वरूपप्रत्ययः।

अयमभिप्रायः—

यो भर्गः भुक्तिमुक्तिमार्गानभिज्ञानां बुभुक्षादिबाधाभिरत्याभिताक्रान्तानामस्माकं भुक्तिमुक्तिमार्गानुपदिश्य लोकसृष्टिं विधाय भयं निवार्य नो रक्षितवान्। पश्चादार्हन्त्यं प्राप्तस्य तस्य परमेश्वरस्य वेरण्यं;ओं तत्सच्चिदानन्दमयं दिव्यं स्वरूपं चिन्तयामः—इति।

कृतज्ञाः—ये कृतयुगादिमानवाः—गणधरदेवादयो भरतेश्वरादयश्च परमेष्ठिमय-प्रणवोद्भूतेन ब्रह्मतत्त्वसंपूजनं शिरोविराजमानेन तीर्थंकरसंस्थानम् सदानाय चतुर्विंशत्यक्षरः वै गायत्री इति श्रुतेः।

उपासकानां परमस्थानप्रदानाय सप्तव्याहृतिधारिणा षड्द्रव्यभरितषट्कुक्षिभासुरेण रत्नत्रयैकसाध्यम्। कैवल्यमित्यभिज्ञापयितुं त्रैवर्णिकाभिजनिदाय रत्नत्रयाराधना-योग्यान्विदधता।

मन्त्रस्थचतुर्विंशत्यक्षराणां मध्ये एकमप्यक्षरं सकृदपि जपतो ध्यायतो वा निखिल-कर्मनिवृत्तिरखिलश्रेयः प्राप्तिश्च भवेत्। सर्वमन्त्रमेकाग्रचेतसा अर्थानुसन्धानेन जपतां ध्यायतां च सर्वार्थसिद्धयः सिध्यन्तीति किमाश्चर्यम्।

इत्येवमचिन्त्यप्रभावान्वितेन सर्वसत्कर्माङ्गभूतप्राणायामप्रवर्तकेन तीर्थंकरदेवेन वृषभसेनादिगौतमान्त्यगणेशमहर्षिणा गायत्रीछन्दसा गायत्रीस्तमाख्यानेन दिव्यमन्त्रेण तं आदिब्रह्माणां तुष्टुवुरिति। संक्षेपेण मन्त्रार्थः।

इस व्याख्या से निम्न निष्कर्ष निकलते हैं—

१—घातिया—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मों का नाश करनेवाले इस युग के प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ भगवान् जो जन्म, मरण, जरा, क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोषों से रहित हैं; जिन्होंने इस युग के आदि—कर्म भूमि के आरम्भ में जल, अग्नि, अन्न, खेती आदि के उपयोग करने की विधि बतलायी और कुलकर होने के कारण कर्मभूमि के समस्त कृत्यों का विवेचन करने से जो आदिब्रह्मा कहलाये तथा विरक्त होकर तपस्या कर आठ प्रतिहार्यों एवं ४६ मूलगुणों से युक्त हो तीर्थंकर हुए और जिन्होंने कल्याणमार्ग का उपदेश दिया, अन्त में परमपद निर्वाण स्थान प्राप्त किया; उन परमब्रह्म आदि परमेश्वर—आदिनाथ या ऋषभनाथ की उपासन करते हैं। इन आदिब्रह्म से ही हमें शुभ कर्मों की प्रेरणा प्राप्त होती है तथा इन्हीं के उपदेश से हमारे दुःख—जन्म, जरा, मरण आदि दूर होते हैं।

२—ओम्—अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु पंचपरमेष्ठी; भूः—सर्वश्रेष्ठ; भुवः—जन्म, जरा, मरण आदि दुःखों से छूटने का रत्नत्रयमार्ग—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप मार्ग के तथा संसार और मोक्ष के प्रवृत्ति, निवृत्ति मार्ग के उपदेष्टा; स्वः—शुद्धोपयोग में स्थित; तत्—उस ओं वाचक पञ्चपरमेष्ठी को; जो सवितुः—हिताहित का मार्ग बतलाने के कारण त्रिलोक के लिए सुखदायक हैं; वह वरेण्यम्—उपासना योग्य हैं। भर्गः—रागादि दोषों से दूषित हमलोगों के लिए प्रतिपादित कल्याणमार्ग को, देवस्य—तीर्थंकर देवके; धीमहि—धारण करते हैं; उन तीर्थंकरदेव-आदिनाथ-ऋषभनाथ के उपदेश से; नः—हमारी; धियः बुद्धि, प्रचोदयात्-सत्कृत्यों में—राग, द्वेष से रहित शुद्धोपयोग के मार्ग में प्रवृत्त—प्रेरित हो अर्थात् पंचपरमेष्ठीस्वरूप आदि ब्रह्म श्री ऋषभनाथ के भक्तिप्रसाद से हमारी बुद्धि राग-द्वेष के मार्ग से दूर हटकर शुद्धोपयोग के मार्ग में लगे।

३—जिन आदिनाथ—ऋषभ भगवान् ने संसार और मोक्षमार्ग से अनभिज्ञ; क्षुधा, तृषा, जन्म, मरण आदि के दुःख से पीड़ित हमलोगों के लिए संसार और मोक्षमार्ग का उपदेश दिया; कर्मभूमि के आदि में उत्पन्न प्राणियों को असि मषि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्यरूप कर्म का मार्ग बतलाया तथा कर्मभूमि के आदि में सूर्य-चन्द्र-ताराओं के देखने से उत्पन्न हुए भय को दूर किया और हमारी रक्षा की। पश्चात् अर्हन्तपद प्राप्तकर सच्चिदानन्दमय दिव्यरूप मोक्षको प्राप्त किया, उनकी हम उपासना करते हैं। इन आदिनाथ परमब्रह्म से ही हमारी बुद्धि को रत्नत्रयमार्ग की ओर जाने की प्रेरणा प्राप्त होती है अथवा इन्हीं परमब्रह्म से हमें कल्याणमार्ग, जो तेजमय विवेक का मार्ग है, शाश्वत है, दिव्य है, राग-द्वेष से रहित है और समस्त दुःख—संकटों से छुड़ानेवाला है, की प्राप्ति होती है।

इस आदिनाथ वाचक गायत्री मन्त्र में २४ अक्षर हैं, इनमें से एक भी अक्षर का जो एक बार जप या ध्यान करता है वह समस्त कर्मों से निवृत्ति प्राप्त कर लेता है और सभी प्रकार के कल्याण उसे प्राप्त होते हैं। समस्त मन्त्र का एकाग्रभाव से अर्थस्मरणपूर्वक जो ध्यान या जप करता है, उसके सभी मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं। जैसे णमोकारमन्त्र पञ्चपरमेष्ठीवाचक है, उसी प्रकार यह मन्त्र भगवान् आदिनाथ का वाचक और समस्त विघ्न बाधाओं को दूर करनेवाला है। इस मन्त्र में आदि परमेश्वर के समस्त गुणों का निरूपण किया गया है, यह आदि परमेश्वर इस कर्मभूमि के आदिप्रवर्तक हैं, स्वयम्भू हैं-स्वयं सिद्ध हुए हैं, आत्मा की साधना की है, सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म हैं। इनकी भक्ति या उपासना से हमारी प्रवृत्ति सर्वदा शुभ कृत्यों की ओर होती है।

जैनसिद्धान्त भवन, आरा

२-७-५३

षड्दर्शनप्रमाणप्रमेयानुप्रवेशः

कर्त्ता—आचार्य शुभचन्द्रदेव

साद्यनंतं समाख्यातं व्यक्तानन्तचतुष्टयम्।
त्रैलोक्ये यस्य साम्राज्यं तस्मै तीर्थकृते नमः॥

सकलतीर्थंकृदभिमतप्रमाणप्रमेयानुप्रवेशार्थमिदं। तत्र तावदर्हतोऽप्रतिहतशासनस्य तत्वज्ञानं प्रमाणं। तद्द्विविधं प्रत्यक्षं परोक्षं च। स्पष्टमाद्यमस्पष्टमन्यत्। त्रिधा च सकलेतरप्रत्यक्षपरोक्ष-भेदात्। करणक्रमव्यवधानापोढं सकलप्रत्यक्षं। क्रमान्वितं करणव्यवधानापोढं विकलप्रत्यक्षं। इन्द्रियमनोव्यापाराभिमुखेतरार्थापेक्षं परोक्षं। अथवा मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलभेदात् पञ्चविधं। तत्रेन्द्रियैर्मनसाचार्थग्रहणं मतिज्ञानं। व्यवहारतः प्रत्यक्षं वस्तुतः परोक्षं। शब्दधर्मादेरर्थान्तरप्रवृत्त्य-शेषवस्तुविषयं श्रुतं परोक्षं। मूर्ताशेषार्थाधिगमोऽवधिः विकलप्रत्यक्षं। मनसा परकीयमनोगतार्थ-साक्षात्कारी नरक्षेत्रविषयी मनःपर्ययोपि विकलप्रत्यक्षं। एतत्सर्वंक्रमप्रवृत्तं। द्रव्यगुणपर्यायान्वित-त्रिकालवर्त्यशेषवस्त्वक्रमव्यापिकेवलं सकलप्रत्यक्षं। संशयविपर्ययापन्नं मतिश्रुतमुपचरितं प्रमाणाभासं। प्रमाणगृहीतार्थैकदेशव्यवसायो नयः। स च द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकभेदात् द्विविधः, सप्तधा वा। नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतभेदात्। नैगमसंग्रहव्यवहाराः द्रव्यार्थिकाः। कुतः द्रव्यप्रतिपादनपरत्वात्। इतरे पर्यायार्थिकाः। कुतः पर्यायप्रधानत्वात्। कः प्रमाणनययोर्भेदश्चेदाह— स्यादनेकान्तार्पणया सकलादेशः प्रमाणं आक्षिप्ताशेषधर्मत्वात्। स्यादनेकान्तार्पणया विकलादेशो नयः विवक्षितैकधर्मत्वात् सर्वथैकान्तादेशो दुर्नयः अर्थक्रियाकर्तृत्वाभावात्। प्रमाणवाक्यादेरु-दाहरणमाह। तद्यथा—स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यं, स्यादस्ति चावक्तव्यं च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च। प्रमाणवाक्यमेतत्। कथं संशयनिवृत्तिरित्यत्राह। स्वद्रव्यादिस्वरूपेणास्ति, परद्रव्यादिरूपेण नास्ति, स्वपरद्रव्यादि-रूपेणास्ति नास्ति च। सहानुक्तेरवाच्यं। स्वद्रव्यादिसहानुक्तेरस्त्यवाच्यं। परद्रव्यादिसहानुक्तेर्नास्त्य-वाच्यं। स्वपरद्रव्यादिसहानुक्तेरस्तिनास्त्यवाच्यं एवं संशयविरोधवैयधिकरण्यसांकर्यभयानवस्था-भावादिदोषप्रसंगाभावः। तथा स्यादस्त्येव। स्यान्नास्त्येवेत्यादि नयवाक्यं। स्यात्पदालंबनाभावं दुर्नयवाक्यं सर्वथाऽस्त्येव सर्वथा नास्त्येवेति। तत एव प्रमाणैरधिगमो नयैर्व्यवहारो दुर्नयैरुत्पदो-त्थानमिति। एवमस्तित्वनास्तित्वैकत्वानेकत्वपृथक्त्वापृथक्त्वनित्यत्वानित्यत्वपरिणामत्वापरिणा-मत्वप्रमेयत्वाप्रमेयत्वादिसर्ववस्तुधर्माः योज्याः द्रव्यास्तिकायपदार्थाः प्रमेयं।

तत्रद्रव्यं षड्विधं—जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकालाः। कथं लक्ष्यंत इति चेत् उपयोगवर्णा-दिगतिस्थित्यवकाशवर्तनालक्षणैः। लक्ष्यंते। प्रत्येकमाह—अनाद्यनिधनो जीवो ज्ञाता दृष्टा च कारकः। सूक्ष्मोऽमूर्तश्च भोक्ता च कर्मापाये तथोर्ध्वगः। वर्णादिलक्षणोऽणुस्कन्धः पर्यायः।

अथ वैशेषिके प्रत्यक्षलैंगिके प्रमाणे। तत्रार्थेन्द्रियमनोर्थसन्निकर्षादुत्पन्ना बुद्धिः प्रत्यक्षं। तदुत्पत्तिक्रममाह—आत्मेन्द्रियेणेन्द्रियं मनसा मनोर्थेन यदा प्रसज्यते तदोत्पन्ना स्पष्टप्रतिभासरूपाबुद्धिरेव प्रत्यक्षं। यथा घटघटिस्तंभांशकुशांशाद्याकारविज्ञानं तथा लैंगिकं। अस्त्येदं कार्यकारणसंबंधैकार्यसमवायविरोधीति तथोच्यते—वृष्टेः नदीपूरः कार्यं, मेघोन्नतिः कारणं। सम्बन्धी द्विधा—संयोगे समवाये च। यथाग्नेधूमोगोर्विषाणं। द्विधैकार्थसमवायिकार्यं कार्यस्य कारणं कारणस्य च। यथा—स्वदर्शनकार्यस्य रूपदर्शनं लिंगं। पादपुटत्वस्य प्राणिदर्शनं लिंगं। विरोधि चतुर्विधं अभूतं भूतस्य। भूतमभूतस्य। भूतं भूतस्य। अभूतम् अभूतस्य। तत्राभूतंवर्षकर्मभूतस्यवाय्वभ्रसंयोगस्य लिंगं।

भूतं वर्षकर्माभूतस्य वाय्वभ्रसंयोगस्य लिंगं। भूतघटपाको भूताग्निघटसंपर्कस्य लिंगं। अभूत घटपाकोऽभूताग्नि घटसंपर्कस्य लिंगं। किमेतावदेव लिंगानीत्याह—अगस्त्यादयो जलप्रपातस्य लिंगं। समुद्रवृद्धेश्चंद्रोदयः। कुमुदविकासस्य चेत्याद्यप्यूह्यं। अथ प्रमेयं। द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः पदार्थाः प्रमेयं तत्र द्रव्यं—पृथिव्यप्तेजोवायु—आकाशकालदिगात्मामनश्चेति। आयः-शज्ञाकाकारप्रतिनियतद्रव्यसमवायसंबंधा अनित्याः स्वतो निर्गुणा गुणाः। रूपरसगंधस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वापृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वधृतिकंपशब्दयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारेतोदंशानकमप्रभृतयो गुणपदार्थाः। साधारणेतरभावेन पृथिव्यादिषु द्रव्येषु योज्याः। उत्क्षेपणावक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणदेशान्तरप्राप्तयः कर्मपदार्थाः। परमपरं च सामान्यं। परं महासत्ता कुतो द्रव्यगुणकर्मसु सदित्यनुप्रवृत्तिकारणत्वात्। अवान्तरसामान्यमपरं कुतो द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वानां द्रव्यगुणकर्मस्वेव संभवादिति सामान्यपदार्थाः। नित्यद्रव्यारंभकारिणः परस्परात्यन्तव्यवच्छेदकारिणोन्त्याः पर्यायाः विशेषाः। किं तन्नित्यकारणद्रव्यं चेत् पृथिव्यप्तेजोवायुपरमाणवः तेश्चतुर्भिरारब्धाः घटादयो विशेषपदार्थाः। इहेदमस्यायमित्यभेदप्रत्ययहेतुरयुतसिद्धानामाधाराधेयकार्यकारणादिसमवायिनां समवायः नित्यनिरवयवामूर्त्तानिष्क्रियं सर्वगतं इति

कणवैशेषिकदर्शनानुप्रवेशः।

मीमांसकप्रवादे प्रमाणानि प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दार्थापत्त्यभावाः प्रमाणानि। तत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां या बुद्धि तत्प्रत्यक्षनिमित्तं विद्यमानोपलंभनत्वात्। तत्पूर्वकमनुमानं। सादृश्यनिबन्धनमुपमानं, अन्य विषयो गो गवय सादृश्योपलब्धौ गोवदयं गवय इति। स्वयंभूरनाद्यनिधनो वेदः शब्द प्रमाणं। दर्शनश्रवणाभ्यां अर्थान्तर विज्ञानं अर्थापत्तिः। यथा भस्तदर्शनादग्नेः दहनशक्तिः। अर्थादापन्ना श्रवणाद्यथास्थूलपीनांगो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते अर्थात् रात्रौ भुंक्ते इति प्रत्यक्षादिः। निवृत्तिरभावप्रमाणं। तत्त्रिविधं प्रमाणपंचकनिवृत्तिरात्मा न ज्ञानरहिता वा तदन्यज्ञानं वा। यथानास्ति सर्वज्ञः प्रमाणपंचकनिवृत्तेः। आत्मा न सर्वज्ञात् ग्राहकज्ञानरहितत्प्राद्व। तद्विविक्तसकलदेशोपलंभात्। क्षित्यां विवक्षितघटाभाववत् खरविषाणवद्वा। किं पुनः प्रमेयं—आत्मशरीरेन्द्रियार्थदृष्टानुपरतसंसारं

पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशश्वभ्रस्वर्गाः प्रमेयं । अथातो धर्मजिज्ञासा । वेदस्याध्ययनानन्तरं धर्मपरीक्षा कर्त्तव्या । कुतश्चेदतश्चोदनात् एव धर्माः परीक्ष्यंते; नाक्षादिभिस्तदविषयत्वात् । यथाग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः पशुकामो वा । श्वेतकर्मजमालमेत स्वर्गकामः । अश्वमेधेऽश्वं हन्यात् । गोमेधे गां हन्यात् । पुंडरीकिणियागे हस्तिनं हन्यात् । पितृमेधे पितरं हन्यात् । मातृमेधे मातरं हन्यात् । राजसूये राजानं हन्यात् । सर्वमेधे सर्वप्राणिनो हन्यात् । उक्तञ्च —

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा ।
राज्ञोभूत्यै हि सर्वेषां तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥
ये हूयंतेत्र यज्ञेहि होतारश्च विशेषतः ।
ते सर्वे स्वर्भुवं यान्ति इत्येवं चोदनागतिः ॥

अततश्चोदनालक्षणो धर्म इति जैमिनिमतम् ।

चार्वाकराद्धान्ते प्रत्यक्षमेव प्रमाणं तदपि भूतविकारविशेषानधिगतार्थाधिगमलक्षणं पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति प्रमेयं भूतस्समुदयाः शरीरेन्द्रियविषयाः तेभ्यश्चैतन्यं जलबुद्बुदवत् जीवाः । इति चार्वाकमतानुप्रवेशः । इति······षड्दर्शनप्रमाणप्रमेयसंग्रहः । जयति शुभचन्द्रदेवः कंडूर्गण-पुंडरीकवनमार्त्तण्डश्चंडत्रिदंडूरोराद्धान्तपयोधिपारगोबुधविनुतः ॥ नमो माणिक्यनाथाय नाकनाथार्चितांघ्रये ॥

विमर्शं प्रापयत्येतत्ततः कृत्वा समाहितम् ।
चेतस्त्वं वत्स बुध्यस्व मार्गान्वक्ष्ये परिस्फुटम् ॥

तत्र नैयायिकैस्तावदेवकल्पितोत्तस्तनिर्वृतिनगरीमार्गः । यदुत प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितंडाहेत्वाभासछलजातिनिग्रहस्थानानां षोडशपदार्थानां तत्वपरिज्ञानान्निश्रेयसाधिगमः । तत्रार्थोपलम्भहेतुः प्रमाणं तच्चतुर्धा । तद्यथा-प्रत्यक्षानुमानोपमान शब्दः । तत्रेन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षं । तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं । तद्यथा-पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टञ्च । तत्र पूर्ववत्कारणात्कार्यानुमानं । यथा—विशिष्ट मेघोन्नतेर्भविष्यति वृष्टिरिति । शेषवत्कार्यात्कारणानुमानं यथा विशिष्टनदीपूरदर्शनादुपरि वृष्टो देवः ।

सामान्यतो दृष्टं नाम यथा देवदत्तादौ गतिपूर्विकां देशान्तरप्राप्तिमुपलभ्य दिनकरेपि सा गति पूर्विकैव समधिगम्यत इति प्रसिद्धः । साधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानं । यथा गौस्तथा गवयः । आप्तोपदेशः शब्दः आगम इत्यर्थ । तथा आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयं । किं स्यादित्यनवधारणात्मकः प्रत्ययः संशयः । किमयं स्थाणुः स्यादुत पुरुष-इति । येन प्रयुक्तः प्रवर्तते तत्प्रयोजनं अविप्रतिपत्तिः विषयापन्नोर्थो दृष्टान्तः । सिद्धान्तश्चतुर्विधः, तद्यथा—सर्वतन्त्रसिद्धान्तः, प्रतितन्त्रसिद्धान्तः, अधिकरणसिद्धान्तः, अभ्युपगमसिद्धान्तश्चेति ।

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणमुपनयनिगमनान्यवयवाः । संशयादूर्ध्वं भवितव्यता प्रत्ययस्तर्कः । यथा भवितव्यमत्र स्थाणुना पुरुषेण वेति । संशयतर्काभ्यामूर्ध्वं निश्चितप्रत्ययो निर्णयः । यथा पुरुष एवायं स्थाणुरेवेति । तिस्रः कथाः । वादजल्पवितंडाः । तत्र शिष्याचार्ययोः पक्षप्रतिपक्षनिग्रहेणाभ्यासख्यापनाय वादः । कथाविजिगीषुणा सार्धं छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः । स एव प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितंडा । अनैकान्तिकादयो हेत्वाभासाः । नवकम्बलो देवदत्तः इत्यादि छलं । दूषणाभासास्तु जातयः । निग्रहस्थानानि पराजयवस्तूनि । तद्यथा प्रतिज्ञाहानिः । प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः । प्रतिज्ञासन्न्यासः । हेत्वन्तरं । अर्थान्तरं । निरर्थकं । अविज्ञातार्थकं । अपार्थकं । अप्राप्तकालं । न्यूनं । अधिकं । पुनरुक्तं । अनुभाषणं । अप्रतिज्ञानं । अप्रतिभा । कथाविक्षेपः । योज्यानुयोगः । अपसिद्धान्तः । हेत्वाभासाश्चेति निग्रहस्थानानि । तदेते प्रमाणादयः षोडशपदार्थाः, इति नैयायिकदर्शनसमासः ।

वैशेषिकैः पुनरयं वत्सपरिकलितो निर्वृत्तिनगरीगमनमार्गः । यदुत द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां षण्णां पदार्थानां तत्त्वपरिज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः । सा हि निर्वृतिर्निःश्रेयसरूपा । तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि इति नवद्रव्याणि । रूपरसगंधस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारगुरुत्वद्रवत्वस्नेहवेगजशब्दा इति चतुर्विंशतिगुणाः ॥ उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुंचनं प्रसारणं गमनमिति पंच कर्माणि । सामान्यं द्विविधं परमपरं च । तत्र परं सत्तालक्षणं । अपरं च द्रव्यत्वादि । नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्याः विशेषाः । अयुतसिद्धानामाधाराधेयभूतानां यः संबंधः इहेदं प्रत्ययहेतुः स समवायः । प्रत्यक्षलैङ्गिके द्वे एव प्रमाणमिति वैशेषिकदर्शनसमासः ।

सांख्यैस्तुवत्मनिजबुध्या परिकलितोऽयं निर्वृतिनगरीमार्गः यथा । यदुत पंचविंशतितत्त्वपरिज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः । तत्र त्रयो गुणाः सत्त्वंरजस्तमश्च । तत्र प्रसादलाघवप्रसवानभिष्वङ्गाद्वेषप्रीतयः कार्यं सत्त्वस्य । शोकतापस्वेदस्तंभोद्वेगप्रद्वेषाः कार्यं रजसः । मरणसाधनदीनत्वदैन्यगौरवाणि तमसः कार्यं । ततः सत्त्वरजस्तमसां सा साम्यावस्था प्रकृतिः । सैव प्रधानमित्युच्यते । प्रकृतेस्तु महानाविर्भवति बुद्धिरित्यर्थः । बुद्धेश्चाहंकारः ततोऽहंकारादेकादशेन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियाणि । स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्ररूपाणि पंच कर्मेन्द्रियाणि । वाक्पाणिपादपायूपस्थलक्षणानि मनश्चाविर्भवति । तथा तत एवाहंकारात्तमो बहुलात्पंचतन्मात्राणि स्पर्शरसरूपगंधशब्दलक्षणान्याविर्भवंति । तेभ्यश्च पृथिव्यादीनि पंचभूतानि । एषा चतुर्विंशतितत्त्वात्मिका प्रकृतिः । तथा परमपुरुषश्चैतन्यस्वरूपः । स चानेको जन्ममरणकारणानां नियमदर्शनात् । धर्मादिषु प्रवृत्तिनानात्वाच्च प्रकृतिपुरुषयोश्चोपभोगार्थः । संयोगः पंग्वन्धयोरिव उपभोगश्च शब्दाद्युपलंभः पुरुषान्तरोपभोगश्च प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि । इति साख्यदर्शनसंक्षेपार्थः ।

यथा वैशेषिकस्य बौद्धं प्रति सुखादिसमवायिकारणमात्मेति । उष्णोऽग्निः प्रसिद्धसम्बन्धः पक्षसमर्थनोपायो हेतुः । असिद्धविरुद्धानैकान्तिका हेत्वाभासाः । तत्रोभयान्यतरसंदिग्धाश्रयासिद्धाः । अनित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वादुभयासिद्धः । अनित्यः शब्दः कृतकत्वादन्यतरासिद्धः । वाष्पादेः संदिग्धधूमप्रतिभासादग्निरत्रेति संदिग्धासिद्धः । द्रव्यमाकाशं गुणाश्रयत्वादाश्रयासिद्धः । धर्मधर्मिस्वरूपविपरीतसाधना विरुद्धाहेत्वाभासाः । नित्यशब्दकृतकत्वात् धर्मस्वरूपविपरीतसाधनः । न द्रव्यादेर्भावो द्रव्यादिमत्वात् सामान्यविशेषवत् । धर्मिस्वरूपविपरीतसाधनः । अन्यार्थाश्चक्षुरादयः । संघातत्वाच्छयनाशनाद्यंगवत् । धर्मविशेषविपरीतसाधनः न द्रव्यादिभावो द्रव्यादिमत्वादित्ययमेव धर्मिणोऽसत्प्रत्ययकर्तृत्वसाधनताद्धर्मिविशेषविपरीतसाधनः । साधारणासाधारणसपक्षैकदेशवृत्ति-विपक्षव्यापि उभयपक्षैकदेशवृत्तिः विरुद्धाव्यभिचारिणोऽनैकान्तिकः । नित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् साधारणः । अप्रयत्नानंतरीयकः शब्दः अनित्यत्वात् । विद्युदाकाशादयं सपक्षैकदेशवृत्तिविपक्षव्यापि-प्रयत्नानंतरीयकः शब्दः अनित्यत्वात् घटवदयं विपक्षैकदेशवृत्तिसपक्षव्यापि । नित्यः शब्दः अमूर्त्तत्वात् सुखाकाशादिवदुभयपक्षैकदेशवृत्तिः । अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवन्नित्यो वा श्रावणत्वात् शब्दत्ववदिति विरुद्धाव्यभिचारी । पक्षे हेतुसमर्थनोपायो दृष्टान्तः साध्यसाधनोभयान्वयधर्मासिद्धविपरीतान्वयस्साधर्म्यदृष्टान्ताभासाः नित्यः शब्दः अमूर्त्तत्वात् बुद्धिवदिति साध्यधर्मासिद्धः । नित्यः शब्दः अमूर्त्तत्वात् परमाणुवदिति सधनधर्मासिद्धः । नित्यः शब्दः अमूर्त्तत्वात् घटवदिति उभयधर्मासिद्धः । नित्यः शब्दः कृतकत्वात् परमाणुवदित्यन्वयधर्मासिद्धः । कृतकः शब्दः अनित्यत्वात् घटवदिति विपरीतान्वयः । साध्यसाधनोभयाव्यावृत्ता व्यतिरेकविपरीत-व्यतिरेकाः वैधर्म्यदृष्टान्ताभासाः; नित्यः शब्दः अमूर्त्तत्वात् परमाणुवत् इति साध्याव्यावृत्तः । नित्यः शब्दः अमूर्त्तत्वात् कर्मवदिति साधनाव्यावृत्तः । नित्यः शब्दः अमूर्त्तत्वादाकाशवदित्युभयाव्यावृत्तः । अनित्यः शब्दः मूर्त्तत्वात् शब्दवदिति अव्यतिरेकः । मूर्त्तः शब्दः अनित्यत्वादाकाशवदिति विपरीतव्यतिरेकः । साधनदोषोद्भावनं दूषणं दूषयितुमसमर्थं दूषणाभासं । इन्द्रियतदर्थमनोधर्माः द्वादशायतनानि प्रमेयप्रसिद्धाश्चक्षुरादयः । धर्मा रागादयः । सभागावभागैकसंतानानांतरात्मकाः सर्वपदार्थाः रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्कारस्कंधसमुदयः शरीरं । रूपकृष्णादिवेदना सुखदुःखादि-रूपालोकमनस्कारचक्षुभ्यो वर्त्तमानं चित्तविज्ञानं । इन्द्रियमनांसिसंज्ञामनोवाक्कायवृत्तिः संस्कारः। स त्रिविधः । उक्तञ्च—

संस्कारस्त्रिविधः प्रोक्तः मनोवाक्कायभेदतः ।
कुशलेतरतोदृष्टः क्रमेण त्रिचतुस्त्रयः ?

मिथ्यादर्शनतृष्णाप्रद्वेषा मनःसंस्काराः । अनृतपैशून्यनिष्ठुरविप्रलापा वाक्संस्काराः । हिंसास्तेयाब्रह्माणि कायसंस्काराः अशुभाः । ततोऽन्ये शुभाः । एवं विंशतिः संस्काराः । सर्वस्कंधानां निर्मूलः क्षयो मोक्षः । प्रदीपनिर्वाणवत् । स च सम्यक्त्वसंज्ञासंकल्पवाक्कायकर्मान्तध्येयस्मृ-

तिसमाधिशुभाष्टांगभावनातो लभ्यते। वैभाषिकः। सौत्रान्तिकः। योगाचारः। माध्यमिकाश्चत्वारो बौद्धाः। तेषु त्रयाणां मोक्षकल्पना। माध्यमिकस्य नास्ति सर्वशून्यत्वात्। नास्तीति विनष्टत्वान्नाप्युत्पन्नोऽप्यसंभवात्। उभयाभावतो मध्ये मिथ्यैव कल्पना ॥

इति सौगतमतानुप्रवेशः कपिलस्य प्रत्यक्षानुमानशब्दाः प्रमाणं तत्रेन्द्रियमनोवृत्तिः प्रत्यक्षं। वृत्तिरर्थाकारपरिणतः। चक्षुरादीनां वर्णाद्यर्थपरिच्छेदबुद्धिपूर्वकाप्रवृत्तिः प्रत्यक्षमिति यावत्। संबंधाविनाभाविप्रत्यक्षादर्थान्तरविज्ञानमनुमानं। यथा धूमादिदर्शनादग्न्यादिविज्ञानं; आप्तः कपिलमुनिः तेनोपदिष्टः आगमः शब्दः प्रमाणं। यथावस्थितार्थात्संशयविपर्ययानध्यवसायप्रतीतिः प्रमाणाभासं। अथ प्रमेयं। प्रकृतिपुरुष तत्संयोगाः पदार्थाः प्रमेयं। प्रकृतिरचेतनाचेतनावनो दासीत्यनेनात्मानं प्रयोजयेत्। तत्संगतिः सृष्टिः। तदाप्रकृतेर्महदादयः। पुरुषस्य साक्षित्वादयो धर्मा उत्पद्यन्ते। तद्यथा प्रकृतेर्महदादयः। पुरुषस्य साक्षित्वादयो धर्मा उत्पद्यन्ते। तद्यथा प्रकृतेर्महान् स चाष्टधाबुद्धिः। धर्माधर्मज्ञानाज्ञानवैराग्यावैराग्यैश्वर्यानैश्वर्यात्मिका। अतोहंकारः। स च सत्वरजस्तमोमयः। तस्मात्षोडशको गणः हस्तपादपायूपस्थवाक्कर्मेन्द्रियाणि। चक्षुश्रोत्रघ्राणत्वग्जिह्वाबुद्धीन्द्रियाणि। मनः एतानिकादशेन्द्रियाणि। शब्दस्पर्शरूपरसगंधास्तन्मात्राणि। इमे षोडशगणा अहंकारादुत्पद्यन्ते। तत्र तन्मात्रेभ्यो यथाक्रममाकाशवाय्वग्न्युदकभूमयो महाभूतानि जायन्ते। इति प्रमेयो विंशतिः प्रकृतिविकाराः। का प्रकृतिश्चेत् सत्वरजस्तमसां साम्यावस्थाप्रकृतिः। तथा साक्षित्वकैवल्यमाध्यस्थ्यद्रष्टृत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वभावाश्च पुरुषाज्जायन्ते। सृष्टिरुत्पत्तिक्रमः क्षेत्रक्षेत्रज्ञविवेकबुद्धिमन्तरेणप्रकृत्युपसंहारः प्रलयः तत्पूर्वकोपुद्गलः। जीवपुद्गलयोर्देशान्तरप्राप्तिलक्षणो धर्मः। तयोरवस्थानं प्रतिस्थितिलक्षणोऽधर्मः। सकलद्रव्यावगाहनलक्षणमाकाशं। परिणामिद्रव्यं प्रतिवर्तनालक्षणः कालः। कालद्रव्यरहिता निसर्गप्रचयबन्धविशेषविशिष्टा जीवादयोऽस्तिकायाः। जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षाः पदार्थाः। ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो जीवः। तद्व्यतिरिक्तः पुद्गलादिरजीवः। शुभाशुभपरिणामोपात्तपुद्गलस्कन्धविशेषः पुण्यपापौ। मनोवाक्काययोगप्रवृत्तिरास्रवः। तन्निरोधः संवरः। उदयोदीरणापायात्कर्मणां विकीरणं निर्जरा। अकर्मरूपस्थितपुद्गलविशेषस्य प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशतिर्बन्धः। सकलकर्मापायादनन्तज्ञानादिगुणप्रादुर्भावावस्थानं मोक्षः। प्राक्प्रध्वंसेतरेतरात्यन्तात्मका जीवादयः पदार्थाः। परस्परतः सामान्यविशेषव्यावृत्ताव्यावृत्तविरुद्धाविरुद्धधर्मापेक्षित्वाद्विश्वस्य। तत्र नाना कालैकद्रव्यव्यक्तिगतान्वयसद्भावः सामान्यं। नानाद्रव्यैककालव्यक्तिगतान्वयस्सादृश्यसामान्यं। स्थूलपर्यायाद्यविभागपरिच्छेदपर्यन्तानेकदोत्पादकविनश्वराः। प्रतिनियतद्रव्यजा व्यक्तयो विशेषाः। परद्रव्यादेर्व्यावृत्तं स्वद्रव्यादेरव्यावृत्तं। सहानवस्थानपरस्परपरिहारलक्षणविरोधात् विरुद्धं। ततः साधारणेतरसामान्यादिधर्मापेक्षयाऽभावचतुष्टयात्मकं वस्तु। यथा कुमारस्यबालत्वेऽभावः प्रागभावः। वृद्धत्वेऽभावः प्रध्वंसाभावः। बालकुमारवृद्धत्वानां युगपदभावः इतरेतराभावः। त्रिष्वपिकालेषु चेतनत्वेनाभावोऽत्य

न्ताभावः । द्रव्यपर्यायापेक्षया स्यादुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकमपि सिद्धं । इति स्याद्वादानुप्रवेशः शाक्यमुनेः प्रत्यक्षानुमाने प्रमाणे तद्द्वितयं सम्यग्ज्ञानं । तत्राद्यं कल्पना……………………………………

……………………………………………………………………………………

बौद्धैः पुनर्भद्रारिकल्पितेयं निर्वृत्तिनगरी वर्तते । यदुतद्वादश एतानि प्रमेयानि । तद्यथा पञ्चेन्द्रियाणि पंचशब्दादयो मनोधर्मायतनं च धर्मसुखादयो विज्ञेयाः । प्रत्यक्षानुमाने द्वे एव प्रमाणे । इति बौद्धदर्शनसमासार्थः ।

अथ वैभाषिक-सौत्रान्तिक-योगाचार-माध्यमिकभेदात् चतुर्विधा बौद्धाः भवन्ति । तत्र वैभाषिकमतमिदं । यथेतत् क्षणिकं वस्तु । तद्यथा—जातिर्जनयति । स्थितिः स्थापयति । विनाशो नाशयति । तथात्मापि तथाविध एव । पुद्गलाश्चासावभिधीयते । सौत्रान्तिकमतमिदं । रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्काराः सर्वशरीरिणामेते पंचस्कन्धा विद्यन्ते । न पुनरात्मनि । त एव हि परलोकगामिनः । तथा क्षणिकाः सर्वसंस्काराः स्वलक्षणं परमार्थः अन्यारोहः शब्दार्थः । सन्तानोच्छेदो मोक्ष इति । योगाचारमतं त्रिविधं विज्ञानमात्रमिदं भुवनं न विद्यते । बाह्यार्थवासना परिपाकतो नीलपीतादिप्रतिभासः विज्ञानं सर्ववासनाधारभूतं प्रलयविज्ञानं विशुद्धश्चापवर्गः । इति । माध्यमिकदर्शने तु सर्वमिदं शून्यं स्वप्रतिभासः प्रमाणप्रमेयविभागः । मुक्तिस्तु शून्य दृष्टेस्तदर्थाः शेषभावना इति बौद्धविशेषाणां संक्षेपार्थः । लौकान्तिकैः पुनर्वत्सला निर्वृतिनगरी नास्तीति प्रज्ञापितं । यतोऽमी ब्रुवते नास्ति निर्वृत्तिः, नास्तिजीवो, नास्ति परलोको नास्ति पुण्यपापमित्यादि । किं तर्हि पृथिव्यप्तेजोवायुरिति चत्वारि । तत्समुदयात् शरीरेन्द्रियविषय संज्ञा । तेभ्यश्चैतन्यं मद्यांगेभ्यो मदशक्तिवत् । जलबुद्बुदवज्जीवाः प्रवृत्तिनिवृत्तिसाध्याः प्रीतिः पुरुषार्थः । स च काम एव । नान्यो मोक्षादिः । तस्मान्नान्यत्पृथिव्यादिस्तत्वमस्ति । दृष्टहान्यदृष्टकल्पना संभवादिति प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं । इति लोकायतमतसमासः । मीमांसकानां पुनरेष मार्गो यदुत वेदपाठानन्तरं धर्मजिज्ञासा कर्त्तव्या । यतश्चैवं ततस्तस्य निमित्तपरीक्षा । निमित्तं च चोदना यदुक्तं । चोदना लक्षणो धर्मः । चोदना च क्रियायां प्रवर्त्तकं वचनं । यथा अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः । इति । तेन धर्मोलक्ष्यते । नान्येन प्रमाणेन प्रत्यक्षादीनां विद्यमानोपलंभत्वादिति । प्रत्यक्षानुमानशब्दोपमानार्थापत्यभावाः षड् प्रमाणानीति मीमांसकरताकार्याकारणानुषंगात् । निर्वृत्तादिदैविकादिभौतिकाऽध्यात्मिकतापत्रयदोषस्य पंचविंशतिः तत्त्वज्ञस्य चैतन्यमात्रेणावस्थानं मुक्ति इति सांख्यमतानुप्रवेशः ।

अक्षपादाभिमतमाह । अर्थोपलब्धि हेतुः प्रमाणं हेयोपादेयोपेक्षणीया अर्थाः । तदाकारा बुद्धिरुपलब्धिः । बुध्यर्थसंसर्गो हेतुः प्रमाणं । तच्चतुर्विधं । प्रत्यक्षानुमानोपमानशाब्दभेदात् । तत्रेन्द्रियार्थ संबंधोत्पन्नमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं अव्यपदेश्यं ज्ञानं प्रत्यक्षप्रमाणं । इन्द्रियाणि चक्षुरादीन्यर्थास्तद्विषयाः उभय सन्निकर्षादुत्पन्नं तत्प्रत्यक्षं । क्वचिद्व्यभिचारदर्शनादव्यभिचारीति

वचनं तेन मृगतृष्णाम्भो द्विचन्द्रदर्शनादिनिषेधविशेषनिश्चयस्वभावं व्यवसात्मकं। यतः श्वेतहेमकर्कशोनत्वविशेषनिश्चयः लभ्यपदेशमित्यनेन भ्रूभंगांगुलिक्षेपादेः प्रत्यक्षत्वाभावः। सुखादिव्यावृत्यर्थं ज्ञानमितितस्मादिन्द्रियार्थसंबन्धोत्पन्नादिलक्षणमेव प्रत्यक्षं। ततोनुमानं। कारणेतरसामान्यतो दृष्टं। तद्यथा। विशिष्टाभ्रोन्नति दृष्टेः भविष्यति वृष्टिरिति तथा नदिप्रवाहदृष्टेरुपरिवृष्टिरभूदिति पुरुषादागतिपूर्विकां देशान्तरप्राप्तिमुपलभ्यादित्यनुमीयते। निश्चितसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानं। यथा सास्नालांगूलककुदखुरविषाणादिमाननिश्चितस्तनसाधर्म्यात्साध्यस्य गवयस्य साधनमुपमानं। संज्ञासंज्ञिसमावेशनिश्चयकारणं गवय इत्युपमानार्थो गौरिव गवय इति। साक्षात्कृताशेषार्थ आप्तः तदुपदिष्ट आगमः शब्दः प्रमाणं। अतः प्रमेयं आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः प्रवृत्तिदोष प्रेत्यभावफलदुःखापवर्गसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डा हेत्वाभासछलजातिनिग्रहस्थानानिप्रमेयं कथं संशयादेः प्रमेयत्वं आत्मादिप्रमेयं निश्चयोपायत्वात्तद्व्यपदेशोपचारो न विरुध्यते। बुध्यादि गुण आत्मा। भूतसमुदयः शरीरं चक्षुरादीनीन्द्रियाणि अर्थास्तद्विषयाः। बुद्धिर्ज्ञानं। नित्यनिरवय सक्रिया अमूर्त्ता सर्वगतानेकं मनः। प्रवृत्तिरुत्क्षेपणादि क्रिया। असदनुष्ठानं दोषः। जन्मान्तरावाप्तिः प्रेत्यभावः। पुण्यकर्मागदित शुभानुभवनं फलमितरदुखं पुण्यपापयोरपायोपवर्गः। मन्दमन्दप्रकाशस्थाणुपुरुषांचिते भूभागे स्थाणुः स्यात्पुरुषः स्यादित्यनवधाधारणात्मकः प्रत्ययः संशयः। यत्प्रतिप्रवर्तनक्रियायास्तत्प्रयोजनं। अविप्रतिपत्तिविषयभावापन्नोर्थो दृष्टान्तः। सर्वपराभ्युपगमादिकरणतन्त्रभेदाच्चतुर्विधः सिद्धान्तः प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः। तद्यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्। तथोत्पतिधर्मकत्वानाकाशवदनुत्पतिधर्मकत्वं तस्मादनित्य इति। संशयादूर्ध्वं भवितव्यता प्रत्ययस्तर्कः यद् भवितव्यमत्र स्थाणुना पुरुषेण वेति। संशयतर्काभ्यां निश्चितार्थो निर्णयः। विजिगीषु परस्परं छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालंभकरणादिलक्षणो वादः। पक्षप्रतिपक्षसंगृहीतया गुरुशिष्यादेर्वस्तुविचाराभ्यासो जल्पः। स्वपक्षस्थापनविहीनं परपक्षदूषणं वितंडा। असिद्धादयो हेत्वाभासाः। इमे सभापतयो विचक्षणा इत्यादि छलं। साधनदूषणाभासाः जातयः। पक्षत्यागादीनि पराजयवस्तूनि निग्रहस्थानानि। तद्यथा। पक्षत्यागपक्षान्तरपक्षविरोधपक्षसन्यासहेत्वन्तरनिरर्थकां प्राप्तकालन्यूनाधिकपुनरुक्ताननुभाषणाज्ञानप्रतिभाभावविक्षेपमतानुज्ञापर्यनुयोज्योपेक्षणनिरनुयोज्यानुयोगापसिद्धान्तहेत्वाभासाश्चेति निग्रहस्थानानि। दुःखजन्मप्रवृत्तिमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायो मोक्षः। अमीभिः पुनर्वत्सं विवेकमहापर्वतारूढैरप्रमत्तत्वशिखरस्थितैर्जिनपुरनिवासिभिर्जिनलोकैरयंदृष्टो निर्वृत्तिनगरीगमनमार्गः। यदुत जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरा मोक्षास्तत्वं। तत्र सुखदुःखज्ञानादिपरिणामलक्षणो जीवः। तद्विपरीतस्त्वजीवः। मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाबन्धहेतवः। कायवाग्मनः कर्मयोगः। स आस्रवः। आस्रव कार्यं बन्धः। आस्रवनिरोधः संवरः। संवरफलं निर्जरा निर्जराफलं मोक्षः। इत्येतेसप्तपदार्थाः। तथाविधप्रतिषेधा-

नुष्ठानपदार्थाः विरोधश्चात्रजैनेन्द्रदर्शने स्वर्गैकवशार्थिना तपोध्यानादिकर्त्तव्यं । सर्वे जीवाः न हन्तव्याः । इतिवचनात्स्मितिगुप्तिशब्दार्थाक्रियासमुत्पन्नयोगेतिवचनात् । उत्पादविगमध्रौव्ययुक्तः सत् । एकं द्रव्यमनन्तपर्यायमर्थं इति प्रत्यक्षपरोक्षे द्वे एव प्रमाणे इति जैनमतस्य निदर्शनमात्रं । जयति शुभचन्द्रदेवः कंडूर्गणपुण्डरीकवनमार्त्तण्डः । चंडविदंडदूरोराद्धान्तपयोधिपारगो भव्यविनुतः ।

इति समाप्तः शुभं भूयात् वर्धतां जिनशासनं । इत्ययं ग्रन्थः दक्षिणकर्णाटके मूडबिद्रीनिवासिना नेमिराजाख्येन लिखितस्समाप्तश्चास्मिन् दिने रक्ताक्षि संवत्सरे माघशुक्लद्वादशी ॥

साहित्य-समीक्षा

भारतीय ज्ञानपीठ काशी के नये प्रकाशन

महाबन्ध द्वितीय खंड— संपादकः श्री पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री; पृष्ठ संख्या : ३९+४३६ मूल्य : ग्यारह रुपये।

यह महाबन्ध सिद्धान्तशास्त्र का स्थिति बन्धाधिकार है। इसका हिन्दी अनुवाद और संपादन सिद्धान्त विषय के मर्मज्ञ विद्वान् श्री पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री ने विद्वत्ता-पूर्वक किया है। विषय को स्पष्ट करने के लिए विशेषार्थ भी दिये गये हैं। आरम्भ में सम्पादकीय विवेचन के पश्चात् कर्ममीमान्सा शीर्षक महत्वपूर्ण निबन्ध लिखा गया है, इस निबन्ध में जानकारी की सामग्री प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। कर्म की सिद्धि, कर्म का स्वरूप, जीव और कर्म का सम्बन्ध, कर्मबन्ध के हेतु, कर्म का भेद और कार्य आदि पर प्रकाश डाला गया है। 'कर्म का कार्य' उपशीर्षक में अनेक विचारणीय बातों का संकलन किया है। विद्वान् लेखक ने वर्तमान में प्रचलित कर्मफल विषयक धारणाओं की समीक्षा करते हुए लाभ, अलाभ, रोग, शोक, आधि, व्याधि का सम्बन्ध किसी भी कर्म से नहीं माना है तथा एक का श्रीमान् और दूसरे का गरीब होना यह सामाजिक व्यवस्था का फल बतलाया है, पुण्य-पाप का नहीं। साता और असाता के उदय से बाह्य साधनों की उपलब्धि नहीं होती; किन्तु ये साधन अपनी योग्यता और परिस्थिति तथा वातावरण की अनुकूलता से स्वतः एकत्रित हो जाते हैं। विद्वान् संपादक ने अपनी उपर्युक्त बातों को अनेक उदाहरणों द्वारा सिद्ध किया है। इस नयी विचारधारा पर सहिष्णुता और गम्भीरता पूर्वक ऊहा-पोह करने की आवश्यकता है। पुरातन मान्यताएँ हममें इतनी गहराई तक प्रविष्ट हो गई हैं, जिससे उनका सहज में निकलना संभव नहीं; फिर भी इस निबन्ध को पढ़ने से ऐसा मालूम होता है कि अभी इस अन्वेषण में कुछ कमी है, हमारे सामने ऐसे भी अनेक उदाहरण प्रस्तुत हैं कि परिस्थिति की अनुकूलता, बाह्य साधनों की प्रचुरता और बुद्धि की प्रखरता के होने पर भी कार्य में सफलता प्राप्त नहीं हुई है। एक ही रोगी एक ही औषधि का महीनों सेवन करता है, कोई लाभ नहीं होता; पर अनुकूल समय के आने पर वही रोगी, उसी औषधि से अच्छा होते देखा गया है। अतः ऐसे एक नहीं सैकड़ों उदाहरण सामने हैं, जिनसे लाभालाभ, रोग-निरोग, आधि-व्याधि आदि में अदृष्ट की सहायता माननी पड़ती है। समय की अनुकूलता या प्रतिकूलता भी एक बलवान् कारण है, जिसके बिना कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। आज के वैज्ञानिक भी पुरुषार्थ और बाह्य साधनों के रहने पर कार्य की असफलता का कारण

समय की प्रतिकूलता को मानते हैं, यह समय की अनुकूलता और प्रतिकूलता प्रत्येक व्यक्ति के लिये अपने अपने अदृष्टानुसार ही संभव है।

सम्पादन सुन्दर हुआ है, छपाई-सफाई गेटअप आदि बहुत उत्तम हैं। ज्ञानपीठ और सम्पादक दोनों ही साधुवादार्ह हैं। जिस ग्रन्थराज के दर्शन के लिये लोग लालायित थे, आज वह मुद्रित होकर सर्वसाधारण के स्वाध्याय के लिए उपलब्ध है। प्रत्येक मन्दिर, संस्था और पुस्तकालय को इसकी प्रति अवश्य खरीदनी चाहिये।

तत्त्वार्थवार्तिक [राजवार्तिक] पूर्वार्ध— संपादकः प्रो० महेन्द्रकुमार जैनन्यायाचार्य, जैन प्रचीन न्यायतीर्थ; पृष्ठ संख्या : ४३९; मूल्य : बारह रुपये।

तत्त्वार्थ राजवार्तिक का प्रथम संस्करण आज से लगभग बीस वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था; परन्तु इस संस्करण में अनेक अशुद्धियाँ रह गयी थीं। ज्ञानपीठ ने अनेक प्रतियों के आधार से प्रस्तुत शुद्ध संस्करण प्रकाशित किया है। संपादक ने पादटिप्पणों में पाठान्तरों के साथ विशेष टिप्पण भी जहां तहां दिये हैं। उत्तरार्ध में ग्रन्थ का हिन्दी सार लिखा गया है, जिससे स्वाध्याय करनेवालों को विशेष लाभ होगा।

इस संस्करण में खटकनेवाली बातें हैं—संकेतसूची का अभाव, प्रतियों का विवरण एवं प्रस्तावना का अभाव आदि। पता नहीं आज के वैज्ञानिक संपादन के युग में इन बातों को क्यों छोड़ दिया गया? संकेत सूची के अभाव में इन टिप्पणों के उद्धरणों को अवगत करने में अत्यन्त कठिनाई होती है। आशा है उत्तरार्ध में इस कमी को दूर करने की चेष्टा की जायगी। छपाई-सफाई गेटअप आदि सुन्दर है। स्वाध्याय प्रेमियों और मन्दिरों को इन समस्त शास्त्रों की एक-एक प्रति मगानी चाहिये।

रेखाचित्रः—लेखकः श्री बनारसी दास चतुर्वेदी : पृष्ठ संख्या : २४+३७५; मूल्य : चार रुपये।

श्री बनारसी दास चतुर्वेदी हिन्दी के उन महारथियों में से हैं, जिनका सहयोग पा वीणापाणी का मस्तक गौरवान्वित हुआ है। इस रचना में कुल ४० रेखाचित्र हैं, सभी के सभी सजीव। कलाकार ने अपनी लेखनी को इतने चातुर्य्य के साथ चलाया है, जिससे चित्रों की रेखाएँ सन्तुलित रूप में उभड़ी हैं। चित्रों में विश्लेषणात्मक बुद्धि और भावुकतापूर्ण हृदय दोनों का सामंजस्य है, प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का चित्र खींचते समय लेखक संवेदन और सहानुभूति से पूर्ण रहा है। इसी कारण लेखक के इन संस्मरणों में हृदय को छूने वाला जादू विद्यमान है। क्योंकि उसने चित्रणीय व्यक्तियों के हृदय तक पहुंचने की पूरी चेष्टा की है। ये संस्मरण हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। जिज्ञासुओं को एक बार इन संस्मरणों को अवश्य

पढ़ जाना चाहिये। ये अपने समय की परिस्थितियों पर भी पूरा प्रकाश डालते हैं। छपाई-सफाई गेटअप आदि उत्तम हैं।

संस्मरण:—लेखक: श्री बनारसीदास चतुर्वेदी; पृष्ठ संख्या: २५१; मूल्य : तीन रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक में श्री चतुर्वेदी जी द्वारा लिखित २१ संस्मरण हैं। आपने कवियों, साहित्यिकों, राजनैतिकों एवं समाजसेवियों की प्रमुख जीवन घटनाओं पर प्रकाश डाला है। ये सभी संस्मरण साफ, सुथरी और परिमार्जित शैली में लिखे गये हैं। इन संस्मरणों में इतना रस और ओज है कि बिना किसी आयास के पाठकों के हृदय की रागतन्त्रियाँ सहज ही झंकृत हो जाती हैं। हिन्दी में रेखाचित्र और संस्मरणात्मक साहित्य की कमी थी, श्री चतुर्वेदी जी ने इस खटकनेवाली कमी को पूरा करने का श्लाघनीय प्रयास किया है. सीधी-सादी भाषा में गुथे हुए विचार और सघन भावनाओं का व्यक्तीकरण किया गया है। हिन्दी साहित्यसे अभिरुचि रखने वाले प्रत्येक पाठक को इस कृति का स्वाध्याय कर ज्ञानवृद्धि के साथ जीवन सृजन की प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिए। छपाई सफाई, गेटअप आदि उत्तम हैं।

भारतवर्षीय दि० जैन संघ के प्रकाशन

राम-चरित (रामपुराण का हिन्दी अनुवाद)— मूल ग्रन्थकर्त्ता : भट्टारक सोमसेन; हिन्दी अनुवादक : श्री प० लालबहादुर शास्त्री; पृष्ठ संख्या २००; मूल्य : चार रुपये।

इस ग्रन्थ के आरम्भ में श्री पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री द्वारा लिखित प्राक्कथन है। जिसमें दि० जैन आम्नाय में प्रचलित रामकथा के दोनों रूपों पर प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उत्तर पुराण में अंकित रामकथा को सूत्र मानकर ही कथा को पल्लवित किया है। अनुवादक ने आज की सरल हिन्दी में सरस और शुद्ध अनुवाद किया है। कथा की गति में शिथिलता नहीं आने पायी है। जो पाठक पद्म-पुराण की प्राचीन भाषा से घबड़ाते थे, उनके लिए यह सुन्दर प्रयास है। इस पुराण ग्रन्थ के स्वाध्याय से सभी अबाल-वृद्ध लाभ उठा सकते हैं। स्वाध्याय प्रेमियों, मन्दिरों और पुस्तकालयाधिकारियों को इसे अवश्य मगाना चाहिये। छपाई-सफाई गेटअप आदि अच्छे हैं।

भगवान् ऋषभदेव—लेखक : श्री पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री; साइज : डबलक्राउन सोलह पेजी; पृष्ठ संख्या : १३३; मूल्य : एक रुपया चार आना।

श्री पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री कुशल संपादक और चिन्तनशील लेखक हैं, आपकी लेखनी से लिखी गयी 'जैन धर्म' पुस्तक अत्यधिक समादृत हुई है। प्रस्तुत रचना भगवान ऋषभदेव की जीवनी के रूप में लिखी गयी है, इसमें आदि पुराण के आधार पर प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का साङ्गोपाङ्ग जीवन चरित्र अंकित किया गया है। लिखने की शैली रोचक, सरल और प्रवाह युक्त है; पौराणिक तथ्यों को सजाने और संवारनें का कार्य भी बड़ी कुशलता से किया है। पुस्तक जैन-अजैन सभी विद्वानों के हाथ में देने के लायक है। अन्तिम प्रकरण में श्रीमद्भागवत के आधार पर ऋषभदेव का जीवनवृत्त दे देने से पुस्तक की उपयोगिता कई गुनी बढ़ गई है। जिज्ञासु पाठकों को इस पुस्तक को अवश्य पढ़ना चाहिए। छपाई-सफाई अच्छी है।

अन्य प्रकाशन

वर्णी-वाणी (द्वितीय भाग)— सङ्कलयिता और संपादक: विद्यार्थी श्री नरेन्द्र; प्रकाशक: श्री गणेश प्रसाद वर्णी-जैन ग्रन्थमाला भदैनी, काशी: पृष्ठ सख्या १८+४४८; मूल्य: चार रुपये।

पूज्य गणेश प्रसाद जी वर्णी जैन समाज के प्रमुख आध्यात्मिक सन्त हैं; आपके वचनों में समाज को प्रभावित करने का अद्भुत जादू है। सहस्रों नर-नारी अविचलित भाव से आपके धर्मोपदेश का श्रवण करते रहते हैं। श्री नरेन्द्रजी ने वर्णीजी की सात वर्ष की दैनन्दिनी, मेरी जीवन गाथा, सुखकी झलक, सागर चातुर्मास के प्रवचन, वर्णीजी की द्वारा लिखि गये पत्र आदि सामग्री के आधार से इस सकलन को प्रस्तुत किया है। संकलन में वैज्ञानिक शैली का आश्रय ग्रहण किया गया है। विषय की दृष्टि से भी इस वर्णी वाणी में आध्यात्मिक सामाजिक, नैतिक प्रभृति सभी विषय संग्रहीत हैं। कोई भी व्यक्ति इस वाणी के स्वाध्याय से अपने तन-मन को स्वस्थ, सबल और प्रभावशील बना सकता है। भाव, विचार और भाषा सभी सुसंस्कृत और परिमार्जित हैं। ऐसी सुन्दर पुस्तक प्रकाशित करने के लिए ग्रन्थमाला के व्यवस्थापक और नियामक विद्वद्वर्य श्री पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री और श्री नरेन्द्रजी साधुवादार्ह हैं। स्वाध्याय प्रेमियों को इससे लाभ उठाना चाहिये। छपाई-सफाई अच्छी है।

सितार (भोजपुरी गीत-काव्य):— रचयिता श्री रामनाथ पाठक 'प्रणयी'; प्रकाशक: देववाणी मन्दिर, आरा (विहार); मूल्य: दो रुपये।

आरम्भ में डा० उदयनारायण तिवारी, प्रयाग विश्वविद्यालय की प्रस्तावना है। आपने इसमें कवि और उसकी कविता पर प्रकाश डाला है। कवि 'प्रणयी' ऐसे

प्रतिभाशाली कवि हैं जो हिन्दी, संस्कृत और भोजपुरी इन तीनों भाषाओं में समान रूप से कविता लिखते हैं। प्रस्तुत संग्रह में लगभग ६० गीत लिखे गये हैं। कवि ने अपनी भोजपुरी कविताओं द्वारा भोजपुरी साहित्य में एक नयी धारा प्रस्तुत की है। इस संग्रह के अनेक गीतों में लुभावना प्रकृति चित्रण, सामाजिक विषमता, देश की दयनीय दशा, जीवन के विभिन्न दृष्टिकोण एवं देश-प्रेम का जीता-जागता चित्र खींचा है। यों तो भोजपुरी भाषा स्वभावतः मीठी है, पर कवि ने अद्भुत संगीत माधुर्य प्रदान किया है। पाठक देखेंगे कि निम्नगीत में कल्पना की उड़ान के साथ समाज का यथार्थ चित्रण करने में कवि कितना सफल हुआ है।

चमरा के चिटिया चरावेली बकरिया रे,
भोरही बधरिया के ओर;
फटही लुगरिया, फटहिए कुरूतिया रे
हथवा लहठी कठोर!
मुठिए भ चउरा प दिनवाँ गँवावेली,
कइसन करमों के फेर,
मथवा प बतवा के टूटेला पहड़वा,
कहियो जे कइलस अबेर।

इत्यादि

हम इस कृति का स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि कवि अपनी रचनाओं द्वारा माँ भारती के भाण्डार को समृद्धिशाली बनायेगा। भोजपुरी भाषा के ज्ञाताओं के लिए रचना उपादेय है। छपाई-सफाई, गेटअप आदि अच्छे हैं

—चक्रनेमि

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XVIII DECEMBER, 1952. No II.

Edited by

Prof. A. N. Upadhya, M. A., D. Litt.
Prof. Jyoti Prasad Jain, M. A., LL. B.
Sri, Kamata Prasad Jain, M. R. A. S., D. L.
Pt. K. Bhujbali Shastri, Vidyabhushan.
Pt. Nemi Chandra Shastri, Jyotishacharya

Published by :

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA

Annual Inland Rs. 3. Single Copy Rs. 1/8.

CONTENTS.

Om

The JAINA ANTIQUARY

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "

[अकलंकदेव]

Vol. XVIII No. II | ARRAH (INDIA) | December 1952.

THE DATE OF DURVINĪTA GAṄGA THE ROYAL PATRON OF PŪJYĀPĀDA.

By
Prof. Jyoti Prasad Jain, M. A., LL. B.

In our discussion under the Caption 'Jaina Gurus of the name of Pūjyapāda' in the previous issues of the Jaina Antiquary, we have seen that the earliest and most famous guru of that name was Dēvanandi Pūjyapāda who was not only a contemporary of Ganga King Durvinīta but was also the latter's religious preceptor as well as teacher in several branches of secular learning. The date of this first Pūjyapāda, therefore, could easily be fixed if we were sure of the date of Ganga Durvinīta Unfortunately, the Ganga Chronology has not yet been quite fixed up and there has been a conflict of opinions as to the date of Durvinīta himself.

Lewis Rice had quite reasonably fixed the date of this king as 482-517 A. D.[1] Dr. Buhler had supported this date, tentatively placing Durvinīta in the later half of the 5th century A. D.[2] And for a long time this had been the generally accepted theory.[3]

1. My. & Cg., pp. 35, 196.
2. I. A., XV, p. 355.
3. J. A., XVIII, I, p 12 F.n. 27.

But Prof. R. Narsimhmachar who himself had substantially contributed to the above theory[4], later on, on the basis of the newly discovered evidence of the Avantisundari-kathasara found reason to disagree with and revise that theory. The new date of Durvinita thus suggested by this scholar was 605-660 A. D.[5]

This later date theory has already been questioned by Prof. Keith who plausibly discounted the evidence of the Avantisundari-kathā and its Sāra. He says that this piece of evidence is not at all reliable and that on its basis alone we cannot be sure of Bharavi's connection with Visnuvardhana or of this king being identical with the prince who founded the Eastern Chalukya line of Vengi in A. D. 615 and was the brother of that Pulkesin whose Aihole inscription (A.D. 634) mentions Bharavi's fame.[6]

In support of his new theory, Prof. Narsimhamachar had also adduced the evidence of the Gummareddipur plates which are said to ascribe to Durvinita a commentary on the XV Chaptor of Kiratarjuniya of Bhāravi.[7] But here again, Dr. Keith calls it a well established literary forgery which ascribes to Durvinita Konguni such a commentary on that work.[8] Keith would, however, prefer circa 550-600 A. D as the date of Durvinita.

But Prof. Narsimhmachar is not the only exponent of this later date theory. From an inscription discovered at Jainagamarpalli in in the Pavagada Taluk of the Tumkur district, believed to have belonged to the Western Chalukya king Vikramaditya I, a son of Pulkesin II, Dr. Venkataramanya infers that this Chalukya Vikramaditya assited by Konguni Arasa fell upon Kaduvetti. a Pallawa king and captured Kanchipura And the Konguni Arasa mentioned

4. Kavicharita, pp. 5-6 ; J. G. 1923, pp. 217-232.

5. M A. R. 1928, p. 28; M. A. R. 1924, p. 70; also his Presidentia address to the 8th Ses. of AIOC

He, however, does not shift the date of Pujyapāda from the 5th centur A. D. and in this connection amends his former belief only to this extent that this Guru had nothing to do with Durvinita

6. A History of Sanskrit Lit, Preface XVI ff.

7. Kavicharita, I, pp. 12-13.; M. A. R. 1912, pp. 31-32, 35-36.

8. For this Keith refers to E. C. III, 107.

therein is identified with Durvinita.[9] Probably on the same basis, it has been asserted by some scholars that Ganga Durvinita was the father in-law of Pulkesin II who was killed by Pallava Narsimhavarmana in about 642 A. D., and that it was Durvinita who restored his grandson Vikramaditya I, the son of Pulkesin II, to the Chalukya throne in about 654 A. D.[10] Dr. D C. Sirkar also thinks that this suggestion seems quite probable [11]

But the above record nowhere mentions the name of Durvinita or that of Narsimhavarman Pallava. The two kings mentioned therein have been described merely by the generic titles, that is Konguni and Kuduvetti, of their respective dynasties. Almost all the Ganga kings bore the title of Konguni just as the Pallava kings bore that of Kuduvetti and the Chola kings that of Karikala. Hence there is no reason why the Konguni Arasa and the Kuduvetti of the record should be identified with Ganga Durvinita and Pallava Narsimhavarmana alone and not with any other rulers of those dynasties. To associate the inscription with the western Chalukya monarch Vikramaditya I (642 or 654 to 680 A. D.) is also no more than a mere inference. No doubt, the Pallavas had been the traditional enemies of the Gangas as well as of the Chalukyas, and like their predecessors, Pulkesin II and his successors had to fight many a battle against the Pallavas But the statement that this Pulkesin the Great was conquered by his enemy the Pallava king who took the former's capital, plundered it and also put Pulkesin to death, in about 642 A. D, is hardly supported by any reliable evidence. Dr. Bhandarkara does not at all mention it,[12] and Smith says that the Pallava records themselves are doubtful about such a victory.[13] Had it been such a decisive and glorious victory as it is made out, the Pallava records must have made the most of it. On the other hand the records of Chalukya Vikramaditya I tell us that he was 'the paramount sovereign between the three seas, and was

9. Proceed of the 12th ses of Aioc, vol. II pp. 534-41 The said inscription is published in M.A.R. for 1941.

10. Triveni, I, pp. 112-120; Kadambakula pp. 55-56

11. Successors of the Satawahanas, p. 302.

12. In his History of the Deccan.

13. V. Smith—EHI.

a valarous conqueror who inflicted a crushing defeat on the Pallavas and took Kanchi.[14] And his contemporary Ganga king was, not Durvinita himself but his greatgrandson Bhuvikrama Srivallabha who was succeeded by Sivamara Navakama in 679 A. D.[15] Bhuvikrama's definitely known date is 670 A. D., and he seems to have had been reigning since 634 A. D.[16] His own records dated 670 A. D., describe him as the victor of a hundred battles and tell us that he had many times to fight against the Pallavas whom he finally defeated in the decisive battle of Bilinda.[17] Bhuvikrama was most probably a staunch ally of Pulkesin II and his son Vikramaditya I against the Pallavas; and it was Pallava Narsimhavarmana (630-668 A. D) who was defeated and killed in circa 668 A D. by the joint forces of the Ganga and Chalukya kings who then even captured the Pallava capital Kanchi and took away as hostages two Pallava princes.[18]

There is also no evidence to show that Durvinita was the father-in-law of Pulkesin II. and the maternal grand-father of Vikramaditya I. In fact, as is evident from the Nagar inscription, it was probably Vijayāditya the traditional hero and founder of the Chalukya dynasty of Vātāpi whom Durvinita befriended and gave his daughter in marriage.[19] As early as the times of Tadangala Mādhava, the grandfather of Durvinita, the Pallavas of Kanchi had become a menace to the Gangas of Talkāda and the Kadambas of Banvasi. Consequently the latter allied themselves against the common foe and in order to seal the alliance the Kadamba king had given his daughter in marriage to Mādhava Ganga. When in the times of

14. I. A., VI, 86.

15. E. C., XII Tk, 23; III Md., 113.

16. Being referred to in the Aihole insc. of Pulkesin, dated 634 A. D.

17. MAR, 1925, p. 86.

18. Sivamara's Mandayya grant of his 34th regnal year, dated 713 A. D. (E. C. III Md. 113) says that as a result of Bhuvikrama's victory over the Pallavas, two Pallava princes, Jaya and Vrdhi by name were brought to the Ganga Capital where they lived under the protection of the Ganga king.

19. Nagar Plate, E. C. VIII Nr. 35. Or at best it might be his son Jayasimha Ranaraga whom Durvinita gave his daughter. This Jayasimha was the father of Pulkesin I.

Durvinita, the brave, adventurous and well accomplished Chalukya youth Vijayāditya proved his worth by founding a new kingdom, the Ganga monarch was simply pleased to find in him a new ally, and readily made his own son-in-law. This step had further become necessary since the Kadambas had by now been cowered down by the Pallavas. The Pallava king at this time was Kaduvetti Trilochana (or Tri-nayana)[20] Pallava who was probably the same as Nandivarmana or Chandadaṇḍa,[21] the grand father of Simhaviṣṇu (575-600 A. D.). Vijayāditya, in an attempt to capture Kuntala from Trilochana, was killed by the latter in a bloody battle.[22] The Pallavas then invested his capital also. At this Durvinīta invaded the Pallava territories, defeated and killed the Pallava king and restored his own daughter's son Jayasmha Vallabha Raṇarāga, the son and lawful heir of Vijayāditya to his father's throne at Vātāpi.[23] It was this Jayasimha, the father of Pulkesin I who in his turn was the grandfather of Pulkesin II (608-642 A. D), who was the first virtual king of the western Chalukyan dynasty of Vātāpi.

There thus appears little doubt that the two sets of events and personalities, one belonging to circa 500 A. D and the other to circa 650 A. D. have been indiscriminately confused and that merely on this basis Durvinīta cannot be placed in the 7th century A. D.

There is, however, another line of argument in favour of the later date theory. Prof. G. J. Dubreuil, on the basis of the contemporaniety of Durvinita with some Kadamba kings, also places the former in circa 605-650 A. D.[24] No doubt, in many Ganga records,

20. Some inscs. of the 11th century mention Trilochana, also called Trinayana, Munkunti etc., as an early ancestor of the Pallavas. He is also believed to have founded the Telgu line of the Pallavas (vide MAR, 1916, p 138; Ayengar's Hist. of the Tamils, pp. 364, 384.)

21. D. C. Sirkar says that this 'Chandadanda, lord of Kānchi' was a contemporary of Ravivarmana Kadamba (479-513 A. D. and that it may be a Biruda of Pallava Nandivarmana (issuer of Udeyendriya grant) who was the grandson of Simhavarmana (436-458 A. D.) of Lokavibhaga fame or of one of his successors.

22. E. I., IX, p. 341; XI, p. 340.

23. E. C. VIII Nr. 35.

24. Ancient History of the Deccan, p. 107.

Avinita Konguni, the father of Durvinita, has been described as 'the beloved sister's son of Kṛṣnavarma (कृष्णवर्म महाधिराजस्य प्रिय भागिनेय'; and this Krsnavarma has himself been described as 'the brilliant sun on the sky of Kadamba dynasty' (श्रीमत्कदंबकुल गगनगभास्ति-मालिन) and that he was anointed during the Aśvamedha sacrifice (कदंबवंशार्क अविच्छिन्नाश्वमेधावभृताभिषिक्त:).[25] Dr. D. C. Sirkar thinks that it was Krsnavarma II who was the maternal uncle and contemporary of Avinita Konguni, and he places the latter in mid 6th century A. D.[26] According to this scholar, Ganga Madhava Maharaja, the father of Avinita was married to the grand daughter of Visnuvarmana Kadamba who was killed by Ravivarmana before the latter's 11th regnal year.[27] Prof. Narsimhamachar is also of the same opinion.[28]

But there had been another Krsnavarma, the first Kadamba prince to have that name, who was the father of the above mentioned Visnuvarmana himself. He was the younger son of Kākusthavarmana Kadamba and the brother of Śāntivarmana who was the father of Mṛgeśavarmana. This Krisnavarmana I had rebelled against his nephew Mṛgeśavarmana, had become independent and had even tried to usurp the latter's throne.[29]

Now Prof. Moraes is doubtful as to which of the two Krsnavarmanas is meant in the Ganga records.[30] Whereas K. N. Dikshit[31] and several other scholars[32] definitely identify him with Krsnavarmana I, and Messrs. Srinivasachari and Ramaswami Ayengar expressly assert that the Kadamba princess married to Tadangala Madhava was the daughter of Kakusthavarmana.[33] In fact, there is absolutely no indication in these records which could be taken to point to Krsna II, whereas there is ample to prove that it must have

25. I. A, I p. 362; II p. 155; E. C, Ne 58.
26. Successors of Satavahanas, p. 294.
27. Ibid p. 267.
28. Proceed AIOC, 1922, p. 307.
29. Sirkar—ibid p. 280.
30. pp 29-31, 35 of his book 'Kadamba Kula'.
31. E. I., XVI n2.
32. I. H. Q, IX p. 197.
33. A Hist. of India, p. 255.

been Krsna I. This prince has been described therein as having his abhiṣeka performed during the Aśvamedha ceremony. Dr. Sirkar himself admits that Krsnavarmana II never performed any Aśvamedha and that his abhiseka during that sacrificial ceremony is simply fantastic, for the Benur and Vanahalli records do not refer to his own Aswamedhas;[34] whereas the Nilambur grant of Ravivarmana, the son of Mṛgeśavarmana, who was a rival and contemporary of Krsnavarmana I calls the latter as 'अश्वमेधयाजिन'.[35] Sirkar even goes so far as to say that Krsnavarmana I was the only Kadamba prince who performed any Aswamedha.[36] Thus this record of Ravivarmana who came to the throne in about 478 A. D. and who killed Visnuvarmana the son of Krsnavarmana I in about 490 A. D., not only clearly mentions the performance of the Aswamedha by his own father's enemy, the usurper Krisnavarma I, but the mention of Ravivarman's own grant of villages while he was encamped near Talkāda the capital of the Gangas, proves his success against the Gangas themselves who were friendly to Krsnavarma I's line.[37] Ravivarmana ruled for 35 years, i. e upto circa 513 A. D. His son Harivarmana was a contemporary of Simhavarmana and Krsnavarmana II, the son and grandson respectively of Visnuvarmana, the son of Krsnavarma I. Chalukya Pulkesin I was also his contemporarary. Harivarmana's Halsi grant is dated 538 A. D Hence if Krsna Kadamba of the Ganga records were Krsnavarmana II, the marriage in question could not have taken place much prior to the middle of the 6th century A. D But then Ravivarmana long before 500 A. D. could not have alluded to the friendship of the Gangas with Krisnavarma I's family. The basis of this friendship was obviously that marriage alliance between the two houses.

There is, thus, no doubt that it was the sister of Krsnavarma I and a daughter of Kakusthavarmana Kadamba, who was married to Madhava Ganga, and most probably Krisnavarma I was primarily instrumental in bringing about that marriage. For this

34. Sirkar—ibid p. 294.
35. Ibid pp. 280, 311; E. I., VIII p. 146.
36. Sirkar—ibid p. 240.
37. Ibid, p 267.

reason and also because he particularly loved his nephew Avinita very much, Krisnavarma I is so laudably praised in the Ganga records, Kakusthavarmana belonged to the first quarter of the 5th Century A. D.[38] His Halsi grant is believed to have been dated in the 80th year of the Gupta era, which would fall in about 399 A. D. One of his daughters was also married to a son of Chandragupta Vikramāditya (375-413 A. D.) through the agency of poet Kālidasa.[39] His sons Śāntivarmana and Krsnavarmana I thus belonged to the middle of the 5th century A. D. Śānti's reign seems to have lasted upto circa 470 A. D. And as Sirkar thinks, Krsnavarmana I had most probably died before the beginning of Śāntivarman's reign[40] who is proved to have been a contemporary of Kasnavarma I's son Visnuvarmana by the latter's Virur grant.[41] This grant professes to have been issued by कदंबवर्ममहाराज विष्णुवर्मन by permission of his ज्येष्ठपिता (elder uncle) शान्तिवर्मनधर्ममहाराज वैजयन्ती तिलक समग्र कर्णाट भूगर्भभर्त्ता. And it clearly shows that it must have been Visnuvarmana who usurped the throne of his consin Mrgeśavarmana. Krsnavarmana I was not thus the usurper, though he might also have revolted against the authority of his brother, not of his nephew, and become semi-independent in the province he was the viceroy of. There remains, therefore, no doubt that Durvinita's father Avinita Kouguni who was the sister's son of this Krsnavarmana I Kadamba and hence a contemporary of the latter, cannot be placed much beyond the middle of the 5th century A. D.

Another piece of evidence also supports this view. It has been inferred from the Dodaballapur inscription that Durvinita's mother's father was the Punnāṭa king Skandavarmana after whose death the territory of Punnata passed to Durvinita as heir of his maternal grand father.[42] The father of this Skanda Punnata was Bhujaga Punnāṭa whose father-in-law was Ganga Mādhava Simhavarmana of the Perur line.[43] According to the Pennuekonda plates this Ganga

38. Ibid p 255; I A.. VI 23.
39. Heras—JBORS. XII 458; Dubreiul p 100; Sirkar p. 253.
40. Sirkar—ibid p. 280.
41. E. C, VI 91.
42. K. Rao-Gangas of Talkad, p. 33; Rice-Cg. Insea. I pp. 7-11.
43. Sirkar—ibid, pt II ch. V.

prince and his father Aryavarmana were installed by Pallava Simhavarmana and Skandavarmana.[44] Rice assigns these Perur Gangas to the 4th century, but Fleet and Sirkar are inclined to place them in the middle of 5th century A. D. and say that the Pallava Simhavarmana here referred to is probably that of the Lokvibhaga fame (436-458 A. D.) The Pallavas are said to have helped these Ganga feudatories of theirs because the latter had crushed the unruly Bānas.[45] This would place Skanda Punnāṭa about the beginning of the 6th century. But even then, if Durvinita is assigned to the middle of the 7th century, his maternal grandfather Skanda Punnāta would seem to precede him by more than a century, which if not quite impossible is highly improbable. To me it seems that this Pallava simhavarmana is none else but the prince who, according to Fleet, was the elder brother of Visnugopa of Kanchi, a contemporary of Samudragupta (326-375 A. D.)[46], and Pallava Skandavarmana referred to herein was the prince who succeded Visnugopa.[47] Sirkar himself seems to be doubtful on this point.[48] And if it were so there is no difficulty in placing Skanda Punnata in about the middle of the 5th century A. D. Moreover, Prof. Krisna Rao and Rice seem to have been mistaken in their interpretation of the above mentioned Dodaballapur inscription. The record itself is quite clear on the point that Skanda Punnata was the father-in-law of Durvinita himself, and not of his father.[49] Other Ganga records also confirm this view when they state that Durvinita got Punnata in dowery of his wife.

Thus, whether the Pallava contemporaries of Bhujaga Punnata are proved to belong to the latter half of the 4th or the first half of the 5th century, his son Skanda Punnata cannot be placed much beyond the last quarter of the 5th century, and consequently the

---

44. E. I., XIV, 331.

45. Sirkar—ibid, II, p. 247.

46. Ibid, pp. 177, 205. But Hultzch thinks he was the son and not the brother of Visnugopa.

47. Ibid p. 178.

48. Ibid p. 184.

49. E. C., IX De. 68.

latter's son-in-law and contemporary Durvinita Ganga beyond Circa 500 A. D.

Some scholars try to find support for the later date theory in certain Chalukya records of late 7th and early 8th centuries in which mention is made of one Pujyapāda. Here they uphold that association between Durvinita and Pujyapada, which they had already refuted for shifting Durvinita's date, now to confirm that shifted date. However, this Pujyapāda of the Chalukyan records is a different and later Jaina Guru than Devanandi Pujyapāda, and with him I shall deal in a subsequent paper.

Fleet is inclined to favour the later date theory because he believes that on paleographical grounds the Gummareddipur plates of Durvinita should be assigned to the 7th century. But it is obvious how unreliable and flimsy this basis is especially when unsupported by any other tangible evidence and when on the same basis other scholars like Rice assign the records of Avinita and Durvinita to the 5th century A. D.

Then the date of the foundation of the Gangawadi kingdom by Daddiga Konguni with the help of his Jaina Guru Simhanandi, as arrived at by Rice is 188 A. D.[50] This Simhanandi obviously belonged to the Nandi branch of the Mulasangha and was one of the very early gurus of that order. He is mentioned in the Pattavalis, after Bhadrabahu, Kundakunda and Umaswami, and almost alongwith Samantabhadra (120-180 A. D.)[51], and after him come Vakragriva, Vajranandi, Pātrakesari and others. Although there is no strict chronological order in these lists and only the more important gurus are mentioned, still the general sequence seems to be quite all right. And it is quite probable that the first Ganga king belonged to circa 200 A. D.[52] Durvinita was the 8th or 9th ruler of that line and a period of about 300 years for 8 kings, several of whom (viz. Konguni, Madhava II, Madhava III, Avinita) certainly had very long reigns, is not very much. It gives an average of only 35 years each. Between Durvinita and Sripurusa Muttarasa (726-776 A. D.)

50. My. & Cg. pp. 32, 49.

51. My article on that Guru in the Varni Abhi. Grantha.

52. Saletore—Med. Jainism, pp. 7-17.

five rulers intervened, which for those 200 years again gives an average of 40 years each. Even after Sripurusa nine generations took some 300 years. Durvinita himself had a reign of 40 years. Hence in that dynasty of remarkably long reigns an average of 35 to 40 years for each reign is quite probable. If Durvinita is placed in 605-660 A. D. the reigns of his three lineal descendents will have to be squeezed within some ten years, which does not seem likely.

The foregoing discussion would, therefore, prove beyond reasonable doubt that the Ganga monarch Durvinita Konguni cannot be placed much beyond 500 A. D., and as a tentative suggestion his date may be fixed as circa 480-520 A. D.

SANSKRIT STUDIES : WHITHER ? *

By

Professor Dr. A. N. Upadhye
KOLHAPUR

With the attainment of political independence by India, there is seen everywhere great enthusiasm about the culture and civilization of Ancient India; great stress is being laid on their glorious aspects; motives are being attributed to outside scholars for their alleged prejudices and perverted attitude; and the urgency of studying our ancient heritage is being pressed constantly nowadays. Even when and where the specialists, who can speak with some authority, are modest in their observations, men of position and privilege are sermonising on the study of Sanskrit language and literature; some insist that the Sanskrit language was once the Lingua Franca of India and can be adopted as State Language even today; and others assert without hesitation that the Sanskrit literature contains all knowledge and its study is the only panacea for the transitional period of our cultural catastrophe. A learned body like the All-India Oriental Conference, the devotion of the members of which towards Sanskrit studies can never be doubted or questioned, resolved at its Darbhanga Session that Hindi should be the National Language of India. But it was an amusing sight to find that certain enthusiasts ridiculed the oriental scholars, showered choice abuses on them in Deva-vāṇī and pressed the claim of Sanskrit alone to become the National Language of India. All this they did without taking into consideration, and much less refuting, the arguments advanced by the learned scholars there.

The importance of Sanskrit language is unquestioned; but it would be a mistake to approach the study of Sanskrit through bias for one religion or the other or with some sectarian or sectional outlook. Then there are certain enthusiasts for whom Sanskrit literature means only that part of the classical period, and they would like to close their eyes against the Vedas, Brāhmaṇas etc. Then if the study of Sanskrit literature is not to be judiciously combined with that of Prākrit and Pāli languages and literatures, the

---

*This Paper was submitted to the All-India Sanskrit Parishad, Shri Somanath Patan.

perspective of ancient and medieval Indian culture is bound to remain incomplete if not perverted. A more broad outlook on the study of these languages and literatures alone can supply a sound basis in estimating the value of the cultural capital of ancient India.

If we are not going to adopt this cosmopolitan attitude or outlook, and if we seriously take into consideration the present state of Sanskrit learning in most of our Pāṭhaśālās, or even in some of our Universities, one suspects the danger that we would easily slide back to that stage of Sanskrit scholarship which was there in India prior to the advent of European scholars on the field of Indian learning. It is not very difficul to imagine the broad outlines of that stage. In the field of practical science the progress of thought was nil; but unfortunately this stagnation was not at all realised. In the field of speculative sciences, we know what Navya Nyāya means: we were just growing a jungle of words not knowing what fruits we were to reap. The spiritual ideals were lost sight of; and vested interests were clinging hard to the form and letter, having altogether missed the spirit It was all verbal hair-splitting, quite sectarian, secluded, and onesided in outlook. Great enthusiasm was shown for religious rituals, mythological details, and exclusive social conventions and customs so rigorously that the result of all this was anything but laudable. One feels sad to remember that in India, at that time, there was not a single Paṇḍita, or Indian scholar, who could read or decipher the inscriptions of Aśoka, Khāravela and Rudradāman. This one instance is sufficient to indicate how onesided and shallow the Sanskrit scholarship had grown just before the European scholars took to Sanskrit studies.

The work of European scholars in the various branches of Indian learning has shown altogether fresh approaches not only to the study of Sanskrit language and literature but also to that of Indian history and philosophy. The historical and comparative methods of study as applied to Sanskrit language and literature gave remarkable results and thus assigned a very important place to Sanskrit language in Indo-European linguistics. Collections of mss. were carefully scrutinised, descriptive catalogues were prepared, monographs and dissertations were produced on various topics; and there came to be written histories of various branches of Indian literature. And even

to this day Winternitz's Geschichte stands unsurpassed. What is true of Indian literature is also true of Indian history, archaelogy, epigraphy etc. It is thus alone that Indian learning was brought on the canvass of human knowledge. Whatever progress has been achieved in Sanskritic researches is primarily due to instruction and example of and inspiration from European scholars. We cannot forget the debt we owe to them, and it would be a great mistake if we ignore or grow lax in the use of critical, comparative, historical and scientific methods of study. It is but natural that the number of European scholars would decrease day to day, and the main responsibility of pushing the front of Indological research in the proper perspective of recorded human knowledge will lie primarily on the shoulders of Indian scholars.

Strictly scientific methods are more valuable than tempting results. We are now expected to put forth immense industry and to work systematically, and in spirit of scholarly cooperation, with utmost vigilence. Every bit of evidence has to be weighed impartially, as much as humanly possible, and there should be very little scope for racial and religious and even national prejudices. The continuity of progress has to be maintained with maximum devotion to the Goddess of Learning.

It is very easy to grow eloquent on the alleged achievements of Indian civilization and culture in the past, but it would be a suicidal mistake to forget our weaknesses and limitations in our natural tendency to glorify ourselves and everything Indian.

We may be verv enthusiastic about the study of Sanskrit literature, but we must also remember the limitations of this branch of learning under the present circumstances: let us not be too much vain about it. Language is just a medium of expression, and naturally more attention has to be directed to the contents of literature than merely to the form and structure of the language. Let us quietly consider what knolwedge in the fields of practical sciences such as physics, chemistry, medicine, engineering etc. we can get from our early literature, as contrasted with the tremendous achievements of modern sciences in these and other branches. It would be sheer self-deception to claim that our ancestors knew the various

formulae of prepraing aeroplanes, submarines and even atomic weapons.

Much of our ancient literature is religious in character, and our Indian religions have given to humanity some of the highest norms of human behaviour, such as Samatā, Ahiṁsā and Mettī, which, if put into practice sincerely, are sure to achieve great human welfare. Today there is a good deal of talk about these and other religious principles: some of them are being used as propagandistic catch words and slogans in and out of context, It seems to me that we often foget, may be for convenience or expediency, that religion is not merely a topic of profession or talk, but it is essentially a matter of earnest practice. There is more sound than sense in the homage which people are paying to these great religious and moral principles. Though we talk so much about these principles, we may ask ourselves, why we allow these principles to affect our life and conduct, individually and collectively, to such a negligible extent. Of the four Puruṣārthas, let the earnest intellectuals in the society honestly search their hearts as to what place is there for Dharma and Mokṣa: the latter perhaps does not exist and the former is just a word of fashionable use for the most. The Śiṣṭas of the present day have to be a bit more introspective, and it is their responsibility to put into practice whatever they are preaching to others.

The early Indian literature has its abiding values; it is for us to pursue critical methods of study and to push forward the progress of research in a scientific spirit. Let us not use religion merely to arouse sentiments but let us study it dispassionately and put its principles into practice earnestly to make ourselves better men and women.

JACOBI'S INTRODUCTION

TO

Ausgewählte Erzälungen in Mâhârashṭrī
Translated into English

By

Professor Dr. A. M. Ghatge.

1. The Indian language has passed through three stages of development:

(1) Old Indian or Sanskrit, available in three varieties, as Vedic, Epic and Classical Sanskrit;

(2) Middle Indian or Prâkrit, known in many dialects differentiated as regards time and place, partly from literary monuments and partly from inscriptions and coins;

(3) Modern Indian or Bhâṣâ, comprising some nine languages with many dialects.

2. In Prâkrit, again, three stages may be distinguished :

1. The Pâli stage. To this belong

(a) Pâli, or the language in which the canonical books of the southern Buddhists are written.

(b) The various dialects of the Prâkrit inscriptions, which cover a period from the middle of the 3rd century B. C. down to the 2nd century A. D.

2. The Prâkrit-stage :

(a) Mâhârâṣṭrī or simply Prâkrit. This was really the literary language of this period and is available in works of general Indian literature as well as in those of the Jains, which do not belong to the canon. The Jaina Mâhârâṣṭrī differs from the ordinary language in a few orthographic piculiarities.

(b) The dialects used in dramas : Sauraseni, Mâgadhī etc.

(c) Paiśâci, in which language the largest collection of fairy tales, the Bṛhatkathâ, was written.

3. Apabhraṁśa, which probably embraced several dialects.

3. Two mixed languages must also be inserted between the Pâli and the Prâkrit stage :

(1) The Gāthā dialect in the metrical portions of the writings of the northern Buddhists As regards form, this language is Sanskrit, with many Prākrit forms and words which have been Sanskritised more or less skilfully. However, as the verses are based on Prākrit prosody, it may be assumed that the authors thought that they were writing Sanskrit, when they retranslated, in accordance with some general rules, words from the language in which they were familiar (Prākrit) into Sanskrit. It cannot be assumed as a translation of a Prākrit original into Sanskrit, but a language analogous to the defective High German of persons habitually speaking and thinking in Low German.

(2) Jaina Prākrit[1] or the language of the older works of the canon of the Jainas. As regards form, it is very similar to Mahārāṣṭrī, especially as seen in the later, non-canonical writings of Jaina authors; however, it differs from that language as regards

(a) Grammar, on the one hand in the exclusive or at least frequent use of archaic forms and expressions such as Nom. Sing. Masc. in 'e'; Loc. Sing. Masc. and Neut. in 'ṁsi'; the Preterite in 'itthā, āsi, iṁsu'; and on the other hand, in the absence or infrequent use of numerous Mahārāṣṭrī forms e. g. of the forms 'tte' and 'tāe' Gen. Sing Fem; 'tāṇa' Gen. Sing. Plu. of the Article; of the Absolutive in 'ūṇaṁ, uṁ' et.

(b) Lexicography and Syntax, in which the Jaina Prākrit is closely related to Pāli, but only distantly to Mahārāṣṭrī. As the canon of the Jainas was written down in western India (Valabhi) ostensibly in the year 454 A. D. at a time when Mahārāṣṭrī had most likely reached the status of a literary language, it is evident that the compilers of the canon must involuntarily have been influenced by the then literary language.

1. From the evidence of the canonical books and a persistent Jaina tradition, scholars give the name Ardha-Māgadhī to the language of the Jain canon, to which Jacobi had given the less appropriate name Jaina Prākrit. By Jain Prākrits are now usually meant Ardha-Māgadhī, Jaina Māhārāṣṭrī of the post-canonical works and Jaina aurasenī of many of the Prākrit works of the Digambaras.

4. The phonetic peculiarities which distinguish Prākrit from Sanskrit and which have trivial exceptions partly at the first stage, are the following:

(1) The law of quantity.[2] No syllable, reckoned from the vowel onwards may consist of more than two moras. A mora is the length of a short vowel or of a consonant. This law brings about shortening of long vowels before double consonants, reduction of serveral consonants to two and sometimes loss of one of the two consonants after an original long vowel or after a vowel which was originally short and has only been lengthened at the same time.

(2) Levelling of the difference between consonants forming conjuncts, by assimilation and other processes.

(3) The law of final sound, according to which, making allowance for Anusvāra, only vowels may stand in the final syllable.

(4) The dropping of the sounds ṛ, ṝ, ai, au and the reduction of the three sibilants to one (mostly s).

6. As far as grammatical structure is concerned, a gradual change is effected in Prākrit. The actions of the laws of sound would have distorted the forms of the Sanskrit inflection into an irrecognisable condition, so that any analogy between them would have been removed. The language, therefore, introduced new analogies and disposed of superfluous forms. This is shown in the uniformity and simplication of inflection, which go on increasing with the development of the language.

7. The Prākrit stage is distinguished from the preceding (Pāli-) stage by the weakening or dropping of simple consonants between vowels, by the loss of many forms which were still retained in Pāli, particularly the preterite forms of the finite verb, by complete appropriation of the vocabulary of Classical Sanskrit and by a change in the construction of sentences. Prākrit differs from Apabhraṁśa in its more archaic and less variable endings in declension and conjugation and also in its more comprehensive grammatical structure.

2. Jacobi appears to mean that the initial consonant if it exists, of the syllable preceeding the vowel, has no part to play in counting the moras of the syllable.

8. Every word of Classical Sanskrit can remain current in Prākrit if it has been reshaped according to the Prākrit laws of sound Such words as come straight from Sanskrit, which probably only in part are not immediate borrowings, are called' tatsama' by the grammarians in the event of their not having undergone any considerable change in meaning, when the Prākrit word agrees in sound with the Sanskrit prototype; when the altered form of the Prākrit word can be easily explained by the phonetic laws, they are called 'tadbhava'. On the other hand, such words as, in spite of their obvious Sanskrit origin, do not correspond in meaning to their Sanskrit prototype, and such words as cannot be traced according to the known laws of sound or as cannot be traced back to Sanskrit at all, are called 'deśī'. With verbal stems, one speaks of 'dhātvādeśa' and not of 'deśī '

The deśī-words are not provincialisms, as might be thought from the name, even if they may have been so originally; at any rate, these are expressly described by Hemacandra (D. K. I. 4) as not belonging to the deśī. For the deśī must have universal validity, and it is a fact that many of them can be traced in other dialects as well.[3]

Māhārāṣṭrī in particular and the Prākrit Literature.

9. At the time when Classical Sanskrit literature was at its bloom, Māhārāṣṭrī assumed the first place among the Prākrit dialects, because it is treated by the Prākrit grammarians as the normal Prākrit, while of the other dialects only their deviations from the Normal Prākrit are mentioned. Moreover, Daṇḍin, who probably belongs to the 6th century A. D. expressly calls it the most eminent Prākrit.[4]

10. Māhārāṣṭrī attained this pre-eminence among the Prākrit dialect because it alone had gained general recognition as a literary language. For, although in the dramas Śaurasenī is spoken as a colloquial language by the noblest of the Prākrit-speaking persons,

---

3. For a fuller statement of the problem of Deśī words cp. Jacobi: Bhavisattakaha *63—*65.

4. Kāvyādarśa I. 35: महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः ।

these very persons use Māhārāṣṭrī[5] in verses, evidently because this was the language of poetry and of higher literature. We also know that many poems were written in Māhārāṣṭrī, some of which like the Setubandha, the Saptaśatakaṁ of Hāla, the Gauḍavadha, have been preserved for us.

11. The Jainas, too, have made use of Māhārāṣṭrī and not of the Jaina Prākrit of their canonical works, for the composition of numerous commentaries and independent treatises. The choise of Māhārāṣṭrī for this purpose proves that it was an universally understood literary language. For, in later times, when the living and universal understanding of Māhārāṣṭrī had obviously ceased owing to the ever increasing divergence of the colloquial language from Māhārāṣṭrī itself, Sanskrit usurped its place. Most, if not all, Sanskrit commentaries of the sacred texts can be traced back, directly or indirectly to Prākrit originals

12. The home of Māhārāṣṭrī is, as the name indicates, the land of Mahārāṣṭra situated along the upper course of Godāvarī, with Pratiṣṭhāna as its capital. The points of agreement between this Prākrit nnd modern Marāṭhī confirm the correctness of this supposition. It is true that the Prākrit inscriptions found in this locality represent an earlier stage (Pāli), however, there already occur in them, more especially in the latest ones, sporadic points of accord with our Prākrit e. g. dropping of single consonants between vowels.

13. The period of origin of Māhārāṣṭrī as such can be approximately determined. The latest of the above-mentioned inscriptions, which belong to the later Āndhrabhṛtyas, date from the second half of the 2nd century A. D Therefore Māhārāṣṭrī is younger than these.—The redaction of the canon of the Jainas was, according to tradition, in 454 A. D. At this period Māhārāṣṭrī must already have been a literary languange, because it exercised a strong influence over Jain Prākrit. It must have been at the same time or a little later that the commentorial literature of the Jainas began in Māhārāṣṭrī. The Jainas represent a change in their religious calendar

5. पुरुषाणामनीचानां संस्कृतं संस्कृतात्मनाम् ।
शौरसेनी प्रयोक्तव्या तादृशीनां च योषिताम् ॥
आसामेव तु गाथासु माहाराष्ट्रीं प्रयोजयेत् । साहित्यद प

in 467 A. D. at the suggestion of king Sātavāhana of Pratiṣṭhāna. We are probably justified in identifying this Sātavāhana with the king of the same name of the same Pratiṣṭhāna, who is usually called Hāla, and whose well-known anthology of erotic verses, Saptaśatakaṁ, we possess. Thus we obtain the beginning of the 3rd and of the fifth century of our era as the time limits within which Māhārāṣṭrī came to be generally used.

14. This result has the support of a further consideration. Setubandha, a highly finished artistic poem in Māhārāṣṭrī is praised by Daṇḍin, who probably belongs to the sixth century. Now an artistic poem of this nature would not be possible in a language which had little literary development. The language, therefore, must have been made so flexible by a long literary cultivation that, on the one hand, it became capable of producing such artistic creations, and on the other hand, it did not become incomprehensible in them. The same consideration applies if we start from Hāla's Saptaśatakaṁ, only that the artistry of this work is less striking. We shall, therefore, be not far from the mark, if we fix the beginning of the literary cultivation of Māhārāṣṭrī in the fourth century A. D.

15. It is striking that it was just Māhārāṣṭrī which attained to universal recognition as a literary language, whereas, according to the evidence of the dramas, Śaurasenī ranked next to Sanskrit as a colloquial language and Paisācī had claims to become the universal literary language because a work like the Bṛhatkathā, which is placed nearly on the same line as the Mahābhārata and the Rāmāyaṇa, was written in it. It seems, therefore, that causes of another nature must have led to the preference for Māhārāṣṭrī; I conjecture, they are the same conditions which brought about the bloom of Classical Sanskrit literature, i. e. the period of belles-lettres,[6] to which M. Muller has given the name of Renaissance.

16. M. Muller explains the sudden appearance of the bloom of Sanskrit literature in the 4th and 5th century A. D. by the supposition of a previous interval, barren of literature, occasioned by the conquests and the supremacy of non-Indian races in India.

6. I consider the learned literature to be out of question and adhere to my opinion on it, expressed formerly (Jenaer Litteratur-Zeitung 1879 p. 191).

However, apart from the fact, as Weber has already observed, that these dominions of foreign nations only embraced western and south-western India, the following also seems to me to contradict M. Muller's supposition. Daṇḍin, who stood close, in time, to the beginning of the 'Renaissance period', would certainly have compared, if M. Muller's opinion were correct, in his poetics (Kāvyādarśa) the old poets, i. e. those who lived before the interregnum, with the newer ones, who belonged to the Renaissance. There is, however, no trace to be found anywhere, of Daṇḍin's being aware of such a contrast, although he mentions earlier poets, even earlier rhetoricians. All this seems to point to a long, uninterrupted cultivation of literature.

17. On the other hand, the same writer deals in detail with another contrast, namely between the style of Vidarbha or southern and that of Gauḍa or eastern and he takes up a strong attitude against the latter. Daṇḍin speaks of the peculiarities of the eastern style with contempt and biting sarcasm as no other rhetorician does. We can explain this only by the supposition of an actually existing rivalry between an eastern and a southern school of poets. Now, some of the faults which are found with the Gauḍīyā Rīti, e. g. bombast and affectation, love of alliteration, the use of difficult words (The Gauḍas consider this a sign of culture I. 46) are weaknesses from which a poetic art usually suffers in its old age. In contrast to this, the Vaidarbhī strives after forms of expressions easy of understanding and naturalness (prasāda), the very excellences which the youth of poetic art possesses. For this reason, we miss them in later Sanskrit poetry, even though, theoretically the Vaidarbhī Rīti continued to be recognised as the most perfect style.

18. With this hypothesis, that at the beginning of the golden age of the Classical literature known to us, the southern school of poets competed with the older eastern school and actually did carry the day, one seems justified in assuming that the art of poetry was cultivated for a long time in eastern India at the court of mighty kings, until owing to political events, new kingdoms flourished in south-western India, which overshadowed the splendour of the eastern ones and that poetry found protection and favour at the

courts of their art-loving kings. We know that, in the 4th or 5th century, the Guptas attained to great power in the west; we see how, at the beginning of the new era, Pāṭaliputra lost its old fame and Ujjayinī rose to greater splendour. It is beyond a doubt that the centre of gravity of Indian poetry shifted about this time (about 400 A D.) from east further westwards. The races and peoples of the west were thereby also drawn into competition for literary fame, at least to a far greater extent than had previously been possible with far-off literary centres.

19. The land, from which the style recognised as the finest in the classical period of Sanskrit literature received its name, and with which, consequently, the 'Renaissance' of Sanskrit literature must have been closely associated, is Vidarbha, the present-day Berar. If not exactly a part of Mahārāṣṭra, it is certainly bordering on that country. We can, therefore, understand that events, which caused the one country to become the cradle of a new literary period, necessarily assisted the popular literature of the other country to attain to a high esteem. In my opinion the preference given to Mahārāṣṭrī over other Prākrit dialects stands in this relation with the 'Renaissance' of Sanskrit literature

20 It was probably through its contact with a popular poetical art, the one in Māhārāṣṭrī, that Sanskrit poetry of the 'Renaissance' also gained those qualities of freshness and naturalness, which are praised in the case of Vaidarbhī. On the other hand, Prākrit poetry must have been greatly promoted by its contact with the higher and more fully developed poetry of Sanskrit. One important influence of the higher literary language over the lower one should not be mistaken. Prākrit has the greater part of its vocabulary in common with Sanskrit; this common possession, however, is probably merely a result of borrowing on the part of Prākrit. For the immense number of Tatsama and Tadbhava words, which occur in Prākrit writings, could scarcely have been current in the popular language; they probably passed over, for the most part, from Sanskrit literature to Prākrit. The contrary case is also true that many a Prākrit word passed over into Sanskrit, after it had been sanskritised in some way, often in a false way.

21. In conclusion a few more observations on the significance for literary history, of the stories published by us. that they are not written by Devendra Gaṇi, the author of the Uttarādhyayana Tīkā, but are only copied from other works, he himself says with reference to IV-VII[7] and X, which latter poem he begins with the words 'atha vṛddhavādaḥ'. Furthermore, some of the stories, although none of those given in this book, reappear in Haribhadra's commentary on the Āvaśyaka-Niryukti (who is supposed to have died 1055 A. V. = 529 A. D.)[8] and therewith we are referred back to older narrative works which served as sources to both commentators. Finally Haribhadra and Devendra use Sanskrit in all the remaining portions of their works, in contrast to the oldest commentators writing Prākrit; and it is incomprehensible why they should have written the stories in Prākrit if they themselves were the authors of these stories. If, however, they had borrowed them from elsewhere with insignificant alterations and omissions, then the natural thing to do was to preserve the language of the original.

22. We may therefore safely take it for granted that Prākrit was the language in which the compilers of our stories wrote most fluently, although, like all cultivated persons of their time, they were most likely not ignorant of Sanskrit,[9] as indeed is obvious from the fact that they sometimes inserted a Sanskrit saying into the narrative. The fact that not all possessed a really learned culture i. e. of a Paṇḍit, is seen from 70. 37, where the work of the rhetorician Bharata is confused with the Mahābhārata and is consequently quoted, together with the Rāmāyaṇa as an authority for the theory of the ten grades of love sickness. The numerous quotations of Apabhraṁśa verses show that this language had attained to literary

---

7. Erzahlungen p. 55. 9.

8. In Vol. 40 of the Zeitschrift der deutschen Morgl, Gesell. p 103, I have attempted to sho w that Haribhadra probably lived in the 9th century.

9. Owing to lack of definite data, the time cannot be fixed more exactly; we can only indicate, on general grounds, a wide period within which to place the possible date of writing, about 500—800 A D. The upper limit is the compilation of the Jaina Siddhānta in 454 A. D. from which time onwards the literature of the Jainas began. I have made the lower limit about 800 because I wish to place Haribhadra in this period

recognition. This, however, is not remarkable, as the same had not remained without influence on Māhārāṣṭrī. Thus, in the latter we find 'kahiṁ' and 'tahiṁ' used as adverbs of place, whereas in the Apabhraṁśa they are the regular locatives of the pronouns. No X shows still more similarities with Apabhraṁśa, the ending 'vi' for the absolutive is frequently used therein.

23. The style and character of our stories permit us to express conjectures as to the conditions of the Prākrit literature at that time. Various styles may be distinguished in the legends of our source; one simply indicatory and of epitomising brevity; another a little broader but also stiffer (as in the appendices of the Pariśiṣṭha-parvan) and finally a graceful and fluent style (in most of the stories in this book) and in the Kālakācāryakathānakaṁ). The last-named style, the flower of Prākrit prose, does not strive after external adornemnt by a wide display of detail, but it aims at a rounded and fluent diction. This is attained mainly by skilful manipulation of the word-order, which, far removed from any typical rigidity, is to arrange ideas according to their respective importance, satisfying, at the same time all requirements of euphony. Long and enthusiastic cultivation of narrative literature was surely necessary for the development and establishment of so delicate a style. The metrical narratives (No X) and the narrative metrical passages in the Kālakācāryakathānakaṁ point to the same thing, and their finished facility and smoothness bear witness to the long development of this class of literature.

Narrative literature goes hand in hand with the gnomic poetry. The Prākrit sayings, which are sprinkled more plentifully in some passages and less in others, should not be regarded as the production of the narrator, but as the common property of literature. Hence the similarity of some sayings, e. g. 36. 8 and 62. 25 with 86. 23 and 72 31, the partial identity of others, e. g. 40. 8. with a saying Ap. Par. p. 17 and lastly metrical fragments, as 52. 26 the proverb 'bhattāradevayāo havanti nārio'. In this connection, there is a striking similarity between the popular narrative literature of Sanskrit and of Prākrit. Future researches must determine whether the latter has been merely a copy of, or rather not a model for the former.

24. We must not imagine that the extent to which the Jainas participated in the development of Prākrit literature was an unimportant one. Indeed, we know that, at least in the first centuries after the compilation of the Siddhānta, they made Māhārāṣṭrī the language of their literature, until, after the complete extinction of this language, Sanskrit, the universal language of the learned, took its place. The writers of our stories also are naturally Jains; they regard the world from this religious point of view and have fitted to this the original undoubtedly common Indian themes, to which is sometimes attached only quite externally a Jaina beginning or a conclusion. I believe, I have discovered an interesting trace of sectarian recasting in the frequently recurring theme of the carrying astray of the principal character by a horse which has been 'perversely broken'. This was probably to be a substitute, calculated not to offend the religious conscience of the Jainas, for the otherwise favourite theme of 'going astray while hunting'........Futhermore it is not remarkable that the Jainas should have tacked interesting and favourite themes of narration on to famous names in their fantastic world-history, because they appropriated all the good and beautiful creations of the Indian mind, in order to present to the devotees of their own church all that a cultured person might desire. Even though, in their pursuit of this aim, they often dragged the sublime down to the level of pious mediocrity—let one think of their treatment of the Rāmāyaṇa—we are, nevertheless, indebted to them for the preservation of many a pearl of the Indian Middle Ages, of which we should have been ignorant, had not the Jainas appropriated it for themselves. We may, I think, count the present stories amongst the above-mentioned pearls.

MOGHALA AND SAPTABHANGI.

By

Prof. A. Chakravarti M.A., I.E.S. Madras.

Moghala representing Budhistic views, criticises the Jaina metaphysical doctrines of Nitya-anitya, Asti-nāsti and Bheda and Abheda.

Taking first for examination the categories of Nitya and Anitya-Permanency and change, Moghala questions: "Are these characteristics mere states or modification of the real or essential characteristics or the accidental characteristics associated with the real by external agency ?"

Neelakesi answers as follows: "They are the the essential characteristics of things."

Moghala questions: If Nitya is the essential characteristic of the real, then the real must be an unchanging permanent existence. Being unchanging and absolute, it is incapable of producing any effect on living beings. Hence, it will not appear as an object for an experiencing agent. If, on the other hand, Anitya is the nature of things, there would be no continuity of things and that every moment a new thing will appear, which is exactly the doctrine which the Budhist accepts. Hence, whether reals are taken as Nitya or Anitya, there would be no possibility of experiencing the object."

In reply Neelakesi points out by saying: "This criticism is based upon imperfect understanding of the Jaina doctrine. The criticism will be relevant only in the case of Ekāntavāda. One who maintains that the reals are absolutely permanent or absolutely changing, will be subject to your criticism. But, in our case, the real is always described relativistically. The same person Brahmadatta is younger than Devadatta and older than Yajñadatta is an intelligible proposition; the same individual is described by contradictory adjectives. Similarly, the same individual may be praised from the point of view of intellect and blamed from the point of view of moral character. There is nothing impossible in a statement that a particular individual is intellectually great, though morally he is very low. What we maintain as a metaphysical doctrine is th at

the reality is many sided and it is capable of being described from different points of view. Hence, it is not self contradictory to describe the real as both Nitya and Anitya so long as the points of view are different."

Moghala asks "What is meant by different points of view? What is the point of view according to which the thing is permanent and what is the other point of view according to which it is impermanent?"

Neelakesi replies: "A thing is described to be permanent-Nitya when you attend to itsessential nature-Anuvritta-Svabhāva. A thing is changing Anitya from its accidental characteristics of Vyāvritta-Svabhāva."

Moghala objects by saying "If by essential nature, a thing is permanent and if by accidental nature, a thing is impermanent, then say, that the characteristics make the thing and do not postulate thinghood besides and beyond qualities. There is therefore nothing called substance apart from and independent of the qualities."

But Neelakesi answers to this as follows: "If you maintain that a thing cannot be separated from its qualities, you are right. But, on account of this inseparability of the thing from its qualities, if you infer the non-existence of the thing, your conclusion is untenable and erroneous. You yourself have described Buddha as having innumerable good qualities. If you do not postulate an entity Buddha, apart from these qualities, your praising of your Lord will be meaningless. Because, there will be no one corresponding to Buddha. Again you describe that the earth is hard, water is fluid and fire is hot etc., and this description naturally implies substance with a quality. If there is no substance beyond the quality then your own statement would be without any significance. It is quite easy to conceive of a thing in the midst of its qualities. In the case of an ocean, the presence of water, its coolness etc., would be Anuvritta-Svabhāva and the waves thereof will be Vyāvritta-Svabhāva. By the former, the essential characteristic, the sea must be spoken of as permanent whereas waves on its surface are ever changing. Similarly, the substance gold, may be spoken of as being permanent and various ornaments made of it

may be spoken of as changing modifications." Moghala again raises the question: This leads to the next topic the relation between *Guṇa* and *Guṇin*, the quality and substance, whether they are identical or different (Bheda or Abheda). If the terms Guna and Guṇi refer to two different things, then show me the Guṇi. the substance, apart from Guṇa, the quality. But, if you say that both refer to the same thing, then say that the real is one. You must either accept the first alternative or the second alternative. You cannot say that both are true."

Neelakesi answers this as follows: "There is no internal contradiction in the position that Guṇa and Guṇi are different though they are inseparably present in the same real. She points out that even in the Buddhist thought, a similar doctrine is assumed. Complex human personality, is supposed to be constituted by the five Skandas which are different and distinct in nature and yet they are inseparable from one another as constituent elements in the Purusha Piṇḍa. Similarly, the four Āryasatyas-Anitya Dukka, Asuchi and Anātma-are all associated with the same existence and yet they are spoken of as different. It is possible to associate unity and plurality in the same thing even in Buddhist metaphysics. A similar doctrine in Jaina metaphysics cannot be objected to. Similarly, you speak of one particular Chitta, an element of consciousness, as the effect of the previous one and as the case of the succeeding one. Here also, plural characteristics are associated with a single element. A doctrine which is accepted by you cannot be criticised when it proceeds from us."

Next Moghala turns to the doctrine of Avaktavya and questions: "The real is indescribable. If you state that the real is indescribable, then you contradict yourself. Because, you describe the real even while saying that it is indescribable. But if by indescribability, you mean perfect silence, then there is no chance for you to state your doctrine."

Neelakesi meets this point by saying: "This criticism is based upon a misunderstanding. Your criticism would be allright if the real is to be taken as absolutely indescribable. But with us, it is not absolutely indescribable. It has been pointed out above that from

one point of view, real can be described as eternal and from another point of view, that it can be described as ephemeral; from one point of view it is identical and that from another point of view it is different and so on. Real is thus describable by various adjectives from various points of view. From this, it is quite clear that the many-sided reality is capable of being described from various points of view. What this term Avaktavya really means is that you cannot describe the real simultaneously from an absolute point of view. If you waive the relative point of view, and attempt to describe the real from an absolute point of view, certainly the real must remain beyond your speech and hence indescribable."

The next doctrine taken up for criticism is the doctrine of Asti and Nāsti. The meaning of this doctrine is, that a thing may be described positively when it is considered in relation to its own nature, its own place, its own time and its own mode. Similarly, it may be described negatively from four opposite points of view. With reference to this doctrine Moghala asks : "If by this you mean that a fruit which is in your hand is not the fruit of the bazaar, who will question this doctrine ? It is so obvious that every one will accept it. Is this a great metaphysical discovery ?"

Neelakesi replies : "Is it a mistake to state a doctrine whieh is acceptable to all ? Is it your opinion that metaphysics must have nothing in common with concrete life ? You also maintain several philosophical doctrines which are quite obvious to all ?"

Moghala continues asking : "When you say that an elephant is not in its stable, it may be allright during the absence of the elephant. But the statement would become false when it returns to its place."

Neelakesi answers : "Yes, certainly. We do not say that the elephant is not in its place for all times. When it is absent it is not there and when it comes back, certainly it will be there. The statement that it is absent will have truth not absolutely but only in relation to a specified time and place".

Moghala continues his objection : "When you say that the horns of a bull were not in existence when he was a young calf, it is quite evident to every one. The horns which were not in existence formerly are present now. Hence, you can certainly apply Asti,

Nāsti-positive and negative attributes with reference to the horns of a bull. But, you should prove in a similar way that the non existing horns in the calf are describable by Asti Nāsti."

Neelakesi answers : "Your criticism is entirely irrelevant. For, the doctrine of Asti Nāsti is applicable only to reals. Nonexisting things cannot be so described."

But again Moghala repeats his objection: "You say from one point of view a thing may be described as existing and from another point of view that it is non-existent. According to your own position from one point of view a young calf or a hare or an ass must have horns. What is that point of view according to which these animals are credited with horns?"

Neelakesi answers : "You wantonly repeat the objection already disposed of. It is pointed out above that the doctrine of Asti and Nāsti is not applicable to the case of non-existing things."

SOME COMMON ELEMENTS IN THE JAINA AND HINDU PANTHEONS.—I

YAKSHAS AND YAKSHIṆIS.

By

Shashi Kant Jain, M.A., B.A, (Hons), D.R.

Yakshas and Yakshiṇīs figure in the Jain pantheon as the deities of a minor order. They are technically known as 'ŚĀSANA DEVATĀ' which may be translated as *Guardian deities*. In fact, one text describes them as "जिनशासनरक्षाकारकाय", i. e., *defenders of the Jaina's Order.* According to Jain belief, Indra appoints one Yaksh and one Yakshiṇī to serve, as attendants, upon each Tīrthaṅkara. Thus they are mainly attendant spirits with their mission as laid down in the following verse—

या पाति शासनं जैन सद्यः प्रत्यूहनाशिनी ।
साभिप्रेतसमृद्ध्यर्थं भूयाच्छासनदेवता ॥

The chief object of worship in Jainism is the Tīrthaṅkara, one who is approaching salvation, who has thrown off the Karmic bondages and who is absolutely free from desire (RĀGA). There are twenty-four such Tīrthaṅkaras who are believed to be super-men, superior to gods. To express the superiority of the highest divinities over all the hitherto conceived gods and goddesses, it was but natural for the Jains to relegate the latter to subordinate rank and position before the former. A feeling of rivalry may be at the root of such a practice, but since the instances of religious intolerence and malicious bigotry are comparatively rare in Ancient India it would be nearer the truth if we ascribe it to a concious effort at reconcilliation on their part.

In this connection we should also take the psychological factor into account that 'human mind ever seeks ideals realized into forms'. The Jain laity was drawn from all sections of human society and was formed of ordinary human beings engaged in worldly pursuits. They had not risen above desires and hence could not remain satisfied with dry asceticism. They developed for their convenience the ritualistic aspect making it comprehensive enough to lend form

and colour to their worldly ideas of auspiciousness, prosperity, wealth, kingly splendour and so on. When they found that their neighbours had given them a form in the shapes of Gaṇeśa, Lakshmī, Kubera and Indra, they naturally adopted them into their pantheon with necessary modifications. For such assimilation there was ample room in their conception of the attendant spirits by treating them as 'devotees of the Tīrthaṅkaras' (यक्षाभक्तिदक्षास्तीर्थकृतामिमे).

In sculpture, we find the Yaksha and Yakshiṇī respectively on the right and left of the Tīrthaṅkara image. They are mostly to be found on the pedestal. Even the detached images of Jain Yakshas and Yakshiṇīs are to be recognised by the presence of a miniature Jina image on their top. Their full representation is to be met with in the specimens of the Gupta period and thereafter, the epoch which also saw the expansion and elaboration of Brahmanic pantheon.

Jain texts give names, vehicles, forms and the attributes held in the hands of these Yakshas and Yakshiṇīs. Sometimes the texts differ with regard to names. The texts of the two sects (viz., the Digambara and the Śvetambara) also sometimes differ respecting the attributes held in their hands. One feature, however, deserves to be noticed that they hold some such object as bow, arrow, sword, spear, citrus, ichneumon and so on, in their hands which characterises them as Yaksha. In these descriptions we sometimes encounter a few common features with the Brahmanic gods and goddesses, which unmistakably lead to the conclusion that there must have been a great commerce between the various religious sects and cults of India in that era of myth-coining which saw the issue of such a great variety of gods and goddesses that to-day we can sefely count one deity per head in India. It may be noted here that the idea of compromise was not limited only to the developed cults. In fact, it was even more markedly extended to the older popular cults of the Yakshas and the Nagasas is evident from the nomenclature of the Governing deities as "Yakshas and Yakshinis" itself. The great influence that these Yakshas and Nagas had on the masses is amply borne out by the facts that their statues inscribed "Bhagavato" have been found at many places in Northern India, that to them many references are to be found in the early

Jain and Buddhist works and that in early Indian sculptural art, viz. the bas-reliefs at Sanchi, Bharhut and Bodhgaya. they occupy a prominent place.

The conceptions of the Yakshas are found mixed with those of such Brahmanic gods as Brahma, Siva, Vishnu, Skanda, Indra, Varuna, Seshanaga, Yama, Kubera and such semi-divine beings as the Gandharvas and the Kinnaras.

The four-faced, three-eyed, eight-handed and lotus-seated Brahma Yaksha of Sitala Natha has much in common with the god Brahma who is shown in the Brahmanic pantheon as having four faces (चतुर्मुख) and a lotus seat.

The Garuda-rider Vishnu may be connected with Garuda Yaksha of Santi Natha, riding on an elephant who may have an allusion to the mythical bird Garuda holding an elephant in one hand and a tortoise in another.

The bull-rider Digambara Isvara Yaksha, of Sreyamsa Natha, holding a Trisula and a Danda in his hands, bears close identity with the Brahmanic god Siva, also called Iswara, who rides a bull and holds a trident and a staff. Siva may also be connected with the Gomukha Yaksha of Rishabha Natha, with his vehicle of a bull, and the Bhrikuti or Nandiga Yaksha of Nemi Natha whose vehicle is also a bull.

Skanda, also called Kumara or Karttikeya, rides a peacock and has six faces. The Svetambara Yakshas Shanamukha of Vimala Natha, and Yakshendra of Ara Natha, have six faces and ride a peacock.

Indra, in Hindu mythology, is represented holding a thunderbolt and an elephant. Matanga Yakshas of Suparsva Natha and Mahavira ride an elephant while the Digambara Khendra of Ara Natha holds a Vajra.

Varuna Yaksha of Munisuvrata Natha bears analogous name with Varuna, the Hindu Sea-god.

Patala of Ananta Natha wearing a three-hooded snake canopy and Dharnendra or Dharnidhara of Parsva Natha adorned with a Fana-chhatra and holding Vasuki. have common features with

Seshanaga, the Lord of the Nether World, who is also known as Dharanidhara.

Vijaya of Chandraprabhu bears an identical name with Yama, the god of Death.

The mudgara-holding Kubera Yaksha of Malli Natha may be connected with the Hindu god of wealth, who, besides bearing the analogous name, holds the identical club. The Hindu god of riches and lord of the Yakshas may also be compared with Gomedha Yaksha of Nemi Natha who either rides a man (nara-vahana) or drives in a Pusopayana, the traditional chariot of Kubera-Vaisravana.

—To be continued.

THE TATWĀRTHA SUTRA AND GEOGRAPHY.

Pushkarārdha Dweepa. (पुष्करार्धद्वीप)

By
L. A. Phaltane Esq. B. A, LL. B,
Pleader Islampur Tal, Walwa.

The Jaina Scriptures say that Jambudweep, Dhātaki Khanda and Pushkarārdha dweepa are the three territories in which men reside. In ancient days humanity was divided into small groups which, by separate living, separate mode of life and by use of separate weapons and dress for their protection, had developed in them distinct peculiarities which distinguished in them separate modes of conduct and behaviour. These groups were practically always on hostile terms with one another. They were known by their leaders. For instance the followers or descendants of Manus were called Mānavas (मानवs) (मनोरपत्यं पुमान् मानवः=Mānava is one who is the male descendant of Manu). Similarly the followers or descendents of Danu were called Dānavas (दनोरपत्यं पुमान् दानवः=Danorapatyam pumān Dānavah means Dānava is the male-descendent of Danu). From this it will be clear that though at present, the word 'man' signifies the whole humanity, in ancient days that word signified only certain group of people who were the followers of Manu. It will appear from this that the followers of Manus had travelled Jambudweep Dhātaki khand and the half of Pushkara continent at about the time when the original Prākrita Sutras corresponding the Sutras nos 32, 33 and 34 in the Tatwārtha Sutra Chapter III were formed.

If we are able to show the part of the earth where the ancient continent Pushkara might have existed we shall be able to make many more discoveries of importance which may hlep us to throw considerable light on ancient conditions of Jainism and other religions of old. We shall see what the Jaina scriptures have to say about this matter.

The Sutra 35 of the third Chapter of the Tatwārtha Sutra is as follows :—

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥
Prānmānushottarānmanushyah

Meaning

The Manushyas or men reside upto the mountain Mānushottara.

Below the 35th Sutra of the third Chapter the following Commentary is given.

पुष्करद्वीपबहुमध्यदेशभागी वलयवृत्तो मानुषोत्तरो नाम शैल : ॥
Pushkara Dweepa bahumadhyadesha bhāgi
Valayavratto Mānushottaro nāma Shailah.

Meaning :—The mountain named Mānushottara is circular in shape and stands in the centre of the Pushkaradweepa. Further the Commentary says that the men reside within the limit caused by that mountain and not beyond the same; that even the Vidhādharās and the specially gifted followers of Manu cannot transgress the mountain range.

This means that circular mountain range which stood in the middle of the Pushkara continent must have been very lofty having no passes for men to go outside. This state of things is in complete conformity with the state of things that prevails at present with the mountain ranges that surround the territory in which the present Bokhārā is situated. The map of Central Asia will show that to the northest, east and south of the province of Bokhara there are lofty and continuous mountain ranges consisting of the Tienshan, Pamir plateau and Hindukush mountains which are the loftiest ranges in the world. It must have been therefore possible that the people in that province, in those ancient days, must have thought that it was impossible for them to go beyond those mountains From the present position of that province and the lowlying territories stretching towards the west and north upto the Caspian and the Aral seas it would not be out of place to imagine that in those ancient days the Bokhara territory must have been bounded on the west and north by the waters of the Caspian and Aral seas.

The present Bokhara province is adjacent to Chinese Turkistan. The modern discoveries and the ancient relics which have been found in that part have enabled the historians to assert that that part of the Country must have had, in ancient days, enjoyed a civilisation of considerably high degree. This also may prove a reliable asset to our proposition.

Mr. Vishnu Hari Vader M.A. LL. B. has, in his article in Volume No. 22 of the Marathi monthly Chitramaya Jagat on the heading 'Ancient Aryan Settlements in Central Asia', given a map of Asia in which he locates the ancient Pushkara near the present Bokhara and shows the settlements of Yakshas, Kinnaras, Rākshasas and Gandharvas round about Pushkara at some distance. It has to be remembered the Yakshas etc. have been termed as Vyantaras in the Jaina mythology and hold an important place in it. This forms an additional circumstance which goes to show that the civilization which must have obtained in that part must have been of the Jainistic type.

Krish (कृष्) in Sanskrit means to plough and Krishaka means an agriculturist. The Prakrita forms of the word 'Krishaka' would be 'Kassaka' or 'Kossaeka' The Jainas were perhaps the first people to domesticate animals like bulls and to use them for agricultural purposes. Even at present the agriculturists of Chinese Turkistan are called Kassaks.

The above discussion will show the readers that the present territory round about Bokhara must have been the ancient Pushkara continent of the Jaina mythology.

TWO NEW DATED KUSHANA INSCRIPTIONS FROM MATHURA.

By
Sri K. D. Bajpai M.A.
Archaeological Officer, U.P.

Recently two new Kushāṇa inscriptions discovered in Mathura district have been acquired for the Archaeological Museum Mathura. Both of these inscriptions are incised on the stone pedestals of Buddha images and are dated in the years 5 and 53 respectively of the Śaka era.

The first inscription is on a fragmentary pedestal (Museum No. 3533) of a seated Buddha image, neasuring 11½"×10". As usually found on the Mathura pedestals of the Kushāṇa period, in the centre there is a pilaster surmounted by a wheel. To its left stands a dwarf male figure holding with both hands a basket full of garlands. Behind him is seen a male figure taking the garland, evidently for worship. Part of the pedestal to the right of the pilaster is competely broken. On the upper edge of the pedestal is a Brāhmī inscription in two lines. Portions of the inscription in the beginning of both the lines are unfortunately gone. I read the inscription as follows.

Line 1. ....ग्रस्य कनिष्कस्य स ५ वर्षामास १ दि........
Line 2.........ह् मातापित्राण पूजार्थं सर्वसत्वान् पूजार्थं ।

(i.e. in the year 5 of Kanishka, in the first month of rainy season, on .... day, for the homage to the Parents and to all beings.)

The inscription is evidently a dedicatory one and refers to the installation of an image by a person whose name is broken.

It is dated in the year 5 of Kushāṇa King Kanishka, which corresponds to 83 A. D.

The second inscription occurs on a red sandstone pedestal (2'-2"×10") of a Buddha image. This pedestal is better preserved than the previous one. In the centre is the usual pillar with the *chakra* flanked on each side by two male and female figures res-

pectively holding garlands. On each corner of the pedestal is shown a couchant lion figure.

On the pedestal is incised a Brāmhī inscription in two lines. The first line is on the upper edge and is almost complete. The second line on the lower edge is fragmentary and at the beginning about two-third portion of it is damaged.

The inscription reads as follows :—

Line 1. महाराजस्य देवपुत्रस्य हुविष्कस्य स ५० ३ व ४ दि १० एतस्य पुवय स...... वस्य दानं ।

Line 2. ....स विहारे अचर्य्यं म....हस ।*

Translation.

(Year 53 of Mahārāja Devaputra Huvishka, fourth month of rainy season, the 10th day—on this day as specified above, gift of ....in the........Vihāra for the Āchārya................)

The inscription is dated in the year 53 of the Śaka era (= 131 A.D.) during the reign of Huvishka. The last date of Huvishka so far known from inscriptions is year 60 (= 138 A.D.)

The name of the Vihāra, where the image was set up, is broken.

The characters of both the inscriptions described above are Brāhmī of the usual Kushāṇa type. The language is mixed dialect of Sanskrit and Prākrit so commonly found in the Mathura Jaina and Buddhist inscriptions of the Kushāṇa period.

Note :—*It appears that the pedestal on which this second inscription was discovered is without the image. The presence of the lions which is a distinctive emblem of Mahavira tempts one to believe that it might as well be the pedestal of a Jaina image. The word 'विहारे' in the inscription above is inadequate to make it a Buddist inscription, unless until some other definite and distinct Buddhist characteristics are found to be present on this relic.